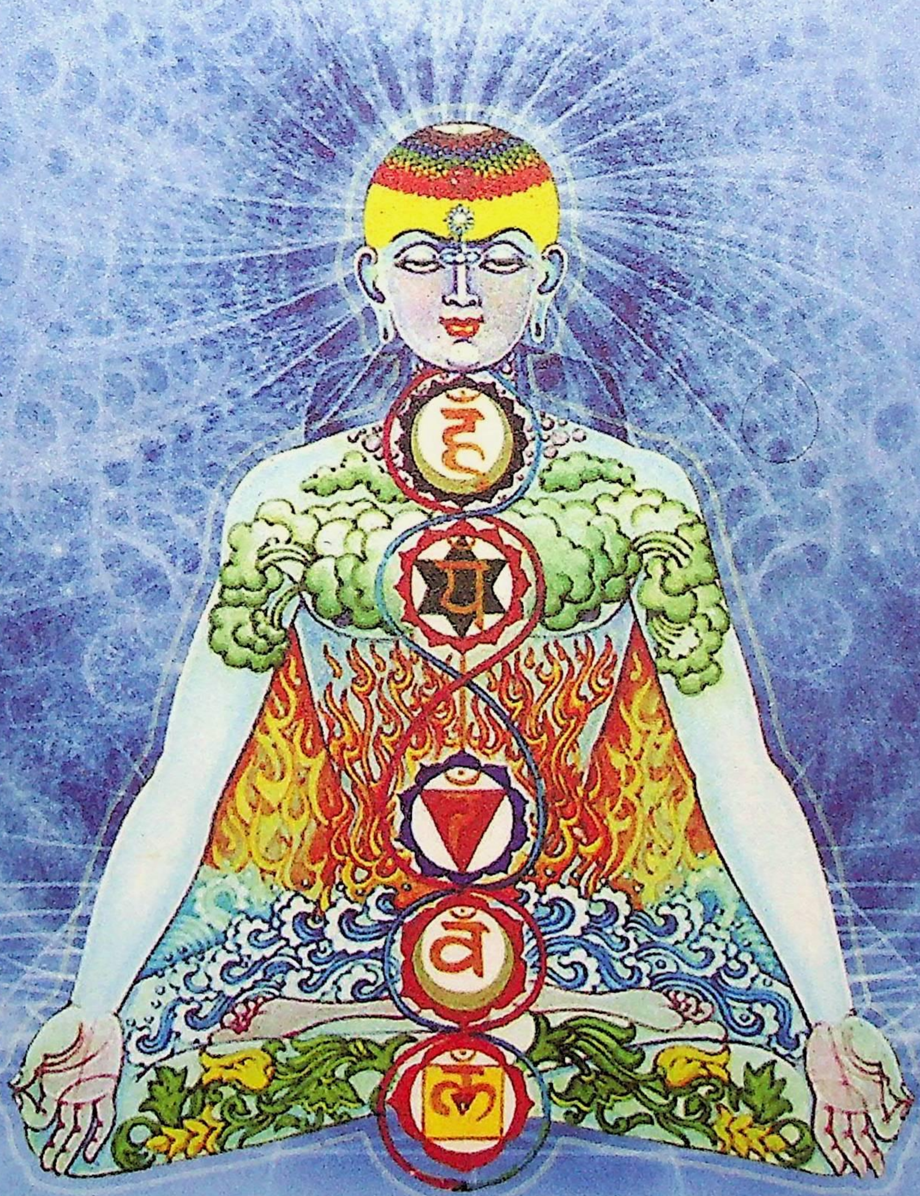
योग दिवाकर

(अष्टांगयोग सहित हठयोग, मंत्रयोग, लययोग, तारकराजयोग, षट्चक्र और लिंगदेह निरूपण का विश्लेषणात्मक ग्रंथ)



गणपतराव गोपालराव बर्वे

ऋषि मनीषा में योग को परम पुरुषार्थ की सिद्धि का हेतु माना गया है। व्यक्ति सभ्यता के उषःकाल से ही अपने अभीष्ट के लिए नानाविध उपाय करता आया है किन्तु वह संसार के आवागमन से मुक्ति के प्रधान-उपाय के रूप में योग के महत्त्व को स्वीकारता रहा है। ऐसा प्रतीत होता है कि प्रारंभिक काल में योग व्यक्ति के स्वास्थ्य-सिद्धि के उपाय के रूप में सामने आया होगा किन्तु स्वाध्याय और अन्य समस्त कार्यों में एकाग्रता के महत्व को कदाचित सर्वप्रथम स्वीकारा गया होगा। चरक इस बात की पुष्टि करते प्रतीत होते हैं कि जो व्यक्ति एकाग्रचित्त होकर निर्देशों का पालन-अनुकरण करता है, वह लोगों को आरोग्यमय जीवन प्रदान करने वाला होता है और स्वयं भी धैर्यवान्, प्रखर, स्मरणशक्ति से सम्पन्न, बुद्धिमान् और धर्मशील होता है- इदमखिलमधीत्य सम्यगर्थान् विमृशति योऽविमनाः प्रयोगनित्यः। स मनुज सुखजीवितप्रदाता भवति धृति-स्मृति-बुद्धि-धर्मवृद्धः ।। (चरकसंहिता 12, 51)

इस प्रकार एकाग्रता का आशयं कदाचित वैदिक ऋषियों ने सर्वप्रथम जाना होगा और उसी को कालान्तर में महर्षि पतंजलि ने योग की लक्षणात्मक परिभाषा के रूप में स्वीकृत किया—योगश्च चित्तवृत्ति निरोधः। यह परिभाषा कोई एकाएक निर्धारित नहीं हुई होगी। ऐसा लगता है कि पूर्वकाल में मनीषियों की संगोष्ठियाँ-उपनिषद् ही किसी विषय पर सूक्ष्मतम परिभाषाएँ तय करती थीं। इसके लिए पर्याप्त वाद-विवाद होता था और उहाओं के तर्कसम्मत और प्रायोगिक तौर पर शमन के उपरान्त ही प्रस्तावों के आधार पर मतैक्य होता था। चरक आदि के ग्रन्थ सिद्ध करते हैं कभी हिमालय की कन्दराओं में ऋषियों के उपनिषद् प्राणियों के विभिन्न विषयों पर विचारपूर्वक निर्णय के स्तर पर पहुँचते थे— विघ्नभूता यदा रोगाः प्रादुर्भूताः शरीरिणाम्। तपोपवासाध्ययन- ब्रह्मचर्यव्रतायुषाम्।। तदा भूतेष्वनुक्रोशं पुरस्कृत्य महर्षयः। समेताः पुण्यकर्माणः पार्श्वे हिमवतः शुभे।। (चरक. सूत्रस्थानं 1, 6-7) कालान्तर में ऐसे आयोजन नैमिषारण्य में होने लगे थे और पुराणों के प्रणयन से लेकर व्याख्यान तक के लिए सूतादि वहीं पहुँचते थे।

योगसाधकों की कई श्रृंखलाएँ भी खड़ी होती रही जिन्होंने योग की विषय वस्तु को विस्तार देते हुए प्रमुखता से साधनात्मक पक्षों को विशदता दी। इनमें राजयोग, हठयोग, वज्रयोग, तन्त्रयोग जैसे विविध

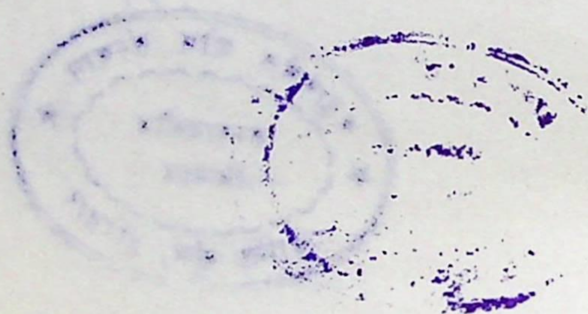
शेष दूसरे फ्लैप पर...


विभाग



योग दिवाकर





योग दिवाकर

(अष्टांगयोग सहित हठयोग, मंत्रयोग, लययोग, तारकराजयोग, षट्चक्र निरूपण, लिंगदेह निरूपण का विश्लेषणात्मक ग्रंथ)



ग्रंथकर्ता—गणपतराव गोपाल राव बर्वे
अनुवादक–हसमुख व्यास

प्रकाशक

आर्यावर्त्त संस्कृति संस्थान

दिल्ली–110094



ISBN : 978-93-80943-03-9

प्रकाशक
आर्यावर्त्त संस्कृति संस्थान
डी-48, गली नं. 3, दयालपुर,
करावलनगर रोड, दिल्ली-110094
प्रथम संस्करण
2017
अक्षर संयोजक
प्रिंस कम्प्यूटर्स
दिल्ली
मुद्रक
बी. के. ऑफसेट
नवीन शाहदरा, दिल्ली-110032

मूल्य : 750.00 रुपये

योग की साधानात्मक अवधारणा और योग दिवाकर

ऋषि मनीषा में योग को परम पुरुषार्थ की सिद्धि का हेतु माना गया है। व्यक्ति सभ्यता के उषःकाल से ही अपने अभीष्ट के लिए नानाविध उपाय करता आया है किन्तु वह संसार के आवागमन से मुक्ति के प्रधान-उपाय के रूप में योग के महत्त्व को स्वीकारता रहा है। ऐसा प्रतीत होता है कि प्रारंभिक काल में योग व्यक्ति के स्वास्थ्य-सिद्धि के उपाय के रूप में सामने आया होगा किन्तु स्वाध्याय और अन्य समस्त कार्यों में एकाग्रता के महत्व को कदाचित सर्वप्रथम स्वीकारा गया होगा। चरक इस बात की पुष्टि करते प्रतीत होते हैं कि जो व्यक्ति एकाग्रचित्त होकर निर्देशों का पालन-अनुकरण करता है, वह लोगों को आरोग्यमय जीवन प्रदान करने वाला होता है और स्वयं भी धैर्यवान्, प्रखर, स्मरणशक्ति से सम्पन्न, बुद्धिमान् और धर्मशील होता है- इदमखिलमधीत्य सम्यगर्थान् विमृशति योऽविमनाः प्रयोगनित्यः। स मनुज सुखजीवितप्रदाता भवति धृति-स्मृति-बुद्धि-धर्मवृद्धः॥ *(चरकसंहिता 12, 51)*

इस प्रकार एकाग्रता का आशय कदाचित वैदिक ऋषियों ने सर्वप्रथम जाना होगा और उसी को कालान्तर में महर्षि पतंजलि ने योग की लक्षणात्मक परिभाषा के रूप में स्वीकृत किया—*योगश्च चित्तवृत्ति निरोधः।* यह परिभाषा कोई एकाएक निर्धारित नहीं हुई होगी। ऐसा लगता है कि पूर्वकाल में मनीषियों की संगोष्ठियाँ-उपनिषद् ही किसी विषय पर सूक्ष्मतम परिभाषाएँ तय करती थीं। इसके लिए पर्याप्त वाद-विवाद होता था और उहाओं के तर्कसम्मत और प्रायोगिक तौर पर शमन के उपरान्त ही प्रस्तावों के आधार पर मतैक्य होता था। चरक आदि के ग्रन्थ सिद्ध करते हैं कभी हिमालय की कन्दराओं में ऋषियों के उपनिषद् प्राणियों के विभिन्न विषयों पर विचारपूर्वक निर्णय के स्तर पर पहुँचते थे- विघ्नभूता यदा रोगाः प्रादुर्भूताः शरीरिणाम्। तपोपवासाध्ययनब्रह्मचर्यव्रतायुषाम्॥ तदा भूतेष्वनुक्रोशं पुरस्कृत्य महर्षयः। समेताः पुण्यकर्माणः पार्श्वे हिमवतः शुभे॥ *(चरक. सूत्रस्थानं 1, 6-7)* कालान्तर में ऐसे आयोजन नैमिषारण्य में होने लगे थे और पुराणों के प्रणयन से लेकर व्याख्यान तक के लिए सूतादि वहीं पहुँचते थे।

इससे पूर्व तक दर्शन के एक अंग के रूप में योग को स्वीकार लिया गया

था क्योंकि गीता में प्रत्येक अध्याय का नामकरण किसी न किसी योग के आधार पर किया गया है और गीता के संगठन-काल तक 4 मनुओं की ही मान्यता थी- महर्षय सप्त: पूर्वे चत्वारो मनवस्तथा। *(गीता 10, 6)* पुराणकाल तक आते-आते 14 मनुओं की मान्यता हो गई। यही नहीं, प्रारंभिक पुराण-स्वरूप का विभाजन क्या हुआ, विभिन्न धार्मिक मान्यताओं के आधार पर भी पुराणों की विषय-वस्तु का निर्धारण होते हुए उनका संगठन होने लगा किन्तु इसके साथ ही यह वैशिष्ट्य भी उभरा कि सभी धार्मिक मान्यताओं में योग को सर्वोपरि महत्त्व मिला और देवताओं और ऋषियों के नाम पर कभी ब्राह्म योग, कभी वैष्णव योग, कभी माहेश्वर योग, कभी सौर योग तो कभी शाक्त योग के रूप में योग के लक्षणों का सूक्ष्म विभाजन करते हुए साधनात्मक रूप में लब्धियों को लिखा जाने लगा। पुराणों में प्राचीन कहे जाने वाले वायुपुराण का रचयिता माहेश्वर योग का प्रतिपादन करता है। वैसे शैव पुराणों में योग विषयक विवेचन मिलता ही है। लिङ्गपुराण में कहा गया है कि 'योग' शब्द के द्वारा निर्वाण संज्ञक तुरीय महेश के पद को कहा जाता है। उसका हेतु ऋषि भगवान् रुद्र का ही ज्ञान होता है एवं उक्त ज्ञान भी भगवान् शङ्कर की ही कृपा से होता है। उनकी कृपा का कारण भी वास्तव में उनकी कृपा ही है। जिस ज्ञान से इस अगाध संसार रूपेण सिन्धु से तारण हो जाता है, इन्द्रियों की वृत्तियों का निरोध होता है और योग की सिद्धि होती है- योगशब्देन निर्वाण माहेशं पदमुच्यते। तस्य हेतुर्ऋषेर्ज्ञानं ज्ञानं तस्य प्रसादत:॥ ज्ञानेन निर्दहेत्पापं निरुध्य विषयान् सदा। निरुद्धेन्द्रियवृत्तेस्तु योगसिद्धिर्भविष्यति॥ *(लिङ्गपुराण पूर्व. 8, 5-6)*

वायुपुराण में योग की साधना से रुद्रलोक प्राप्ति का वर्णन अनेक सिद्धों के प्रसङ्ग में आया है- प्राप्य माहेश्वरं योगं रुद्रलोक व्रजन्ति ते। *(वायु. 23, 184 इत्यादि)* यह योग माहेश्वर प्रोक्त कहा गया है। पुराणकार ने साधनात्मक पक्ष के लिए इसका धर्म के रूप में उल्लेख किया है किन्तु यह पातञ्जल योग *(योगदर्शन 1, 3)* की भाँति अष्टाङ्ग न होकर पञ्चाङ्ग ही था-प्राणायामस्तथा ध्यानं प्रत्याहारोऽथ धारणा। स्मरणं चैव योगेऽस्मिनपञ्च धर्मा प्रकीर्तिता:॥ *(वायु. 10, 75-76)* वैसे भी कई ग्रन्थों में योग के अङ्गों की संख्या को लेकर मत-मतान्तर ही रहे हैं। लिङ्गपुराण में अष्टाङ्गयोग की मान्यता आई है। सम्भवत: वायुपुराण का पाठ प्राचीन होने से उसमें पञ्चाङ्गों की ही मान्यता है तथापि 104वें अध्याय में आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, यम, नियम एवं समाधि का क्रमश: नामोल्लेख हुआ है- आसनं प्राणरोधश्च प्रत्याहारश्च धारणा॥ ध्यानं समाधिरेतानि यमैश्च नियमै: सह। अष्टाङ्गानि यदर्थं च चरन्ति मुनिपुङ्गवा:॥ *(उपर्युक्त 104, 24-25)*

उक्त पाँच अङ्गों का लक्षण, कारण और तत्त्व भी महेश्वर किंवा रुद्र के मतानुसार ही बताया गया है। एक स्थान पर पुराणकार योगप्रवर्तक का उल्लेख करता है *(उपर्युक्त 11, 60)* किन्तु वह पतञ्जलि ही है, यह कहना कठिन है क्योंकि पातञ्जल योगाङ्गों में यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान एवं समाधि की गणना होती है जबकि माहेश्वर योग में सीधे ही प्राणायाम और तत्काल ध्यान की गणना की गई और समाधि की अपेक्षा स्मरण की गणना की गई है। पुराणकार का मत है कि प्राणायाम से दोषों का, धारणा से पाप का, प्रत्याहार से विषय समूह का, ध्यान से अनीश्वर गुणों का नाश होता है। *(उपर्युक्त 10, 93)*

विष्णुपुराण में ब्राह्मयोग के प्रसंग में कहा गया है कि उसके जानकार निमिवंशोत्पन्न केशिध्वज थे और इस योग की साधना से साधक ब्रह्म में लीन रहते थे और अपने स्वरूप से कभी च्युत नहीं होते थे। आत्मज्ञान की अपेक्षा रखने वाली मन की जो गति है, उसका ब्रह्म के साथ संयोग होना ही योग कहा जाता है, जिसका योग इस प्रकार के विशिष्ट धर्म से युक्त होता है, वह मुमुक्षु योगी कहलाता है– आत्मप्रयत्नसापेक्षा विशिष्टा या मनोगतिः। तस्या ब्रह्मणि संयोगो योग इत्यभिधीयते।। एवमत्यन्तवैशिष्ट्ययुक्तधर्मोपलक्षणः। यस्य योगस्स वै योगी मुमुक्षुरभिधीयते।। *(विष्णुपुराण 6, 7, 31-32)* पुराणकार ने पतंजलि की भाँति ही विभिन्न योगांगों का विवरण खाण्डिक्य के प्रति उपदेश के रूप में दिया है और इसी प्रकार देवीपुराण में भी योग के उक्त क्रियापादों और उनकी साधना व लब्धियों का वर्णन हुआ है। भविष्यपुराण के प्राचीन पाठ में भी योगांगों का विवरण मिलता है। इस प्रकार योग की क्रियात्मक और ज्ञानात्मक संज्ञाएँ साधकोचित प्रतिपाद्य पर निर्भर करने वाली रही।

यही नहीं, योगसाधकों की कई श्रृंखलाएँ भी खड़ी होती रही जिन्होंने योग की विषय वस्तु को विस्तार देते हुए प्रमुखता से साधनात्मक पक्षों को विशदता दी। इनमें राजयोग, हठयोग, वज्रयोग, तन्त्रयोग जैसे विविध कठिन-कृच्छ्र विषय भी जुड़े और खेचरी, भूचरी, चाञ्चरी, अगोचरी, उन्मनी जैसी मुद्राओं ने स्वतन्त्र मुद्रायोग ही संगठित किया वहीं, उपनिषद्काल में हंसयोग जैसे सहज श्वास-प्रश्वास विषयक योग के साधकों का वर्चस्व हुआ। सामान्यतः संयोग अथवा जुड़ाव के रूप में जिस योग को स्वीकारा गया, वह साधकों की अनुभूतियों और उपलब्धियों की बुनियाद पर विशद स्वरूप प्राप्त करता चला गया और सिद्धि के सेतु के रूप में योग का आशय लिया जाने लगा। इसी से जहाँ परकाया प्रवेश जैसी मान्यता की फलश्रुति देखी गई, वहीं अष्टसिद्धि और नवनिधि की प्राप्ति होना भी स्वीकारा गया और इन सांसारिक उपलब्धियों से दूर, स्वर्ग और मोक्ष की लब्धि को भी योग से जोड़कर

देखा जाने लगा। 'हर्षचरित' में बाणभट्ट सिद्ध करता है कि तब तक साधकों ने कैसे वेताल सिद्धि को भी योग साधना से होना मान लिया गया था।

उक्त विवरण से ऐसा प्रतीत होता है कि दैहिक और दैविक के साथ-साथ आध्यात्मिक सिद्धि के प्रमुख उपाय के रूप में योग को चिंतामणिवत् माना गया और बाद में जब तांत्रिक प्रभाव आया तो उसकी क्रियाएँ भी योग के रूप में ही स्वीकार ली गई। बौद्ध ग्रन्थ साधनमाला और मंजूश्रीमूलकल्प के विवरणों में ऐसे विकल्पों को पाया जा सकता है। तंत्र और अन्य संहितात्मक ग्रन्थों में योग के संबंध में अनेक प्रसंग संवादादि रूप में प्राप्य हैं- भले ही रसायनादि संयोगों के प्रतिपादक किमियागिरी वाले ग्रन्थ हों या आयुर्वेदिक वाङ्मय। योगानुसार फल प्राप्ति ने ही योग को बहु-अर्थी सिद्ध किया है।

विष्णुपुराणकार सिद्ध करता है कि यम-नियमादि साधक को सात्विक पथारूढ़ करते हैं और इसके अन्य चरण आत्मिक सुखानुभूति और निर्विकल्प मार्ग की ओर अग्रसर करते जाते हैं, बशर्ते साधक किसी योगमाया के जंजाल में नहीं पड़े- जैसा कि मार्कण्डेयपुराणकार ने पद्मिनी विद्या के संबंध में कहा है। योगांगों में प्राणायाम को साधना का आरंभिक चरण कहा गया है। प्राण की विस्तार-गति और प्राण के निरोध को प्राणायाम माना गया है। यह तीन प्रकार का है- उत्तम, मध्यम एवं मन्द। प्राणायाम का प्रमाण 12 मात्रात्मक बताते हुए माना गया कि यह प्रमाण मन्द का है, इसके 12 उद्घात है। मध्यम प्राणायाम 24 मात्रात्मक होता है जिसके दो उद्घात है। उत्तम प्राणायाम की 63 मात्राएँ होती हैं एवं 3 उद्घात हैं। पसीना, कम्पन और विषाद की स्थितियाँ उत्तम प्राणायाम जनित कही गई है। प्राणायाम से वायु के वश में होने पर साधक के भय का निवारण, शरीरगत पाप का निवारण और सत्वगुणों का उदय होता है। इसी प्रकार प्राणायाम के प्रयोजनों में क्रमशः शान्ति, प्रशान्ति, दीप्ति और प्रसाद बताए गए हैं। *(वायुपुराण 10, 78-82 एवं 11, 4)*

वायुपुराण में योग की सिद्धि का लक्षण ध्यान कहा गया है, यह सब अङ्गों की समष्टि रूप में सिद्धि का नाम है। ध्यानयुक्त योग अपने को सदैव चन्द्र-सूर्य के समान देखता है। विषयों से निवृत्ति पाने को प्रत्याहार कहा जाता है। *(उपर्युक्त 11, 30-31)* योग में निरत होते हुए अपनी इन्द्रियों, विषयों, मन और पञ्चवायु को समवाय द्वारा वश में करते हुए प्रत्याहार का अभ्यास किया जाता है। कछुआ जैसे अपने अंगों को समेट लेता है वैसे ही योगी सम्पूर्ण कामनाओं, विषय समूहों से मन को हटाकर आत्मरति करता है। प्राणायामकाल में वायु द्वारा नाभि से कण्ठ पर्यन्त पूर्णकर प्रत्याहार का आरम्भ किया जाता है। *(उपर्युक्त 11, 17-20)* इसी प्रकार प्राणापानादि वायु के निरोध को

प्राणायाम कहा है और मन की धारणा को ही धारणा नाम से अभिधेय किया है। योग साधना से कई प्रकार के उपसर्ग हो जाते हैं, ऐसे में नाना द्रव्यों की धारणा करने से उपसर्ग का शमन किया जा सकता है। *(उपर्युक्त 12, 13-19)*

योग-साधना के लिए उपयोगी आसनों का अभ्यास किया जाता है। पतञ्जलि ने 'स्थिर सुखमासनम्' मात्र कहा है वहीं वायु और देवीपुराणकार ने योग के लिए स्वस्तिक, पद्म, अर्द्ध समजानु, एकजानु, उत्तान और किसी भी आसन पर सुस्थिर रहने का निर्देश करते हैं। आसन को दृढ़भाव से लगाकर, समकाय हो, दोनों पाँवों को परस्पर मिलाएँ अथवा दोनों ही पैर की एड़ियों द्वारा लिंग तथा दोनों अण्डकोश को निपीड़ित करके ग्रीवा व मस्तक को कुछ ऊपर उठाएँ एवं मुँह को बन्द कर एवं आँखों को मूँद कर बैठें एवं दिशाओं को न देखते हुए केवल नासिका के अग्रभाग पर दृष्टि को स्थिर करें। *(तत्रैव 11, 14-16)* इस प्रकार यह बन्ध का लक्षण भी है। योग-साधक के लिए योग्य स्थान-स्थितियों के संबंध में कहा गया है कि अग्नि के निकट, वन में सूखे पत्तों के ढेर, कीड़े-मकोड़े वाली जगह, श्मशान, पुरानी गोशाला, चौराहा, कोलाहल, डरावनी जगह, वृक्ष के नीचे, वल्मीक से बनी ऊँची भूमि, नदी और कुआँ के समीप, भूखा रहकर, बिना मन के, व्याकुल चित्त होकर कभी योग साधना नहीं करनी चाहिए। लिंगपुराण में कहा गया है कि किसी अच्छे गोपनीय स्थान, शुभ, रमणीक स्थान, पर्वत की गुफा, सुगुप्त शिव क्षेत्र, शिवोद्यान, वन, गृह, सुशुभ देश, एकान्त जहाँ कि कोई भी मनुष्य न हो, जीव जन्तुओं से रहित स्थान, अत्यन्त निर्मल स्थल, भली-भाँति लिपा-पुता तथा चित्रांकनों से मण्डित स्थान जो कि दर्पण के समान प्रतीति देता हो और जहाँ काले अगरु की सुवास हो, विभिन्न भाँति के पुष्पों से समाकीर्ण स्थल जिसमें ऊपर वितान की शोभा हो; फल, पल्लव तथा मूलयुक्त स्थान, कुश-पुष्पों से युक्त स्थान में भली प्रकार आसन पर स्थित होकर स्वयं परम प्रसन्न होते हुए, योग के अङ्गों का अभ्यास करना चाहिए। आरम्भ में, पहले गुरु को प्रणाम करें और बाद में शिव, देवी तथा विनायक को प्रणाम करना चाहिए। *(लिङ्ग. पूर्व. 8, 81-85)*

पुराणादि में योग से प्राप्त सिद्धियों, ऐश्वर्यों और फलाफल का वर्णन भी हुआ है। इन ऐश्वर्यों में अणिमा, लघिमा, महिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशित्व, वशित्व एवं कामावसायिकता जैसी आठ सिद्धियाँ बताई गई हैं। *(वायु. 11, 63 एवं 13, 2-17)* यह भी कहा गया है कि देह में जब सत्वगुण की अधिकता, आरोग्य, लोभ का अभाव, कान्तिमयता, सुस्वर, सुभगमूर्ति, उत्तम गन्ध एवं मल-मूत्र की अल्पता जैसे लक्षण दिखाई देने लगें तो योग की पहली प्रकृति की सिद्धि को जानना चाहिए और सिद्धियों को त्यागकर परम लक्ष्य का चिन्तन करना चाहिए।

इस प्रकार योग और उसकी साधनात्मक अवधारणा का हमारे दार्शनिक और पौराणिक वांगमय में वर्णन मिलता है–किन्तु उसकी समस्त सिद्धि साधक के विचारात्मक और साधनात्मक पक्षों पर ही अवलंबित होती है। योग के ऐसे ही विविध पहलुओं पर प्रकाश डालने वाली कृति है योगदिवाकर। बवैंजी ने गुजराती में इस कृति को लिखा था। इसके लिए उन्होंने तत्कालीन कई योग गुरुओं का सान्निध्य प्राप्त किया था और प्राप्त अनुभवों, संस्मरणों के आधार पर अपनी कृति को साकार किया। वर्षों से यह ग्रन्थ अनुपलब्ध था। यह कृति उन्नीसवीं सदी तक योग के संबंध में विद्यमान रही अवधारणाओं को पुष्ट करती है ही, प्राचीन मतों पर भी प्रकाश डालती है। इसमें कई योग साधनाओं से सिद्धियों को प्राप्त करने का भी विवरण है किन्तु ये सब गुरु कृपाजन्य है क्योंकि गुरु ही होता है जो इन साधनाओं के लिए उचित मार्गदर्शन करता है अन्यथा यह कहा गया है कि 'देखा देखी करे योग, घटे काया बढ़े रोग।' लेकिन, योगगुरु इन साधनाओं पर सम्यक् विचार करेंगे, इसी प्रयोजन से इसे विद्वज्जनवल्लभ बनाने का प्रयत्न 'आर्यावर्त संस्कृति संस्थान दिल्ली' के संचालक भाई श्री गोविंद लाल सिंह ने किया है। उन्होंने इसे मुझे पढ़ने और इस पर भूमिका लिखने का अवसर दिया, तदर्थ धन्यवाद। योग गंभीरतम विषय है, वर्तमान में विश्व समुदाय इसकी ओर आशाओं की दृष्टि से तक रहा है। करोड़ों लोगों ने योग से अपने स्वास्थ्य की सिद्धि की है, हजारों ने आध्यात्मिक भावभूमि में स्वयं को धन्य किया है। मैं क्या योग की महिमा लिखूँ? हाँ ऐसे पिता की संतति होने का सौभाग्य अवश्य अर्जित कर लिया जो स्वयं योगीवर्य थे और उन्हें यह योग अपने पितामह से प्राप्त हुआ था। यह मुद्रायोग था। पिताश्री, नित्यलीलास्थ पं. मोहनलाल जी ने योग विषय पर पतंजलि गीता, प्रश्नोत्तरीगीता, योगचन्द्रिका जैसे ग्रन्थों का प्रणयन भी किया जो प्रकाशन की प्रतीक्षा में है– इस प्रकार मेरे परिवार में योग की परंपरा रही है। भाई गोविंदजी को पुनः धन्यवाद जिन्होंने इस कृति के माध्यम से मुझे पुनः योग जैसे विषय को पढ़ने का अवसर दिया और उससे प्राप्त ऋतम्भरा प्रज्ञा पर दृष्टि–निक्षेप को प्रेरित किया।

डॉ. श्रीकृष्ण जुगनू,
भारतीय विद्या–शोधक

40 राजश्री कॉलोनी, विनायक नगर, उदयपुर (राजस्थान)
महाराणा प्रताप जयंती, 4 जून, 2011 ई.

प्रस्तावना

परम उदार, संगीत विद्या के ज्ञाता, सद्गुण सम्पन्न भावनगर के नामदार महाराजा श्री रावलश्री भावसिंहजी साहेब बहादुर ने सन् 1900 सितम्बर और अक्टूबर दो महीने अपने हुजूर में मुझे बुलाया था। उस अवधि में मुझे अच्छा अवकाश मिलने से मैंने योगशास्त्र पर एक निबंध लिखकर तैयार किया। उस निबंध का नाम योग दिवाकर रख कर पतंजलि के योगसूत्र का क्रम तथा अधिकरण मेरी दृष्टि के अनुसार परिवर्तित करके तथा उसको मूल मुद्दे पर लेकर विस्तार से लिख कर उक्त नामदार श्री को तथा उस समय के प्राइवेट सक्रेटरी और हाल के भावनगर के दीवान बहादुर श्री परम साक्षर श्रीयुत् प्रभाशंकर दलपतराम पटणी को बताने पर उन्होंने लेख प्रकाशित करने की इच्छा बनाया और उस समय तात्कालिक उत्तेजन भी दिया, जिससे वह लेख प्रकाशित होकर हमारे गुर्जर समाज के समक्ष इस ग्रंथ के रूप में प्रकाशित हो रहा है। उसका सारा श्रेय इन उभय महापुरुषों को ही जाता है।

लिखने पढ़ने का शौक और सत्य जानने की जिज्ञासा बचपन से ही था। फिर आगे चलकर पाश्चात्य जड़ शास्त्रों का अवलोकन किया। परिणाम यह आया कि, मेरे अंतःकरण में बचपन में जो शक्ति और धर्मबुद्धि थे सो चले गये, तथा पूर्व का सहृदय अंतःकरण में जो रमणीय उद्यान-वाटिका उग आया था वह सूख गई और उस भूमिका में पाश्चात्य स्वभाववाद के अवलोकन से थोड़ा जड़-भावना रूपी जल गिरने से उसमें से नास्तिकता के कंटक वृक्ष उग निकले। इन सबका कारण तो मुख्य यही था कि आर्य तत्त्वशास्त्रों का बिलकुल परिचय ही नहीं था। उसके बाद इंग्लैण्ड के प्रसिद्ध फिलॉसफर हर्बर्ट स्पेन्सर और जर्मनी के तत्त्ववेत्ता कांट तथा शोपेनहोअरादि का फलसफा देखें और फिर जब सांख्य, योग, वेदान्तादि महान् निगूढ़ रहस्यमय आर्यशास्त्रों के प्रदेश का अवलोकन किया, और एक-दो महात्माओं का सत्समागम हुआ, उसके बाद उसमें से जो ज्ञानाग्नि उत्पन्न हुई, उस अग्नि ने जड़वाद के बीज से उगे हुए नास्तिकता रूपी कंटक वृक्षों को जला दिया। उस सत्समागम में से अंतःकरण में जो मेघ उत्पन्न हुआ, उसके मृत संजीवन जल से पुनः पूर्व की पुष्पवाटिका तैयार हुई। इस तरह सत्य जानने की जिज्ञासा से अंतःकरण में विचार था जो परिक्रमण हुआ, उसके कारण अनेक लाभ हुए। उन सबमें मुख्य लाभ यह

हुआ कि, इस दृश्यादृश्य विश्व में बाह्यान्तर सर्व स्थान पर सच्चिदानंद ब्रह्म का स्वतः सिद्ध अस्तित्व मालूम हुआ और ब्रह्मभावना निरंतर के लिए स्थिर हुई, और सर्व पश्चिमात्य शास्त्रों का आर्य शास्त्र के साथ रहस्य पूर्वक समन्वय करने की एक दृष्टि साध्य हुई, और आर्य देश के शास्त्र (सायन्स), धर्म (रिलिजियन) तथा तत्त्वज्ञान (फिलॉसफी) ऊपर पहले जो अंधश्रद्धा थी, सो चली गई। मेरे जैसे बहुत से व्यक्तियों के अंतःकरण में ऊपर के अनुसार परिवर्तन होने के बहुत से उदाहरण पढ़ने में आये हैं। उन सब उदाहरणों पर से यह मालूम हुआ कि, इस देश के विश्वविद्यालयों में जो विचित्र शिक्षण क्रम चलता है उसके अध्ययन से हजारों बालक अर्द्धदग्ध स्थिति में रह जाते हैं। इसमें जरा भी शक नहीं है। ऐसे शिक्षण से किसी भी देश की उत्तम ज्ञान भूमि के विस्तीर्ण प्रदेश का रहस्यमय-मार्मिक रूप से पूरा मार्गदर्शन भी नहीं होता। तो भी उस स्थिति ने जितने अंश में महाराष्ट्र देश के बहुत से बालकों और विद्वानों का दिमाग बिगाड़ डाला है उसकी तुलना में गुजरात में ऐसा भयंकर परिणाम थोड़े अंश में हुआ है। उनके अंश में मात्र संतोष की बात है और इस बारे में सच्चा श्रेय यदि किसी को देना योग्य हो तो मि. मणिलाल, डॉ. हरिलाल ध्रुव वगैरह स्वर्गस्थ पंडितों को और साक्षर श्रीमनः सुखराम भाई वगैरह शिष्यों को ही है। उन्होंने कुछ अंश में शुष्क और मिथ्या सुधार के विरुद्ध योग्य समय पर टक्कर देकर अपने लेखों के द्वारा बहुतों को उस प्रवाह में गिरते हुए बचा लेने के कारण कुल मिला कर उस समय गुर्जर समाज पर अच्छा परिणाम हो पाया था। अभी-अभी वह उत्तमोत्तम कार्य बड़ोदरा के श्रेयःसाधक अधिकारी वर्ग के मंडल ने और थीऑसोफीकल सोसाइटी ने अच्छी तरह हाथ में लिया है। हम उन दोनों वर्गों का अभ्युदय चाह कर आशा रखते हैं कि आने वाले दिनों में गुजरात के मानस क्षेत्र में वे वर्ग उत्तमोत्तम, भव्य और विशाल सुपुष्प वृक्ष बोकर उसमें सांख्य, योग, वेदांतादि प्राचीन तत्त्वशास्त्र के अध्ययन के पवित्र मठ स्थापित करेंगे। इसमें जरा भी शक लाने जैसा नहीं है कि ऐसे-ऐसे प्रयत्नों से हमारे हाल के शिष्यों की तरफ से हुआ करेंगे तो थोड़े ही समय में हमारी नई पीढ़ी के बच्चे अच्छे आचार वाले और उदात्त विचारवान होंगे। इसमें जरा भी शक लाने जैसा नहीं है।

सोचने की बात है कि मि. मणिलाल और मनः सुखराम जैसों ने अपने लेख के द्वारा आर्य भावनाओं का प्रसार क्यों नहीं किया था, उसके पहले पश्चिम के नये और छिन्न-भिन्न शिक्षण से पनपे बालकों के दिमाग में एक कीड़ा ऐसा घुसा था कि उसने सारे गुजरात देश पर मिथ्या सुधार की आंधी फूंकी थी। उस आंधी का असर अभी तक अहमदाबाद, मुंबई, सुरत तथा इन स्थानों में बसने वाले विद्वानों के दिमाग में से हटा नहीं है। यह बहुत चमत्कारी बात है। ऐसा ही असर महाराष्ट्र देश में पहले

हुआ था वह अभी भी कायम रहा है, परंतु उसमें दिन ब दिन फर्क पड़ता जा रहा है और मिथ्या सुधार के पीछे पड़ कर देश हित के कार्यों में दिन प्रतिदिन अधिकाधिक करने के उपरांत 'सु + धार' इस शब्द का वास्तविक रीति से जो अर्थ (अच्छी बुद्धि) हो सकता है, वह अर्थ जिसे लगा सकते हैं, ऐसी प्रवृत्ति में बहुतों ने स्वात्मर्पण किया है। नये तथा एक तरफी शिक्षण लेने वाले हमारे गुर्जर बच्चों की वर्धमान नास्तिकतारूप भयंकर स्थिति सुधारने के जो अनेक उपाय हो सकते हैं उनमें एक उपाय मैंने यह हाथ में लिया कि सांख्य, योग, वेदान्तादि आर्य प्राचीन शास्त्र और पदार्थ विज्ञानादि भौतिकशास्त्र तथा चेतनशास्त्र, हिप्नोटीज्म, स्पिरिच्युआलिज्म, थॉटरिडिंग, साइकोमेट्री, वगैरह जैसे अर्वाचीन आध्यात्मिक शास्त्र, इन सबका समन्वय करके भौतिक और आध्यात्मिक सृष्टि का कार्यकारण भाव संबंध का अनुक्रम, उनमें दोनों देश के शास्त्रों की प्रक्रियाओं को योग्य स्थान देकर उस पर कुछ लिखा जाय और वैसे लेख हमारे नये बालकों के पढ़ने में आये और उससे उनके अनके विषयों के भिन्न-भिन्न ज्ञान की किरणें एक बिन्दु में आ जाय, और उससे ज्ञानाग्नि प्रकट हो तो, प्राचीन अर्वाचीन प्रक्रियाओं को वे योग्य समय पर वाजिब न्याय देकर उन प्रक्रियाओं को ज्ञान परंपरा, ज्ञाननिःसरणी में अमुक स्थान देना सीख सकेंगे। यह उपाय मैंने अपने निज अनुभव पर से प्रशस्त माना है, और ऐसी प्रवृत्ति में से ग्रंथ की रचना हुई है। यह बात हमारे देशाग्रणिओं के समक्ष मुझे स्पष्ट करनी चाहिये।

तो भी मुझे मेरे देशबंधुओं को तथा विद्वज्जनों को अवश्य बताना चाहिये कि, उक्त उपाय यद्यपि प्रशस्त है तो भी उस पर अमल करके उस प्रकार की प्रवृत्ति करने वाले की योग्यता, विद्वता और पूर्व तथा पश्चिम देश के शास्त्रों का अच्छा पठन होना चाहिए, वह सब मुझमें नहीं है, परंतु बचपन से आज तक जो थोड़ा बहुत मेरे पढ़ने में आया, और उससे अंतःकरण पर जो संस्कार हुआ तथा जो थोड़ा बहुत अनुभव मिला, उतने का ही मात्र यहां उपयोग कर सकता हूँ। मेरा अपना प्रिय और खास विषय यद्यपि मात्र संगीत ही है, और उस विषय के शास्त्रीय अभ्यास के लिए मैंने अपनी समग्र जिंदगी अर्पित की ही है, तो भी उस विषय को हाथ में लेने के पहले मैंने जो प्राप्त किया सो अपने देश बंधुओं के समक्ष व्यवस्थित रीति से रखने की लालसा से ही ऐसे कठिन विषय में प्रवेश करने का साहस किया है। अतः इस योग तथा वेदांत शास्त्र की कठिन प्रक्रियाओं का विवरण करने में और उनको अर्वाचीन शैली से समझाने में मेरी भूल होना संभावित है। तो इन भूलों के लिए विद्वान क्षमा करेंगे और कुछ सूचना करेंगे ही। तो भी इस ग्रंथ का द्वितीय खंड पूर्ण होकर प्रकाशित होने तक इन दोनो ग्रंथों पर विवेचन करने वाले रूकेंगे, ऐसी आशा है। आयंदा

प्रकाशित होने वाले द्वितीय खंड में बाकी रहे। हठयोग, मंत्रयोग, तारकराजयोग, समाधियोग, (कि जिसमें सम्प्रज्ञात और असम्प्रज्ञातयोग) का विवेचन, और कर्मयोग, भक्तियोग और ज्ञानयोग का विवेचन आनेवाला है तो इस विषय के संबंध में इस ग्रंथ के पढ़ने वालों के जो-जो अनुभव, महात्मा, फकीर, हठयोगी और सिद्ध के चमत्कार जानने अथवा देखने में आये हो, उनकी यथास्थित खबर यदि वे हमें देंगे तो हम उनका उपकार मानेंगे और उसका प्रत्यक्ष लाभ लेकर उसका उपयोग द्वितीय खंड में करना नहीं भूलेंगे।

इस ग्रंथ की रचना करने के पहले जिन-जिन ग्रंथों का और ग्रंथकारों का प्रत्यक्ष और परंपरा से लाभ लिया है। उस बारे में यहां बताना इष्ट है। प्रसिद्ध षड्दर्शन चिंतनिकाकार और प्रसिद्ध देशहितैषी विद्वान रा. रा. माधवराव मोरेश्वर कुंटे ने भरत खंड की योग विद्या के संबंध में सारे हिन्द में तथा लंका में प्रवास करके जो शोध किये थे उनका अमूल्य लाभ हमें मिला। वह शोध करने में मि. कुंटे ने जो परिश्रम किया था उसके बारे में वे स्वयं लिखते हैं कि ''जिनको योगशास्त्र विदित हो, जिन्होंने उसका अभ्यास किया है, और जिनके चित्त पर योगशास्त्र का प्रबल अनुभव हुआ है। ऐसे योगियों के पास हम बैठते थे और उनके मुख से जो-जो उद्गार निकलते थे, सो लिख लेते थे। सारे हिन्द की हमने यात्रा की है। क्यों? योगशास्त्र का तत्त्व-रहस्य जानने में आये इसलिए। हमें योगी मिले हैं, उनसे हमने योगतत्त्वों का कुछ संग्रह बहुत सावधनी पूर्वक कर लिया है।

अन्य देशों में—श्रीलंका में जाकर प्रसिद्ध बौद्धों के चरण-कमल के पास निवास किया है। उनके अन्तःकरण की विलक्षण उच्चता और उच्च दृष्टि के संबंध में हम चकित हुए, और उनकी दृष्टि से उनके तत्त्व सिद्धांतों के बारे में कुछ सूचन हुआ है। कुछ काल तक प्रसिद्ध सूफी की हमने सचमुच सही सेवा की, तथा यमुना नदी के किनारे बैठते समय तथा उनके साथ वार्तालाप करते समय उनका क्या कहना था, उसके बारे में हम थोड़ा समझ सके और अंतःकरण पर एक प्रकार की लहर घूम गई। योगियों के समक्ष हमने दंडवत् प्रणाम किये हैं और बहुत समय तक उनकी खुशामद की है और दीनवाणी से उनके समक्ष हाथ जोड़कर खड़े रहे हैं। + + + अमृतसर में अमृतसर नाम के तालाब के किनारे बैठते समय सिख लोग ज्ञानवार्ता करते हैं सो हम सुनते थे अथवा कन्याकुमारी के पास रोमन कार्थलिक मत के पलाव्हर नाम के जो ख्रिस्ती हैं, वे, हिन्दुस्तान के साधुओं ने अमुक-अमुक अद्भुत चमत्कृतियां की हैं, ऐसा कहते हैं, उन लोगों के बीच भी हम बैठे हैं। दिल्ली के पास जो सैकड़ों मस्जिदें हैं उन मस्जिदों में एक मुसलमान फकीर के साथ हमारी मुलाकात हुई है, अथवा इधर-उधर घूमने वाले वैरागियों के साथ दक्षिण हिन्दुस्तान मथुरा नगर

में संभाषण हुआ है। हम चाहे वहां घूमने जाते थे, सारे भरत खंड में लोगों की योगशास्त्र पर अतिशय श्रद्धा देखने में आती है। ऐसी यह मजबूत श्रद्धा किस पर मजबूत हुई, उस श्रद्धा में अंगी कौन और उसके अंग कौन से, अर्थात् उस श्रद्धा का विग्रह क्या, वह आहिस्ता--आहिस्ता भव्य रूप में किस तरह प्राप्त हुई, उसका इतिहास क्या और वैसी श्रद्धा उत्पन्न होने के लिए इतिहास की कौन-कौन-सी सामग्री की आवश्यकता होती है, इन सब बातों का शोध करना परोपकार के लिए है। + +"

इस पर से मि. कुंटे की शोधों के संबंध में कीमत समझने में आएगी। वह शोध करने के बाद उन्होंने योगशास्त्र पर जो कुछ लिखा सो हमारे पढ़ने में आया, और सो पढ़कर हमें योगशास्त्र की प्रक्रियाओं का बहुत ही सरलता से विवेचन करने की और कठिन विषय समझने की अतीव सरलता के बारे में बहुत मोह हुआ। ऐसा उपयोगी साहित्य हमारे हाथ में जितना आया, उनमें के कुछ का उपयोग इस खंड के प्रारंभ से आसन के प्रकरण तक किया गया है और उनके बाकी के शोध का उपयोग आगामी द्वितीय खंड में विशेष नोट पर किया जाएगा। उसी तरह स्थायी विवेकानंद के राजयोग, कर्मयोग, भक्तियोग और ज्ञानयोग ये चार ग्रंथ पढ़ने में आये। उन ग्रंथों ने अंतःकरण पर जरा नया प्रकाश डाला और यह ग्रंथ लिखने का उत्साह भी उन व्याख्यानों को पढ़ने के बाद ही हुआ है। स्वामी के उस ज्ञान का और नये विचारों का लाभ भाषांतर, रूपान्तर या छायारूप में देना ऐसा लगने से उसका कुछ उपयोग संबंधित विषय में करने में आया है और विशेष उपयोग द्वितीय खंड में होने वाली ही है। उसके उपरांत योगसूत्र और उस पर का व्यासभाष्य, भोगवृत्ति, मणिप्रभाटीका, वगैरह ग्रंथों का आशय लक्ष में रखकर सूत्रों का विवरण किया है। उन सब प्राचीन ग्रंथों के साथ प्रो. कणिया का योगसूत्र का गुजराती भाषांतर बहुत उपकारक हो पड़ा है और हमें निष्पक्षपात रीति से कहना चाहिये कि प्रो. कणिया ने हमारे गुर्जर पाठकों को वह एक उत्तम ग्रंथ दिया है। उसमें शक नहीं है। श्रेयःसाधक अधिकारी वर्ग में दिये जानेवाले व्याख्यानों की सदुपदेशश्रेणियों और महाकाल के लेखों में से भी हमें बहुत चिंतन योग्य मिला है। उन सब लेखों में से उपयोगी भाग का उतारा या अनुवाद रूप इसमें उपयोग किया है। हठयोग प्रदीपिका, गोरक्षपद्धति, षट्चक्रनिरूपण, वगैरह अनेक ग्रंथों का उपयोग किया है। इस तरह संस्कृत, अंग्रेजी और गुजराती साहित्य के उपरांत मराठी और हिन्दी भाषाओं में की योगशास्त्र संबंधी साहित्य पढ़ कर उनका भी संबंधित स्थान पर सार खींच लिया है।

काठियावाड़ (सौराष्ट्र) के प्रसिद्ध स्वामीजी श्री आत्मानंदजी ने सिद्धिप्रकरण की हस्त लिखित कॉपी पढ़कर उसमें बहुत उपयोगी सुधार करना सूचित किया था।

उस तरह सुधार करके परिवर्तन किया गया है। इस ग्रंथ के आखिरी विभाग में जो 'लिंगदेह का निरूपण' शीर्षक से विषय लिखा गया है, उनमें का अंतःकरण का स्वरूप, ब्रह्मस्वरूप, तथा दूसरा कुछ भाग मूल जो लिखा गया सो उनके समक्ष लिखा गया है। इस तरह उस महात्मा ने इस गंथ पर बहुत उपकार की नजर से देख कर अपना प्रसाद दिया है। यह ग्रंथ लिखने के पहले ही उस महानुभाव के साथ प्रसंग मिलने पर जूनागढ़, गोंडल, भावनगर वगैरह स्थानों पर उनके साथ सत्समागम जब-जब हुआ, तब-तब उनको तत्त्वज्ञान की चर्चाओं में उतारकर उनकी मस्तिष्क को मैंने बहुत तकलीफ दी है। उसके लिए बहुत उपकृत हूँ। उक्त स्वामी जी अपना अमूल्य समय ग्रंथ लिखने में व्यतीत करते हैं, यह सर्व प्रसिद्ध है।

इस तरह प्राचीन अर्वाचीन ग्रंथों और ग्रंथकर्ताओं का उपकार मानने के बाद एक विद्वान मित्र की पहचान गुजरात के साक्षरों को करवा देने की आवश्यकता चाहता हूँ। विद्वान मित्र सो रा. रा. नारायण गिरधर ठाकुर हैं। हम दोनों की शिक्षा पाठशाला में एक की क्लास में साथ-साथ हुआ था। स्कूल में से दोनों अलग होने के बाद मुझे जिस तरह पाश्चात्य साहित्य का शौक लगा, वैसे उनको प्राचीन धर्म शास्त्रों का शौक लगा था। उन्होंने बाद के समय में हाल के शारदामठ के श्री मच्छंकराचार्य श्री मन्माधावतीर्थ स्वामी के पास न्याय और वेदांत का अध्ययन किया था। यानी कि पाठशाला में से हम दोनों अलग होने के बाद इस तरह दोनों के ज्ञान की दिशाएं यद्यपि प्रधानत्व से भिन्न रही थी और उन-उन दिशाओं में प्रयत्न चालू थे, परंतु बाद में दोनों के ज्ञान एक बिन्दु में आ मिले। मैंने पाश्चात्य शास्त्रों का अवलोकन करने के बाद जब आर्यतत्त्व शास्त्र का थोड़ा स्वाद चखा था और किन्ही महात्माओं के चमत्कार से योगशास्त्र पर मेरी श्रद्धा स्थिर हुई, तब उस शास्त्र पर स्वतंत्र विचार करने की तरफ मेरा लक्ष गया, जिससे उस विषय पर पहले निर्देश किया है। उसके अनुसार जितना-जितना पढ़ा और सोचा था, उन सबकी सहायता से इस ग्रंथ की प्रति भावनगर में बैठकर तैयार की। इस समय उक्त मित्र बड़ोदरा में थे, अतः यह ग्रंथ सुधार संशोधन से पुनः लिखकर छापने की अनुकूलता घर बैठे आ मिली। हर एक लेखक को अनुभव तो होगा ही कि कोई भी लेख प्रथमतः संक्षेप में लिखने का सोचा हो, परंतु बाद में जब थोड़ा विस्तार से लिखने बैठे, तब नया-नया लेखन अथवा प्रक्रियाएं बढ़ाने का मोह बढ़ता है। उसके अनुसार बड़ोदरा में आने के बाद इस ग्रंथ का बहुत-सा भाग नया बढ़ाया और वह लेखन वेदांतादि किसी आर्य अर्थशास्त्र की प्रक्रियाओं के अनुसार यदि क्वचित् स्थान पर दोष मालूम पड़े तो उक्त मित्र ने उसके अनुसार समय-समय पर सूचित करके समग्र ग्रंथ की मूल लिखित प्रति छापखाने में देने से पहले यह सोचकर सुधारने का श्रम किया है और ग्रंथ लेखन

के कार्य में मुझे व्यवहार कार्य में बाधा न आये, इसलिये मेरे घर की सारी व्यवस्था सम्हाली, उसके उपरांत प्रेस से आने वाले प्रूफ वगैरह की तमाम तरह की इतर व्यवस्था उन्होंने सम्हाल ली थी। ये महान् उपकार भूलना नहीं चाहिये। वे खुद अच्छे ग्रंथ लिख सकने की उत्तम शक्ति वाले हैं। उसके सबूत के तौर पर मुझे एक नमूना पेश करने जैसा है। वह यह कि योगशास्त्र की जो सच्ची प्रक्रिया धर्म, लक्षण और व्यवस्था इन तीन परिणामों को कहा गया है। इस प्रक्रिया का निरूपण इस ग्रन्थ में पृष्ठ 237 से पृष्ठ 251 तक आया है, वह खास उनकी कलम से लिखा गया है। उस पर से उनकी बुद्धिमत्ता के बारे में विद्वज्जन अनुमान करेंगे और कोई एक प्रक्रिया 10-15 ग्रंथों में से पढ़कर प्राचीन अर्वाचीन शास्त्रों के विचार पूर्वक उस प्रक्रिया का जो शुद्ध और निश्चित स्वरूप कायम किया जाता था, उसमें बहस चला कर जो निर्णय होता था उसमें भी उनकी सहायता कम नहीं था; और ऐसा करने में दूसरी अनुकूलता यह थी कि, जैसे मैं पाश्चात्य शास्त्र की तरफ प्रथम से मुड़ा था, परंतु प्राचीन वेदान्तादि तत्त्वज्ञानों से केवल विमुख रहा नहीं था। वैसे वे भी प्राचीन तत्त्वज्ञान की तरफ प्रथम से मुड़े थे लेकिन पाश्चात्य शास्त्रों से केवल अनजान नहीं थे। जिससे ऐसी मामलों में दोनों की सलाह बहुत उपयोगी हो जाती थी। इस तरह सब तरह से सोचने पर मालूम होगा कि इस मित्र की सहायता ऊपर के अनुसार नहीं होती तो मैं बारंबार व्युत्थानावस्था में आ जाता और ग्रंथ का काम अच्छी तरह नहीं होता, अतः मुझे उनका जाहिरतौर पर महान् उपकार मानना इष्ट है।

भावनगर के सुप्रसिद्ध परम मित्र वैद्यराज मल्लभाई लक्ष्मी शंकर नाम के एक महापुरुष का मुझे उपकार मानना चाहिये। इस ग्रंथ का अधिकतर भाग उनके यहां रह कर लिखा गया है। सिद्धिप्रकरण, षट्चक्रनिरूपण, और प्राणायाम प्रकरण ये तीन प्रकरण और बाकी के ग्रंथ का अधिकतर भाग लिखते समय उक्त वैद्यराज ने मेरे खाने-पीने की व्यवस्था ऐसी उत्तम रखी थी कि, मेरा चित्त जरा भी व्युत्थित न हो और वैसी निवृत्ति भी तभी मेरा चित्त समाहित हुआ है और इतना लिखा गया है। उसके सिवा उन्होंने स्वयं तथा परम प्रेमी भावनगर के स्टेट वकील मुरब्बी श्री साकरलाल भाई ने समय-समय पर इस कार्य में अमूल्य मदद की है, इसके बारे में परस्पर के अंतःकरण ही जानते हैं।

अब आखिर में इस ग्रंथ के बाद के बारे में दो शब्द लिखना इष्ट है। प्रथमतः मेरा निश्चय यह था कि पतंजलि के योगसूत्र, हठयोग, मंत्रयोग, लययोग और तारकराजयोग इतने योग विस्तार से और दूसरे योग संक्षेप में लिखना। परंतु बाद में कर्मयोग, भक्तियोग और ज्ञानयोग ये तीन योग भी इस ग्रंथ में विस्तार से आ जाए तो अच्छा, यह मोह हुआ। लेकिन इस मोह के प्रमाण में वेदांतादि शास्त्रों की

एक-एक प्रक्रिया का खंडन-मंडन पूर्वक अच्छा ज्ञान होना चाहिये, ऐसा मुझे जब लगा तब इस बारे में मुझे अपनी दुर्बलता मालूम होने पर उक्त मित्र रा. ठाकुर के साथ, इस कार्य में उनको जोड़कर परस्पर एक दूसरे के विषय लिखकर दोनों को मिलकर ग्रंथ पूरा करना ऐसा निश्चय किया गया और उसके अनुसार पूरे ग्रंथ की चार प्रभाएं करके, प्रथम प्रभा में चित्तवृत्ति निरोध, दूसरी प्रभा में अष्टांगयोग, तीसरी प्रभा में हठयोग, मंत्रयोग, लययोग, तारक राजयोग, और चौथी प्रभा में कर्मयोग, भक्तियोग, समाधियोग और ज्ञानयोग इस तरह चारों प्रभाओं में सब योगों को बांट कर ग्रंथ का कद बढ़ न जाय, इसलिए दो खंडों में छाप कर प्रकाशित करने की जरूरत हुई है। इस प्रथम खंड में हठयोगादि तीसरी प्रभा के मात्र डेढ़ प्रकरण का विवेचन आ गया है और द्वितीय खंड में हठयोगादि तीसरी प्रभा के ढाई प्रकरण तथा समग्र चौथी प्रभा का सारा विषय आयेगा। इस तरह आयंदा प्रसिद्ध होगा। उस द्वितीय खंड में के हठयोगादि के ढाई प्रकरण और समाधियोग के सिवा बाकी के तीन योग उक्त मित्र अपनी कसी हुई कलम से भविष्य में स्वतंत्र रीति से लिखने वाले हैं, इतना इस ग्रंथ के पाठकों को पहले से सूचित करना इष्ट है।

यह प्रस्तावना समाप्त करने के पहले राजकोट के परम विद्वद्वर रावसाहेब बापाजी रामचन्द्र नीकते ने आज तक व्यवहार कार्यों में मुझे समय-समय पर द्रव्य संबंधी जो कीमती मदद की है उसके बारे में मुझे जाहिर तौर पर उपकार मानना चाहिये। उनका मेरे पर विशुद्ध प्रेम और मेरे पर दया की भावना के बारे में उनके अंतःकरण में जो भावना है सो 'मैं ही जानता हूँ।' और मित्र रा. रा. दिनमणि शंकर नागेश्वर पुरोहित के लिए भी मुझे ऐसा ही कहना चाहिये और आखिर जिनकी मुख्य कृपा से और सहायता से इस योग विषय में साहस कर के यहां तक इस ग्रंथ के रूप में मैं कुछ भी कर सका हूँ तो श्रीमान् संगीतकला निपुण भावनगर के नामदार महाराजा श्री भावसिंह जी साहेब बहादुर और उनके वर्तमान दीवान बहादुर परम साक्षर श्रीयुत् प्रभाशंकर दलपतराम भाई पटणी इन दोनों महापुरुषों की सहायता से ही कर सका हूँ इतना इस ग्रंथ के पाठकों को पुनः-पुनः सूचित करके इस प्रस्तावना को समाप्त करने की आज्ञा लेता हूँ।

—गणपतराव गोपाल राव बर्वे



अनुक्रमणिका

द्वितीय प्रभा : अष्टांग योग

तृतीय प्रभा : हठयोग, मंत्रयोग, लययोग, तारकराजयोग

योग दिवाकर

यं ब्रह्म वेदान्तविदो वदन्ति, परं प्रधानं पुरुषं तथान्ये।
विश्वोद्गते कारणमीश्वरं वा, तस्मै नमो विघ्नविनाशकाय॥

प्रथम प्रभा—चित्तवृत्तिनिरोध

तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः।
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जुन॥

॥गीता.अ. 6-46॥

पहली कला-योगशास्त्र

योग विद्या की परम्परा

सैकड़ों ऋषियों, हजारों ब्राह्मणों, क्षत्रियों, वैश्यों और शूद्रों ने इस संसार का त्याग करके नैमिषारण्य में क्यों गए? उनको संसार सुख तथा संसार में भविष्य में उत्पन्न होने वाले अनेक फलों के प्रति वैराग्य क्यों हुआ? उनके मन को ऐसा ज्ञान हुआ कि, यह संसार अनेक दुःखों का सागर है, तो फिर दुःख सहन करके अनेक भय और दुःख के लपेटे में क्यों आये? यह नैमिषारण्य का रम्य स्थान कहाँ है? गंगा और गंडकी के बीच में हिमालय के पर्वत के मध्य है, ऐसा माना जाता है। ये लोग ऐसा कहने लगे कि, याज्ञिकी इत्यादि ऐहिक जितनी-जितनी प्रवृत्तियाँ हैं, वह हमेशा सभी प्रकार से त्याज्य हैं। ध्यान द्वारा सर्वव्यापी, तात्त्विक परब्रह्म का अनुभव हो तो बहुत अच्छा; ऐसे विचार उन प्राचीन लोगों को होने लगे। नैमिषारण्य में के आचार्यों ने जो कुछ काव्य में रचना की, उसका उत्तम प्रकार से संरक्षण हुआ, और उसका उ़पनिषद् और महाभारत आदि के रूप में संग्रह हुआ। उनकी अमोघ वाणी में जो उत्साह, जो गंभीरता है, वह वैचारिक चातुर्य है, वह अतर्क मानसिक वेग है, वह इतना अधिक अवर्णनीय है कि आज के समय के सभी विकसित देशों से जो महान्-महान् विद्वान, तत्त्वज्ञान के विचार करने लगे, उनसे हजार दर्जे अति विचार योग्य हो रहे हैं। अस्तु जब बौद्ध लोगों के मत का प्रसार होने लगा, तब इन लोगों के अन्तःकरण,

अरण्यवासी साधु, संतों और ऋषियों के हृदयभेदक भाषणों से चमक गये और इन अमोघ गंभीर और अवर्णनीय भाषणों ने जिन-जिन लोगों के अन्तःकरण आकर्षित किये उन लोगों को गौतम बुद्ध ने अचानक एकत्रित किया और परमचैतन्य क्या है? इस विषय का अनुभव प्राप्त करने की उनकी वृत्ति को त्वरा से प्रेरणा दी। संन्यास ग्रहण कर जो लोग मठ में निवास करते थे, उनमें से कईयों को आत्मानुभव हुआ। बहुत समय व्यतीत होने के पश्चात् इन बौद्ध मठवासियों का मन दूसरी तरफ दौड़ने लगा और उनको ऐसा लगा कि उनको भूत, भविष्य का ज्ञान है और वे अद्‌भुत चमत्कार कर सकते हैं, यह बात वे कहते थे। इनके भाषणों की छाप, जो लोग बौद्ध में परिवर्तित हुए, उन पर पड़ी। पूर्व के बौद्ध में कौन? ये विचारे "यह ब्रह्म, यह विश्व" यह बोध आश्चर्य करने वाले और रह-रह कर तत्वज्ञान का विचार करते थे। यह समय भी व्यतीत हो गया। बौद्ध लोगों में महान् बदलाव आया। उसके बाद जो महान्-महान् लोग थे, वे योगशास्त्र, उसके सिद्धान्त और उनके अनुसरण प्रवृत्ति इन सबसे विमुख हो गये और इन सबके बदले मदारी के खेल के समान हाथ की सफाई प्रारम्भ हुई और अधोर नरक को प्रदान करने वाली हल्की व नीच विद्या में उत्पन्न हुई और आज तो योगशास्त्र का नाम तक ही रह गया है जबकि यह बात सत्य है तब भी ऐसे कितने ही योगी हैं जिनके पास उपनिषद् में के असामान्य उत्साह तथा महान गांभीर्य निवास करता है जिनके मन की दौड़ उपनिषद् की गति से थोड़ी मिलती है। मुसलमान लोगों में हिन्दुस्तान के जीतने के बाद उनकी धर्म बुद्धि पर भी संस्कृत भाषा का असाधारण संस्कार होने लगा तब उनका एक पंडित संप्रदाय उत्पन्न हुआ। उस सम्प्रदाय का नाम सूफी है। यह शब्द ग्रीक भाषा से आया है। इन सूफी लोगों की वाणी में अधिक चमत्कार एवं अतिमनोवेधक है। सूफी लोग संसार का त्याग करने के लिये तत्पर रहते हैं। शेख फरीद शकरगंज जैसे फकीरों, जिनकी मात्र बातें ही सुनने में आती हैं तो चित्त स्थिर हो जाता है, उनमें इतनी शक्ति है। योगसूत्र का विवेचन करते समय प्रसिद्ध आचार्य, प्रसिद्ध बौद्ध और प्रसिद्ध सूफी क्या-क्या कहते हैं? उसका विचार भी आगे आयेगा।

दो मार्ग

पहला-प्रवृत्ति मार्ग

मनुष्य के मन में क्षण-क्षण दो प्रकार की तरंगें उठती हैं। एक प्रवृत्तिवाले और दूसरे निवृत्तिवाले, इनके अनेक पदार्थ और अनेक भोग भोगने को मनुष्य का मन खोया रहता है। इस चित्त का स्वभाव ही ऐसा है कि निद्रा, आहार-विहार इत्यादि से सुख प्राप्त करना। ऐसा सुख प्राप्त करते समय, आत्मरक्षा करते समय, विहार करते समय, प्रजा

की उत्पत्ति करते समय, स्त्री विलास का अनुभव करते समय, अपने जाति भाई का दुःख दूर करते समय, उसको ऐसा लगता है कि मैं कोई एक व्यक्ति हूँ। मुझे मेरी प्रतिष्ठा बढ़ानी चाहिए और इस प्रकार आगे बढ़ने में व्यस्त होता है। कभी-कभी मैं कौन हूँ? केवल ऐसा लगे तब कुछ शरम, कुछ मर्यादा उत्पन्न होकर कुछ करे, या न करे ऐसा भी उसको लगता है। कभी-कभी अभिभाव से कभी कुछ करना ही है, ऐसे विचार भी करता है। अपना उत्कर्ष करने के लिए दूसरों के साथ द्वेषपूर्ण व्यवहार करते हैं या दूसरे का बुरा देखकर खुद को संतोषी मान लेते हैं। तो भी उनमें धर्मबुद्धि प्रबल होती है। कुछ करने योग्य और कुछ नहीं करने योग्य भी उस व्यक्ति को लगता है, प्रतिष्ठा उसके अंग में निवास करती है। इसलिए वह खुद का अपमान न हो, उसकी सावधानी रखता है और खुद अपने में ही मशगूल रह कर हमेशा तृप्त रहता है। निरंतर मिथ्या उड़ता है, रूठता और खुश होता है; आग्रह के लिए मरता है। ऐसा उसका स्वभाव ही है। ऐसे उसके स्वभाव के कारण ही संसार में बड़े-बड़े कार्य हो सकते हैं। अपने सभी धार्मिक, सामाजिक, व्यावहारिक, व्यापारिक और राजकीय कार्य उत्पन्न होते हैं और व्यवस्थित रूप से चलते रहते हैं। ऐसी स्थिति को **व्युत्थान** कहते हैं, इस व्युत्थान स्थिति का मूल बीज यह है कि सुख ही श्रेष्ठ है और वह इस संसार में ही मिलता है। मनुष्यों को इस प्रकार सुख संपादन करना चाहिये और यह सब प्राप्त करने के लिए मनुष्यों को प्रयत्न करना चाहिए। इसका नाम प्रवृत्तिमार्ग है। यही पूर्व मीमांसा का सिद्धान्त और अति प्राचीन ऋषियों ने तथा ब्रह्मवादियों ने जिसका आग्रह पूर्वक प्रतिपादन किया है, वह यही वैदिक परम्परा है।

दूसरा—निवृत्ति मार्ग

मनुष्य को इस संसार में बार-बार ठोकरें लगती हैं और जिससे उसके चित्त का परावर्तन होता है। मृत्यु का भय उसको याद आता है। कहीं भी जायेंगे फिर भी मरना तो है ही, संसार में तो आज हैं और कल नहीं हैं, दो दिन की मौज, चार दिन की चाँदनी है। ऐसा मानते हैं तो इतनी चिंताएँ क्यों करें? इससे मिथ्या अभिमान का क्या सार है? जीव का तो क्षण में नाश होता है। देह तो केवल अल्पमात्र है। काल अनन्त है। ब्रह्माण्ड अनन्त है। इस प्रचंड विश्व के आगे आप कौन हैं? राम, रावण जैसे चले गए; समर्थ राजा, महाराजाओं, पीर-पैगम्बरों को, उत्तम देवांगना जैसी स्त्रियों को समर्थ काल खा गया। हाँ-हाँ करते-करते समय निकलता जाता है और एक-एक पल के साथ मेरा आयुष्य घटता जाता है। अपने भी एक बार इसके लपेटे में आने वाले हैं। वह किसी को नहीं छोड़ता है। इस शरीर की रक्षा करके क्या करना है? अनेक विहार मोजशोख में कौन-सा सुख है? स्त्री के साथ भोग करें, उत्तम भोजन करें, तो भी परिणाम तो दुःख ही है। अपना अभिमान क्या है? आपकी योग्यता क्या है? लोक-लाज की शरम कब तक

करें? विघ्न संतोषी कब तक रहें? यह सब नाशवान ही हैं। ऐसा विचार जब आने लगे तब एक प्रकार का वैराग्य उत्पन्न होता है और इस प्रकार का वैराग्य होने पर भी संसार में पुनःनिमग्न होता है। इसलिए ऐसे वैराग्य को श्मशान वैराग्य भी कहते हैं। तो भी यह वैराग्य नष्ट हो जाए तो उसकी कीमत नहीं है और जितना उसका वैराग्य बढ़ेगा, उतना उसका मान बढ़ेगा, उसकी प्रतिष्ठा भी बढ़ेगी। जैसे-जैसे वह विषय सुखों का त्याग करता है, वैसे-वैसे लोग उससे ज्यादा प्रेम करते हैं। इसी कारण से अपने देश में परोपकारी, हिमायती साधुओं की खूब प्रतिष्ठा है और हजारों रुपये खर्च करके संन्यासियों, महापुरुषों और, साधुओं को लोग मठ बना कर देते हैं तथा उनके शरीर पोषण के लिए हजारों रुपये खर्च करते हैं। मनुष्य का स्वभाव ही ऐसा है। मनुष्य को जिस प्रकार सुख का अनुभव है, उसी प्रकार दुःख का, शरीर नाशवान है, ऐसा ध्यान है। आत्मा अमर है, ऐसा मनुष्य को विश्वास है और इन्हीं कारणों से लोग निवृत्ति मार्ग की तरफ जाते हैं। इसलिए अंत में निवृत्ति वास्तविक होकर स्वभाव का अनुसरण करती है, मनुष्य का स्वभाव अनादि काल से चलता एक प्रकार का प्रवाह है, इसलिए यह प्रवृत्ति निवृत्ति भी अनादि प्रवाह रूप ही है। निवृत्ति मार्ग की हँसी उड़ाना भी उचित नहीं है। कारण यह सभी ऐहिक व्यापार-व्यवहार उन्नत ही होता है। उसको भविष्य में पत्ते, डाली, फल और फूल आते रहते हैं इसलिए प्रवृत्ति-निवृत्ति में उत्पन्न हुआ यह संसार दो प्रकार का है। इस प्रकार निवृत्ति मार्ग में पड़े चित्त की जो निर्णय के अवस्था है वह समाहित अवस्था कहलाती है।

चित्त दो प्रकार का (1) व्युत्थित और (2) समाहित

इस प्रकार चित्त की दो प्रकार की स्थिति होती है। एक वैराग्य में निमग्न हुई यानि समाहित और बाहर के विषयों में व्यक्त हुई ऐसी दूसरी व्युत्थित। कभी-कभी देश में प्रवृत्ति मार्ग प्रबल होता है। कभी-कभी निवृत्ति मार्ग प्रबल होता है, वह कैसे? यह दोनों अंकुर सबल हैं और मूल में तो सच्चे ही हैं, तब जहाँ-तहाँ यही देखने में आता है। ऐसे समय में दूसरा मार्ग पीछे पड़ता है और दुर्बल हो जाता है। ऐसे समय में दूसरा मार्ग मूल में है ही नहीं ऐसा कहना एक तरफा है। भरत खंडीय आर्यों के ऊपर जैसा-जैसा समय आता गया, वैसे-वैसे वे प्रवृत्ति-मार्ग में अथवा निवृत्तिमार्ग में ही तल्लीन होते गए। वह समय किस प्रकार आया, वह इतिहास का स्वतंत्र बात है। निवृत्ति मार्ग का अवलंबन करने वाले तो योग, वेदान्त, सांख्य, बौद्ध और जैन थे। और कुछ बातों को छोड़कर इन सभी की आध्यात्मिक भूमिका एक ही है। व्युत्थान अवस्था में से छूट जाए तो दुःख का अभाव होता है और जब दुःख का अभाव होता है वही अवस्था निर्वाण कहलाती है। ये सभी यह कहते हैं कि कर्म से यह संसार और जन्म प्राप्त होता है। जन्म

की परम्परा और ये संसार दो से छूट जाने के साधन, ज्ञान और ध्यान ही मुख्य है, ऐसा वो सिद्ध करते हैं।

वैदिक परम्परा का प्रवृत्ति मार्ग

प्रवृत्ति और निवृत्ति मार्ग अति प्राचीन काल से देखने में आते हैं। प्रवृत्ति मार्ग का अनुसरण करने वाले वैदिक परम्परा वाले थे और निवृत्ति मार्ग का अनुसरण करने वाले बौद्ध परम्परा वाले थे। इन दोनों परम्परा में जो विशेष भेद है, उसका कारण इस देश में जो पूर्व में आर्यों के अन्तःकरण के ऊपर धर्म के जो संस्कार थे उसका तेज है। और वैदिक तथा बौद्ध परम्परा का एक दूसरे पर जो संस्कार हुआ उन संस्कारों में अर्वाचीन 'ब्राह्मण धर्म' अथवा 'हिन्दू धर्म' उत्पन्न हुआ। वैदिक परम्परा का विस्तार होने लगा और बौद्ध परम्परा की उत्पत्ति होने लगी। इस प्रसंग में भगवान् पतञ्जलि ने अपने सिद्धान्तों का सतर्क रूप से विवेचन किया और योगसूत्रों की रचना की, उनके सिद्धांत महान् विचारने योग्य हैं और अनुभव करने योग्य हैं। वैदिक परम्परा में 'अहम्' और 'घमंड' बहुत देखने में आता है और इस परम्परा वाले आर्य ऐसा कहते थे कि, ये संसार सुख का स्थान है, कारण संहिता ब्राह्मण इत्यादि ग्रंथों में ऐसा स्पष्ट वर्णन है कि, सारा विश्व आर्यों को सुखमय करने के लिए निर्माण किया गया है। अति प्राचीन काल में वैदिक आर्य भी सुख आनन्द में मग्न रहते थे और वे अपनी चित्तवृत्ति को प्रफुल्लित रखकर सृष्टि के भव्य विशाल और निगूढ़ स्वरूप का अवलोकन करते थे और इस प्रकार उनके मन का तथा उनकी इच्छा शक्ति का तीव्र वेग आगे और आगे ही बढ़ता गया।

बौद्ध परम्परा का निवृत्ति मार्ग

उसके उपरांत भी शुद्ध अनार्य, ब्राह्मण अनार्य और विचारशील आर्य इन सभी ने मिलकर एक नवीन परम्परा की उत्पत्ति की। इस परम्परा का मुख्य सिद्धान्त ऐसा था कि, जगत में जितने प्राणी हैं, उसमें से 'मनुष्य' भी एक प्राणी है। और जितना दूसरे प्राणियों को सुख अनुभव करने का अधिकार है उतना उसका भी है। बौद्ध लोग हिन्दुस्तान के इतिहास के संबंध में मध्य में उत्पन्न हुए ऐसा कह सकते हैं। उन्होंने उस काल में उनको कैसा अनुभव रहा, उनको क्या लगा, यह सभी स्पष्ट बताया है। पूरी सृष्टि अर्थात् दुनिया उन्हें नीरस लगती और 'संसार दुःखरूप है इसलिए नहीं चाहिए', ऐसा वे लोग कहते हैं। इस स्थूल आधिभौतिक सृष्टि स्वरूप से वे दुखित हो गये थे। हिन्दुस्तान के मध्यकाल के इतिहास काल अर्थात् ईसा पूर्व 1500 वर्ष में आर्य लोग अंतर्मुखता क्या है? यह अच्छी तरह समझते थे। वे समाधि लगाकर आत्मा का ध्यान करने लगे और संन्यास-योग के अभ्यास में निमग्न हो गए। इस प्रकार कर्मकाण्ड

का तथा योग का परस्पर सम्बन्ध है और इसी तरह कर्मकाण्ड तथा योग का परस्पर विरोध है।

अब सोचना है कि, प्रवृत्ति और निवृत्ति का परस्पर विरोध क्यों है तथा इतिहास में ऐसे कौन से प्रसंग आर्यों पर आए कि उस प्रसंग से वैदिक और बौद्ध परम्परा उत्पन्न हुई। यज्ञ करने, प्रवृत्ति में निमग्न रहना, अपनी प्रतिष्ठा बढ़ानी, अपनी बात रखवानी, 'हम ही सर्वज्ञ' ऐसा अभिमान रखना,–जो लोग दूसरे के देश को जीतते हैं वहाँ अपनी सत्ता जमाते हैं, उनके अंग में प्रवृत्तिमय गुण बसे होते हैं। अब जो हारते हैं, और उन पर दूसरों की सत्ता है। उनको आलस्य, निराशा, उदासी उत्पन्न होती है तथा संन्यास लेने के लिए प्रवृत्त होते हैं और निवृत्ति मार्ग का आचरण करने लगते हैं। इस प्रकार से प्रवृत्ति का और निवृत्ति का परस्पर संबंध होकर उनके बीच ऐतिहासिक क्रम है। ये ऐतिहासिक क्रम एक सच्चाई (तात्विक) होकर कभी नहीं भूलने योग्य है।

धर्मपद्धति और शास्त्रपद्धति को भी प्रवृत्ति निवृत्ति का सिद्धान्त लागू होता है

कोई भी धर्मपद्धति अथवा शास्त्रपद्धति का उत्कर्ष और अपकर्ष भी ऊपर कहे अनुसार तात्त्विक ऐतिहासिक क्रम के अनुसार होता जाता है। परन्तु सभी शास्त्र पद्धति लेकर उसके दो विभाग कर सकते हैं। एक प्रवृत्ति मार्ग और दूसरा निवृत्ति मार्ग। प्रवृत्ति मार्ग खुला और स्पष्ट होता है, दूसरा मार्ग तो योग है। कोई भी विचारशील अपने इस जन्म में क्या-क्या घटित हुआ उस पर यदि विचार करेगा तो उसको पता चलेगा कि, कभी-कभी ऐसा लगता है कि खूब उल्लास और उमंग से संसार में मग्न रहे और इस संसार में जीवन को सुखमय बना दे; तथा कभी-कभी उसको ऐसा भी लगा होगा कि इस संसार में मग्न रहने जैसा यहाँ कुछ नहीं है। उसमें सुख तो मात्र तिनके के समान है और दुःख पर्वत समान है। ऐसा लगता है तब स्वाभाविक रीति से मनुष्य आत्मा का ध्यान करने लगता है। मनुष्य की प्रकृति में उसके स्वभाव में ऐसा व्यवहार स्वभावतः ही होता है। वह कभी प्रवृत्तिमार्ग की तरफ जाता है तो कभी निवृत्ति मार्ग की तरफ जाता है। मनुष्य की स्थिति में जैसे-जैसे परिवर्तन आता है, वैसे-वैसे उसकी ऐसी वृत्ति प्रबल या निर्बल होती है। कोई भी धर्मपद्धति हो अथवा कोई भी शास्त्रपद्धति हो वह तब प्रबल होती है जब मनुष्य की प्रवृत्ति और निवृत्ति मार्ग संबंधी कोई रीति और शास्त्रपद्धत्ति इन दोनों की एकता होती है। कोई वृत्ति ऐतिहासिक प्रसंग और उसके अनुसंधान से अवश्य प्रकट होता है तथा जैसी जिसकी वृत्ति हो उसके अनुकूल धर्मपद्धति या शास्त्रपद्धति हो वह प्रबल

होती है। इस सिद्धान्त के अनुसार एक ही धर्मपद्धति में अलग-अलग सम्प्रदाय कैसे उत्पन्न हुए, इस बात का विवेचन हो सकता है।

योग शास्त्र की महत्ता

सभी धर्मों ने ऐसा प्रतिपादन किया है कि ईश्वर सर्वव्यापक है। ऐसी कोई गुप्त शक्ति है जो पूरे विश्व में व्याप्त है, उसको ही योगशास्त्र में चैतन्य जैसी संज्ञा है। जो गुप्त शक्ति सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में है वही शक्ति अपने देह में है और ब्रह्माण्ड की गुप्त शक्ति का और पिंड की गुप्तशक्ति का संबंध है। ब्रह्माण्ड की गुप्तशक्ति वह परमात्मा है और पिंड की गुप्तशक्ति वह आत्मा है। आत्मा का परमात्मा के साथ सायुज्य होता है। इस आत्मा का चित्त के साथ एक्य है वह जीवात्मा-जीव कहलाता है। उस जीवात्मा पर पवित्र आत्मा संस्कार करती है। इस जीवात्मा और परमात्मा का स्वरूप और उसका प्रतिपादन योगशास्त्र में सुव्यवस्थित रूप से किया गया है और परमात्मा और जीवात्मा इन दोनों के बीच जो संबंध है उस संबंध की उपस्थिति निर्विवाद बतायी गयी है। तो भी वैदिक परम्परा के अनुसार उसको अलग तरह से साबित किया है। इसलिए योगशास्त्र और वैदिक परम्परा की दृष्टि भिन्न-भिन्न है। दोनों का लक्ष्य भिन्न है। परन्तु यह लक्ष्य और यह दृष्टि वह ऐतिहासिक स्थिति और उसका अनुसंधान यह सभी में परिणाम है। इसलिए ऐतिहासिक दृष्टि और शास्त्रदृष्टि से योगशास्त्र का विचार करना चाहिए। अस्तु!

यूरोप खंड में और अमेरिका में आजकल प्रेतावाहन, प्राणविनिमय इत्यादि की तीव्र- गति से शोध हुई है। क्या वह योग, योग है। नहीं, तो योग क्या है? प्राणविनिमय आदि तो परशरीर से साध्य है। परंतु उससे स्वशरीर से साध्य ऐसा जिस चित्त का निग्रह समाधि द्वारा करके स्वयं पूरे ब्रह्माण्ड को और उसके सूक्ष्म कारणों को प्रत्यक्ष देखकर ब्रह्माण्ड और पिंड की गुप्त शक्तिओं पर सत्ता जमा कर स्थूल सूक्ष्म कष्टों से मुक्त होना, वही योग कहलाता है। योगियों के पास अलौकिक शक्तियाँ हैं। वह कैसे? उसका विवरण आगे आएगा, और जिसका इतिहास क्रम सरलता से जुड़ सकता है। ऐसी यह योगविद्या अथवा आध्यात्मविद्या वही वस्तुतः सही मुक्ति मार्ग है। जगत में जितने धर्म हैं, उन सभी का बीज क्या है? वह यही कि सभी धर्म में आसन, ध्यान, धारणा यह मुख्यतः तत्त्व है ही। धर्म ये वस्तुतः क्या है? ये प्रत्यक्ष बताने वाला और स्वीकार कराने वाला कोई शास्त्र है तो वह योगशास्त्र ही मुख्य है और सच पूछो तो बिना योग के कोई धर्म नहीं है। परंतु कोई पूछे कि योगशास्त्र में अथवा गूढ़ अध्यात्म विद्या की ध्यान, धारणा इत्यादि में कोई सत्यता समाहित है? हाँ, समाहित है। वर्तमान काल में मेस्मेरिज्जम के प्रयोग चलते हैं—उसमें एक बात सच है वह यह कि, मनुष्य के मन के ऊपर किसी रीति से संस्कार हो सकते हैं।

यह संस्कार कभी-कभी बाह्य सृष्टि का स्वरूप देखकर होते हैं और कभी-कभी मन ही मन में कितने ही उद्गार उत्पन्न होते हैं, वह संस्कार बन जाते हैं। ऐसे समय में मनुष्य के अंतःकरण के ऊपर एक सूक्ष्म प्रकार के वातावरण की लहरों का आघात होता है और स्वाभाविक रीति से जो-जो बातों को नहीं जान सकता, वह बातें ऐसे समय में अमुक आकार में उसको दिखाई देती हैं। कुछ मनुष्यों में ऐसी शक्ति होती है। परंतु इन सभी बातों से इतना ही लगता है कि भविष्य में क्या घटने वाला है? उसके लिए स्पष्ट रूप से समझ में नहीं आता है। भविष्य काल में कुछ होगा, ऐसी मात्र सूचना मिलती है। ऐसे मनुष्य में गुप्तशक्ति के बारे में स्पष्ट कुछ नहीं कह सकते हैं। तो भी ऐसी अनोखी शक्ति मनुष्य में होती है, यह मानने से इनकार नहीं कर सकते हैं। यह शक्ति सभी मनुष्य में किसी भी रूप से गुप्त हो तो भी प्राणविनिमय, प्रेतावाहन इत्यादि शोध इसी शक्ति के ऊपर आधारभूत है। योगियों की बात अलग है। दूसरे मनुष्य प्रकृति रीति से जो बात नहीं जान सकते वह बात योगी समझ सकते हैं और ऐसे समर्थ योगी विश्व की तमाम निगूढ़ शक्तियों को अपनी सत्ता में रखते हैं। यह बात आगे विस्तार से बताई गयी है।

योग सूत्र

उपनिषदों में स्थान-स्थान पर योगविद्या के वर्णन मिलते हैं। मनुस्मृति में भी योगविद्या के वर्णन मिलते हैं। मनुस्मृति में भी योगविद्या के आठ अंग के विषय में पृथक्-पृथक् वर्णन मिलते हैं। आदिकाव्य रामायण में भी बहुत वर्णन मिलते हैं। वाल्मिकी, वशिष्ठ, विश्वामित्र, जनक, कौसल्या, राम, लक्ष्मण, भारद्वाज, अत्रि, अगस्त्य, हनुमान आदि के योगाभ्यास तथा योगबल के विषय में वर्णन स्पष्ट मिलते हैं। इससे यह जान पड़ता है कि रामायण काल में योगविद्या पूर्ण अवस्था को प्राप्त थी। महाभारत काल में भीष्म, द्रोण, व्यास, विदुर, कर्ण, कृष्ण, धर्म इत्यादि योगविद्या में निपुण थे। एक प्रसंग में श्रीकृष्ण अर्जुन को कहते हैं—

"इस योगशास्त्र को एक समय विवस्वान ने सीखा था। विवस्वान ने मनु को सिखाया और मनु ने इक्ष्वाकु को सिखाया। इस तरह परम्परागत योगशास्त्र मात्र राजर्षि ही जानते थे। उसका धीरे-धीरे लोप होते रहने से वही पुरातन योग शास्त्र है। हे अर्जुन, कारण कि यह विद्या अत्यंत रहस्ययुक्त और उत्तम है!" मैं तुझे आज कहता हूँ, क्योंकि तू मेरा भक्त है, और मित्र भी है। (गीता अध्याय 4, 1-3)

रामायण के अवलोकन से जान पड़ता है कि, उस काल में देश में, नीति का स्वरूप बहुत ऊँचा था और महाभारत में जान पड़ता है कि, उस काल में नीति का स्वरूप बहुत बिगड़ गया था। जब प्रजा नीतिवान होती है तो श्रद्धा वाले लोग भी

बहुत होते हैं और ऐसे श्रद्धावान लोग महाभारत के समय में नहीं थे। इसलिए श्रीकृष्ण कहते हैं कि–

श्रद्धावान्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः।
ज्ञानंलब्ध्वा परां शांतिमचिरेणाधिगच्छति ॥ (भगवत् गीता)

श्रद्धावान लोगों को योगविद्या का ज्ञान सरलता से होता है। महाभारत रचने से पूर्व ही भगवान् पतञ्जलि ने अपने योगशास्त्र की रचना की, ऐसा बहुत से विद्वानों का कहना है। ये 195 सूत्र हैं। उसके चार पाद हैं। उसमें जो विषय है, उनके बारे में आगे बताया जायेगा। इन सूत्रों पर महर्षि व्यास का भाष्य है और महाभारत में भी अनेक स्थान पर व्यास ने योगविद्या के संबंध में जो अध्याय लिखे, उसमें जैसे श्रुतियों के वचन लिखे हैं वैसे पतञ्जलि के योगशास्त्र के वचन लिखे जान पड़ते हैं।

सांख्य शास्त्र का और योगशास्त्र का बड़ा निकट का संबंध है। सांख्यशास्त्र में ही थोड़ी-बहुत फेर-बदल करके योगशास्त्र की रचना की गयी है। श्रुति के समय के बाद आर्यावर्त्त में तत्त्वज्ञान का प्रतिपादन करने के लिए जितनी-जितनी विचार पद्धतियां उत्पन्न हुई, उसमें अति छोटी, केवल बुद्धिवादवाली और बहुत प्राचीन सांख्यशास्त्र की पद्धति ही मुख्य थी। वही ज्ञान का मूल है। ऐसा महाभारत में बहुत जगह स्वीकार किया है। इस शास्त्र की प्रक्रियाओं के बारे में भी आगे बताया जायेगा।

योगसूत्र में समाहित विषय

पूर्व में कहा कि योगसूत्र के चार पाद हैं। उसमें से हरेक पाद में नीचे के विषय समाये हुए हैं। योगशास्त्र में कही गयी अध्यात्मविद्या बहुत आसान है। जीवात्मा को भावितात्मत्वगुण प्राप्त होता है, तब वह कोई भी कार्य करने में समर्थ बनता है। तब वह विश्वरूप बन जाता है। काल और स्थान की मर्यादा से परे हो जाता है। ऐसा जो जीवात्मा वही सर्वव्यापी परमात्मा है। जीवात्मा चैतन्ययुक्त होकर लिंगदेह की सत्ता में रहता है। यह देह उसकी उपाधि कहलाती है। उस उपाधि का नाश होने से जीवात्मा मुक्त होता है। तमाम अवकाश और भूत, वर्तमान, भविष्य इन तीनों काल से मुक्त होकर विश्वरूप बन जाता है। तब जीवात्मा जीवनमुक्त हुआ ऐसा कहा जाता है। ऐसी दशा हरेक मनुष्य मात्र से प्राप्त कर सकते हैं और यह सब जीव साधनों से प्राप्त हो सकते हैं, वो साधन कौन से हैं वह बताने के लिए योगशास्त्र की प्रवृत्ति है।

1. प्रथमपाद में 'योग' शब्द का अर्थ समझा कर समाधि तक का विचार बताया है। उसमें योग यानि क्या? उसका विवेचन पतञ्जलि ऐसे करते हैं कि **चित्त की वृत्ति का रोध, वह योग है**। योग यानि समाधि, चित्तवृत्ति का निरोध होकर अच्छी तरह (सं)

स्थिरता (अधि-आधान) हो, ईश्वर प्रसाद प्राप्त हो और प्रकृति के बंधन से छूट करके मोक्ष मिले, वही योग है। प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा, स्मृति ये सभी वृत्तियाँ हैं। ये सभी मिलकर चित्त होता है। इन वृत्तियों को वेध कर दें, निरोध करें कि जिससे समाधान मिल जाय। आत्मा (पुरुष) तो केवल विकार रहित चैतन्य है, उनको चित्त वृत्ति कर मोह होता है। इसलिए वृत्तिनिरोध हो ताकि पुरुष का स्वरूप ज्ञान (अपने रूप का योग) होकर सत्त्वापत्ति हो वही **मोक्ष** है। चित्त का स्वभाव परिणाम प्राप्त करने का है। आत्मा का यानि पुरुष का वैसा नहीं है। इसलिए वृत्तिनिरोध परिणाम रहित कर दे, वह **योग** है। जब निद्रादि वृत्तियों का रोध ही होता है तो वह भी योग ही हुआ? नहीं। चित्त की तीन अवस्थाऐं हैं, **क्षिप्त, मूढ़** और **विक्षिप्त**। विषयों में घूमता चित्त क्षिप्त,निद्रा में पड़ा हुआ मूढ़ और विषयों में रुका हुआ विक्षिप्त। इन तीनों स्थितियों में क्लेषादि निर्मूल नहीं होता है, इसलिए वह योग नहीं है। व्याधि, स्त्यान, संशय, प्रमाद, आलस्य इत्यादि चित्त के विक्षेप हैं। इन विक्षेपों से वृत्ति का निरोध नहीं होता है, इस लिए उनको दूर करके केवल निरोध करना ही **योग** है, वही **समाधि** है। वह दो प्रकार की है—**संप्रज्ञात** और **असंप्रज्ञात**। संप्रज्ञात में तो थोड़ी सी चित्त की वृत्ति बनी रहती है। और वृत्ति निरोध यानि (केवल शून्यता नहीं) क्लेश, कर्म, विपाक और आशय इतने का नाश वह असंप्रज्ञात योग। वही सर्वश्रेष्ठ है और वह होता है तब ही चित्त के तमाम संस्कार चले जाते हैं; ये सभी प्रथम पाद में विस्तार से बताया है और उसे साध्य करने के उपायों का भी निरूपण किया है।

2. दूसरे पाद में चित्त के क्लेश बताए हैं। वह पाँच हैं—अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष, अभिनिवेशः—अनित्य तथा अशुद्ध और दुःख रूप वस्तुओं का नित्य शुद्ध तथा सुखरूप मानना अविद्या है। 'यह मैं हूँ', 'मैंने यह किया', ऐसा अहम् रखना अस्मिता हे; रागद्वेष प्रसिद्ध है ही; थोड़ी भी ऐसी आसक्ति होने लगे कि इस शरीर का तथा भोग-विषयों का वियोग नहीं हो तो उसका नाम अभिनिवेश है। यह पाँच क्लेश, कर्म यानि शास्त्र में बताए ज्योतिष्टोमादि अच्छे या बुरे ब्रह्महत्यादि है। विपाक यानि उन कर्मों का फल, आशय यानि कर्म के संस्कार जो फल देने तक चित्त में रहता है (आ + शय = सोता है) वो। ये क्लेश, कर्म, विपाक और आशय का नाश करनेवाला चित्तवृत्तिनिरोध, वह योग है। वही समाधि है। इसे प्राप्त करने के लिए अभ्यास की जरूरत है, वह यथार्थ बने इसके लिए प्रथम क्रिया योग कहा गया है। तप, स्वाध्याय, ईश्वर प्रणिधान यह क्रिया योग है। कृच्छ्रचाँद्रायणादि व्रताचरण से शरीर का दमन करना वह तप; प्रणव गायत्री इत्यादि मंत्रों का यथार्थ जप करना, स्वाध्याय। शारीरिक तथा मानसिक क्रियाएँ मात्र, फल की अपेक्षा त्याग कर केवल ईश्वर को अर्पण करनी वह ईश्वरप्रणिधान कहलाता है, और ऐसा करने से तमाम

क्लेशों का नाश होता है। क्लेश का नाश होने के बाद कर्माशयों का भी नाश होता है और नये कर्माशय होते नहीं हैं। और कर्माशयों का नाश हो तब फल रूप आनंद तथा क्लेश जो परिणामित्व इत्यादि हेतुओं से विवेक दृष्टि से केवल दुःखरूप ही है। उसका नाश होता है। इस प्रतिपादन करने में जो कर्म प्रक्रिया से अनेक शंकाओं का विवेचन होता है, तथा जगत् किस नियम से चलता है? जीव को सुख और दुःख कैसे मिलते हैं? वह स्पष्ट नजर आता है। उसका उत्तम रीति से प्रतिपादन किया है। यही बात कनिष्ठ प्रकार के अभ्यासी को विस्तार से समझाई है। इस जड़ विश्व के तत्त्वों का तथा जीवात्मा के संयोग का मूल कारण अविद्या है; इसलिए इस अविद्या का नाश होने से उस संयोग का भी अभाव होता है, वही कैवल्य है। अविद्या का नाश करने के उपायों में मुख्य विवेक साक्षात्कार ही है और उससे होते ज्ञान का स्वरूप कहा है। इस विवेक साक्षात्काररूप उत्तम ज्ञान होने के लिए यम, नियम, आसन, प्राणायाम और प्रत्याहार ये पाँच साधन कहे हैं। अहिंसा, अस्तेय, सत्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह ये यम हैं; शौच, संतोष, तप, स्वाध्याय, ईश्वर प्रणिधान यह नियम। ये दस बात सिद्ध होने के बाद आसनों का विचार करना है। आसन सिद्ध होने के बाद प्राणायाम करना है।

आसन, प्राणायाम के संबंध में शरीरशास्त्र का और इन्द्रिय विज्ञान शास्त्र का ज्ञान होना चाहिए। प्राणायाम साध्य होने के बाद चित्तवृत्ति का निरोध होता है और आत्मा का ध्यान सहज बनता है। परंतु चित्त का और शरीरात्मा का और उसकी प्रवृत्ति का परस्पर संबंध है। इससे शरीर के अलग-अलग अवयवों की स्थिति जिस प्रमाण में हो, उसी प्रमाण में चित्त की भी विशेष प्रवृत्ति होती है। इसलिए अन्न, पानी, वायु, स्नान, आसन और दूसरे अनेक प्रकारों के अभ्यासों के विषय में संपूर्ण विचार करके उनके संबंध में मनुष्यों को कैसा बर्ताव करना चाहिए, उसका भी निर्णय किया हुआ है। यमनियमादि पाँच अंग साध्य हो, ऐसी धारणा चाहिए। उसके अनुसार साध्य कर सके तब शरीर की और चित्त की जैसी इच्छा करे, ऐसी स्थिति प्राप्त कर सकते हैं। ऐसा होता है तब उस योगी का पूरे विश्व में कोई शत्रु नहीं होता है। उत्तम सुख में मग्न रहता है। अनंत लक्ष्मी का अधिपति बनता है। शूर और सहनशील भी होता है। अपना पूर्व जन्म भी जान सकता है। तमाम इन्द्रियों के तमाम विषयों का तिरस्कार करता है। निरोगी और चपल शरीर प्राप्त होता है। इष्टदेव का दर्शन होता है। शीतता और उष्णता का महत्त्व नहीं लगता। ऐसी उस योगी के शरीर की शक्ति विलक्षण होती है। मानसिक क्लेश का तो अंश मात्र भी नहीं रहता। यह सभी वर्णन दूसरे पाद में आता है।

3. तीसरे पाद में **धारणा, ध्यान** तथा **समाधि** का स्वरूप तथा इन तीनों का

समावेश एक में हो सके, इसे **'संयम'** नाम दिया है। इस विषय की चर्चा बताई गई है। अंतर्मुखता और बहिर्मुखता यानि क्या हैं? इस विषय में भी स्पष्ट समझाया गया है। योगी को भूत, भविष्य और वर्तमान का ज्ञान होता है। जिस-जिस विषय में योगी संयम करता है। उस-उस विषय का प्रत्यक्ष ज्ञान होता है। पशु-पक्षी परस्पर क्या बोलते, वो ज्ञान भी योगियों को प्राप्त होता है और वे सब जानते हैं। तब उनके प्रति बहुत दया उत्पन्न होती है। पूर्व जन्म में अपनी क्य। स्थिति थी? वे भी वो जानते हैं। दूसरों के चित्त में क्या प्रवृत्तियां चलती हैं? उसका भी उनको ज्ञान होता है। ऐसे योगी राज अपनी ही मस्ती में मस्त रहते हैं। उनकी अमोघ वाणी को कौन समझ सकता है? ये आत्मा और ये चित्त ऐसा भेद निर्माण होता है। **सूक्ष्म** ऐसे जो अतिशय छोटे परमाणु, **व्यवहृत** पदार्थ जैसे कि जमीन में छुपाए भंडार और **विप्रकृष्ठ** अर्थात् अभी इंग्लैण्ड में महारानी क्या कर रही हैं। उस विषय में भी योगी ज्ञान रखते हैं। बृहस्पति, शनि, मंगल, शुक्र इत्यादि ग्रहों का ज्ञान, अनंत तारों का ज्ञान, उनकी गति और स्थिति का ज्ञान और इस प्रकार तमाम विश्व का और शरीर की भिन्न-भिन्न नाड़ी चक्रों की अवस्था का ज्ञान होता है। यह ज्ञान प्राप्त होता है तब योगियों की भूख-प्यास खत्म हो जाती है; उनका चित्त स्थिर हो जाता है। दूसरे महात्मा आकर मिलते हैं। सिद्ध पुरुषों का दर्शन होता है। खुद के मन और लोगों के मन में क्या चलता है, ये वे सब जानते हैं और अंत में परमात्मा का ज्ञान होता है और यदि वे समाधिस्थ नहीं भी हो तो भी परमेश्वर के ज्ञान बल से सभी इन्द्रियां उनके स्वाधीन रहती हैं। दूसरे के शरीर में प्रवेश कर सकते हैं। पानी के ऊपर चल सकते हैं। ऐसे योगी का शरीर जैसे प्रज्ज्वलित अग्नि की जैसे विलक्षण होता है। आकाश मार्ग में गमन करते हैं। वे यदि चाहें तो सूर्य पर भी जा सकते हैं, अथवा वो पाताल में स्वर्ग में अथवा वो नरक में जाकर भी वहाँ की स्थिति देख सकते हैं। ऐसे समर्थ योगीराज विश्व का संहार करना चाहें तो वो भी कर सकते हैं, सूर्य, चंद्र की गति को भी रोक सकते हैं और उन पर भी शासन कर सकते हैं।

मेस्मेरिजम का यूरोपखंड में जो प्रसार हुआ है, उसमें विधेय को जब विश्वदृष्टि होती है, तब जो जान पड़ता है वैसे ही इसमें भी योगियों को सब जान पड़ता है। यानि विषय और विषयी संबंधी जितना जानने योग्य हो वह सब योगी प्रत्यक्ष देखते हैं, जानते हैं, सुन सकते हैं।

4. चौथे पाद में कहा है कि ये सभी विभूतियाँ केवल तुच्छ हैं और भूत होने के बाद कैवल्य यानि क्या? इस विषय में सविस्तार बताया है। ये कैवल्य प्राप्त होता है, तब योगी को आसानी से अद्भुत शक्तियां प्राप्त होती हैं। यह होने से पूरे ब्रह्मांड के तत्त्व उनके हाथ में आते हैं। यदि योगी चाहे तो सूक्ष्म शरीर धारण करते हैं, चाहे

तो स्थूल शरीर धारण करते हैं। ऐसे समर्थ योगी का शरीर यदि लावण्य युक्त और नाजुक हो तो भी उनका शरीर वज्र जैसा होता है। ऐसे परमकृपालु योगीराज मनोवेग से और मानसिक संकल्प से यहाँ-वहाँ भ्रमण करते हैं, विवेक सम्पन्न होकर कैवल्य में निमग्न होते हैं।

योगशास्त्र के मत अनुसार योगी को सर्वव्यापी चैतन्य का साक्षात् अनुभव होता है और सर्वव्यापी चैतन्य जो परमात्मा वही जीवात्मा है, ऐसा साक्षात् जानता है। इस स्थिति को योगी प्राप्त करता है तब काल और अवकाश की तमाम परेशानियों से मुक्त हो जाता है और योगी जीवन्मुक्त हो जाता है, अर्थात् लिंगदेह की और इस स्थूल जगत् की परेशानियों से जीते जी हालत में झे तो भी छूट जाता है। ये सब वर्णन जिस योग शास्त्र में है, उन योग सूत्रों का अब सविस्तार विचार करें।

प्रकृति

इस शब्द के अनेक अर्थ होते हैं। प्रकृति यानि शरीर के अंदर के धातु की समान अवस्था-साम्यावस्था। जहाँ तक कर्मों के हिसाब समान होते हैं तब तक अपनी तबियत अच्छी रहती है और उसमें जब कुछ घटत-बढ़त होकर गड़बड़ होती है तब तबियत खराब होती है। प्रकृति और जीव के सुखानुभवों का इस प्रकार साक्षात् सम्बन्ध है। इस तरह अपने देह में हमेशा अनुभव होता है।

संसार में भी ऐसा ही अनुभव होता है। पुरुष और स्त्री से संसार चलता है। पुरुष को प्रेम में बांधकर संसार की ओर ले जाने वाली स्त्री है। उसके सौंदर्य से पुरुष मोहित होता है; उसके विहार चातुर्य से वह रसिक होता है। उसके सुंदर अंग, उसका प्रेम, पुत्र आदि पर ममता उसका संसार के प्रति आकर्षण, घर का अभिमान, उसकी साफ-सफाई की कुशलता तथा नहाना, नाजुक और कला कृतिओं का संग्रह करने की चाह, खुद साफ रह कर बच्चों को साफ रखने की दक्षता—ये सब स्त्री का कुदरती स्वभाव है। उस स्वभाव को कौन दोष दे सकता है? ऐसा पाप कौन मोल ले? तो भी स्त्रियों में आग्रही भाव तो है ही, चपला, भीरू, मानिनी, सुदती, कोपना, प्रमदा ऐसे-ऐसे स्त्रियों के नाम हैं। उसका चित्त संकुचित होता है इसलिए उसका स्वभाव शर्मीला होता है और उसके अनुसार व्यंजना प्रदर्शक मुख और उसका अर्थ गोपन करने की शक्ति, इन सबसे स्त्री को सर्व रस की उत्पत्ति स्थान, ऐसा कहा जाय तो गलत नहीं है। तो भी वह बेचारी अज्ञान होती है। पुरुष के बिना उसका कुछ कार्य नहीं होता। उसको मार्ग बताने वाला पुरुष तो चाहिए ही। स्त्री को चलाये बिना पुरुष आगे नहीं चल सकता। पुरुष को स्त्री चलाती है तो भी संसार का सारा बोझ तो वही पुरुष वहन करता है। इस प्रकार स्त्री-पुरुष का जोड़ा चलता जा रहा है। यही सारा संसार अनुभव करता है।

सामाजिक अनुभव भी उसी को मिलता है। समाज का मुख्य नायक राजा होता है। परंतु वह बेचारा क्या करे? उसकी सभा जो कानून बनाए। जैसा मत दे उस प्रकार वह बर्ताव करता है। राजा सभा के बिना अपंग है। राजा बुद्धिमान होता है, दीर्घ दृष्टि वाला होता है, उसमें राजसत्ता चलाने की योजना शक्ति होती है। इतना सब होने के बाद भी वह राज्य मंडल की शरण में होता है। उसको सबका मत लेकर चलना होता है। जिस तरफ प्रजा का मत होता है। उस तरफ राज्य की सभा का मत होता है। राजा को अनेक व्यसनों की लत लगाकर और कोई उच्च से उच्च व्यसनों में लिप्त रखकर अपने आधीन में रखना, यह राज्य सभा का मुख्य व्यवहार होता है। इस राजकीय मंडली को संस्कृत में प्रकृति कहते हैं, राज्य में सभा को विषय कहते हैं। विषयों के स्वाधीन में प्रकृति और प्रकृति के स्वाधीन राजा ऐसी राजकीय व्यवस्था की स्वाभाविक स्थिति होती है। उसमें कभी व्यभिचार तो कभी आगंतुक कारण होता है, वह कोई वस्तुतः स्वभाव नहीं है और यदि हो तो उसका नाश होता है। अब राजा प्रकृति और विषय इन तीनों में जो संबंध है वही सिद्धांत पक्ष से पुरुष, (आत्मा) प्रकृति, और विषय इन तीनों में विचार करना चाहिए। इस प्रकार ये सामाजिक अनुभव है और लौकिक तथा शास्त्रीय विषयों के कथन एक है।

लिंगदेह

मनुष्य देह, हड्डी, चमड़ी, मांस, शिरा, धमनियां इत्यादि से बना है। उसके अंदर उसको चलाने वाला एक लिंगदेह है। उसे ही सूक्ष्म देह कहा जाता है। सूक्ष्म देह क्या स्थूल देह जैसा जड़ और दृश्य दिखे ऐसा है? नहीं, वह केवल दृश्य और केवल जड़ नहीं है। तो भी वह एक देह है। उसके विषय में अपने आप बता सके ऐसी शक्ति नहीं है तब वह क्या है? जो कर्मों अथवा कार्यों के अनुभव पर से हम स्पष्ट जान सकते हैं। उसका वर अधिष्ठान मैं हूँ ऐसा ज्ञान हमको हमेशा होता है यानि मैं कोई स्वतंत्र व्यक्ति हूँ, ऐसा निरंतर हमसे अनुभव होता है। उसका नाम अहंकार तथा ये कुछ और ये कुछ नहीं ऐसा निश्चय हम कर सकते हैं। ऐसी शक्ति हम में है, वह बुद्धि कर्मेन्द्रियों और ज्ञानेन्द्रियों का संयोग जिससे होता है उसका नाम मन, बाहर के पदार्थों का ज्ञान जिन इन्द्रियों से होता है वह पाँच ज्ञानेन्द्रियां हैं। चमड़ी में स्पर्श समझने की शक्ति है उसको **त्वगिन्द्रिय,** आँखों में देखने की शक्ति वह **चक्षुरिन्द्रिय,** कानों में सुनने की शक्ति वह **श्रोत्रेन्द्रिय,** जीभ की रस अनुभव करने की शक्ति उसका नाम **रसनेन्द्रिय,** नाक की सुगंध लेने की शक्ति **घ्राणेन्द्रिय**। ये पाँच ज्ञानेन्द्रियां है। अब कर्मेन्द्रियों को बताते हैं। बाह्य वस्तुओं का ज्ञान होने के लिए आत्मा को जैसे ज्ञानेन्द्रियां साधन रूप हैं, वैसे ही कर्मेन्द्रियां भी (आत्मा के) साधन हैं। ज्ञानेन्द्रियों से बाह्य वस्तुओं का ज्ञान आत्मा को होता है।

कर्मेन्द्रियों से आत्मा की जो आज्ञा अंदर से आती है उसका बाह्य जगत् में अमल कर सकते हैं। जैसे ज्ञानेन्द्रियों का संबंध पूरे शरीर के साथ है वैसे कर्मेन्द्रियों का संबंध भी पूरे शरीर के साथ है। तो भी उनमें मुख्य पाँच स्थान माने गए हैं। उसी तरह दो हाथ, दो पैर, मूत्रस्थान, मलद्वार और जीभ। इन सभी में कर्म करने की अलग-अलग शक्ति है। एक नगरी में जैसे राजा रहता है वैसे आत्मा इस इन्द्रियरूपी नगरी में रहती है। **बुद्धि, अहंकार, मन** ये उसका प्रधान मंडल है। बाहर राज्य में क्या-क्या चलता है वह आत्मा को बताने वाले सिपाही जैसे ज्ञानेन्द्रियां हैं वैसे आत्मा जो-जो आज्ञा करती है। उसको बाहर ले जा कर लोगों में अमल करने वाले सिपाही कर्मेन्द्रियां हैं।

प्रिय वाचक, जरा स्वस्थ बन और अंदर नजर डालकर देखें कि देह नगर में क्या चल रहा है। जैसे तार की मुख्य ऑफिस से कुछ संदेश को बाहर भेजते हैं और बाहर के संदेश अंदर आते हैं, वैसे ही ज्ञानेन्द्रियों से बाह्य वस्तुओं का ज्ञान अंदर आत्मा को होता है और अंदर से आत्मा की तरफ से आवाज होती है। वे कर्मेन्द्रियों के द्वारा परिणाम पाती है। पाँचकर्मेन्द्रियाँ, पाँच ज्ञानेन्द्रियां, मन, अहंकार और बुद्धि मिलाकर तेरह हुए।*

इस संसार में पृथ्वी, पानी, तेज, वायु और आकाश ये पांच भूत हैं। ये पांच स्थूल भूत कहां हैं? उनके मूल स्थान कहाँ हैं? इस तरह के प्रश्न उत्पन्न होते हैं। उसका भी विचार करने से ज्ञात होता है कि ये पाँच के पाँच मूलस्थान हैं, अर्थात् पांच मूल शक्तियां हैं। इन मूल शक्तियों के नाम तन्मात्रा है। पृथ्वी की तन्मात्रा गन्ध, पानी की तन्मात्रा रस, तेज की तन्मात्रा रूप, वायु की तन्मात्रा स्पर्श, आकाश की तन्मात्रा शब्द—ये पांच तन्मात्राएं, पांच ज्ञानेन्द्रियां, मन, बुद्धि इतने मिलाके उसमें अहंकार अर्थात् 'मैं हूँ', ऐसी स्फूर्ति उत्पन्न होती है। उसका नाम लिंगदेह अथवा सूक्ष्मदेह। आत्मा अथवा पुरुष ये देहनगर में मुख्य है। वह नित्य है, वह कभी मरता नहीं है।

आत्मा और लिंगदेह की जब तक गांठ बंधी है तब तक विश्व की (दुनिया की) स्फूर्ति हमारे अंदर विद्यमान हो सकती है और बाह्य संसार में आत्मा लिप्त रहती है। उसे ही योगशास्त्र में व्युत्थान कहा है। और इस व्युत्थान स्थिति से आत्मा के पीछे जन्म मरण का अनादिचक्र लगा रहता है। जन्म लेना, मरना, फिर जन्म लेना ऐसे अनेक योनि में आत्मा घूमती है। तब लिंगदेह भी उसके साथ घूमता है। मृत्यु के समय लिंगदेह का नाश नहीं होता है। जहाँ तक आत्मा और लिंगदेह की गांठ बंधी है। तब तक आत्मा के पीछे संसार व्युत्थान, जन्म, मरणादि अवस्थाएं लगी रहती

---

* वेदान्त में लिंगदेह 'सत्तर' तत्वों को माना गया है। ये पाँच ज्ञानेन्द्रियां, पाँच कर्मेन्द्रियां, पाँच प्राण, मन तथा बुद्धि है। इस प्रक्रिया को भी आगे समझाया जायेगा।

हैं। लिंगदेह और आत्मा की मित्रता नाश हुई तो आत्मा मुक्त हुई। इस तरह इस लिंगदेह को प्राचीन लोगों ने क्यों मान्यता दी? वृक्ष का बीज अति सूक्ष्म होता है और उस बीज से पूरा मानववृक्ष उत्पन्न होता है। वैसे ही जैसे फल, पुष्प, पान इत्यादि उत्पन्न करने की शक्ति जैसे बीज में होती है। वैसे मनुष्य बीज में भी होती है। पिता का स्वभाव पुत्र में तथा पिता की शरीर रचना, माता की शरीर रचना वैसे ही पुत्र की होती है। वैसे ही पीढ़ी दर पीढ़ी तक एक की एक छाप चलती रहती है। यह सब शरीर में उत्पन्न करने की शक्ति को लिंगदेह कहते हैं।

योग, सांख्य और वेदान्तशास्त्र इन तीनों शास्त्र का ऐसा कहना है कि, आत्मा अमर, चैतन्यमय है तो भी स्थूल और सूक्ष्म शरीर की परेशानियों से लिप्त रहता है तब तक वह बंधा है। जब वह परेशानी से छूट कर मुक्त होता है। तब वह स्वयं प्रकाश, सर्वज्ञ और विभु है। यह जीवात्मा स्थूल शरीर में होता है तब वह चित्त के हाथ में फँसा हुआ है और चित्त जैसे-जैसे नाचता है, कूदता है, वैसे आत्मा भी स्वयं को मान लेती है। चित्त जड़ है, वह हमेशा बर्हिमुख रहता है। बाह्य विषयों (पदार्थों) के साथ उसका संयोग होता है उसमें चित्त निमग्न रहता है। विषयों अथवा पदार्थों का जैसा आकार होता है वैसा ही चित्त का हो जाता है। इसलिए पदार्थों अथवा विषयों का और चित्त का संयोग नहीं होने देना चाहिए और धीरे-धीरे समाधि द्वारा उसको अंतर्मुख कर के आत्मा की तरफ घुमा देना चाहिए। इतना करने के बाद चित्त की स्वतंत्रता का नाश होता है। नित्य, शुद्ध अविकृत ऐसी जो अव्यक्त प्रकृति है वही चित्त को बहिर्मुख करने का कारणरूप होता है। वह प्रकृति ही एक तरफ हो जाती है और जीवात्मा दूसरी तरफ हो जाती है। तब दोनों भिन्न-भिन्न हो जाता है अब जीवात्मा को कोई परेशानियाँ नहीं रहती है, वह मात्र अपने ही रूप में तल्लीन होकर स्वानंद का अनुभव प्राप्त करता है। परन्तु ये सब साध्य करने के लिए चित्त के ऊपर अनेक संस्कार करने पड़ते हैं। सभी खटपट, माथापच्ची चित्त को स्थिर करने के लिए है और योगशास्त्र का मूल प्रयास भी इसके लिए ही है।

योग यानि क्या?

इतना जानने के बाद अब हम योगशास्त्र का विवेचन आरंभ करते हैं।[1]

योग यानि चित्त की वृत्ति का निरोध[2]। चित्त का निरोध संपूर्ण अंश से होता है। तब द्रष्टा(जीवात्मा) भी अपने रूप में स्थित होता है।[3] परन्तु इसके बिना तो आत्मा चित्तस्वरूप होती है।[4] इसलिए योग जानने वालों को चित्त की जितनी वृत्तियाँ

पतञ्जलि योग सूत्र देखो—1. अथ योगानुशासनं 1,1। 2. योगश्चित्तवृत्ति निरोधः 1,2। 3. तदाद्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानं 1,3। 4. वृत्तिसारूप्यमितरत्र 1,4।

होती हैं, वह जानकर उसका निरोध करने का अभ्यास करना चाहिए। और जब यह निरोध अच्छी तरह होता है तब ही योग साध्य होता है।

1. पूर्व में कहा था कि योगशास्त्र के मूल सूत्रों को पतंजलि ने रचे थे। उस पर से वेदव्यास का भाष्य हुआ था। उसके ऊपर अनेक टीकाओं की रचना हुई उसमें से एक टीका वाचस्पति मिश्र की है। दूसरी टीका विज्ञान भिक्षु की है, उसे योगवार्तिक कहते हैं। इन दोनों टीकाओं में वाचस्पति मिश्र की प्राचीन और दूसरी अर्वाचीन है। वाचस्पति मिश्र कब हुए, उसका कोई निश्चय नहीं है, परन्तु विज्ञान भिक्षु आज से लगभग तीन सौ वर्ष पूर्व हुए थे। ऐसा माना जाता है। ये दोनों टीकाएं तो मात्र व्यास के भाष्य पर से ही हुई हैं। दूसरी टीका सूत्रों के ऊपर है, वह भोजवृत्ति अथवा राजमातंड के नाम से जानी जाती है। मणिप्रभा नाम की टीका भी प्रसिद्ध है। अभी-अभी गुजराती भाषा में भी अनेक ग्रंथ, योग विषय के ऊपर रचे गए हैं। अंग्रेजी में भी राजेन्द्रलाल मिश्र, स्वामी विवेकानंद और दूसरे विद्वानों ने खूब ग्रंथ लिखे हैं। योगविद्या से मिलती-जुलती और इस स्थूल विश्व में कोई गुप्त शक्तियाँ हैं। उसकी प्रतीति कराएं ऐसा मेस्मेरिज्जम, स्पिरिच्युएलिज्जम (प्रेतावाहन), इलेक्ट्रीकबायोलॉजी (विद्युमान शास्त्र) इत्यादि अनेक शास्त्रों की शोध हुई है। वैसे ही थिऑसोफीकल सोसाइटी ने भी इस विषय में दुनिया को गुप्त शक्तियों के अस्तित्व के विषय में लोगों को जानकारी दी है। अर्वाचीन पदार्थ—विज्ञान, रसायनशास्त्र, भूस्तरशास्त्र, खगोलशास्त्र इत्यादि शास्त्र तथा अर्वाचीन तत्त्वज्ञान भी सांख्य और योग के तत्त्वज्ञान से मिलते हैं। इसलिए प्राचीन, अर्वाचीन सभी शास्त्रों और तत्त्व विचारों का समन्वय करके इस ग्रंथ का लेख लिखने में आया है।

2. चित्त अर्थात् क्या?

उसकी वृत्ति अर्थात् क्या? और उसका निरोध अर्थात् क्या?—पूर्व में लिंगदेह के विषय में कहा गया है उसमें बुद्धि और अहंकार इन दोनों के बारे में जो एक विशेष शक्ति है। उसका चित्त नाम रखा गया है कि जिसका आत्मा और मन इन्द्रिय इत्यादि के बीच स्वीकार हुआ है। विज्ञान, इच्छा, राग इत्यादि सभी धर्म चित्त के हैं, आत्मा के नहीं हैं, ऐसा सांख्य शास्त्र और योगशास्त्र ने सिद्ध किया है। वही बात अब जरा विशेष स्पष्टता से समझाते हैं।

चित्त जैसे एक दर्पण है। उसमें बाहर के पदार्थों के प्रतिबिंब पड़ते हैं। चित्त जैसे कि एक कटोरी में भरा हुआ पानी है उसके ऊपर अलग-अलग तरंग उठकर उसका रंग बदलता रहता है। चित्त यह एक ऐसी चीज है जिसका पल-पल अलग-अलग परिणाम होता है। चित्त यह एक ऐसी धातु का गरम रस है, जिसको जिस साँचे में डालो वैसा उसका आकार हो जाता है। धातु ठंडी होने पर जिस आकार में डाली हो वैसा उसका

आकार हो जाता है। जैसे पानी को जिस बर्तन में डालो उसका आकार भी बर्तन के आकार जैसा हो जाएगा वैसे ही चित्त जिस पदार्थ या वस्तु पर जाता है, चित्त भी उसी पदार्थ या वस्तु का आकार धारण करता है। ये सभी आकार ही चित्त की वृत्ति है। चित्त में रजोगुण, तमोगुण, सत्वगुण रहते हैं। यह तीनों गुण समन्वय होते हैं तब उसको प्रकृति कहते हैं। इस प्रकृति में कोई गुण जब कम-ज्यादा अथवा गौण या प्रधान अथवा तिरोभाव या अविर्भाव को पाता है तब तुरंत ही चित्त की उत्पत्ति होती है। ऐसा जो चित्त उसकी जो ये सभी वृत्तियाँ, उस वृत्तियों को बाह्य ब्रह्माण्ड के ऊपर से खींच कर उसका वरण आत्मा के ऊपर करना, उसका नाम योग है।

अर्वाचीन शास्त्र की दृष्टि से विस्तार से ये बात इस प्रकार है। हमको वस्तु अथवा पदार्थ का ज्ञान कैसे होता है? प्रकाश की किरण वस्तु पर गिरकर हमारी आँख के ऊपर आती है। तब उसकी खबर अमुक ज्ञानतंतु के द्वारा मस्तिष्क में जाते हैं, तब यह कोई वस्तु है, देख सकते हैं। इसी प्रकार कोई शब्द अथवा ध्वनि का ज्ञान कान के ज्ञानतंतु द्वारा, कोई पदार्थ खट्टा हैं, मीठा है, कड़वा है, ऐसा ज्ञान जीभ के ज्ञानतंतु द्वारा और कोई पदार्थ गरम है या ठंडा तथा कोई पदार्थ चिकना है, इसका ज्ञान हाथ तथा शरीर के तमाम भाग में स्थित ज्ञानतंतु द्वारा मस्तिष्क में पहुँचते हैं, तब होता है। ज्ञान को लाने व ले जाने वाले तंतु दो प्रकार के होते हैं। उसमें से एक ज्ञानतंतु और दूसरे को क्रिया को गतितंतु कहते हैं। ये दोनों प्रकार के तंतु मस्तिष्क तथा पीठ की रीढ़ में स्थित भाव में से निकल उसके कान, आँख, नाक, जीभ और शरीर के तमाम भाग में फैलते हैं। जिससे हमको रूप, शब्द, गंध, रस और स्पर्श इन पाँच विषयों का ज्ञान हो सकता है। ज्ञानतंतु तो मात्र बाह्य पदार्थ की खबर मस्तिष्क को देते हैं। परंतु यह खबर पहुँचाने के बाद उस प्रकार शरीर के अवयवों में फेरबदल करने का आदेश मस्तिष्क से आता है। ये आदेश लाने वाले तंतुओं को ही क्रियातंतु कहते हैं। ज्ञानतंतुओं का संबंध मस्तिष्क के साथ होता है और क्रियातंतुओं का संबंध पीठ की रीढ़ में होता है।

पाँच ज्ञानेन्द्रियों के द्वारा वस्तुओं का ज्ञान मस्तिष्क में पहुँचता है। जिससे उसमें अनेक क्रिया चालू रहती हैं। इन सभी में श्रेष्ठ क्रिया विचार करने के व्यापार की बनती है। इस व्यापार को चलाने के लिए प्राणी को सुख-दुःख होता है, हिताहित इत्यादि के बारे में वृत्तियों की आवश्यकता होनी चाहिए और वृत्तियों की कल्पना जिस प्रमाण में प्रबल अथवा दुर्बल होती है, उस प्रमाण में व्यापार बढ़ता-घटता और योग्य रीति बन जाता है। ये कल्पना दूसरे प्राणियों से मनुष्य में ज्यादा होती है। जिससे सभी प्राणियों में मनुष्य विचार व्यापार करने में श्रेष्ठ है। विचार करने के साथ स्मरण रहने का व्यापक भी मिला हुआ है। सभी प्राणियों में से मनुष्य में ये स्मरण शक्ति ज्यादा देर टिकी रहती है और **स्मरणशक्ति** तथा **विचारशक्ति** इन दोनों के संयोग

से जो फल आता है उसको ही **ज्ञान** कह सकते हैं। इसलिए ज्ञान के बारे में भी प्राणियों में मनुष्य श्रेष्ठ है।

बुद्धि व्यापार से कम श्रेणी का व्यापार इच्छाशक्ति का है। खाने-पीने की इच्छा होना, उसका संबंध भूख और प्यास के साथ है और ऐसी इच्छाएं इन्द्रिय जन्य इच्छाएं कहलाती हैं। ये इच्छाएं सभी प्राणियों में समान होती हैं, परन्तु जिन वस्तुओं का ज्ञान प्रत्यक्ष इन्द्रियों को कभी भी नहीं हुआ है उन वस्तुओं का वर्णन-श्रवण मात्र से ही उसकी इच्छा उत्पन्न होनी, यह तो मात्र मनुष्य में ही विशेष गुण है। सुख भोगने की इच्छा प्रत्येक प्राणी में होती है। परंतु उसके अनेक प्रकार दूसरे प्राणियों में होती जरूर है, परन्तु उसके अनेक प्रकार दूसरे प्राणियों में अनादिकाल से आज तक एक समान ही देखने में आता है। परंतु मनुष्य प्राणी अपने सुख के भोग के लिए रोज नए-नए उपाय खोज निकालते हैं। उससे भी उसकी योग्यता दूसरे प्राणियों से विशेष है।

इतना सामान्य रीति से जान लेने के बाद जरा गहरे उतरें और अंतःकरण का स्वरूप खोलें—किसी पदार्थ को आँख से देखा इसलिए आँख कोई देखने वाला (द्रष्टा) नहीं है। मस्तिष्क का ज्ञानतंतु आँख के साथ जुड़े हुए हैं। यदि उसको तोड़ दिया जाए तो आँखों की रचना जैसी हो वैसी ही रहेगी। फिर भी वो पदार्थ आँख से नहीं देख सकते। आँखों में बाह्य पदार्थ की प्रतिमा उस पर पड़ती है। परंतु वो वही की वही रहती है। इससे यह साबित होता है कि आँखें तो मात्र एक साधन रूप हैं। वह कोई ज्ञानेन्द्रिय नहीं है। परंतु ज्ञानेन्द्रिय का स्थान तो मस्तिष्क में है। दोनों आँखें देखने की पूर्ण क्रिया तो होती ही नहीं है। कभी-कभी कोई मनुष्य सो जाता है तब उसकी आँखों का दृष्टिपटल खुला होता है। उस पर प्रकाश की किरण पड़ती है और उससे पदार्थ की प्रतिमा भी पड़ती है, तो भी यहाँ तीसरे साधन की अपेक्षा होती है। वह **मन** है। आँख की दृष्टिपटल वह **कर्मेन्द्रिय** है और मस्तिष्क के परमाणु **ज्ञानेन्द्रिय** है। ज्ञानेन्द्रिय के साथ मन का समागम हो तब मन में कोई क्रिया होनी चाहिए। कभी ऐसा होता है कि रास्ते में गाड़ी जा रही होती है तो उसकी आवाज अथवा घड़ी की सुई की आवाज अपने पास बजती हो तो हम उसको सुन नहीं सकते हैं। उसका क्या कारण हो सकता है? यही कि अपना मन ज्ञानेन्द्रियों के साथ नहीं जुड़ा होता है। इसलिए कर्मेन्द्रियाँ फिर ज्ञानेन्द्रियाँ और इन दोनों के साथ मन का संयोग यह तीसरा साधन। इन तीनों का संयोग होता है तब बाह्य वस्तुओं का असर प्रतिमा मन ग्रहण करता है और फिर मन में ग्रहण की हुई प्रतिमा बुद्धि की तरफ भेजता है। 'बुद्धि' यह एक प्रकार का प्रतिक्रिया (प्रत्याघात रूप क्रिया) करने वाली एक विलक्षण शक्ति है। बुद्धि की ऐसी शक्ति से अहंकार या 'अहम्' की स्फूर्ति उत्पन्न होती है। ये स्फूर्ति होने के बाद यह

क्रिया और प्रतिक्रिया का (आघात और प्रत्याघात का) मिश्रण पुरुष को अर्थात् मूल आत्मा को जाकर मिलते हैं और अंत में जीवात्मा को जिस किसी भी वस्तु का ज्ञान होता है। वह इसी मिश्रण में से आता है। तब **कर्मेन्द्रियाँ, ज्ञानेन्द्रियाँ, मन, बुद्धि और अहंकार** ये सभी ज्ञान के साधन हैं। उसमें मन के अंदर अनेक प्रकार के जो व्यापार चलते हैं उसको **चित्त** कहते हैं और उस चित्त में विचारों की लहर उत्पन्न होती है। उसको वृत्तियां कहा जाता है। वृत्ति शब्द का सही अर्थ 'भंवरा' ऐसा होता है, और उसका स्थान **मन** है इसीलिए मन भी भंवरे के जैसे इधर-उधर घूमता है।

इस पर से चित्त क्या है? मन एक पानी का सरोवर है उसमें मौज वह वृत्तियाँ हैं। बाह्य पदार्थों के आघात जब उसके ऊपर होते हैं तब उसमें लहरें उत्पन्न होती हैं। हमारा यह ब्रह्मांड वृत्तिमय ही है।

किसी भी सरोवर का तल आप ऊपर से नहीं देख सकते। कारण कि पूरी सतह लहरों से भरी हुई होती है। उसमें की लहरें जब बंद होगी, पानी शांत होगा, तब ही हम तला देख सकते हैं, यदि पानी गंदा होगा तो तला नहीं देख सकते हैं अथवा पूरे दिन हवा के झोंके से पानी उछलता हो तो भी नहीं देख सकते हैं, पानी साफ और शांत होगा तो ही अंदर का हाल जान सकते हैं। हमारी आत्मा भी उस सरोवर के पैंदे के समान है। चित्त वह सरोवर है और वृत्तियाँ मौज है तथा मन की स्थिति तीन प्रकार की होती है। उसमें प्रथम अंधकारमय, उसको ही तामस स्थिति कहते हैं। ये स्थिति पशुओं में और पागल मनुष्यों में होती है। इस स्थिति का स्वभाव ऐसा होता है कि दूसरों को नाहक दुःख देना। मन जब तामस होता है तब उसमें दूसरी किसी प्रकार की कल्पना नहीं आ सकती है। दूसरी स्थिति को राजस कहते हैं, वह बहुत चंचल होती है। उसके सत्ता और भोग दो प्रकार के होते हैं। "मैं सत्तावान बनूँ और सब पर मेरा आदेश चले" ऐसा राजस स्थिति का स्वभाव निरंतर होता है। सरोवर के ऊपर की सभी हलचल बंद हो तब जो स्थिति होती है, उसको सत्व (चित्त प्रसन्नता या शांति) कहते हैं। यह स्थिति यानि उद्योग शून्यता की नहीं परंतु कुछ अंश पर ज्यादा उद्योगशाली कहलाती है। कुछ लोग सोचते हैं कि शांत मनुष्य आलसी होते हैं, परंतु यह उनकी बड़ी भूल होती है। सत्त्व यानि आलस्य या सुस्ती है, यह कहना गलत है। शान्ति के उच्च दर्जे पर पहुंचा सके, ऐसी इस शक्ति का विशाल रूप है। यदि वह चाहे तो आसानी से उद्योगशील बन सकता है। साधारण गरीब घोड़ों की लगाम ढीली छोड़ेंगे तो वे बिचारे अपने आप आगे चले जायेंगे। यह काम तो बहुत आसान है परन्तु जो मनुष्य मस्त और खराब घोड़े को खींच रखकर शांत करे, वही सच्चा मनुष्य कहा जा सकेगा। ऐसे घोड़ों को आगे चलाने में अधिक शक्ति की जरूरत नहीं है, लेकिन उनको शान्त करने में ही सारी कुशलता और

शक्ति रही हुई है। अतः मनरूपी सरोवर की लहर को तोड़कर जो मानस चित्तरूपी पानी को शांत कर सकते हैं, वही महात्मा है। ऐसे प्रचंड सरोवर के कोई एक परमाणु की अंदर जो शक्ति जागृत करते हैं वह एक उत्तम उद्योगशीलता होगी और उस उद्योगशीलता का नाप हाल में मालूम पड़ती मिथ्या उद्योगशीलता के साथ करना अशक्यवता होगा।

छोटी जाति के प्राणी हो या ऊँची जाति के प्राणी हो' सभी में चित्त होता है, तो भी मनुष्य में यह चित्त मात्र विचारयुक्त या बुद्धियुक्त होता है। इसी चित्त में जब बुद्धि विलय होती है तब आत्मा मुक्त होती है। गाय, कुत्ते, बिल्ली का भी मन होता है तो भी उनमें जल्दी मुक्ति मिलने की आशा व्यर्थ है। क्योंकि हम जिसको विचार शक्ति कहते हैं, यह उनमें नहीं होती है।

योगशास्त्र और काव्यशास्त्र का कितना संबंध है उस बारे में स्पष्ट कहना बहुत उपयोगी है। काव्यशास्त्र का विवेचन काव्यप्रकाशादि ग्रंथों में किया गया है और उसकी कुछ बातें इस प्रकार है:—चित्त की बाह्य विषयों के ऊपर आसक्ति होनी योग्य है और उस तरफ चित्त की प्रवृत्ति होती है तब उसमें के माधुर्य, ओज अथवा प्रसाद ये तीन गुण प्रकट होते हैं। माधुर्य के गुण चित्त जैसे गल जाता है। ओज के गुण से चित्त जैसे सुलग उठता है। प्रसाद के गुण से जैसे चित्त सर्वत्र व्याप्त हो जाता है। इसके लिए उदाहरण:—अग्नि का और लाख का संयोग होता है। तब लाख जैसे पिघल जाती है, वैसे ही माधुर्य गुण उत्पन्न होता है तब चित्त भी एकदम पिघल जाता है। अग्नि और लकड़ी का संयोग होते ही जैसे लकड़ी जल उठती है, उसमें से ज्वाला उठती है। इसी प्रकार ओज गुण द्वारा चित्त की स्थिति होती है। जैसे गोबर के उपले और अग्नि का संयोग होता है तब उपले अग्नि में व्याप्त हो जाते हैं, वो सब अग्निमय बन जाते हैं, उसमें से ज्वाला उत्पन्न होती हैं, अथवा नहीं भी होती और अंत में उपले जलकर राख का ढेर बन कर वहीं रहते हैं, ऐसी ही चित्त की स्थिति होनी, वह **प्रसाद** है। चित्त की ऐसी गुण से उसमें रसविपाक उत्पन्न होता है और ऐसे रसविपाक द्वारा चित्त में अद्‌भुत आनंद प्राप्त होता है। ऐसी-ऐसी मनुष्यों की प्रवृत्ति वही धर्म है। ऐसा काव्य प्रकाशादि में स्पष्ट कहा है। योग शास्त्र ऐसा कहता है कि चित्त को खींचकर रखो। किसी भी विषयों के साथ उसका संबंध नहीं होने देना चाहिए। मूल उसमें वृत्तियाँ ही उत्पन्न नहीं होने देनी चाहिए। चित्त और आत्मा का संबंध ही तोड़ डालना, उसका ही नाम **चितवृत्ति निरोध है। पूर्वमीमांसा** में तो ऐसा कहा है कि, **यज्ञ कर्म करना ही मुख्य धर्म है और इन यज्ञकर्मों को साधने के लिए संसार में प्रवृत्त होना ही चाहिए। प्रथम व्युत्थान अवस्था और फिर यज्ञकर्म करें। और इस**

प्रकार यज्ञकर्म साध्य होने के बाद मनुष्य कृतार्थ होता है। योग शास्त्र कहता है कि यज्ञकर्म भी जरूरी नहीं है। ये संसार नहीं चाहिए और इन सब में जो मूलरूप जो चित्त है वह भी नहीं चाहिए। विशुद्धआत्मा को आत्मा में रमा रहना चाहिए। योगशास्त्र का और **उत्तरमीमांसा-ब्रह्मसूत्र** (वेदान्तशास्त्र) का एक मेल है। योगशास्त्र में **जीवात्मा** और **परमात्मा** इन दोनों में कुछ स्थितिपरत्त्व भेद माना हुआ नहीं है। इतना विस्तार से लिखने का कारण यह है कि, चित्त यानि संज्ञाश्रोतसो का एक प्रकार का परिबल है। ऐसा सभी शास्त्रकारों का मानना है और इस प्रकार कौन-कौन से शास्त्रों का प्रवृत्ति की तरफ और निवृत्ति की तरफ कटाक्ष है, यह वाचक आगे पढ़ेंगे।

3. चित्त की वृत्ति का निरोध हुआ, चित्त एकाग्र हुआ, समाधि सध गई, बाह्य जगत् के ऊपर से दृष्टि उड़ गई, अंतर्मुखता होने से आत्मा का अनुभव हुआ, ऐसे समय में देखने वाला अर्थात् आत्मा अथवा द्रष्टा, वह खुद अपने स्वरूप का अवलोकन करता है और खुद अपने में ही स्थित हो जाता है। फिर उस द्रष्टा को यानि आत्मा को अत्यंत सुख का अनुभव मिलता है। इसलिए ही देखने वाले की अपने रूप में स्थिति होती है। तमाम बहिर्मुखता का मुख्य कारण चित्त ही है। उसका और आत्मा का जब तक संबंध है, तब तक आत्मा भी बहिर्मुख होती है। ये जब संबंध छूटता है, चित्त की जब गति समाप्त होती है, चित्त को छोड़कर आत्मा जब अकेला ही रहता है, उसका नाम योग है।

4. जब योग द्वारा चित्त नहीं खिंचता है, चित्त की सब प्रकार से होती प्रवृत्ति बहिर्मुख होती है। वहां के अनेक विषयों से वह घिर जाते हैं। जैसा बाह्य विषय वैसी चित्त की स्थिति होती है और चित्त में अनेक तरंगें उठती रहती हैं, पल-पल उनके रंग बदलते हैं, तब ऐसी स्थिति में आत्मा को जो ज्ञान होता है उसको व्युत्थान ऐसा नाम दिया गया है। व्युत्थान अवस्था अर्थात् संसार में निमग्न होना, और योग यानि समाधि लगाकर आत्मा का अनुभव कर लेना। इस प्रकार 'व्युत्थान' और 'योग' में परस्पर भेद है।

योग—समाधि के प्रकार

चित्त यानि क्या? उसकी वृत्ति क्या है? उन वृत्तियों को व्युत्थित और समाहित प्रकारों में क्या भेद है। इस बारे में पूर्व में कहा गया है। योग यानि चित्त की वृत्ति का निरोध। उसको समाधि भी कहते हैं। चित्त को बाहर के विषयों से अनेक प्रकार त्रास होता है, चित्त व्यग्र होता है और वह निरंतर बहिर्मुख रहता है। इस बहिर्मुख हुए चित्त का बाह्य विषयों से संबंध तोड़कर अंतर्मुख करना चाहिए और इस प्रकार अंतर्मुख होते-होते पूर्णरीति से समाहित होने से समाधि सिद्ध होती है। समाधि के दो प्रकार

हैं—**संप्रज्ञात और असंप्रज्ञात**। चित्त की पाँच अवस्थाएं हैं। वे इस प्रकार हैं—**क्षिप्त, मूढ, विक्षिप्त, एकाग्र और निरुद्ध**। चित्त के अंतर सत्त्व, रज और तम ये तीन गुण हैं। जितना ज्ञान, प्रकाश आनंद आदि व्यापार हैं, वो सत्त्व गुण का कार्य है। प्रवृत्ति राग, द्वेष, लोभ, काम इत्यादि रजोगुण का कार्य है और मोह, आलस्य, जड़ता, प्रमाद, निद्रा इत्यादि तमोगुण का कार्य है। तीनों गुणों में से एक-एक अथवा दो-दो कम ज्यादा हो या समान हो। उसके अनुसार त्रिगुणात्मक वृत्ति के अनेक प्रकार हो सकते हैं और इस प्रकार चित्त की वृत्तियों के असंख्य विलक्षण प्रकार संभव होते हैं। इन सभी गुणों में जब सत्त्व का प्राधान्य हो, रजोगुण और तमोगुण समान हो तब चित्त को समाधि सिद्धि, शुद्ध विषयोपभोग इत्यादि वृत्तियों का अनुभव होता है। जब सत्त्व और रजोगुण से तमोगुण की प्राधान्य होती है, तब अधर्म, अज्ञान, अवैराग्य इत्यादि वृत्तियों का चित्त को अनुभव होता है और जब सत्त्व गुण प्रधान होकर रजोगुण, तमोगुण समान रहते हैं ऐसी स्थिति में धर्म, ऐश्वर्य, ज्ञान, वैराग्य इत्यादि वृत्तियाँ चित्त में उत्पन्न होती हैं; और केवल सत्त्वमार्ग में ही रमा हुआ प्रकाशमान चित्त आत्माकार होने के योग्य है। रजोगुण के प्राधान्य से जब चित्त अनेक विषयों में भटककर अस्थिर बनता है तब उसको क्षिप्त कहते हैं। तमोगुण की अधिकता से जब चित्त अत्यंत प्रमाद, आलस, जड़ता या निद्रा में पड़ा रहता है तब उसको मूढ़ कहते हैं। सत्त्वगुण में थोड़ा सा रजोगुण का मेल होने से चित्त जब दूसरे विषयों में आकर्षित होता है, तो स्वाभाविक या व्याधि इत्यादि कारण से आकर्षित हुआ हो तो भी उसमें थोड़ी-थोड़ी स्थिरता प्राप्त होकर एकाग्रता का अनुभव प्राप्त होता है। ऐसी स्थिति वाला चित्त विक्षिप्त कहलाता है। एक ही विषय पर जिसकी स्थिरता (तल्लीनता) हो उसको एकाग्र, इस अवस्था में चित्त में शुद्ध सत्त्वगुण ज्यादा होता है, जिससे चित्त एक ही विषय पर दीपक की स्थिर ज्योति के समान रहता है। चित्त की तमाम वृत्तियाँ और अवस्थाओं का लय होकर उसमें केवल संस्कार ही मात्र बाकी रहते हैं। ऐसी अंतिम अवस्था वह **निरुद्ध** है। वृत्तिमात्र का निरोध होना उसको योगशास्त्र में 'समाधि' की संज्ञा दी गई है। ये समाधि क्षिप्त और मूढ़ चित्त को तो संभव नहीं है। विक्षिप्त को शायद समझ में आए; परंतु उसको समाधि नहीं कह सकते हैं। समाधि अर्थात् योग का आरंभ तो एकाग्रता से ही होता है और उसकी संपूर्णता निरुद्ध अवस्था में होती है। परंतु चित्तवृत्ति का निरोध होने से शून्यता का अनुभव होता है, ऐसा नहीं समझना चाहिए। जब चित्तवृत्ति का परम निरोध होता है तब वह निरोध, भाव पर्यवसायी यानि पूर्णता भाव रूप में होता है, ऐसा होना चाहिए। सभी के प्रकाशरूप आत्मा के बारे में वृत्तिमात्र का निरोध होकर वृत्तियों के साक्षीरूप में आत्मा का साक्षात् अनुभव होना चाहिए। समाधि के दो प्रकार हैं। उसमें संप्रज्ञात समाधि के **(1) सवितर्क,**

(2) सविचार, (3) सानंद, (4) सास्मित चार प्रकार हैं। कोई स्थूल पदार्थ, मूर्ति आदि के बारे में वृत्तियों का निरोध करने से जो साक्षात्कार होता है वह **सवितर्क समाधि,** फिर स्थूल पदार्थ को रखकर तन्भात्रा अर्थात् सूक्ष्मभूतों का जिसमें साक्षात्कार होता है वह **सविचार समाधि,** सूक्ष्म तन्मात्राओं से भी अतिसूक्ष्म ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों का साक्षात् अनुभव होने से जो आनंद प्राप्त होता है उसको **सानंद समाधि** और गृहिता जो आत्मा उसके साथ ग्राहक जो बुद्धि एक करके अहंकार के साक्षात्कार का अनुभव करने में आए उसको **सास्मित समाधि** कहते हैं। ये चारों समाधियां जिसके अंदर आ सकती हैं, उसको **संप्रज्ञात** अथवा **सबीज*** समाधि कहते हैं। इस समाधि से इस प्रकार ध्यान का साक्षात्कार के उपरान्त अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश इन पाँच क्लेशों का नाश होता है। धर्माधर्मरूप, कर्मबंधन या जिसमें से प्रारब्धकर्म उत्पन्न होता है उसका नाश होता है। तंत्रभरा प्रज्ञा (सत्य को धारण करने वाला ज्ञान) उत्पन्न होता है और परवैराग्य उत्पन्न होने से अंतिम असंप्रज्ञात समाधि साध्य होती है। संप्रज्ञात समाधि में चित्त की तमाम वृत्तियों का निरोध होने से चित्त के ऊपर जो कुछ संस्कार बीज भूत बचे हुए होते हैं उसका भी नाश होता है तब उसको **असंप्रज्ञात या सबीज समाधि** कहते हैं।

अब बाद वाले प्रकरण में चित्त की पाँच वृत्तियां और उसके पाँच क्लेशों के बारे में विस्तार से निरूपण करने के उपरांत इन वृत्तियों का निरोध और क्लेशों का नाश किन उपायों से हो सकता है इसके बारे में लिखा गया है।



---

* इस विश्व की भौतिक व्यवस्था जिस तरह स्थूल सूक्ष्म रूप से देखने में आती है, उसी तरह आध्यात्मिक व्यवस्था भी स्थूल सूक्ष्म रूप से है। पृथ्वी, पानी, तेज, वायु और आकाश-ये स्थूल भौतिक पदार्थ हैं; और उनकी तन्मात्राएं सूक्ष्म भौतिक पदार्थ हैं, और इंद्रियां स्थूल आध्यात्मिक पदार्थ हैं, और उनके मूल कारण एवं अहंकार, बुद्धि पर सूक्ष्म आध्यात्मिक पदार्थ हैं। अतः अनुक्रम से भौतिक स्थूल पदार्थों पर, भौतिक सूक्ष्म परमाणुओं पर, आध्यात्मिक स्थूल परमाणुओं पर और आध्यात्मिक सूक्ष्म परमाणुओं पर—इन चारों पर क्रमशः चित्तवृत्ति का निरोध करके उन-उन परमाणुओं का साक्षात्कार होने से अनुक्रम से सवितर्क, सविचार, सानंद और सास्मित ये चार सबीज (संप्रज्ञात) समाधियां सिद्ध होती हैं।

दूसरी कला–चित्त की वृत्तियों के प्रकार

चित्त की वृत्तियों के वर्ग

चित्त क्या है? इस बारे में खूब कहा जा चुका है और उसमें उठती तरंगें ही वृत्तियां हैं। ये भी बताया जा चुका है, इन वृत्तियों का निरोध करना वही योग है। हमने जाना कि चित्त की वृत्तियाँ दो प्रकार की हैं। **(1) व्युत्थित और (2) समाहित**! उसको ही **चित्त प्रवृत्ति** और **चित्त निवृत्ति** कहते हैं। इस तरह वृत्तियों के मुख्य दो विभाग पड़ते हैं। परंतु खास चित्त की कुछ वृत्तियां होती हैं। वह कितनी हैं? वृत्तियां यानि क्या? प्रवृत्तिवाली और निवृत्तिवाली वृत्तियों में परस्पर क्या भेद है, इस बारे में अब विचार करेंगे।

प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा और स्मृति ये पाँच प्रकार की समाहित और अविद्या, अहंकार, राग, द्वेष तथा अभिनिवेश ये पाँच प्रकार की व्युत्थित वृत्तियों को योगशास्त्र के रचयिता भगवान पतञ्जलि ने कही है, उसमें से व्युत्थित वृत्तियों के प्रकार को क्लेश ऐसी संज्ञा दी है और प्रमाणादि पाँच वृत्तियों को तथा अविद्यादि पाँच क्लेशों का निरोध करने के भी भिन्न-भिन्न उपाय बताए हैं। परंतु उसके पूर्व हम चित्त की वृत्तियों को इस प्रकार विभाग करके जाँचें।

चित्तवृत्तियां

अ. समाहित वृत्तियों के प्रकार	ब. व्युत्थित वृत्तियों के प्रकार (क्लेश)
1. **प्रमाण**-प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द, ये तीन प्रकार के, उसमें प्रत्यक्ष के दो प्रकारः-(1) बाह्य प्रत्यक्ष और (2) मानस प्रत्यक्ष	1. **अविद्या**-नाशवंत, जो दुःखमय, अशुचि और अनात्म है उनको अविनाशी, सुखमय शुद्ध और आत्म गिने।
2. **विपर्यय**-संशय या मिथ्या ज्ञान	2. **अहंकार**-अभिमान
3. **विकल्प**-शब्द से उत्पन्न होता मिथ्याज्ञान	3. **राग**-(इच्छा) सुख की इच्छा
4. **निद्रा**-नींद	4. **द्वेष**-दूसरे को अच्छा देखकर ईर्ष्या करना

5. स्मृति-याददाश्त, उसके दो प्रकार सत् अनुभव की और असत् अनुभव की

5. अभिनिवेश-शरीर के ऊपर प्रीत।

इस प्रकार वृत्तियों के वर्ग हैं और वह अर्वाचीन मानसशास्त्र के आधार पर सिद्ध भी हो सके, ऐसे हैं। चित्त की इन वृत्तियों के स्वरूप के बारे में योगशास्त्र क्या कहता है अब इस पर विचार करेंगे।

(अ) समाहित वृत्तियां

ये वृत्तियां पाँच प्रकार की हैं। उसके क्लिष्ट और अक्लिष्ट[5] दो भेद हैं।

[6]उसके नाम हैं—प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा और स्मृति। प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द[7], ये तीन प्रमाण। 'विपर्यय[8] यानि मिथ्याज्ञान ये विषय नहीं होता है तब वह है ऐसा मान। शब्द[9] से उत्पन्न होता मिथ्याज्ञान वह विकल्प है। निद्रा[10] यानि वह चित्त वृत्ति जो अभावना ज्ञान को पकड़ रखती है। [11]जिन विषयों का अनुभव हुआ है। उस चित्त में से बाहर निकल नहीं जाता, उसका नाम स्मृति है।

5. चित्त की वृत्ति अर्थात् चित्त की बाह्य प्रवृत्ति जो विषय उसके सामने आता है उसके जैसा रंग चढ़ जाता है। उसका आकार उस विषय के जैसा हो जाता है। ऐसी इस चित्त की खासियत है। उसके पाँच प्रकार हैं और ये पाँचों प्रकार के क्लिष्ट और अक्लिष्ट दो भेद हैं। मानसिक विषय लो अथवा बाह्य विषयों को लो तो उससे चित्त के ऊपर संस्कार होते हैं।

उन संस्कारों से चित्त का कुछ परिणाम होता है। उसको ही चित्त की वृत्ति कहते हैं। चित्त की ऐसी वृत्ति से चित्त के ऊपर पुनः-पुनः संस्कार होते जाते हैं। ऐसा एक चक्र रात-दिन चलता जाता है। कुछ वृत्तियों से चित्त को क्लेश होता है। कुछ से चित्त को क्लेश नहीं भी होता है। चित्त में रजोगुण, तमोगुण और सत्त्वगुण हमेशा रहते हैं और चित्त इन गुणों से घिरा हुआ है। जिस वृत्ति में तमोगुण का अथवा रजोगुण का संवेग होता है वह तामसी अथवा राजसी वृत्ति कहलाती है। ऐसी वृत्ति चित्त की होने लगती है। तब चित्त को क्लेश होता है और चित्त जब सत्त्वगुण से व्याप्त होता है तब उसको क्लेश नहीं होता है। राजसी और तामसी वृत्ति खराब है। सात्विक वृत्ति अच्छी है। बहिर्मुख चित्त होने से चित्त को क्लेश होता है। अंतर्मुख चित्त होता है तब उसको क्लेश नहीं होता है। क्लेश करने वाली जो वृत्ति है उससे

---

5. वृत्तयःपंचतय्यःक्लिष्टाऽक्लिष्टाः 1,5. 6. प्रमाणविपर्ययविकल्पनिद्रा स्मृतयः 1,6. 7. प्रत्यक्षाऽनुमानागमाः प्रमाणानि, 1,7. 8. विपर्ययोमिथ्याज्ञा नमतद्रूपप्रतिष्ठं, 1,8. 9. शब्दज्ञानानुपातीवस्तुशून्योविकल्पः 1,9. 10. अभावप्रत्ययालंबना वृत्तिर्निद्रा, 1,10, 11. अनुभूतविपयाऽसंप्रमोषः स्मृतिः, 1,11

चित्त पाप में अथवा संसार की तरफ प्रेरित होता है। क्लेश नहीं करने वाली जो वृत्ति है उससे चित्त पुण्य की तरफ प्रेरित होता है।

6. चित्त वृत्ति के पाँच प्रकार हैं। वह बताए हुए हैं, तो भी उसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है। चित्त को जब सच्चा ज्ञान प्राप्त होता है, तब उसकी जो वृत्ति होती है, उसको **प्रमाण** कहते हैं। चित्त को जब भ्रम उत्पन्न होता है तब उस वृत्ति का नाम **विपर्यय** है। शब्द तो है परंतु उसके अनुसार वस्तु नहीं है, तब चित्त की जो स्थिति थी उसका नाम **विकल्प** है। **निद्रा** अर्थात् नींद सर्व प्रसिद्ध है। स्मरण नाम से जो कुछ रहता है वह भी एक चित्त की वृत्ति है और उसका नाम **स्मृति** है। अब इन पाँचों वृत्तियों के लक्षण और उनके निरूपण करते हैं।

7. प्रमाण नाम की एक चित्त की वृत्ति है। उसकी तीन प्रकार की आकृति है। **प्रत्यक्ष, अनुमान** और **शाब्द**। **प्रत्यक्ष** यानि क्या है? इन्द्रियों द्वारा अथवा अपने संस्कारों द्वारा चित्त का जो अनुभव है उसका नाम प्रत्यक्ष है। वह दो प्रकार का है– **(1) बाह्य प्रत्यक्ष और (2) मानस प्रत्यक्ष**। बाह्य प्रत्यक्ष कैसे होता है? बाह्य जितने-जितने विषय हैं वे इन्द्रियों द्वारा चित्त पर रंग चढ़ाते हैं। जिससे बाह्य विषयों जैसा ही चित्त का स्वरूप होता है। बाह्य विषयों द्वारा चित्त का जो आकार घूम जाता है उसको योगशास्त्र में **उपराग** कहते हैं। अब **अनुमान** यानि क्या? पक्ष, हेतु और साध्य ये तीन साधन हैं। हेतु देखने में आए तब पक्ष की जगह साध्य है, ऐसे जो समझा जाता है, उसका नाम **अनुमान** है। यह कैसे? पक्ष की जगह हेतु है। ऐसा सर्वप्रथम ज्ञान होता है। फिर पक्ष के स्थान पर साध्य है ऐसा ज्ञान होता है। वह कैसे? ऐसा खास नियम है कि जहाँ-जहाँ हेतु है, वहाँ-वहाँ साध्य है। उसको **व्याप्ति** कहते हैं। इस व्याप्ति का ज्ञान विशेष पक्ष के संबंध द्वारा हो तो उसको **लिंगपरामर्श** कहा जाता है। अनुमान करने के लिए **पक्ष** यानि क्या? **साध्य** यानि क्या? हेतु यानि क्या? व्याप्ति यानि क्या? लिंगपरामर्थ यानी क्या? ये सब समझना चाहिए।

जिस बारे में अनुमान करना वह **साध्य** है। इस साध्य का फलों के साथ संबंध है। ऐसा जिसके बारे में अनुमान होता है वह **पक्ष** है; और पक्ष का तथा साध्य का जिसके द्वारा संबंध होता है वह **हेतु** है। योगशास्त्र में **उपमान** को स्वतंत्र प्रमाण नहीं माना गया है। उसका अनुमान अंतर्भाव करने में आया है।

सत्य बोलने वाले के वचनों को **शाब्द प्रमाण** कहते हैं। सत्य बोलने वाले को **आप्त वक्ता** कहते हैं। ईश्वर **आप्त वक्ता** है। इन सभी बातों का संपूर्ण विचार वैशेषिक शास्त्र में किया गया है। पतञ्जलि ने अपने इन सूत्र में मात्र अलग-अलग प्रमाणों के स्वरूप का दिग्दर्शन किया है।

8. विपर्यय यानि मिथ्याज्ञान का और प्रमाण का विरोध है। वस्तु होती एक है और ज्ञान होता है ऐसा कि ये दूसरी वस्तु है। वास्तव में उस वस्तु का धर्म एक

प्रकार का होता हैं, परंतु वो समझ में नहीं आता दूसरी ही प्रकार के धर्म उस वस्तु में ऐसा ज्ञान होता है। जैसे कि सफेद रंग वाली सीप देखते हैं वह हीरा है ऐसा ज्ञान हो अथवा ऐसा लगे उसको ही **मिथ्या ज्ञान** कहते हैं। संशय का अंतर्भाव मिथ्याज्ञान में ही किया गया है। ये साँप है या रस्सी है ऐसा लगे, उसको **संशय** कहते हैं।

9. विकल्प शब्द का योगशास्त्र में विशेष अर्थ किया गया है। वस्तुतः सम्प्रदाय (व्यवहार में चालू पद्धति) तो ऐसा होता है कि, चाहो तो ये करो, और चाहो तो वो करो, ऐसी छूट दी जाती है। उसको विकल्प कहते हैं। परंतु योगशास्त्र में तो विकल्प यानि केवल नाम ही है, विकल्प नाम की वृत्ति के विषयभूत पदार्थ जगत् में नहीं है, तो भी उसका नाम सुनकर चित्त की जो वृत्ति होती है उसका नाम विकल्प 'खरगोश के सींग' ये सुनने से खरगोश और सींग के संबंध वाली जो वृत्ति उत्पन्न होती है। उस वृत्ति का नाम विकल्प है।

10. निद्रा ये एक प्रकार की चित्त की वृत्ति ही है, ऐसा योगशास्त्र का अभिप्राय है। जब चित्त की वृत्ति निद्रारूप होती है, तब कुछ भी समझ नहीं आता है। किसी का भी अनुभव नहीं होता है। ऐसा है तो उसको वृत्ति कैसे कह सकते हैं? जाग्रत होते हैं तब जाग्रत अवस्था का अथवा स्वप्न का कोई भी अनुभव उस समय (निद्रा के समय) नहीं होता है, ऐसी जो चित्त की वृत्ति है वह **निद्रा** है। इस प्रकार निद्रा एक वृत्ति है। जाग्रत होने के बाद 'मैं आराम से सोया' ऐसा हम कहते हैं। कभी हम ये भी कहते हैं कि आज नींद बहुत अच्छी आयी। चित्त को कोई क्लेश नहीं हुआ। ऐसा हम कहते हैं। इससे ऐसे अनुभव को वृत्ति कहना योग्य है। इसलिए निद्रा ये चित्त की एक प्रकार की वृत्ति ही है। यानि निद्रा एक ज्ञान का प्रकार है। तार्किकों के मत इससे विरुद्ध है। वे निद्रा को ज्ञान नहीं मानते हैं। वे कहते हैं कि निद्रा यानि ज्ञान का अभाव और योगशास्त्र में निद्रा को **'भाव'** ऐसा कहा गया है। न्यायशास्त्र में ज्ञान सामान्य का अभाव माना गया है। काव्यशास्त्र में निद्रा को व्यभिचारी भाव माना गया है। व्यभिचारी भाव यानि क्या? कोई एक रस में चित्त फँसा हुआ है, उसको ऐसे समय में चित्त में एकाद कोई वृत्ति भिन्न-भिन्न प्रकार से संचरती है ऐसी वृत्ति को **'व्यभिचारी भाव'** ऐसी संज्ञा काव्यशास्त्र में दी गयी है।

11. स्मृति, बाह्य प्रत्यक्ष, मानस प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द इन प्रमाणों द्वारा अथवा दूसरे किसी भी प्रकार से चित्त को कितना अनुभव हुआ है, फिर आगे चित्त पर कितना संस्कार होने से यह अनुभव होता है, वह **स्मृति** कहलाता है। प्रत्यक्षादि प्रमाण के बिना दूसरे किसी प्रकार का अनुभव होता है। प्रतिमा के कारण चित्त के ऊपर संस्कार होता है। जिससे चित्त को अनुभव होता है। कोई मिथ्याज्ञान होता है तो उसकी भी चित्त के ऊपर संस्कारों द्वारा **स्मृति** रहती है। इसलिए स्मृति दो प्रकार की होती है। एक **सद्अनुभव** की स्मृति और दूसरी **असद्अनुभव** की स्मृति। इस प्रकार चित्त की पाँचों वृत्तियों का विवरण किया।

(ब) व्युत्थित वृत्तियां

बाह्य विषयों के समागम से चित्त को क्लेश होता है, और व्यग्र बनता है। और चित्त की निरंतर बहिर्मुखता होती है और उसी समय अनेक वृत्तियां उत्पन्न होती हैं। इन सभी वृत्तियों को व्युत्थित वृत्तियां कहते हैं। जैसे समाहित वृत्तियों के पाँच प्रकार बताएँ, वैसे इन वृत्तियों के भी पाँच प्रकार हैं। अब इनके बारे में विवेचन करेंगे। चित्त को त्रस्त करने वाली वृत्तियां चित्त के क्लेश हैं। इसलिए उसको चित्त क्लेश कहो, अथवा चित्त क्लेश की ऐसी व्युत्थित वृत्तियां कहो, कुल मिलाकर इसका अर्थ यही है। भगवान् पंतञ्जलि कहते हैं कि–

"(12) अविद्या, अहंकार, इच्छा, द्वेष, अभिनिवेश ये चित्त के पाँच क्लेश हैं। (13) इन पाँचों में से अंतिम चार 'अहंकार, इच्छा, द्वेष, अभिनिवेश' अविद्या से उत्पन्न होता है, उन सभी के भेद इस प्रकार हैंः–प्रसुप्त, तनु, विच्छिन्न और उदार। (14) जो अनित्य, जो अशुचि, जो दुःखात्मक, जो अनात्मक, वही नित्य, शुचि, सुखात्मक और आत्मा है। ऐसा मानना उसका नाम अविद्या। (15) अहंकार यानि आत्मा और चित्त इन दोनों का एकरूप है। (16) चित्त को सुख ही जान पड़ता तब उसकी जो वृत्ति वो राग अथवा इच्छा। (17) जिस दुःख का अनुभव होता है उसका नाम द्वेष। (18) पिछले संस्कारों से ज्ञानी पुरुष को भी शरीर की प्रीति होती है। उसका नाम अभिनिवेश।"

12. क्लेश–अविद्या, अहंकार, राग, द्वेष और संसार का मोह ये पाँच क्लेश हैं। जैन ग्रंथों में इन पाँचों के लिए 'क्लेश' शब्द का उपयोग नहीं किया गया है। बौद्ध ग्रंथों में क्लेश शब्द मिलता है। तनूकरण अर्थात् कृष करना, ये कृष करने को ही जैनों ने **निर्जरा** शब्द का उपयोग किया है और उसमें उपवास, विनय, स्वाध्याय, ध्यान इतनों का अंतर्भाव किया गया है। इस प्रकार राग द्वेषादि की शक्ति कम होती है, जड़ शरीर हम चाहे वैसे हमारी शरण में रहता है और आसन लगाकर चित्त को एकाग्र किया जाता है। ये सारा फल तनूकरण से मिलता है। ऐसा ये लोग कहते हैं।

योगशास्त्र में 'क्लेश' अर्थात् चित्त को त्रस्त करने वाली जो-जो वृत्तियां हैं, वे सभी ऐसा अर्थ मान्य है। वे पाँच कहे गए हैं। ये अविद्या, अहंकारादि, क्लेशवृत्तियां, उसके द्वारा चित्त को परिताप होता है, संसार के प्रति मोह उत्पन्न करते हैं और उसमें स्थित रजोगुण, तमोगुण, इन दोनों अधमगुणों के द्वारा दृढ़ता प्राप्त होती है और चित्त में कर्म-विपाक का भार बढ़ता जाता है अथवा कर्म विपाक की प्रबलता बढ़ती है।

---

12. अविद्याऽस्मताराग द्वेषाऽभिनिवेशाः क्लेशाः 2,3. **13.** अविद्या क्षेत्रमुत्तरेषां प्रसुप्ततनुविच्छिन्नोःदाराणां, 2,4. **14.** अनित्याशुचिदुःखाऽनात्मसुनित्यशुचिसखात्मख्यातिरविद्या, 2,5. **15.** दृगूदर्शनशक्तयोरेकात्म तेवाऽस्मिता 2,6. **16.** सुखाऽनुशयीरागः 2,7. **17.** दुःखानुशयी द्वेषः 2,8. **18.** स्वरसवाही विदुषोऽपितन्वनुबन्धोऽभिनिवेशः2,9.

अनेक प्रकार का कार्य मनुष्य के हाथ से होता है। अविद्या उत्पन्न होती है, तो यहीं अहंकार भी आ जाता है। अहंकार से इच्छा और द्वेष दृढ़ होता है और उसमें देह के ऊपर की प्रीति (अभिनिवेश) बढ़ती जाती है और ये सभी वृत्तियां मोक्ष के आड़े आती हैं। इसलिए इन वृत्तियों को क्लेश ऐसा नाम दिया गया हैः—पंतञ्जति ने अपने सूत्र में **अभिनिवेश** इस पद का प्रयोग किया है। उसका अर्थ ये है कि "अपने जीव के ऊपर प्रीति रखनी व जीने का मोह होना। कितने भी दुःख आएं तो भी मृत्यु न हो तो अच्छा, ऐसा सबको लगता है, ऐसी जो चित्त की वृत्ति है उसका नाम **अभिनिवेश** कहते हैं।

13. अहंकार, इच्छा, द्वेष और अभिनिवेश— ये चारों अविद्या से उत्पन्न होते हैं। अविद्या का निरूपण अब किया जाएगा। ऊपर के चार में से हरेक के प्रसुप्त, तनु, विच्छिन्न और उदार ऐसे चार-चार भेद हैं। जैसे कि 1. प्रसुप्त अहंकार 2. तनु अहंकार, 3. विच्छिन्न अहंकार और 4. उदार अहंकार, ये सभी अहंकार के भेद हैं। इसी प्रकार इच्छा के चार, द्वेष के चार और अभिनिवेश के चार कुल मिलाकर सोलह भेद हैं। अब इन सभी शब्दों के अर्थ करें। जो वृत्ति केवल सुप्त रहती है उस वृत्ति को उब्दोधक नहीं हो तब जो निर्व्यापार बनते हैं। ऐसी जो वृत्ति की स्थिति है उसे **प्रसुप्त** कहते हैं। वृत्ति का सामर्थ्य जान नहीं पड़ता। ऐसी जो वृत्ति है उसको प्रसुप्त, ऐसी परिभाषा है; जैसे कि बालकों को वासना होती है, परंतु उनको उत्तेजक कोई नहीं है। इसलिए वह स्पष्ट नहीं दिखती। यद्यपि उसमें वासना तो है ही तथा उसमें उब्दोधक भी है, तो भी उस वासना से उल्टी वासनाओं की प्रवृत्ति उसके चित्त में होती है और उससे वो वासना शिथिल हो जाती है। वासना की ऐसी स्थिति होती है तब उसको **तनु** ऐसा नाम दिया गया। चित्त में एक वासना प्रबल हुई है; उससे उसकी पूर्व में जो वासना उसमें थी वह निर्बल हो जाती है। इच्छा से द्वेष की शक्ति टूट जाती है और द्वेष उत्पन्न होने के बाद यदि जो पूर्व में इच्छा उत्पन्न हुई हो तो उसकी शक्ति टूट जाती है। यानि जो वृत्ति निर्बल हो जाती है उसका नाम **विच्छिन्न** है। वासना होने के बाद अपनी तरफ से कार्य खूब जोर से होता है तब उस वासना को **उदार** कहते हैं। इसी प्रकार प्रसुप्त इच्छा, तनु इच्छा, विच्छिन्न इच्छा और उदार इच्छा तथा प्रसुप्त द्वेष, तनु द्वेष, विच्छिन्न द्वेष और उदार द्वेष तथा प्रसुप्त अभिनिवेश, तनु अभिनिवेश, विच्छिन्न अभिनिवेश और उदार अभिनिवेश ऐसे कुल सोलह क्लेश हैं और अविद्या को सत्रहवीं मिलाकर सत्रह दुःख देने वाली वासनाएं, ये सभी चित्त की हैं। अब अविद्या क्या है? उसके बारे में विवेचन करेंगे।

14. अविद्या—इस जगत् में जितनी भी वस्तुएँ हैं, वह सारी नाशवान् हैं और अनित्य हैं। हमारे शरीर और संसार की सभी वस्तुएँ ये सभी **अनित्य** हैं तथा ये सभी **अशुचि** अर्थात् **शराब-अशुद्ध** हैं; कारण कि मांस, मूत्र, मेद और दुर्गन्ध से भरपूर हैं। इन वस्तुओं से चित्त विह्वल होता है। इसलिए यह दुःख कारक है और ये वस्तुएं

आत्मा नहीं हैं अर्थात् जड़ हैं। ये सब होने पर भी, ये वस्तुएं नित्य, शुचिशुद्ध हैं, सुखकारक हैं और आत्मारूप जड़ नहीं है, ऐसा जब चित्त मान लेता है तब उसको भ्रम होता है। इसी भ्रम अथवा भ्रान्ति का नाम अविद्या है। जगत् में सब विकृतिमय है। ये विकृतिमय जितना है वह सब प्रकृतिमय है, जब ऐसा कहा जाता है तो वह अविद्या है। विकृति में ही जितनी प्रकृति है उतनी जानने में आए वह **विद्या** है। विद्या और प्रभा अलग है। विद्या द्वारा विकृति में जितनी प्रकृति है उसका ज्ञान होता है। जितना विकृत उतनी प्रभा हो सकता है। जितनी प्रभा उतनी अविद्या हो सकती है। तो फिर अप्रभा तो अविद्या है ही। विद्या से नित्य ऐसी जो प्रकृति उसका संशोधन करे, सच्चिदानंद आत्मा का जानना उसका नाम पूर्ण विद्या है। अहंकार यानि क्या? ये अब बताऐंगे।

15. अहंकार—पतञ्जलि ने अपने मूलसूत्र में दृक्शक्ति और दर्शनशक्ति ऐसे दो शब्दों का प्रयोग किया है। उसमें दृक्शक्ति यानि आत्मा और दर्शनशक्ति यानि चित्त। चित्त की अलग-अलग स्थिरता है। उसका कारण कि, सत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुण, इन तीनों गुणों द्वारा चित्त का विकार होता है। सत्त्वगुण द्वारा चित्त का जो परिणाम होता है उसको **दर्शनशक्ति** कहते हैं। चित्त जब आत्मा की तरफ से ही ज्ञान का ग्रहण करा लेता हो तब उसके ऊपर सत्वगुण का ही अधिकार विशेष होता है और उसका परिणाम भी सात्विक हो जाता है। इस प्रकार का जो चित्त वह भोग्य विषय है। आत्मा उसका भोक्ता है। वह कैसे? चित्त का और विषय का आकार एक ही हो जाता है और फिर ऐसे चित्त का ही आत्मा को ज्ञान होता है और ऐसे विषयाकार चित्त का ज्ञान आत्मा को होता है। तब आसानी से ही विषयों का ज्ञान आत्मा को होता है। विषयाकार चित्त तो भोग्य और आत्मा भोक्ता। विषय को छोड़कर चित्त कभी भी अलग नहीं रहता। इस प्रकार चित्त की और आत्मा की एकता होती है। फिर चित्त अलग और मैं-आत्मा अलग ऐसा ज्ञान आत्मा को नहीं रहता और चित्त के साथ अभिमान आत्मा से चिपका रहता है। ऐसी स्थिति को अहंकार कहते हैं। इस अहंकार को संस्कृत सूत्र में **अस्मिता** नाम दिया गया है।

16. राग—सुख अर्थात् क्या है? चित्त को दो प्रकार का ज्ञान होता है। एक प्रकार का ज्ञान चित्त की पूर्व स्थिति के अनुकूल होता है। ऐसे ज्ञान से चित्त को हमेशा सुख होता है। चित्त को सुख का अनुभव होता है तब इच्छा उत्पन्न होती है और जिससे सुख प्राप्त होता वह मिल जाए तो अच्छा है, ऐसा चित्त को लगता है। उसका ही नाम इच्छा है। अनुकूल विषय का ज्ञान होता है, तब चित्त को हमेशा सुख लगता है। जिन विषयों से चित्त को सुख मिलता है उन विषयों की चित्त को फिर से इच्छाएँ होती हैं। सुखानुशयी इस का प्रयोग सूत्र में है। उसका अर्थ 'सुख' इन विषयों का ही चित्त को अनुभव होने लगता है।

17. द्वेष–जिस विषय का प्रतिकूल ज्ञान चित्त को होता है उसका नाम द्वेष है। मानो कि चित्त को ज्ञान हुआ। वह ज्ञान अनुकुल नहीं है। तब उससे चित्त को दुःख होता है। इस दुःख के निवारण के लिए चित्त का जो परिणाम होता है उसका नाम द्वेष है। इच्छा और द्वेष ये दोनों चित्त के परिणाम उस चित्त के अनुकूल अथवा प्रतिकूल ज्ञान होता है, तब ही बनते हैं। इस विषय की प्रक्रिया इस प्रकार है। जिस विषयों का ज्ञान होता है उन विषयों और चित्त का आकार एक हो जाता है। चित्त का प्रथम यह परिणाम हुआ वह सात्त्विक परिणाम। यदि विषय अनुकुल हो अर्थात् विषम चित्त के विरुद्ध नहीं हो तो चित्त का दूसरा परिणाम होता है। उसका ही नाम सुख है। यदि विषय चित्त के विरुद्ध है तो चित्त का जो परिणाम होता है वह दुःख है। इस दूसरे परिणाम से चित्त का तीसरा परिणाम उत्पन्न होता है। चित्त के सुखात्मक परिणाम से जो परिणाम उत्पन्न होता है उसका नाम इच्छा और चित्त के दुःखात्मक परिणाम से जो परिणाम उत्पन्न होता है उसका नाम **द्वेष** है। इस परिणाम से चित्त में पुनः प्रयत्न उठते हैं। जितना चित्त का परिणाम उतने प्रमाण में आत्मा को अभिमान होता है। इस अभिमान को ही पूर्व में अहंकार कहा गया है। चित्त के आगे जैसा विषय आता है वैसा उसका आकार बन जाता है। फिर कुछ विषय चित्त के अनुकूल अथवा प्रतिकूल ऐसा भेद कर सकते हैं? इस जन्म और पूर्व हजारों जन्मों में चित्त पर अनेक संस्कार हो चुके हैं। इससे चित्त की एक प्रकार की दृढ़ रूप ही बनी है। तब इस स्थिति का जो विषय अनुसरता हो वह अनुकूल और उस स्थिति के विरुद्ध हो तो वह प्रतिकूल।

18. अभिनिवेश–पिछले अनेक जन्मों में चित्त के ऊपर संस्कार हुए हैं। इन संस्कारों के कारण चित्त में वासना उत्पन्न होती है और वासनाओं की चित्त में जैसे एक धारा चलती है। जिससे चित्त को शरीर का अतिशय अभिमान हो जाता है। यह हमारा शरीर है, वह हजारों वर्ष तक रहे तो अच्छा, ऐसी इच्छा चित्त में उत्पन्न होती है। शरीर के ऊपर चित्त की ममता-माया बढ़ती जाती है। इस ममता और माया को ही संस्कृत सूत्र में, **अभिनिवेश,** की संज्ञा दी गयी है। इस जगत् में जितने प्राणी हैं, उन सबको ऐसा लगता है हम हमेशा जीवित रहें, तो अच्छा। इसलिए ये अभिनिवेश बहुत स्वाभाविक है।

अविद्या, अहंकार, द्वेष, अभिनिवेश इन सभी को जैन तथा बौद्ध लोग **आस्रव** कहते हैं। उसका कारण यह है कि विषय को कुछ द्वेष छूटता है और बाहर बहता हुआ चित्त तक पहुँचता है और चित्त में विकार उत्पन्न होते हैं। इस चित्त और विषय का संयोग नहीं हो इसके लिए वे सावधान रहते हैं; उसको **'संवर'** ऐसा नाम देते हैं और योगी तो अहंकार, इच्छा, द्वेष, अभिनिवेश और अविद्या को क्लेश मानते हैं।

❁

तीसरी कला–वृत्ति निरोध के उपाय

अधिकारी के प्रकार

इस प्रकार योग का स्वरूप, तथा उसकी उपयोगी वृत्तियों के समाहित और व्युत्थित दो भेदों के पाँच-पाँच प्रकार कहे हैं। वैसे इन सभी प्रकार की वृत्तियों के बारे में भी कहा है। योग यानि चित्त की वृत्तियों का निरोध। तब वृत्तियों के स्वरूप और उनके तारतम्य को लेकर उनका अलग-अलग कैसे निरोध हो सकता है? यह मुख्य प्रश्न उत्पन्न होता है। इन वृत्तियों के निरोध के उपायों का निरूपण अति आवश्यक है।

समाहित वृत्तियों का निरोध करने का उपाय भिन्न हैं, और व्युत्थित वृत्तियों का निरोध करने के उपाय भिन्न हैं। समाहित वृत्ति या जिस मनुष्य में पहले ही से उत्पन्न होती है, वे हमेशा **उत्तमाधिकारी** है और व्युत्थित वृत्तियां जिन मनुष्यों में पहले से ही क्लेश रूप में प्रवर्तती हैं, वे हमेशा **मध्यमाधिकारी** (साधारणतः) ऐसे कह सकते हैं। परन्तु जो **मंदाधिकारी** अथवा कनिष्ठ हैं उनको वृत्ति निरोध के उपाय जरा विस्तार से समझाने की जरूरत है। पतञ्जलि ने अपने सूत्रों में ऐसा उसका वर्णन किया है। उसमें **मंदाधिकारियों** को वृत्ति निरोध के उपाय सरलता से समझाए हैं। किसी मनुष्य को रोग हुआ हो तो उस रोग का कारण-निवारण, उपाय रूप, औषधि और अंत में रोग निवृत्ति (आरोग्य-सुख) ये चारों वैद्यशास्त्र में आते हैं। ऐसा यहाँ भी अधिकारानुसार स्पष्ट बताते हैं।

उत्तमाधिकारी हो, मध्यमाधिकारी हो अथवा मंदाधिकारी हो तो भी इन तीनों की वृत्तियों का निरोध तो होना ही चाहिए क्योंकि उसके बिना योग सिद्ध नहीं होता है। इसलिए क्रम ऐसा है कि किसी भी प्रकार का अधिकारी हो तो उसको प्रथम **वृत्तियों का निरोध करके विवेक ख्याति** (विवेक प्रज्ञा अथवा बुद्धि तथा पुरुष ये दोनों भिन्न हैं, ऐसा ज्ञान होना) उत्पन्न करनी चाहिए और जब तक ये उत्पन्न नहीं होती तब तक मोक्ष नहीं होता है। विवेक ख्याति उत्पन्न करने के लिए जो साधन सर्व साधारण है उसका वर्णन **यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि,** इन अष्ट अंगों में आगे बताऐंगे। परंतु विवेक ख्याति उत्पन्न करने के पूर्व प्रथम वृत्ति निरोध उपाय जानने चाहिए और ऊपर बताए तीन प्रकार

के अधिकारियों की चित्तवृत्तियों के स्वरूप के अनुसार वृत्ति निरोध के अलग-अलग उपायों का वर्णन किया है।

यम नियमादि योग के अष्ट अंग हैं। इन आठ अंग योग के साधनों को साध्य करने के लिए हैं। कुछ प्रकार की हरेक अंग की क्रियाएँ करके योग साधना यह मुख्य बात है। इसलिए ये सभी अंगों का **'अष्टांगयोग'** नाम है। इस **'अष्टांगयोग'** से कोई भी अधिकारी विवेकख्याति उत्पन्न करके मोक्ष प्राप्त कर सकते हैं। परंतु अष्टांगयोग की क्रिया के बिना केवल ज्ञान और वैराग्य से ही समाधि साध्य करने के लिए पंतजलि ने जो कुछ उपाय अधिकारी के लिए बताए हैं, उसके बारे में प्रथम कहते हैं। वे उपाय पंतजलि ने अपने योगसूत्र के दोनों पाद में भिन्न-भिन्न स्थान पर दिए हैं, और उस पाद में के जितने सूत्रों में वित्तिनिरोध के उपायों का वर्णन किया है, उनको हम नीचे मुताबिक अधिकारी के लिए बाँट देते हैं। इस बँटवारे में यद्यपि मतभेद हो सके वैसा है, तो भी तत्त्वतः भेद नहीं है यह विद्वान समझ जाएँगे।

अधिकारीपरत्त्व वृत्तिनिरोध के उपाय

1. उत्तमाधिकारी के लिए—अर्थात् समाहित चित्त में उत्पन्न होती पाँच प्रकार की वृत्तियां जिसमें हो ऐसे अधिकारियों के लिए उपाय नीचे के सूत्रों में है। पाद 1 सूत्र 12, 13, 14, 15, 16।

2. मध्यमाधिकारी के लिए—अर्थात् व्युत्थित चित्त में उत्पन्न होते अविद्यादि पंच क्लेश जिनमें होते हैं ऐसे अधिकारियों की वृत्तियों का निरोध उपाय नीचे के सूत्रों में है। पाद 2 सूत्र 10, 11, 12, 13, 14, 15।

3. मंदाधिकारी के लिए—अर्थात् जिनसे चित्त अतिशय बहिर्मुख वृत्ति वाले होते हैं और अविद्यादि पंच क्लेश जिनमें अतिशय व्याप्त हैं ऐसे लोगों की वृत्तियों का निरोध के उपाय और स्पष्टता नीचे के सूत्रों में है। पाद 2 सूत्र 16, 17, 18, 19, 20, 21, 22, 23, 24, 25, 26, 27।

इतने सूत्रों से चित्त के क्लेशों का स्पष्टता से विवरण करके बताया है और सूत्र 28 से पूरे दूसरे, तीसरे, चौथे पाद के कुछ सूत्रों में इन क्लेशों को निवारण करने के उपायों का विस्तार से प्रतिपादन किया है।

इस प्रकार योगसूत्रों में जो उपाय अधिकारीपरत्व बताये हैं उन उपायों से चित्त की वृत्ति का निरोध होता है और समाधि साध्य हो सकती है। वह समाधि संप्रज्ञात और असंप्रज्ञात दो प्रकार की है। यह पूर्व में बता चुके हैं और उसे साध्य करने के लिए ही सब उपायों का परिश्रम है। क्योंकि चित्त को काबू में करना बहुत कष्ट साध्य बात है।

1. समाहित (उत्तमाधिकारी की) चित्तवृत्ति के निरोध के उपाय

प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा और स्मृति इन पाँच समाहित चित्तवृत्तियों से निरोध का उपाय बताने के लिए भगवान् पतञ्जलि लिखते हैं किः—

"(19) चित्त में जो पाँच वृत्तियां हैं उससे चित्त में अनेक तरंगें उत्पन्न होती हैं और उसमें से चित्त के अनेक परिणाम होते हैं इसलिए अभ्यास से और वैराग्य से उसका निरोध करना। (20) उन चित्त की सारी वृत्तियों का नाश हुआ है, सत्त्व, रज, तम इन तीन गुणों से चित्त अलग हुआ है और चित्त एकाग्र होकर आत्मा में ही लीन होता है। ऐसी स्थिति के लिए यत्न का नाम अभ्यास है। (21) यह अभ्यास बहुत काल तक एक जैसा और संस्कारों द्वारा ग्रहण किया हुआ ऐसा सिद्ध हो तब उसको दृढ़भूमि कहते हैं। (22) जो दृष्ट विषय और जो वेदों ने कहे विषयों के बारे में चित्त वितृष्ण बन कर अपने स्वाधीन में आता है तब उसका नाम वैराग्य। (23) उसके बाद आत्मज्ञान द्वारा गुण के प्रत्येक वैतृष्ण्य उत्पन्न होता है।"

19. अभ्यास यानि क्या है? और वैराग्य क्या है? इस बारे में विचार अब करेंगे वो अब के बाद के सूत्रों में आएंगे। इन दोनों से सभी वृत्तियों का निरोध हो सकता है। ये चित्तवृत्तियां कौन सी हैं? प्रमाण, विकल्प, निद्रा, विपर्यय, स्मृति, ये पाँच। वह दो प्रकार की है। कुछ क्लेश करने वाली और कुछ क्लेश नहीं करने वाली। सच्चा ज्ञान जब होता है तब चित्त की वृत्ति उसका नाम **प्रमाण** है। मिथ्या ज्ञान होता है तब चित्त वृत्ति होती है वह **विपर्यय** है। जगत में जो वस्तु नहीं है तो भी वस्तु का वाचक शब्द सुनकर चित्त को जो वृत्ति होती है वह वृत्ति **विकल्प, निद्रा** ये भी चित्त की एक वृत्ति है। **स्मृति** ये भी चित्त की वृत्ति ही है। ये वृत्तियां मुख्य हैं। उनके अनेक प्रकार हैं। इस सभी वृत्तियों से चित्त में अनेक तरंगे उत्पन्न होती हैं। उनसे होते परिणामों का निरोध करने के साधन वो **अभ्यास और वैराग्य**। अभ्यास क्या है वह अब कहते हैं।

20. वो स्थिति कौन सी है? चित्त की सभी वृत्तियों का नाश हुआ है, सत्त्वगुण, रजोगुण, तमोगुण इन सभी गुणों से चित्त रिक्त हुआ है। ये चित्त एकाग्र होकर आत्मा में लीन हो ऐसा रात-दिन चित्त का जो प्रयत्न है। उसका नाम **अभ्यास** है।

21. अभ्यास कैसे करें? अभ्यास कई दिन चलाना चाहिए। इस चित्त की वृत्ति को खींच के आत्मलीन करके योगाभ्यास विद्या फिर क्या? महीने तक पुनः

---

19. अभ्यासवैराग्याभ्यांतन्निरोधः 1,12. **20.** तत्रस्थितौयत्नोऽभ्यासः 1,13. **21.** सतुदीर्घकालनैरंतर्यसंस्कारसेवितोदृढभूमिः 1,14. **22.** दृष्टानुश्रविकविषयवितृष्णस्यवशीकारसंज्ञा-वैराग्यं 1,15. **23.** तत्परंपुरुषख्यातेर्गुणवैतृष्ण्यं. 1,16.

व्युत्थान अवस्था में चित्त फंसा हुआ है ऐसा क्रम दस वर्ष तक चला तो फिर खूब काल तक योगाभ्यास किया जान पड़ता है। इस प्रकार लंबे समय तक मात्र योगाभ्यास करना ही काफी नहीं है। परंतु निरंतर करना चाहिए। ये **अभ्यास** आदर पूर्वक, श्रद्धापूर्वक, विद्यापूर्वक योगाभ्यास होता है और तपपूर्वक किया जाए तो ही सिद्ध होता है। मूल सूत्र संस्कार सेवित में संस्कार से चित्त उसका अर्थ ऐसा ही है। इस प्रकार विधिपूर्वक योगाभ्यास हो तो उसको दृढ़भूमि ऐसा कह सकते हैं। अब वैराग्य के बारे में कहते हैं।

22. वैराग्य—इस ब्रह्मांड में कितने विषय हैं, वह नहीं कह सकते हैं। निद्रा, आहार, विहार और मैथुन के अनेक साधन ब्रह्मांड में भरपूर हैं। वह चित्त की नजर में आता है। कभी-कभी अनुमान मात्र से ही चित्त विषयों के स्वाधीन हो जाता है। ये सभी विषय नहीं चाहिए, ये सभी तुच्छ हैं, ऐसा सोच कर इन सभी के ऊपर से चित्त उड़ जाता है। आहार, विहार इतने ही विषय है क्या? स्वर्ग आदि अनेक सुखों का निरूपण वेदों ने किया है, वो भी विषय ही हैं तो उसके ऊपर से भी चित्त उड़ा देना चाहिए। इस प्रकार ऐहिक और पारलौकिक विषयों का चित्त तुच्छ मानने लगे और उनकी बजाय चित्त आत्मा में लगाना आ जाए तब ही ऐसा चित्त **वैराग्यसम्पन्न** हुआ माना जाता है।

गुणवैतृष्ण्य ऐसा पाद मूल सूत्र में है। उसका अर्थ इस प्रकार हैः—मुख्य गुण तो वास्तविक तीन रज, तम और सत्त्व और इन तीन गुणों के मिश्रण से ही दूसरे अनेक गुण उत्पन्न होते हैं। इन सभी गुणों के प्रति चित्त उदासीन होता है। ये तीनों गुण नहीं चाहिए। इन गुणों के प्रति आसक्ति उड़ जाए, ऐसी स्थिति उसका नाम **गुणवैतृष्ण्य**। वैराग्य के दो प्रकार है एक विषय वैराग्य और दूसरा गुण वैराग्य। विषय वैराग्य यानि क्या? इस बारे में ऊपर 22वीं कालम में कहा है। इस सूत्र में गुण वैराग्य क्या है? यह कहा है, विषय वैराग्य की सि़द्धि के बाद गुणवैराग्य सिद्ध होता है, वह सिद्ध होने का साधन **आत्मज्ञान** है। आत्मज्ञान होने पर तुरंत पूर्ण वैराग्य प्राप्त होता है। फिर सत्वगुण का भी चित्त पर किसी भी प्रकार का वजन नहीं पड़ता। तमोगुण से भी चित्त पर वजन नहीं पड़ता, तो फिर रजोगुण का तो कहाँ से पड़ेगा। ऐसा होने पर चित्त केवल शुद्ध होकर रहता है। चित्त की सभी वृत्तियों का नाश होता है और चित्त मात्र आत्मा के बिना कुछ नहीं जान पड़ता है। ऐसा वैराग्य, उत्तम वैराग्य कहा जाता है। अभ्यास और वैराग्य के साधन से चित्त से अपनी वृत्तियों का निरोध कर सकते हैं और उसका ही नाम **समाधि** है। समाधि दो प्रकार की होती है। संप्रज्ञात समाधि और असंप्रज्ञात समाधि। इन समाधियों का निरूपण समाधियोग नामक प्रकरण में किया गया है।

वैराग्य के चार प्रकार हैं; वह इस प्रकार हैं; यतमान वैराग्य, व्यतिरेकवैराग्य, ऐकेन्द्रियवैराग्य और वशीकार, इन चारों के स्वरूप इस प्रकार हैंः—

वैराग्य प्राप्त करने के लिए चित्त प्रयत्न करता है। परंतु वैराग्य उसके आधीन नहीं होता तब उसको **यतमान वैराग्य** कहते हैं। विषयों पर से कुछ चित्त हट गया हैं और कुछ विषयासप्त भी है। ऐसा जो वैराग्य भाव है उसको **व्यतिरेकवैराग्य** कहते हैं। चित्त के हाथों इन्द्रियों का प्रवर्तन नहीं हो सकता परंतु उसकी आलोचना करने की थोड़ी शक्ति है, चित्त में आयी है। चित्त की ऐसी स्थिति को **एकेन्द्रियवैराग्य** कहते हैं। चित्त विषयों पर से हट गया है, प्रत्येक उपराग करने की शक्ति नहीं है। परंतु इन्द्रियों का प्रवर्तन करने का बल चित्त को प्राप्त हुआ है। आँख के सामने सुन्दर स्त्री है और चित्त तो किसी बाग में घूमता है, उससे भी चित्त आगे बढ़ता है। विषय छूटते हैं। इन्द्रियां घटती हैं और चित्त आत्मा में लीन होने लगता है उसको **वशीकार** कहते हैं। गत सूत्र में वशीकार शब्द का उपयोग किया है उसका अर्थ अभी कहा है सो है।

2. व्युत्थित (मध्यमाधिकारी की) चित्तवृत्ति के निरोध के उपाय

अविद्या, अहंकार, इच्छा, द्वेष और अभिनिवेश इन पाँच क्लेश रूप वृत्तियों के स्वरूप का निरूपण पूर्व में किया गया है। जो उत्तमाधिकारी है उनमें तो ये क्लेश व्युत्थित अवस्था में होते नहीं हैं, इसलिए उनका नाश करने के लिए संयम मात्र की जरूरत है। उसका भी प्रतिपादन ऊपर किया है। अब जो मध्यमाधिकारियों में अविद्यादि पाँच क्लेश व्युत्थित तरीके से होते हैं उनके निरोध के उपाय बताने के लिए भगवान् पातञ्जलि लिखते हैं कि–

"(24) चित्त की उलटभावना जो त्यागने योग्य है वो सूक्ष्म वासना*। उससे सूक्ष्म क्लेशों का नाश होता है। (25) स्थूल क्लेशों के नाश के लिए यही उपाय है कि वो वासना की प्रवृत्ति ध्यान द्वारा छोड़ दे। (26) इस जन्म में जो-जो भोगना है, और जन्मोजन्म अब के बाद भोगना है। इन सभी क्लेशों का उत्पत्ति स्थान कर्माशय है। (27) अविद्यादि क्लेश मूलरूप से होते तब, जन्म, आयुष्य और भोग ये सभी मूल कर्म से ही उत्पन्न होते हैं। (28) ये भोग आह्लाद अथवा परिताप उत्पन्न करने वाले हैं। क्योंकि वे पाप अथवा पुण्य से उत्पन्न होते हैं। (29) विवेकी को तो ज्ञान होता है कि यह सभी दुःखद ही है; क्योंकि वर्तमान भूत और भविष्य में आनेवाले विषयों से दुःख ही होता है, उसका कारण चित्त में जो गुण हैं वो उसके विरुद्ध होते हैं।

---

24. तेप्रतिप्रसवहेयाःसूक्ष्माः 2,10. **25.** ध्यानहेयास्तद्वृत्तयः 2, 11. **26.** क्लेशमूलःकर्माशयो-दृष्टाऽदृष्टजन्मवेदनीयः 2,12. **27.** सतिमूलेतद्विपाकोजात्यायुर्भोगः 2,13. **28.** तेल्हादपरि-तापफलाःपुण्याऽपुण्यहेतुत्वात् 2,14. **29.** परिणामतापसंस्कारदुःखैर्गुणवृत्तिविरोधाच्चदुःखमेव-सर्वेविवेकिनः 2,15.

* सूक्ष्म वासनाएँ ये हैं, अहंकार, इच्छा, द्वेष, अभिनिवेश।

24. सूक्ष्म वासनाओं के नाश के लिए उपाय—योगशास्त्र के मतानुसार आत्मा अनादि है और प्रकृति भी अनादि है, प्रकृति जड़ है। सत्वगुण, रजोगुण और तमोगुण ये तीनों की जो साम्यावस्था है उसको **प्रकृति** कहते हैं। प्रकृति से ही चित्त उत्पन्न होता है। इस चित्त को कहीं-कहीं लिंगदेह भी कहा जाता है। इस लिंगदेह से जन्मों के संस्कार चिपके होते हैं। इन संस्कारों से फिर वासनाएं उत्पन्न होती हैं। ये वासनाएं भी चित्त से चिपकी होती हैं। इन वासनाओं से चित्त को फिर प्रयत्न उत्पन्न होते हैं और इन प्रयत्नों से चित्त को क्लेश होता है। जैसे वासनाओं का वैसे जन्म-मरण का प्रवाह भी। पूर्व में किसी जन्म में पुण्य किया हो तो सुख प्राप्त होता है। यदि पाप किए हों तो दुःख प्राप्त होता है। ऐसे-ऐसे अनेक भोग जीव के पीछे चलते रहते हैं। जो-जो कर्म जन्मोंजन्म तक किए हों उन सभी को भोगना ही चाहिए, कारण कि उनको भोगे बिना कर्म का क्षय नहीं होता है। जो कर्म भविष्य में हमारे हाथों होने वाले हैं। उनको हम रोक सकते हैं। इस तरह कर्म दो प्रकार के हैं। एक **वासना रूप कर्म** और दूसरा **प्रत्यक्ष प्रवृत्तिरूप कर्म**। वासना रूप जो कर्म है उसका खंडन अथवा नाश करने का उपाय इस प्रकार है; जो वासना चित्त में उत्पन्न होती है उससे उल्टी (विरुद्ध) वासना चित्त में उत्पन्न करनी चाहिए। जिससे प्रथम वासना का खंडन होता है। पूर्व में जैसे कर्म किए हो वैसी वासना चित्त में उत्पन्न होती है। अहंकार, इच्छा, द्वेष, अभिनिवेश ये सूक्ष्म वासनाएं। इनका निरोध-खंडन-निरसन करना चाहिए। इसके लिए मुख्य उपाय यह है कि वासना से उल्टी वासना चित्त में लाए। वह कैसे? चित्त में द्वेष उत्पन्न होता है तो उसकी विरुद्ध वृत्तिवाली जो 'मैत्री' उसकी वृत्ति चित्त में उत्पन्न करनी चाहिए। अस्तु। मैत्री, करुणा, मुदिता, उपेक्षा ये सभी चित्त में उत्पन्न करने के लिए योगशास्त्र एक महान साधन है। इन साधनों का अंगिकार बौद्ध लोगों ने विशेष करके किये हैं और अभिधर्मार्थसंग्रह नामक बौद्ध ग्रंथ में ये चारों को मिलाकर अप्पमञ्ञा की संज्ञा दी है।

25. स्थूल वासनाओं के नाश के लिए उपाय—जन्म-जन्म से किए जो कर्म है जिससे वासना चित्त में चिपकी रहती है। ये वासना दो प्रकार हैः सूक्ष्म और स्थूल। उसमें से सूक्ष्म वासनाओं का निरोध अथवा उसके खंडन का उपाय बताया है। अब स्थूल वासना का खंडन कैसे करें? वो इस सूत्र में कहा है। जिन वासनाओं से अहंकार, इच्छा, द्वेष, अभिनिवेश ये चारों उत्पन्न होते हैं। उन सूक्ष्म वासनाओं और जीव वासनाओं से चित्त चिपका रहता है वो स्थूल वासनाएँ इस स्थूल वासनाओं से चित्त बाह्य विषयाकार पुनः-पुनः होता है और चित्त संसार में निमग्न रहता है। वही चित्त की बाह्य प्रवृत्ति है। चित्त की अन्तर प्रवृत्ति का नाम सूक्ष्म और चित्त की बाह्य प्रवृत्ति का नाम स्थूल है। इस स्थूल प्रवृत्ति का खंडन करने का उपाय मात्र एक ही है। वह है—समाधि लगाकर ध्यान करना और चित्त को एकाग्र करना। अतः चित्त

की बाह्य प्रवृत्ति छूट जाती है, चित्त की आन्तर प्रवृत्ति छूट जाने का उपाय यानि सूक्ष्म वासना के खण्डन का उपाय यही है कि चित्त में जो वासना उत्पन्न हुई हो उसके विरुद्ध भावना करना। चित्त की बाह्य प्रवृत्ति छूटने का यानि सूक्ष्म वासनाओं का खण्डन करने का उपाय यह है कि समाधि लगाकर, ध्यान करना और चित्त एकाग्र करना।

26. कर्माशय यानि क्या? संस्कृत सूत्र में कर्माशय शब्द का प्रयोग हुआ है। उसका अर्थ क्या है? इस जन्म में अथवा पिछले जन्म के भी सुख-दुःख, पुण्य-पाप जीव को भुगतने पड़ते हैं। उसका कारण अहंकार, इच्छा, द्वेष, अभिनिवेश ये चारों चित्त से चिपके हैं। ये सब क्यों चित्त से चिपके रहते हैं? चित्त में सूक्ष्म वासनाएं हैं। जिससे वे उत्पन्न होकर चित्त से चिपके रहते हैं। इन सूक्ष्म वासनाओं को ही संस्कृत सूत्र में **'कर्माशय'** नाम दिया गया है। खास ऐसा नाम देने का कारण क्या है? योग का सिद्धांत यह है कि जब तक कर्म बाकी रहा हो तब तक आत्मा को मुक्ति नहीं मिलती। जन्मोजन्म में किये हुए कर्मों का संस्कार चित्त पर हुआ है और सूक्ष्म वासना के रूप में ही वह कर्म चित्त को चिपक रहा है। कर्म जड़ नहीं है। जैन लोग मानते हैं कि, कर्म जड़ है; कारण वह जड़ का ही गुण है। बौद्ध लोग कर्म को केवल **चैतसिक** मानते हैं। वह जड़ नहीं है ऐसा जो ये वासना रूप कर्म है वो सभी क्लेशों का मूल है। इतना सिद्धांत इस सूत्र में सिद्ध किया है।

27. कर्माशय में से जन्म-मरण की उत्पत्ति—जन्मोजन्म से कर्म बनते हैं। उन कर्मों का संस्कार चित्त पर होता है। उन संस्कारों के द्वारा चित्त में वासना उत्पन्न होती है। इन वासनाओं के सूक्ष्म वासनाएं अथवा इन सभी का स्थान रूप 'कर्माशय' है, ये बात पूर्व में ही कही जा चुकी है। क्या कर्माशय-मूल में से उत्पन्न होते हैं? जन्म की उत्पत्ति होती है और उसके पीछे मौत भी सहज ही होती है, आयुष्य भी प्राप्त होता है और फिर सहज ही नाना प्रकार के भोग भी पीछे आकर खड़े रहते हैं।

28. कर्माशय और सुख-दुःख का संबंधः—कर्माशय के कारण जन्म लेना पड़ता है, आयुष्य प्राप्त होता है, अनेक भोग भोगने पड़ते हैं; उसमें से कुछ भोगों से आनंद (आह्लाद) मिलता है और कुछ भोगों से दुःख अथवा विडम्बना प्राप्त होती है। सुख और दुःख ये दोनों कर्मों के फल हैं। पुण्य करते हैं तो सुख प्राप्त होता है और यदि पाप करते हैं तो दुःख प्राप्त होता है। पूर्व जन्म में पुण्य किए हो तो इस जन्म में सुख प्राप्त होता है और यदि पाप किए हों तो दुःख की प्राप्ति होती है। इस तरह कर्म के दो प्रकार हैं। एक पुण्य कर्म और दूसरा पापकर्म। ये कर्म केवल वासनारूप चित्त में होता है। उसका ही नाम कर्माशय है। इस प्रकार कर्माशय का और सुख-दुःख का संबंध है और ऐसा ही सुख-दुःख का और अलग-अलग भागों का संबंध है।

29. विवेकी पुरुष के विचार—संस्कृत सूत्र में परिणाम, ताप, संस्कार और

गुणवृत्ति विरोध ये चार पाद हैं। उनका अर्थ इस प्रकार है—अब जिससे फल उत्पन्न होगा उसका नाम **परिणाम** है। वर्तमान काल में जो अनुभव होते हैं, उसका नाम **ताप** है। भूतकाल में जो अनुभव हुआ, उसका नाम **संस्कार** है। चित्त में सत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुण होते हैं। इन गुणों से कुछ विरुद्ध होता है तो उससे गुण की वृत्तियों का विरोध होता है और उसके अनुसार चित्त को दुःख होता है। पूर्व में जो-जो कर्म किये होते हैं उसके कारण चित्त में विकार चिपके रहे होते हैं। ये विकार यानी **संस्कार**। उस संस्कार से चित्त को हमेशा दुःख होता है। यह कैसे? पूर्व में किये हुए कर्म और उसके कारण चित्त पर जो संस्कार सुदृढ़ हो रहे थे, वे उसी तरह अब अपना भोग चाहते हैं और उन भोगों में हमेशा दुःख होता है। वर्तमान काल में चित्त जिन-जिन विषयों का अनुभव लेता है उन-उन विषयों से चित्त को ताप ही उत्पन्न होता है। उपरान्त किये हुए कर्म अथवा करने के कर्म, उनसे उत्पन्न होने वाले फल यानी **परिणाम**। परिणाम भी दुःख रूप ही है। अतः दुःख अतिशय और सुख देखने जाये तो केवल अणुमात्र है। वह कैसे? 'मैं जीवित हूँ'' अर्थात् 'मैं हूँ' ऐसा ज्ञान चित्त को हमेशा रहता है। इस ज्ञान को **'अस्मिता'** अथवा **'अहंकार'** ऐसा नाम दिया गया है। इस अहंकार से चित्त को तीन प्रकार के भोग प्राप्त होते हैं। प्रथम **ज्ञानात्मक भोग,** विषयों का जो-जो ज्ञान चित्त को होता है उससे चित्त को दुःख की प्राप्त होती है। मनुष्य अनेक प्रकार के ज्ञान प्राप्त कर लेते हैं। इसलिए वे दुःख में उलझ जाते हैं। योगी आध्यात्म ज्ञान का संग्रह करते हैं, इसलिए उनको दुःख नहीं होता। दूसरा **इच्छा-द्वेषात्मक भोग**। इच्छा अथवा द्वेष से जो अनुभव होता है वह दुःख ही है और योगी तो इच्छा अथवा द्वेष से मुक्त होते हैं। तीसरा **निद्रा, आहार, विहारादि भोग**। इन भोगों से भी दुःख ही प्राप्त होता है। खा-खा कर कभी तृप्ति नहीं होती, सो-सो कर (लेट-लेटकर) कभी भी तृप्ति नहीं मिलती, खेल-खेलकर कभी तृप्ति नहीं होती और जब तृप्ति नहीं होता तब चित्त भंग होने लगता है और भंग होने लगे तो सहज ही दुःख होता है। ऐसे सभी तरह दुःख होता है। यह स्पष्ट है कि प्रकृति दो प्रकार की है इसके बारे में पहले कहा जा चुका है—एक अव्यक्त और दूसरी व्यक्त। सत्त्व, रज और तम ये तीनों गुण समान अवस्था में होते हैं। तब जो प्रकृति है वह **अव्यक्त प्रकृति** है और इन गुणों में कम-ज्यादा हो कि जिससे प्रकृति स्पष्ट मालूम पड़ती है तो तब जो प्रकृति है वह **व्यक्त प्रकृति**। इस व्यक्त प्रकृति में से चित्त कैसे उत्पन्न होता है। यह पहले बताया है। बुद्धि, अहंकार, इन्द्रियाँ और तन्मात्रा ऐसे चित्त के अलग-अलग प्रकार हैं और उस समय इन तीनों गुणों में से कोई एक गुण चित्त में प्रबल बनता है। सत्त्वगुण यदि चित्त में प्रबल हो तो चित्त में प्रकाश होता है। तो भी सत्त्वगुण को हटाकर रजोगुण अथवा तमोगुण चित्त में आए तो उससे चित्त का सारा प्रकाश मलीन हो जाता है और जब ऐसा होता है तब दुःख होता है ये तो साफ बात

है। जब चित्त में तमोगुण प्रबल होता है तब प्रमाद, मोह, निद्रारूप, दुःख होते हैं। रजोगुण से चित्त क्रिया कराने की तरफ प्रवृत्त होता है और फिर क्रियाओं से पुनः दुःख होता है। कुछ क्रियाएं साधने के लिए चित्त में विचार आता है। ऐसी क्रिया कभी भी साध्य नहीं होती। आदिभौतिक आध्यात्मिक और अधिदैविक विघ्न हमेशा आड़े आते हैं, और चित्त में जिन गुणों के अंकुर उत्पन्न होते हैं उन गुणों का विरोध होता है। इसलिए संसारी जीवों को निरंतर दुःख होता है। ऐसा योगशास्त्र क़ा परम सिद्धांत है। परन्तु ये सभी बातें कौन समझ सकता है? जो विवेकी हो वही समझ सकते हैं। बौद्ध सम्प्रदाय चार प्रकार का है। उस सम्प्रदाय वाले हमेशा सर्वदुःखम् दुःखम् ऐसा मानते हैं। जैन लोग केवल रजोगुण और तमोगुण ही है, तमोगुण अधर्म और रजोगुण धर्म ऐसा ये मानते हैं। जितना जगत् में चलऩ है, वह सब ऐसे धर्म से उत्पन्न होता है और जितनी स्थिरता और स्तब्धता है, वह सब अधर्म से उत्पन्न होती है। ऐसा जैनों का सिद्धांत है। सत्त्वगुण से चित्त में प्रकाश होता है और चित्त ज्ञान संपन्न होता है। रजोगुण से चित्त क्रिया करने की तरफ प्रवर्तत्ता है और तमोगुण से चित्त स्थिर होता है ऐसा योगशास्त्र का सिद्धांत है। इस प्रकार चित्त में जो गुण है उनका विरोध होता है और उससे चित्त को दुःख प्राप्त होता है।

3. व्युत्थित चित्तवृत्तियों (क्लेश) के निरोध के बारे में मंदाधिकारियों के लिए स्पष्टता

पूर्व में कहा गया है कि, वृत्तियों के पाँच प्रकार के क्लेश हैं, यही मुख्य दुःख का कारण है। ये बात मंदाधिकारी के लिए विस्तार से कहते हैं। जैसे रोगशास्त्र अथवा वैद्यशास्त्र में (1) रोग, (2) रोगकारण, (3) उस रोग का निवारण करने के लिए औषधि और (4) रोग की शान्ति। इन चारों का वर्णन आता है, वैसे यहाँ (1) हेयरूप रोग (अर्थात् अब के बाद के भविष्यकाल में भोगने का दुःख जो त्यागने योग्य है) (2) हेयरूप रोग का कारण (3) हेयरूप रोग का नाश करने के लिए मोक्ष साधन रूप औषधि और (4) हेयरूप रोग की शान्ति यानि मोक्ष (कैवल्य की) प्राप्ति के उपायों का प्रतिपादन भगवान् पंतञ्जलि इस प्रकार करते हैं।

1. हेयरूप रोग का लिए—(30) उसमें प्रथम जो दुःख भविष्य काल में आने वाला है। जिससे वर्तमान काल में नहीं आया है। उससे छूटना, ये रोगरूप हेय है।

2. हेयरूप रोग का कारण—(31) आत्मा और चित्त अथवा द्रष्टा तथा दृश्य उनका जो संयोग तेज भविष्य में होने वाले दुःख का (रोगरूप हेय का) कारण है। (32) उसमें चित्त त्रिगुणात्मक, भूतात्मक और इन्द्रियात्मक ऐसा है; भोग भोगकर

---

30. हेयंदुःखमनागतं 2,16. **31.** द्रष्टदृश्ययोःहेयहेतुः 2,17. **32.** प्रकशक्रियास्थितिशीलभूतेन्द्रियात्मकंभोगापवगार्थदृश्यं 2,18.

मोक्ष होना वो मुख्य प्रयोजन साधने के लिए चित्त अथवा दृश्य है, ये दृश्य का स्वरूप है। (33) अब उनके विशेष, अविशेष, लिंगमात्र और अलिंग इन चार गुण के कारण वह कार्य है। (34) (अब द्रष्टा-आत्मा यानि क्या? और उसका स्वरूप क्या? उसके बारे में कहते हैं कि) आत्मा, ज्ञानरूपमात्र, शुद्ध उपरांत भी प्रत्ययानी पीछे से देखने वाला है। (35) यह जो दृश्य का स्वरूप है वह उसको (द्रष्टा को) इसीलिए है। (36) जो मुक्त हुआ उसको तो प्रकृति नष्ट हो जाती है तो भी यह प्रकृति शेष को (जो मुक्त नहीं हुए हैं, अर्थात् जो बद्ध है उनको) तो है ही कारण वे सभी तो साधारण हैं। (37) दृश्य प्रकृति की और आत्मा की शक्तियों के बीच का दृश्य के स्वरूप को तथा द्रष्टा-आत्मा के स्वरूप को जानने रूप फल के अर्थ से बना जो संबंध है वो संयोग रोग रूप जो हेय है, उसका कारण है।

3. हेयरूप रोग का निवारण करने के लिए औषधि–(38) उसका यानि प्रकृति और आत्मा के संयोग का कारण अविद्या है, इसलिए उसका नाश करना, यही हेयरूप जो रोग है उसका नाश करने के लिए मोक्ष उपाय रूप औषधि है।

4. हेयरूप रोग की शान्ति यानि मोक्ष प्राप्ति के उपाय– (39) उसका यानि प्रकृति का अभाव होता है। तब संयोग का भी अभाव होता है। प्रकृति का नाश होता है। यही कैवल्य। (40) विवेकख्याति और अविप्लव यही वियोग का उपाय है। (41) इस विवेकख्याति वाले योगी की प्रान्तभूमिरूप प्रज्ञा सात प्रकार की है। इससे हेयरूप रोग कि शान्ति-कैवल्यता प्राप्त होती है।

1. हेय के लिए

30. जो-जो कर्म पूर्व में किए हैं और जो-जो संस्कार चित्त पर चिपके हुए हैं। उस-उस प्रमाण में चित्त को दुःख प्राप्त होते हैं। जो-जो कर्म किए हैं उसका नाश उस-उस कर्म के फल भोगने के बाद ही होता है। जो दुःख भविष्य में अब के बाद जो होना है, भोगना है वह टाल सकते हैं। पूर्व में किए कर्म जो भोग चुके हैं। जो कर्म हमारे हाथों हुए हैं वे भोगने के बाद नाश हो जाते हैं। जिन कर्मों के फल नहीं भोगे हैं तो वो अगले जन्म में भोगने पड़ते हैं अथवा तो जो-जो कर्म किये हैं लेकिन उनके फल भोगे नहीं हैं, ऐसे जो फल आने वाले भविष्य काल में भोगने हैं, वे अलग-अलग जन्मों में भोगने पड़ेंगे। ये भोग दुःख कैसे टाले जाएँ इसके बारे में विचार करना है।

---

33. विशेषाऽविशेषलिंगमात्रालिंगानिगुणपर्वाणि 2,19. **34.** द्रष्टादृशिमात्रःशुद्धोऽपिप्रत्यया-नुपश्य 2,20. **35.** तदर्थएवदृश्यात्मा 2,21. **36.** कृतार्थप्रतिनष्टमप्यनष्टंतदन्यसाधारणत्वात् 22. **37.** स्वस्वामिशक्योःस्वरूपोपलाब्धहेतुःसंयोगः 2, 23. **38.** तस्यहेतुरविद्या 2,24. **39.** तदभावात्संयोगाभावोहानतद्दृशेःकैवल्यं 2,25. **40.** विवेकख्यातिरविप्लवाहानोपायः 2,26. **41.** तस्यसप्तधाप्रांतभूमिःप्रज्ञा 2,26.

2. हेय का कारण

31. संस्कृत मूलसूत्र में 'दृक्' शब्द का प्रयोग किया गया है। कहीं 'द्रष्ट्ट' ऐसा भी पाठ है। उसका अर्थ 'आत्मा' होता है। दृश्य पाद का भी सूत्र में प्रयोग किया गया है। उसका अर्थ 'लिंगदेह' अथवा 'चित्त' होता है। पूर्व में जो-जो कर्म किए हैं उससे आत्मा और लिंग देह का संयोग होता है। जब तक ये संयोग है तब तक ही दुःख होता है। यह संबंध टूटते ही दुःख भी टल जाता है, और मोक्ष साध्य हुआ जाने। आत्मा और चित्त के संयोग से आगे भविष्य में भी दुःख ही होने वाला है। इस संयोग का कारण अविद्या है।

32. संस्कृत सूत्र में दृश्य शब्द का प्रयोग किया गया है। उसका अर्थ चित्त अथवा लिंगदेह इतना ही है। इस चित्त में सभी जड़ विषयों के प्रतिबिंब पड़ते हैं। संस्कृत सूत्र में प्रकाश, क्रिया और स्थिति ये तीन पाद हैं। उनका अर्थ क्रमशः सत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुण ऐसा करें। प्रकाश करना, अथवा कोई क्रिया करानी अथवा स्तब्ध (चुप) हो जाना, यह चित्त का स्वभाव ही है और फिर सत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुण से सारा जगत् व्याप्त है। कारण है कि जितना तमाम मात्र प्रकृति मे उत्पन्न हुआ है उतना त्रिगुणात्मक (तीन गुण वाला) ही है। और भूत दो प्रकार के हैं—स्थूल और सूक्ष्म। पृथ्वी, प्राणी, तेज, वायु और आकाश ये स्थूल, भूत हैं। गंध, रस, रूप, स्पर्श, शब्द ये पाँच तन्मात्रा हैं। उन सूक्ष्म भूतों का चित्त को जब ज्ञान होता है, तब चित्त का आकार इन भूतों जैसा ही होता है और ज्ञानेन्द्रियां तथा कर्मेन्द्रियां तो चित्त में हैं ही, इसलिए ब्रह्मांड का आकार एक ही है। इसलिए व्यक्तप्रकृति अथवा प्रधान जितना कह सकते हैं ये सभी चित्त हैं। इसलिए चित्तद्वारा ये आत्मा सभी विषयों का भोग करती है और चित्त द्वारा ही आत्मा अपना मोक्ष साध लेती है। ऐसा संबंध होने का कारण अविद्या कर्म का क्षय होना या चित्त का और आत्मा का संबंध टूटना है और दोनों का वियोग होता है। यानि आत्मा का मोक्ष हुआ जानें।

जैन लोग तो कहते हैं कि कर्म से आत्मा का बन्ध होता है। वह कर्म आत्मा को मात्र चिपका रहता है अथवा उसका लेप आत्मा पर चढ़ा हुआ होता है। तप करने से इस कर्म से आत्मा मुक्त होती है। यह तप जैसे कर्म को धीरे-धीरे धो देता है उसका नाम निर्जरणा अथवा आत्मा के ऊपर कर्म का लेप नहीं होने देता, उसका नाम **संवर** है। बौद्धों के मतानुसार आत्मा नाम से कुछ है ही नहीं, जो कुछ है वह कर्म है। जन्मो-जन्म के योग से इस कर्म से संज्ञा, वेदना, विज्ञान, संस्कार और रूप ऐसे पंच स्कंध और ऐसा साध्य होता है तब निर्वाण रूप मुक्ति प्राप्त होती है।

33. सूत्र में जिस शब्द का प्रयोग किया है उनका अर्थ अब बाद की व्याख्या के ऊपर से जाना जाएगा। गुण के कांड यानि गुण के परिणाम। ये तीन

गुण कौन से हैं और उनके परिणाम कौन-कौन और ये कैसे होते हैं। इन सभी का निरूपण पूर्व में किया गया है। सत्त्वगुण द्वारा चित्त में प्रकाश उत्पन्न होता है। यानि ज्ञानात्मक जो स्थिति है उसका नाम **सत्त्वगुण** है। क्रिया करने की तरफ चित्त की प्रवृत्ति होती है उसका नाम **रजोगुण** है। चित्त की गुणवाली प्रवृत्ति में ही इच्छा, सुख, द्वेष, प्रयत्न ये सभी उत्पन्न होते हैं। जो चित्त को ज्ञान नहीं होने देता है अथवा चित्त को क्रिया नहीं करने देता उसका नाम **तमोगुण** है। उसका 'गुण' नाम रखने का क्या कारण? दूसरे का आश्रय करके जो कुछ रहता है उसका नाम गुण। आत्मा मुख्य। उसका संयोग होने के कारण चित्त की प्रवृत्ति होती है। अतः ऐसी प्रवृत्ति का गुण नाम पड़ा है। इस गुण के चार कांड हैं। उनके नाम इस प्रकार हैं—विशेष, अविशेष, लिंगमात्र और अलिंग। उसमें विशेष यानि क्या? स्थूल भूत और इन्द्रियाँ उसका आकार लेकर जब चित्त बैठ जाता है उसका नाम **विशेष**। दूसरा तन्मात्रा अथवा सूक्ष्म भूतों और अंतःकरण ये सभी का आकार धारण करके चित्त बैठ जाता है उसका नाम **अविशेष**। तीसरा केवल बुद्धि का आकार लेकर चित्त बैठ जाता है। उसका नाम **लिंग मात्र** है। चौथा अव्यक्त, प्रकृतिरूप ही जब चित्त बन जाता है तब उसका नाम **अलिंग**। इस स्थान पर इस सूत्र में चित्त के स्वरूप पर से ही सारी व्यवस्था दिखाई गई है। चित्त का और आत्मा का वियोग होने के बाद तमाम अनुभव बंद हो जाते हैं। चित्त यानि व्यक्त प्रकृति है। यह तो खुल्ला अर्थ है। इन चारों गुण के कांड भी जड़ है। तीनों गुणों की साम्यावस्था होती है तब उसका नाम अव्यक्त प्रकृति होती है। इस अव्यक्त प्रकृति के तीन अंग कौन से? अर्थात् वे तीन अंग वो तीन गुण। इन गुणों में कुछ कम ज्यादा हो तो व्यक्त प्रकृति उत्पन्न होती है। ऊपर के चार कांडों का वर्णन किया गया है। वह क्या है? व्यक्त प्रकृति के रूप हैं। प्रकृति में सत्त्वगुण का उत्कर्ष हो तो बुद्धि उत्पन्न होते हैं। अहंकार दो प्रकार के हैं। एक **सात्त्विक** और दूसरा **तामस**। अहंकार में रजोगुण है। रजोगुण की सहायता से अहंकार के सात्त्विक अथवा तामस विकार उत्पन्न होते हैं। रजोगुण की सहायता क्यों लेनी पड़ती है? सत्त्वगुण और तमोगुण इन दोनों के बारे में कुछ भी करने की शक्ति नहीं है। ऐसा जो सात्त्विक और तामस अहंकार वह बुद्धि में से उत्पन्न होती है। सांख्यशास्त्र में बुद्धि के अलग-अलग नाम हैं। वह इस प्रकार हैं—महान् आसुरी, मति, ख्याति, ज्ञान और प्रज्ञा। अहंकार के ही अलग-अलग नाम हैं। इस तरहः—भूतादि, वैकृत, तैजस और अभिमान। अहंकार का स्वभाव है कि वो सात्त्विक या तामसी होता है। उस अहंकार में से पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच

कर्मेन्द्रियाँ और मन इतने उत्पन्न होते हैं और उसमें से ही पुनः राजस, तामस, स्वभाव की पाँच तन्मात्राएं उत्पन्न होती हैं। इन पाँच तन्मात्राओं में से ही पाँच स्थूल भूत उत्पन्न होते हैं। इन पाँच स्थूलभूतों को **विशेष** नाम सूत्र में दिया गया है। इन पाँच तन्मात्राओं का **अविशेष** ऐसा नाम दिया गया है। कर्मेन्द्रियाँ, ज्ञानेन्द्रियाँ और मन इतनों का नाम **लिंगमात्र** दिया गया है। **अलिंग** यानि अव्यक्त प्रकृति। निश्चय करना बुद्धि का काम है। कर्मेन्द्रियों और ज्ञानेन्द्रियों की सहायता मन लेता है। इसलिए उसको उभयात्मक और **संकल्प विकल्पात्मक** ऐसा कहा जाता है। बाह्य विषय का ज्ञान ज्ञानेन्द्रियों की तरफ से चित्त को होता है और चित्त में जो-जो प्रवृत्त उत्पन्न होता है, उस कर्मेन्द्रियों के बाहर आता है। ऐसे दोनों समय मन की सहायता चाहिए। इसलिए उभयात्मक ऐसा कहते हैं। ये सभी सांख्य प्रक्रिया है और उसका संग्रह इस सूत्र में किया है।

34. द्रष्टा, पुरुष, चेतन उस आत्मा के अलग-अलग नाम हैं। आत्मा इतना जो केवल चिन्मात्र है; ज्ञान ये उसका रूप है; ज्ञान अलग और आत्मा अलग ऐसा कुछ नहीं है। ऐसा ही होता है तो ज्ञान जो आत्मा का धर्म है, ऐसा कहना पड़ेगा। आत्मा शुद्ध है। यानि वो कभी भी परिणाम को नहीं पाता है। उसके सभी ज्ञान के साधन कौन से हैं? वो मात्र बुद्धि है। यह बुद्धि त्रिगुणात्मक है। अर्थात् उसमें रजोगुण, तमोगुण और सत्त्वगुण ये तीन हैं। आत्मा का कभी भी विकार नहीं होता है। चित्त प्रथम तो विषयों को ग्रहण करता है। उसको संस्कृत सूत्र में प्रत्यय कहते हैं। इस तरह विषयों को ग्रहण करने के बाद आत्मा उन विषयों का अवलोकन करने वाला बनता है। चित्त किसका बना हुआ है? मन, बुद्धि और अहंकार का। ऐसा पूर्व में बार-बार कहा गया है।

35. सूत्र के **'दृश्य'** शब्द का क्या अर्थ है? जितने विषय हैं नाम मात्र हैं। और जितने विषयों का चित्त में प्रतिबिम्ब पड़ता है, उनको दृश्य कहा जाता है। यह जो दृश्य है उससे क्या साध्य होता है? आत्मा **भोक्ता** है और दृश्य **भोग्य** है। यह दृश्य है इसलिए आत्मा को भोग प्राप्त होता है। सारा दृश्य जड़ है और दृश्य अर्थात् प्रकृति। आत्मा केवल चैतन्य रूप यानि ज्ञानमय है और आत्मा पास है इसलिए प्रकृति के हाथों कार्य हो सकते हैं। अगर वह नहीं है तो प्रकृति के हाथों कुछ नहीं हो सकता। अब आत्मा के संग से प्रकृति जो कार्य करने के लिए प्रवृत्त होती है, उसमें से प्रकृति को अपना तो उसका कोई भी उपयोग साध्य नहीं होता है। आत्मा के आगे भोग प्रस्तुत करने के लिए ही प्रकृति हमेशा प्रवृत्त होती है।

36. संस्कृत सूत्र में **कृतार्थ** ऐसा पद है। उसका अर्थ हमने मुक्त ऐसा किया है। अव्यक्त प्रकृति अथवा प्रधान ये एक जड़ वस्तु है। वह एक ही है। भोक्ता रूप आत्माएं अनंत हैं। उसमें से मानो कि एक आत्मा को कैवल्य प्राप्त हुआ है अथवा

वह मुक्त हुआ है। फिर उसको उसके संबंध में तो प्रकृति नाम से ऐसा कुछ नहीं रहा है। उसका और प्रकृति का संबंध टूटा अर्थात् आत्मा मुक्त हुआ अर्थात् स्वतंत्र बनकर अपने में ही लीन रहता है। उसके सम्बन्ध में प्रकृति तो नहीं के बराबर हुई। उसके सम्बन्ध में भोग्य ऐसा कुछ भी नहीं रहा है। इसलिए सारी भोग्य वस्तुएं नाश हुई। विश्व की तमाम प्रकृति का नाश हुआ। एक आत्मा के मुक्त होने से क्या अनंत आत्माएं मुक्त हो गयीं? नहीं; ऐसा नहीं है। इस सम्बन्ध में इतना ही कहना है कि, एक आत्मा के मुक्त होने से सभी आत्माएं मुक्त नहीं होती हैं। उनका और प्रकृति का संबंध नहीं टूटता है। वे आत्माएं तो पहले के जैसे ही बंधन में पड़ी रहती हैं।

37. वैसे तो आत्माएं अनंत हैं, तो भी वह व्यष्टिरूप से अनंत हैं; सभी आत्मा का समष्टि रूप एक ही है। समष्टि दृष्टि से विचार करें तो आत्मा तो एक ही है। वो सर्वव्यापक है, वह चैतन्यरूप है, वह नित्य है तथा प्रकृति भी सर्व व्यापक है। नित्य है परंतु वह जड़ है। तो फिर नित्य और सर्वव्यापक ऐसे आत्मा और प्रकृति इन दोनों का संयोग कैसे होता है? समष्टि रूप से दोनों का संयोग नहीं होता है। संयोग होने के लिए तो दोनों के भी विशेष रूप होते हैं। इसलिए दोनों व्यष्टि रूप होकर संयोग पाते हैं। यह संबंध भी कहाँ तक? यह संबंध केवल संवेद-संवेदकत्व रूप है। यानि प्रकृति आत्मा के सामने विषय ले जा कर रखती है। फिर आत्मा उसको ग्रहण करती है। प्रकृति आत्मा की उपस्थिति में भोग प्रस्तुत करती है। आत्मा उनका अनुभव लेती है। चैतन्य रूप आत्मा और जड़ स्वभाव प्रकृति इन दोनों का इतना संबंध है। संस्कृत सूत्र में 'स्वस्वामी' का अर्थ 'स्व' यानि प्रकृति और 'स्वामि' यानि आत्मा।

3. हेय का निवारण

38. सूत्र में 'उसका' (तस्य) इस पाद का प्रयोग किया है। 'उसका' अर्थ प्रकृति और आत्मा इन दोनों के संयोग का। आत्मा और प्रकृति इन दोनों के संयोग होने के कारण अविद्या। अविद्या क्या है? उसके बारे में पूर्व में कहा जा चुका है। सभी वेदान्त के पंडितों के मतानुसार इन सभी ब्रह्मांड के प्रपंच का कारण अविद्या है। परब्रह्म शुद्ध चैतन्य है। वह स्वतंत्र रीति से ऐसा संकल्प करता है कि ज्यादा उत्पन्न करूँ। फिर इस संकल्प के योग से परब्रह्म अपनी अविद्या शक्ति प्रकट करता है और चैतन्य का संयोग होता है। ये संयोग हुआ या जीवात्मा बंधन में आ जाता है। अद्वैतवादियों का सिद्धांत ऐसा है जो केवल चैतन्य मात्र ही है। दूसरा कुछ भी नहीं है। मध्व और रामानुज ऐसा मानते हैं कि, चैतन्य भी है और प्रकृति भी है।

वल्लभाचार्य का मत ऐसा है कि जड़ चैतन्य का परिणाम है। जैन ऐसा मानते हैं कि स्वतंत्र रूप से चैतन्य भी है। उनके मत अनुसार पाँच तत्त्व हैं। जैन काल को गौणतत्त्व मानते हैं। कुल मिलाकर छः तत्त्व हैं। मुख्य जो पाँच तत्त्व है वह इस प्रकार हैं—जिसका चलनवलन ऐसा स्वभाव है वह **धर्मास्तिकाय;** जिसका निष्क्रयत्व स्वभाव है वह **अधर्मास्तिकाय;** पदार्थ को अवकाश देने का जिसका स्वभाव है। वह **आकाशास्तिकाय;** उपयोग जिसका स्वभाव है वह **जीवास्तिकाय;** वो साकार भी है और निराकार भी है। चैतन्य शुद्ध है ये सही है, तो भी वह कर्म से बद्ध है, जिसको गुणक्रिया है वह **पुब्दलास्तिकाय,** जितना जड़ है वह सब **पुब्दलास्तिकाय** है। चैतन्य भी नित्य है। पुब्दल भी परमाणु रूप से नित्य है और जीव भी नित्य है। जीव का और जड़ का संयोग हुआ कि तुरंत जीव बंध में पड़ता है। तप से धीरे-धीरे कर्म का क्षय करता है, उसको वे **निर्जरणा** कहते हैं। कर्म और जीव का संयोग होने ही देना, कर्म बाहर ही रखना उसको वे **संवर** कहते हैं। जैन दृढ़ तपस्वी हैं। निर्जरणा और संवर दोनों से मोक्ष सिद्ध होता है। जैन स्वतंत्र अविद्या को नहीं मानते। कर्म के द्वारा आत्मा के ज्ञान का आवरण होता है ऐसा वो मानते हैं, इसलिए कर्म के दो भेद मानते हैं, एक **ज्ञानावरणि** और दूसरा **दर्शनावरणि**।

बौद्धों का सिद्धात ऐसा है कि, वे मात्र निर्वाण ही है। निर्वाण एक अति उत्तम महान् पद है। वह अत्यन्त है। उसको संस्कार नहीं है। उससे दूसरा उत्तम कुछ नहीं हे। जो वासना से मुक्त हुए हैं वे महर्षि **'निर्वाण ऐसा है'** ऐसा कहते हैं। इस निर्वाण के अलावा कर्म नित्य है। अविद्या द्वारा कर्म पाँच तत्त्व उत्पन्न करते हैं और संसार की रचना करते हैं। वह इस प्रकार है : विज्ञान, वेदना, संज्ञा, संस्कार और रूप। शुद्धाचरण करने से और ध्यान करने से अविद्या का नाश होता है। फिर कर्म के हाथों अपना व्यापार नहीं बनता है और अंत में निर्वाण प्राप्त होता है। इन सिद्धांतों का निरूपण करने का मुख्य हेतु यह है कि, ये सभी निवृर्त्तिमार्ग हैं। उसकी समानता और भिन्नता वाचकों के ख्याल में आती है।

4. हेय की शान्ति—मोक्ष

39. उसका यानि अविद्या का अभाव होता है अर्थात् अविद्या का नाश होता है। अविद्या का नाश हुआ या चित्त का और आत्मा का वियोग होता है। अर्थात् प्रकृति का और आत्मा का वियोग होता है। फिर स्वतंत्रता से आत्मा खुद में लीन रहता है।

40. अवस्था दो प्रकार की होती है ऐसा पहले कहा गया है। एक व्युत्थान अवस्था दूसरी समाधि अवस्था। व्युत्थान अवस्था में जड़ और चैतन्य ऐसा विवेक नहीं रहता है। परंतु समाधि से ऐसा विवेक उत्पन्न होता है। व्युत्थान अवस्था एक महान् विघ्न है। उसका संस्कृत में विप्लव नाम दिया गया है। इस विघ्न का नाश हो या

विवेक प्रज्ञा का उत्कर्ष होने लगता है और मोक्ष का साधन सिद्ध होता है। इतना सूत्र का अर्थ है। जितने विषय हैं उनको छोड़ दो यानि उनका त्याग करना है। उसको ही संस्कृत सूत्र में ज्ञान ऐसा नाम दिया गया है। जितने विषय हैं उतने नाम दृश्य, वही चित्त। उसका और आत्मा का जब वियोग होता है तब आत्मा मुक्त होता है। उसको ही संस्कृत सूत्र में **ज्ञानोपाय** ऐसा कहते हैं।

41. संस्कृत सूत्र में प्रान्त भूमि ऐसा शब्द दिया गया है। प्रान्त-अंतिम और भूमि अवस्था अर्थात् अंतिम अवस्था। विवेकी पुरुष में प्रज्ञा उत्पन्न होती है, उसकी सात अवस्थाएं हैं। आत्मा भोक्ता है। जितना-जितना दृश्य है उतना उसका भोग्य है। इस दृश्य में उसमें कुछ चैतसिक है और कुछ बाह्यविषयक है। बाह्य विषयों के संबंध में चार अवस्थाएं और चित्त के संबंध में तीन अवस्थाएं हैं। कुल मिलाकर सात अवस्थाएं हैं। प्रथम चार अवस्थाओं के नाम **कार्यविमुक्ति** और बाद की तीन अवस्थाओं के नाम **चित्त-विमुक्ति** है। उसमें विषय नाम मात्र है उन सब का चित्त ग्रहण करता है। जैसे-जैसे चित्त विषयों का ग्रहण करता है, वैसे-वैसे परिणाम पाता है। चित्त के ऐसे परिणामों से आत्मा को भ्रान्ति होती हैं वह कैसे? चित्त विषयाकार हुआ है और उसमें आत्मा का प्रतिबिंब पड़ा है। फिर चित्त और आत्मा का जीव एक हो रहे हैं। फिर चित्त से हम भिन्न हैं ऐसा ज्ञान आत्मा को नहीं रहता है। मैं भिन्न हूँ और चित्त भी भिन्न है जब ऐसा ज्ञान आत्मा को होता है तब ऊपर दर्शायी सात अवस्थाओं का विवेक कर सकते हैं। वे सात अवस्थाएं इस प्रकार हैंः–(1) जितना सब जानना है वह जान लिया, अब जानने जैसा कुछ नहीं रहा है, वह प्रथम अवस्था। (2) जितना त्यागने योग्य है वह सब त्याग दिया, अब त्यागने योग्य कुछ नहीं है, वह दूसरी अवस्था। (3) जितना पाना है वह सब मिल गया, अब पाने के लिए कुछ नहीं रहा है, वह तीसरी अवस्था। (4) जो करना है वह सब कर चुके, अब करने के लिए कुछ नहीं है, वह चौथी अवस्था। इन चार वृत्तियों से चित्त हमेशा भरा हुआ रहता है। इन चार वृत्तियों के दूसरे नाम भी हैं। वह इस प्रकार हैंः–**बुद्धि, इच्छा, द्वेष और प्रयत्न**।

पुनः चित्त का परिणाम होता है उसके संबंध में चित्त की तीन अवस्थाएं हैं। वह इस प्रकार हैंः–(1) हम कृतार्थ हुए ऐसी जो बुद्धि होती है, वह प्रथम अवस्था। (2) सत्त्व, रज, तम, इन तीन गुणों द्वारा हमारे कार्य बनते नहीं है। इसलिए चित्त में रहने के लिए गुणों को बिलकुल जगह नहीं है। इस प्रकार गुणों के स्थान पदभ्रष्ट होते हैं तब चित्त नहीं रहता है, वह दूसरी अवस्था। (3) आत्मा और तीनों गुणों का संबंध टूटा और अपने ही स्वरूप में अपने ही आत्मा में लीन है और उससे विलक्षण रस का अनुभव लेने लगा, वह तीसरी अवस्था। ये तीन और प्रथम चार ऐसी सात अवस्थाएं हैं। उनका पुनः स्पष्टीकरण करते हैं।

विवेकी पुरुष में प्रज्ञा उत्पन्न होती है उसकी अवस्था

दृश्य-विषय संबंधी सर्व

बाह्य विषय के संबंध में(4) **बाह्य विषयक** (कार्य मुक्ति)	चित्त के संबंध में(3) **चित्त विषयक** (चित्त विमुक्ति)
(1) जानने की इच्छा नहीं है।	(1) शोक नहीं रहा है।
(2) त्यागने की इच्छा नहीं है।	(2) भय नहीं रहा है।
(3) प्राप्ति की इच्छा नहीं है।	(3) विकल्प नहीं रहा है।
(4) करने की इच्छा नहीं है।	

एकाद् बाह्य विषय का वस्तु का ज्ञान चित्त को होता है। यानि वस्तु चाहिए ऐसा लगने लगता है अथवा नहीं चाहिए ऐसा लगने लगता है। उसको पाने अथवा त्यागने के लिए चित्त प्रवृत्त होता है। ऐसी बाह्य विषय के संबंध में चित्त की चार वृत्तियां हैं और चित्त को शोक उत्पन्न होता है। भय होता है, शंका होती है ये तीन विकार चित्त में उत्पन्न होते हैं। चित्त में विवेक, ज्ञान उत्पन्न होते हैं। तब ऊपर की तीन अवस्थाओं का नाश होता है। आत्मा अपने में ही लीन रहता है उसका नाम कैवल्य और विवेक ज्ञान अर्थात् उसकी ये सात अवस्थाएँ।



चौथी कला–समाधि में विघ्न

चित्तवृत्ति निरोध में होते विघ्न और उसको दूर करने के उपाय

पीछे चित्तवृत्ति के निरोध के तीन तरह के उपाय बताए हैं। इस विभाग में चित्त की वृत्तियों का निरोध होने में चित्त के कई विक्षेप होते हैं। इन विक्षेपों और उसका नाश करने के उपाय बताए हैं। तो भी पूर्व में जिसके बारे में कहा गया है, उसके बारे में पुनः एक बार अवलोकन करना इष्ट है।

उत्तमाधिकारी की समाहितचित्तवृत्ति के निरोध के उपाय बताये हैं। इन उपायों में मुख्य दो उपाय बताये हैं। वह **अभ्यास** और **वैराग्य,** उसमें भी सकल गुण के बारे उत्पन्न होता है वैतृष्ण्य श्रेष्ठ है अथवा **परवैराग्य** जब उत्पन्न होता है तव **विवेकख्याति** उत्पन्न होती है और चित्त की वृत्तियों का निरोध होता है। इस परवैराग्य के उदय से पुरुष को स्पष्ट जान पड़ता है कि आत्मज्ञान रूप अवश्य प्राप्त करने योग्य वस्तु मैं पा चुका हूँ, मेरे अविद्यादि क्लेश सर्व क्षीण हो गए हैं तथा संसारचक्र में भ्रमण कराने वाले धर्माधर्म का समूह बाकी नहीं रहा है। जिससे मुझे कुछ प्राप्तव्य या कर्तव्य बाकी नहीं रहा है। अतः यह दुखात्मिका विवेक ख्याति का भी शमन हो उस प्रकार की विवेकख्याति के बारे में होने वाली अलंबुद्धि इस परवैराग्य आत्मज्ञान की पराकाष्ठा है। उस वैराग्य के उदय से सर्ववृत्तियों का निरोध हो जाता है। कारण कि इस वैराग्य के उदय होने से पूर्व पुरुषख्याति से अतिरिक्त वृत्तियां तो निरुद्ध हो चुकी हैं और मात्र पुरुषख्याति रूप एक ही वृत्ति अनिरुद्ध रहती है। इस वृत्ति की उपेक्षा होने से इसका भी शमन होता है और जिससे उस समय सभी वृत्तियों का निरोध होता है। अर्थात् इस वैराग्य के उदय से असंप्रज्ञात समाधि का लाभ होता है। और जिससे जल्द ही कैवल्य की प्राप्ति होती है। यम नियमादि अगर वैराग्य और संप्रज्ञात योग से जिनका क्षय नहीं हुआ है। ऐसे प्रारब्ध कर्म भी इस वैराग्य से उदय होते, असंप्रज्ञात योग से क्षय होता है। जिससे यह वैराग्य श्रेष्ठ है और उससे योग रीति से परवैराग्य से संपूर्ण अंश से चित्त की वृत्तियों का निरोध होता है। यह सभी विवेक पूर्व में किया गया है।

उसके बाद–

मध्यमाधिकारियों की व्युत्थित चितवृत्ति के निरोध के उपाय भी बताए हैं।

उसके ऊपर से जान पड़ता है कि **ल्हाद** और **परिताप** दुःखरूप वास्तविक विचार से सिद्ध होता है। क्योंकि वो त्रिविध विपाक के फल हैं। वो त्रिविध विपाक कर्माशय से बंधता है। इसलिए वे कर्माशय के फल हैं और कर्माशय दुःख मूलक होने से अविद्या, अहंकार, इच्छा, द्वेष और अभिनिवेश ये पाँच क्लेशों के फल रूप हैं। ये दोनों दुःखरूप ही हैं, यह सिद्ध है और इससे अविद्यादि केवल दुःख के हेतु रूप होने से यथार्थ रीति से क्लेश संज्ञा पाते हैं और ये अत्यन्त त्यागने योग्य हैं। ये भी प्रतिपादन होता है। ये इन पाँच क्लेशों में भी अविद्या ही मुख्य है और यह दूसरे चार क्लेशों को उत्पन्न करने वाला होने से अविद्या ही सर्व दुःख का मूल है तथा यह त्याग्य योग्य है। दुःख, जन्म, प्रवृत्ति, दोष और मिथ्याज्ञान रूप अविद्या उसमें उत्तरोत्तर नाश होने के पूर्व-पूर्व का नाश होता है। जिससे कैवल्य मिलता है। यानि अविद्या से दोष, दोष से प्रवृत्ति, प्रवृत्ति से जन्म और जन्म से दुःख होता है। इसलिए अविद्यारूप मूल कारण का नाश होने से दोष का नाश होता है। दोष के नाश से प्रवृत्ति का, उसके जन्म का और उसके दुःख का नाश होता है। जिससे कैवल्य रूप मोक्ष प्राप्त होता है। ये सात विवेक पूर्व में समझाए गए हैं।

मंदाधिकारियों के बारे में पहले विस्तार से बताया है, उसमें जैसे एक रोग हुआ है, तो वह रोग, उस रोग का कारण, उसके लिए औषधि और रोग की शान्ति, ये चार प्रकार के दुख तथा इनका कारण, इनके नाश के लिये मोक्षरूप औषधि और दुखरूपी रोगी शांति अर्थात्—मोक्ष (कैवल्य) की प्राप्ति के उपायों को विस्तार से कहा गया है। वैसे इसमें भी मुख्य उपाय विवेकख्याति है यही बताया है। विवेकख्याति यानि मिथ्या ज्ञान से रहित ज्ञान अथवा बुद्धि। इस विवेकख्याति सात प्रकार की प्रज्ञा का जिसको अनुभव हुआ है उस पुरुष को ही सिद्ध होती है। इस प्रज्ञा का अनुभव करने वाला पुरुष कुशल कहा जाता है। तथा प्रतिप्रसव से चित्त का जब नाश होता है तब भी पुरुष कुशल कहा जाता है। इस सात प्रकार की प्रज्ञा का अनुभव होता है। उस दशा में पुरुष बुद्धि वृत्ति का साक्षी मात्र रह जाता है, परंतु वह उस विषय में अभिमान से रहित होता है। इसलिए कुशल कहते हैं और विदेह कैवल्य में उस बुद्धि का अभाव होने से वृत्ति का ही अभाव होता है उससे पुरुष कुशल होता है। इस प्रकार वह विवेक ख्याति, यह होने से उपाय रूप है। यह बात तथा विवेकख्याति सिद्धि का लक्षण सब चित्तनिवृत्ति विषय समझाया है।

अब इस विभाग में चित्त की वृत्तियों का निरोधरूप योग के विरोधी ऐसे जो चित्त का विक्षेप करने वाले विघ्न तथा उनको दूर करने के उपायों के बारे में कहते हैं। ये विघ्न समाधि में अंतरायरूप है उसे समाधि के विघ्न कहें तो उचित है।

समाधि के विघ्न

42. व्याधि, स्त्यान, संशय, प्रमाद, आलस्य अविरति, भ्रांतिदर्शन, अलब्धभूमिकत्व, अनवस्थित्त्व इन सभी चित्त को विक्षेप करने वाले विघ्न अथवा योग के अन्तराय कहते हैं। 43. पर एक अर्थ से चित्त के दुर्गुण ही हैं। इन दुर्गुणों से दुःख दौर्मनस्य, अंगमेजयत्व, श्वास और प्रश्वास ये पाँच चित्त में उत्पन्न होते हैं। अर्थात् ये अन्तराय विक्षेप के साथ उत्पन्न होते हैं।''

42. व्याधि यानि शरीर को पीड़ा होती है वह रोगादि, स्त्यान यानि चित्त में कर्म में प्रवृत्ति होने की शक्ति नहीं होती है, इस लिए समाधि नहीं हो सकती है और शरीर में असमाधान होता है। वह लिंग यानि क्या इस विषय में विवेचन करते समय पतञ्जलि ने अपने महाभाष्य में स्त्यान* और प्रसव इन दो शब्द की व्याख्या की हुई है। उसके ऊपर से स्त्यान शब्द का अर्थ 'शरीर में प्रवृत्त होने का अभाव' 'और प्रसव यानि 'प्रवृत्त होना,'। कोई कुछ भी करे तो भी हिलना नहीं है। हम तो मात्र जड़ है। दूसरों के संस्कार हमारे ऊपर होते हैं, तो भी हम स्वस्थ हैं ऐसी जो स्थिति है उसका नाम स्त्यान। संशय यानि एक वस्तु के दो प्रकार हैं, ऐसा हमें लगता है। यह खंभा है या पुरुष है? इस प्रकार का ज्ञान। प्रमाद यानि मोह। आलस्य यानि चित्त की जड़ता। अविरति यानि **विषयाशक्त**। भ्रान्तिदर्शन यानि मिथ्याज्ञान, अलब्धभूमिकत्व यानि समाधि लगती ही नहीं है। समाधि भूमि यानि क्या? समाधि के लिए आसन लगाया है, वृत्ति निरोध किया है। समाधि साधने की सामग्री सिद्ध की है, जिसका ध्यान करना, उसका ध्यान होता जाता है। इस प्रकार समाधि लगाने से वह टिकती नहीं है। एक ही स्थिति में नहीं रहती है। उसका नाम अनवस्थिति। ये सभी समाधि के विघ्न हैं। इससे चित्त का विक्षेप होता है। अर्थात् चित्त एक स्थिति में एक नहीं रहता है।

काव्य शास्त्र में तैंतीस व्यभिचारीभावों का निरूपण किया गया है। मुख्य रस उत्पन्न करने वाले चित्त का भाव है उसको स्थायीभाव कहते हैं। यहां-वहां संचार करने वाले अर्थात् भटकने वाले चित्त के भाव उनका नाम व्यभिचारीभाव है। उसका उदाहरण समुद्र का। जैसे कि समुद्र का पानी पेंदे में समान रीति से स्थिर होता है। ऐसी जो चित्त की स्थिति है उसका नाम स्थायी भाव है। परंतु समुद्र की पृष्ठ भूमि पर पानी का किल्लोल होता है, मौज पर मौज आती रहती है, पानी यहां से वहां जाता है, ऐसी जो स्थिति है उसका नाम व्यभिचारी भाव है। इस व्यभिचारी

---

42. व्याधिस्त्यानसंशयप्रमादालस्याऽविरतिभ्रांतिदर्शनाऽलब्धभूमिकत्वाऽनवस्थितत्वानिचित्त-विक्षेपास्तेऽन्तरायाः 1,30. **43.** दुःखदौर्मनस्यांगमेजयत्वश्वासप्रश्वासाविक्षेपसहभुवः 1,31.

* स्त्यान यानी 'अधिकरण' और प्रसव यानी 'उत्पादक' ऐसा अर्थ व्याकरण शास्त्र में किया है।

भाव से रस का उपयोग होकर उनका पोषण होता है। परन्तु योगसमाधि साधने के लिए यही भाव विघ्न रूप हो जाते हैं। क्योंकि समाधि लगाते समय चित्त की वृत्तियां जितनी कम होती है उतना अच्छा। परंतु जब ये सभी विघ्न आते हैं तब चित्त चंचल हो जाता है।

43. दुःख यानि त्रिविधताप। मन में कुछ चिंता उत्पन्न होने से जो दुःख होता है वह **आध्यात्मिक** है। उसका स्वरूप इस प्रकार है—मनुष्य अनेक कल्पनाएं करता है, ये कल्पनाएं पूरी नहीं होती तब दुःख होता है। यह **मानसिक** दुःख है। शेर, चीते अथवा इसी प्रकार पंचभूतों से जो दुःख होता है वह **आधिभौतिक** है। नवग्रह आदि से दुःख होता है वह **आधिदैविक** है। ऐसे ये ताप तीन प्रकार के हैं।

दौर्मनस्य यानि क्या? मनुष्य की जो अनेक इच्छाएं उत्पन्न होती हैं। वे पूर्ण नहीं हो तब चित्त को क्षोभ होता है, उसका नाम **दौर्मनस्य** है। अंग में कंपन होती है, उसका नाम **अंगमेजयत्व** है। मनुष्य-प्राणि अपने-आप बिना किसी प्रयत्न के प्राणवायु (बाह्यवायु) को आकर्षित कर लेते है, वह श्वास हैं तथा जो अंदर के वायु को बाहर निकालते हैं वह प्रश्वास है। चित्त चंचल बनता है, अथवा उसका विक्षेप होता है तब ये सब उत्पन्न होता है। इसलिए उसको सूत्र में विक्षेपसहभुवः ऐसा कहा है।

समाधि के विघ्नों के नाश के उपाय

जिसको समाधि साधनी है और योग का अभ्यास करना है। उनको चित्त के विक्षेपों को दूर करना चाहिए। उनको दूर करने के लिए भगवान् पतञ्जलि भिन्न-भिन्न उपाय बताते हैं। (44) इन चित्तविक्षेप रूप समाधि में होते विघ्नों का नाश करने के लिए किसी भी एक तत्व का अभ्यास करना चाहिए। (45) जो सुखी है उनके साथ मित्रता, जो दुःखी है उसके साथ-साथ करुणा, जो पुण्यशाली तथा पापी पुरुष होते है उनके बारे में मोद (आनंद) और उपेक्षा की भावना करने से चित्त प्रसन्न होता है। और उसके द्वारा स्थिति के योग्य होता है। (46) अथवा प्राण का रेचक कुंभक करने से चित्त स्थिर होता है। (47) अथवा विषय में जो मन की प्रवृत्ति होती है जिससे विवेकख्याति तक के विषयों तक की चित्त की स्थिरता होती है। (48) अथवा चित्त ही प्रकाशमान होकर उसका शोक नाश होकर समाधि सिद्ध होती है (49) अथवा जो चित्त की विषय वासनाएं चली जाती हैं वो चित्त से सिद्ध होती हैं। (50) अथवा जो स्वप्न या निद्रा के ज्ञान का आलंबन करने से भी चित्त स्थिति को पाता है। (51) अथवा जिसको जो इष्टदेव पसंद हो वह उस देव की मूर्त्ति का ध्यान

---

44. तत्प्रतिषेधार्थमेकतत्वाभ्यासः 1,32. **45.** मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षासुखदुःखपुण्यापुण्यविषयाणां भावनातश्चित्तप्रसादनं, 1,33. **46.** प्रच्छदर्नविधारणाभ्यांवा प्राणस्य 1,34. **47.** विषयवतीवा-प्रवृत्तिरुत्पन्नामनसःस्थितिनिबंधनी 1,35. **48.** विशोकावाज्योतिष्मती 1,36. **49.** वीतरागाविषयाणांचित्तं 1,37. **50.** स्वप्ननिद्राज्ञानावलंबनंवा 1,38. **51.** यथाऽभिमतध्यानाद्वा 1,39.

करने से चित्त स्थिति को पाता है। इन सब उपायों से चित्त के विक्षेप करने वाले विघ्नों का नाश होता है। इसलिए इन उपायों का अनुष्ठान साध के दीर्घकाल तक करना चाहिए। जब इन उपायों की सिद्धि होती है तब वह योगी है। (52) परमाणु से उस परम महत् तक सभी पदार्थ वश में होते हैं। अर्थात् इस सभी में उस योगी का चित्त स्थिति को पाता है।

44. एकतत्त्वाभ्यास मार्ग—योगशास्त्र के अनुसार तत्त्वों में से कोई भी एक तत्त्व चित्त के आगे रखें, और फिर उस तत्त्व का ध्यान करें। चित्त को उस तत्त्व के आकार में कर दें, जिससे चित्त एकाग्र होता है। इस तरह किसी भी एक तत्त्व का अभ्यास करने से चित्त एकाग्र होता है और समाधि कर सकते हैं, इसे **एकतत्त्व अभ्यास मार्ग** कहते हैं। इस अभ्यास से चित्त स्थिर होता है। यानि यह प्रयोग ही विक्षेप को दूर करने वाले हैं, और यह तत्त्वाभ्यास रजोगुण का नाश करके सत्त्वगुण की चित्त में वृद्धि करते हैं। जिससे रजोगुण का पराभव होने से उसके कार्यरूप विक्षेप का और उसके सहरूप दुःखादि का अंत होता है। अब एकतत्त्वाभ्यास करने के उपाय कहते हैं। सबसे श्रेष्ठ तत्त्व तो ईश्वर तत्त्व है। शेष तत्त्व जैसे कि पृथ्वी, आग, तेज, वायु, आकाश ये पाँच हैं। उसमें से कोई एक तत्त्व लेकर उसका अभ्यास करें। यही तत्त्व हमारे शरीर में है। पग से जंघा तक पृथ्वी तत्त्व, जंघा से गुदा तक जल तत्त्व, गुदा से हृदय तक अग्नि तत्त्व, हृदय से भृकुटी तक वायु तत्त्व, भृकुटी से ब्रह्मरन्ध्र (मस्तिष्क) तक आकाश तत्त्व है। इसलिए जिस तत्त्व का ध्यान करना हो वह तत्त्व का शरीर के जिन भागों में हो वहां उस तत्त्व की भावना से, ध्यान करने से उस तत्त्व का जय होता है और चित्त स्थिर हो सकता है।

45. सात्त्विकभाव मार्ग—जिसको समाधि लगानी हो और योग सिद्ध करना हो, उनको चित्त विक्षेपों का निराकरण कैसे करना है? इस बारे में दूसरा उपाय है। उसका नाम **सात्त्विकभाव मार्ग** है। चित्त हमेशा सात्त्विक रखना कोई सुखी हो तो उसके साथ मित्रता रखने से चित्त का विक्षेप नहीं होता है। जहां-जहां सुख है, वहां-वहां उन-उन विषयों को मन में लाकर मित्रता की भावना करें। जहां-जहां दुःख होता है, वहां उन विषयों को मन में लाकर करुणा-दया की भावना करे। जहां पुण्य है, वहां उन विषयों को लाकर आनंद की भावना करें। जहां पाप है, वहां उन विषयों के प्रति उदासीनता लाकर उपेक्षा की भावना करें। भावना यानि क्या है? मन में जो अनेक प्रयत्न उत्पन्न होते हैं, वह इस भावना का स्वरूप क्या है? उसका विग्रह यानि क्या? उसके अंग कौन से हैं। इन सभी का विवेचन पूर्वमीमांसा में किया गया है। 'भावना करनी' अर्थात् चित्त की उस प्रकार की प्रवृत्ति करनी, मन में ऐसा प्रयत्न

---

52. परमाणुपरममहत्त्वांतोऽस्यवशीकारः 1,40.

करना। किसी भी विषय के होवे बिना उससे संबंधी प्रयत्न कैसे हो सकता है? कुछ विषयों को लेकर उसके बारे में मन का कुछ मानसिक प्रयत्न करें, ऐसा पतञ्जलि ने बताया है और इस संसार में सुख-दुःख, पाप-पुण्य विषय ही देखने में आए हैं। उनका अनुसरण करके चित्त की स्थिति कैसे रखें, वह यहां बताया है। यदि कहीं देखने में आए तो अनुसरण करके चित्त में स्नेह वृत्ति उत्पन्न करें। दुःख के लिए करुणा-दया, भाव, पुण्य के लिए मोह, आनंद और पाप के बारे में उदासीनता, ऐसे प्रयत्न करने से चित्त शुद्ध होकर एकाग्र होता है। पिछले सूत्र में कहा गया है कि एकतत्त्व का अभ्यास करें, यह एक **सवितर्क समाधि** का प्रकार है। मैत्री, करुणा से चित्त की सात्विक भाव दृढ़ होती है और उसे करने से चित्त प्रसन्न होता है, और अंत में समाधि सिद्ध होती है।

46. हठमार्ग—यह एक प्राणायाम का प्रकार है और उसका विशेष निरूपण आगे आएगा। प्राणायाम करने से चित्त स्थिर होता है और उसमें वह प्रसन्न होता है। हमारी देह में मुख्य पाँच प्राण हैं। उनके नाम—**प्राण, अपान, व्यान, उदान और समान**। **प्राण** हृदय में है। **अपान** मलद्वार में, **व्यान** पूरे शरीर में, **उदान** कंठ में और **समान** नाभि स्थान में। इन पाँचों वायुयों को नियम में लाने से चित्त स्थिर होता है। एक नासिका से वायु फेफड़ों में लेना, वह **पूरक** है और उसी वायु को दूसरी नासिका से बाहर निकालना वह **रेचक** है और वायु को शरीर के अंदर अथवा बाहर रोके रखना वह **कुंभक**। इस तरह पूरक, कुम्भक और रेचक ये तीनों मिलकर एक प्राणायाम होता है। यह प्राणायाम 'मात्रा' नाम से काल का प्रमाण है। उसके अनुसार किया जाता है और प्राण की स्वाभाविक गति तोड़ने का अभ्यास किया जाता है। प्राण की उस गति को तोड़ने से प्राण का जय होता है और चित्त स्थिर होता है। चित्त की वृत्तियां उत्पन्न होने के दो कारण हैं। एक **वासना** और दूसरा **प्राण**। इन दोनों में से एक का लय करने से दूसरे का लय होता है। अर्थात् वासना का लय होने से चित्त और प्राण दोनों का लय होता है और यदि प्राण का लय होता है तो चित्त और वासना, इन दोनों का भी लय होता है। महात्मा वसिष्ठ तो ऐसा ही कहते हैं कि अपने में से 'उदय होती वृत्ति रूप बेल को धारण करने वाले चित्त नाम के पेड़ के दो बीज हैं। (1) प्राण की गति और (2) दृढ़वासना।

द्वे बीजे चित्तवृक्षस्य वृत्ति व्रतति धारिणः।
एकं प्राणपरिस्पंदो द्वितीयं दृढ़ वासना॥

परंतु केवल प्राण और वासना ही चित्त को प्रेरित करने वाले नहीं हैं, परंतु वे दोनों भी परस्पर एक-दूसरे को प्रेरित करते हैं। ऐसा यही महात्मा कहते हैं, जैसे कि—

वासनावशतः प्राणस्पन्दस्तेन च वासना।
क्रियते चित्त बीजस्य तेन बीजांकुरक्रमः॥

वासना के अधीन प्राण की गति है, और प्राण की गति से वासना उत्पन्न होती है। इसी तरह चित्त के बीजरूप वासना और प्राण व्यापार का दूसरे अंकुर जैसे क्रम है। इसलिए प्राणायाम के अभ्यास द्वारा, श्री सद्गुरु से प्राप्त युक्ति द्वारा आसनजय तथा मिताहार द्वारा प्राण की गति को रोक कर चित्त स्थिर करना। इन उपायों के बारे में हठयोग ग्रंथ में विस्तार से बताया है और उसकी सभी प्रक्रिया अगले प्रकरण में आएगी।

47. विषय प्रवृत्ति मार्ग—विषयों का अनुभव लेकर समाधि की सामग्री सिद्ध होती है, ऐसा भी एक मार्ग है। उसको **प्रवृत्ति मार्ग** कहते हैं। इस मार्ग का पूर्ण निर्देश **काव्य प्रकाश** ग्रंथ में है। चित्त का स्वभाव बहुत चंचल है, और विषयों को उसमें लिप्त करने से वो ज्यादा चंचल होता है यह तो स्पष्ट है और इस प्रकार करने से चित्त स्थिर होगा। यह कहना जरा असंभावित है। यह शंका भी होती है। उसका समाधान इस प्रकार है—चित्त जिन-जिन विषयों में लिप्त है, वे विषय ग्राम्य विषय नहीं है परंतु शब्द, रूप, गंध, रस, स्पर्श इन विषयों का अनुभव करने की पंडितों की एक स्वतंत्र रीति है। वही रीति इस प्रकार है—योगी की साधन करना वह इस प्रकार है—चित्त को एकाग्र करना और उसकी धारा मात्र एक वृत्ति पर ही रखना, वह कैसे? चित्त में तीन गुण हैं। ओज, प्रसाद और माधुर्य, इनके बारे में प्रारंभ में कहा गया है। उसमें से एक गुण प्रबल होता है तब चित्त में वह (एक ही) वृत्ति प्रबल बनती है और फिर जैसे-जैसे वृत्ति प्रफुल्लित होती है, वैसे-वैसे सभी वृत्तियां उसकी दासी हो जाती हैं। तो क्या इतने तक व्यवस्था आकर रूक जाती है? नहीं, वह (दूसरी) वृत्तियां हैं या नहीं, वह समझ नहीं आता है। पर ये सब कैसे सिद्ध होता है। एक ही विषय पर आसक्त बनने से। इसलिए इस सूत्र में **विषयवती प्रवृत्ति** ऐसा नाम दिया गया है।

ये प्रवृत्ति दो प्रकार की देखी जाती है। योगी को उत्तम सुगंध के बारे में चित्त का संधान करा दो तो उसके अन्तःकरण में विशेष ज्ञान उत्पन्न होकर उसको उत्तम सुगंध का अनुभव होने लगता हैं। सामान्य मनुष्यों को भी सुगंध याद रहती है। तब उसको उसकी भावना होने लगती है। सुगंध आने लगती है तो फिर योगी चित्त एकाग्र करने का अभ्यास करते हैं। एक ही विषय पर चित्त को रोके रखे तो उनको सच्ची सुंगध आती है उसमें कोई शंका नहीं है। इस प्रकार को **आंतर संविद्द्वारा बाह्य विषयानुभव** ऐसा कहते हैं। इसी प्रकार नीचे दिए गये दूसरे विषयों की वैसी भावना संयम करने से उन-उन विषयों का साक्षात्काररूप सत्यज्ञान होता है। जैसे कि—

1. गंधप्रवृत्ति—अभी कही उस नासिका के अग्रभाग में चित्त की धारणा करने

से ऐसा दिव्य सुगंध का अनुभव होता है कि, ऐसी सुगंध दुनिया की किसी भी वस्तु में नहीं होती है।

2. रसप्रवृत्ति—उसी तरह जीभ के अग्रभाग में रस की भावना करने से उत्तम भोजन का अनुभव होता है।

3. रूपप्रवृत्ति—तालुस्थान में चित्त का संयम करने से दिव्य रूप का अनुभव होता है।

4. स्पर्शप्रवृत्ति—जीभ के बीच के भाग में संयम करने से दिव्य स्पर्श ज्ञान का अनुभव होता है।

5. शब्दप्रवृत्ति—जीभ के मूल भाग में चित्तसंयम करने से दिव्य शब्द का प्रत्यक्ष ज्ञान होता है। ये पाँच प्रकार की विषयवृत्ति प्रवृत्ति कही जाती है। वह जब सिद्ध होती है तब उस चित्त की स्थिति नीचे लिखे अनुसार तीन प्रकार की होती है।

1. चित्त को एक विषय पर संयम कराने का अभ्यास सिद्ध होता है तो इस अभ्यास के बल से दूसरे विषयों के ऊपर चित्त स्थिर हो जाता है। जिससे इन पाँच में से एक अथवा ज्यादा विषयों के ऊपर चित्त एकाग्र होकर उसका साक्षात्कार करते हैं तो फिर विवेकख्याति तक के तमाम विषयों के ऊपर एकाग्रता होने में विलंब नहीं होता है। उससे अभ्यास के सामर्थ्य की स्मृति तथा समाधि रूप उपायों की सहायरूप, यह प्रवृत्ति है।

2. जिस साधक को इस प्रकार संयम करने से दिव्यगंध, दिव्यरस, दिव्यरूप, इत्यादि भोग प्राप्त होते हैं; उस साधक का चित्त फिर संसार के दुःखमिश्रित तथा अनेक आयासों से प्राप्त होने वाले क्षुद्र विषयों को प्राप्त करने योग्य नहीं माना जाता अर्थात् उससे विरक्त होते हैं। इस तरह ये प्रवृत्ति वैराग्य को उत्पन्न करने वाले भी समाधि के सहायरूप हैं।

3. इन प्रवृत्ति से श्रद्धा अतिशय उत्पन्न होती है। जब शास्त्र का एक भाग भी स्वानुभव से सच्चा लगता है। तब साधक को शास्त्र के दूसरे सभी विभागों के ऊपर अतिशय श्रद्धा होती है और अंत में योगानुष्ठान में अतिशय उत्साह से साधक की चित्त वृत्ति प्रवेश करते हैं, अतः श्रद्धा और उत्साह को उत्पन्न करने वाली होने के कारण इस विषय की प्रवृत्ति स्थिति प्रयोजक है। अब दूसरा उपाय कहा जा रहा है।

48. ज्ञानमार्ग—मूल सूत्र में 'ज्योतिष्मति' ऐसा शब्द है। इस शब्द के दो भाग होते हैं, एक ज्योतिः और दूसरा मान्। ज्योति शब्द का अर्थ 'सात्त्विक प्रकाश' ऐसा होता है और 'मान्' प्रत्यय लगाने से वह 'सात्त्विक प्रकाश का उत्कर्ष' ऐसा अर्थ होता है। चित्त की तीन स्थिति होती है, यह पूर्व में ही कहा है। जो लोक ज्योतिष सिद्धांत

में अपने मन निमग्न करते हैं, उनके चित्त केवल शुद्ध ज्ञान में लीन रहते हैं और इस प्रकार तब सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष अथवा प्रयत्न उनका स्पर्श भी नहीं होता है। केवल ज्ञानमय चित्त होकर रहता है। सुख-दुःख की वृत्तियां ही मात्र चित्त में जग उठती हैं, तब चित्त वृत्तिमय हो जाता है। कभी-कभी चित्त आन्तरप्रयत्न से स्वाधीन हो जाता है। इन प्रयत्नों का नियमन किया जाता है तब चित्त प्रसन्न होकर स्थिर हो जाता है; इस बारे में 45वीं कॉलम में निरूपण किया गया है और सुख-दुःखादि वृत्तियों का नियमन करने से चित्त प्रसन्न होकर स्थिर कैसे रहता है, यह बात 44वीं कॉलम में समझायी है। इस कॉलम में चित्त केवल ज्ञानात्मक होता है। तब वह कैसे एकाग्र होता है? ये बात समझायी है। ज्ञानरूप एक सात्त्विक प्रकाश चित्त में उत्पन्न होता है तब चित्त व्याप्त रहता है। जिससे चित्त शांत रहता है और एकाग्र बनता है और उसका लय भी एक ही वृत्ति में होने लगता है। इस तरह समाधि साधने की सामग्री सिद्ध होती है। इसको ज्ञानमार्ग कहते हैं। कुछ ऐसा कहते हैं कि हृदयरूप पद्म के ऊर्ध्वमुख करके उसमें बुद्धि सत्त्व की अथवा अस्मिता की प्रकाश स्वरूप से धारणा करने से कुछ समय में इस ज्योति का साक्षात्कार होता है। यह साक्षात्कार चित्त स्थिति का हेतु है। (यह बात आगे हठयोग के प्रकरण में स्पष्ट करेंगे)।

49. त्यागमार्ग–यह भी एक समाधि सिद्धि का मार्ग है। जिस समय पतञ्जलि ने इस सूत्र में लिखा है उस समय देश में परिव्राजक के मंडल ज्यादा थे। ऐसा मान सकते हैं। पतञ्जलि ने अपने व्याकरण महाभाष्य में परिव्राजक का निरूपण इस प्रकार किया है। वे (परिव्राजक) गाँव में कहते फिरते हैं कि भाईयों कर्म की खटपट में मत पड़ना, शांति से ही तुम्हारा कल्याण होगा। इसके ऊपर परिव्राजकों का और पूर्वमीमांसकों का विरोध है, ऐसा ध्यान होता है; कारण कि पूर्वमीमांसक ऐसा कहते हैं कि, कर्म करना ही चाहिए। कर्म के बिना मुक्ति नहीं है। वैदिक परंपरा के अनुसार तो परिव्राजक नहीं हो सकता है। केवल ब्रह्मचर्य और गृहस्थाश्रम वे दोनों बातें वैदिक परंपरा के जानने में हैं। उपनिषदों के समय में जो व्यवस्था थी, उस व्यवस्था के अनुसार वानप्रस्थ और संन्यास, ये दो आश्रम उत्पन्न हुए। और कुल मिलाकर चार आश्रम हुए। ये जो संन्यासी कहे गये हैं वे वैराग्य लेकर संसार का त्याग करते हैं। उनका यह मार्ग त्यागमार्ग है। इस मार्ग से भी समाधि सिद्ध होती है और संप्रज्ञात समाधि में चित्त निगूढ़ बन जाता है। फिर ऋतंभरा प्रज्ञा प्राप्त होती है। फिर योग की सभी सिद्धियां प्राप्त होती हैं और कैवल्य की प्राप्ति होती है। योगी से संन्यासी की योग्यता कम है ऐसा कुछ लोग मानते हैं। क्योंकि केवल संन्यास लेने से, केवल वीतराग होने से मनुष्य कृतार्थ नहीं होता है। परंतु कृतार्थ होने के लिए तो उसे योग और असंप्रज्ञात समाधि साध्य करनी ही चाहिए, ऐसा नियम है।

50. स्वप्ननिद्राज्ञानावलंबन मार्ग—निद्रा में अथवा स्वप्न में जो अनुभव प्राप्त होता है उस अनुभव को पकड़ कर योगी समाधि सिद्ध करते हैं। नींद के समय जैसा उसको लगता है। जैसा ज्ञान होता है वैसा ही जागृत अवस्था में उसका चित्त होता है। अर्थात् जागृत अवस्था में जैसी उसकी स्थिति होती है। पूर्ण निद्रा में सभी विषयों में से चित्त अलग हो जाता है और फिर जागृत अवस्था में उसी प्रकार सभी विषयों में से चित्त को अलग करने का प्रयत्न साधक करने लगता है। यह भी समाधि सिद्धि का एक उपाय है। स्वप्न अवस्था में जैसे सब मिथ्या है तथा जागृत अवस्था में सब मिथ्या है। ऐसा चित्त का दृढ़ निश्चय करने से समाधि सिद्ध होती है।

51. इष्टध्यान मार्ग—ईश्वर पूर्ण और सर्व है, सभी देव उसके ही अंशरूप हैं। यानि कोई मनुष्य किसी भी इष्टदेव की आराधना करके ध्यान करे तो भी समाधि सिद्ध होती है। किसी को शिव पसंद है, किसी को विष्णु पर श्रद्धा है, किसी को कोई अन्य देव पर श्रद्धा है अथवा भक्ति है। इसलिए जिसको जिस देव की भक्ति करनी हो तो उस देव का ध्यान करके समाधि सिद्ध करनी चाहिए। जो देव पसंद है, उसकी मूर्ति सामने रखकर, उसकी बाह्य-स्थूल प्रतिमा चित्त में धारण करे, जिससे चित्त तन्मय हो जाता है, इतना होने के बाद चित्त निश्चय ही विषयों के ऊपर से हट कर अलग हो जाएगा और समाधि साधने की सामग्री सिद्ध होगी।

दुनिया के सभी धर्मों से हिन्दूधर्म में यदि कुछ सविशेषता है तो उसमें से एक यह है कि, **विभतियों का अनन्तरूप और ईश्वर का एकतत्त्व**। ईश्वर एक है परंतु लोग उसका अनेक तरह से भजन करते हैं, यह तत्त्व ऋग्वेद से लेकर भगवद्‌गीता तक के सभी ग्रंथों में मान्य है। रुचि वैचित्र्य द्वारा उपास्य-इष्ट देवता चाहे भिन्न हो परंतु अंत में तो एक ही परमेश्वर साध्य होने से किसी देव की उपासना करे तो भी मनुष्य का कल्याण ही होगा। हिन्दू धर्म में शैव, वैष्णव, गाणपत्य इत्यादि अनेक पंथ और संप्रदाय हैं और उन पंथों में अपने-अपने इष्टदेवों में भी बहुत भेद रखा जाता है। भगवद्‌गीता में स्पष्ट कहा है कि 'यांतिदेव व्रता देवान् पितृन् यांति पितृव्रताः'।

ईसाई धर्म में कहते हैं कि ईशु के ऊपर विश्वास रखो तो ही मनुष्य जाति का तारण होगा, और जो उनके ऊपर विश्वास नहीं रखते वे नरक में जाते हैं। ऐसे विचार सभी धर्मों में है। परंतु विचारों की तर्क की कसौटी पर चढ़ाने से असत्य जान पड़ता है। क्योंकि ईश्वर को जब मनुष्य जाति का कल्याण करना था और उसके ऊपर उसकी परम कृपा थी, तो मनुष्य जाति का तारणहार परमेश्वर अथवा तो उसका कोई अंश सृष्टि के आरंभ में अथवा तो निदान मनुष्य जाति की उत्पत्ति हुई तभी होना चाहिए था। हजारों वर्षों तक यह दुनिया तारणहार के बिना रही फिर दो हजार वर्ष पूर्व ही उस तारणहार ईश्वर ने एशिया खंड के किसी कोने में वह भी एक अनजान कोने में जन्म लिया। यह सब सयुक्तिक और विश्वास योग्य नहीं है।

मुसलिम धर्म में भी कुछ अंश से ऐसा ही है। मुहम्मद के बाद धर्म प्रसार करने वाले ईश्वरांशरूप कोई भी नहीं होगा, ऐसा मानते हैं। हिन्दू धर्म में ईश्वर का प्रसाद और उसका कार्य मर्यादित नहीं है। सृष्टि आरंभ से आज तक ईश्वर की अनेक विभूतियां उत्पन्न हुई हैं और अब के बाद भी होंगी। ऐसा हिन्दूधर्म में सिद्धवत् माना गया है। परमेश्वर एक है, अनेक नहीं है, ऐसा बचपन से जानते हैं। पृथ्वी पर अवतार लेने वाली विभूतियां अनेक नहीं है परंतु मात्र एक ही हैं।

परंतु अन्य धर्मों में ऐसी दलील बार-बार करते हैं कि उपास्य इष्ट देव का नियम मर्यादित करने से सभी लोग एक ही सद्गुण की उपास्य की आराधना करते हैं, वह ज्यादा लाभप्रद है। यह दलील अवास्तविक है। क्योंकि उपास्य देव के बारे में कितना भी सात्त्विक गुण उत्कर्ष हुआ हो तो भी उसका सच्चा प्रतिबिंब उसके चित्त में नहीं पड़ता है। इसलिए उसकी रुचि के अनुसार देवता स्वीकारने की उसको छूट देकर फिर जैसे-जैसे उसके अंग में सात्त्विक गुणों का विकास होता जाता है। उसके अनुसाार ज्यादा योग्यता वाले सगुण उपास्य की आराधना उसके पास से कराएं और अंत में ईश्वर प्राप्ति कराना, यही मार्ग ज्यादा योग्य है। इसलिए भगवान् पतञ्जलि कहते हैं कि **'यथाभिमत ध्यानाद्वा'** जिसको जो देव पसंद हो, उस देव का ध्यान करे। यही बात थोड़े समय पहले देश के प्रख्यात देशाग्रणी पंडित बालगंगाधर तिलक ने हिन्दू धर्म का लक्षण किया था। उसमें उपास्य (इष्टदेव) का अनियम यह बात मुख्य रूप से कही है।

तो कोई अजपाजप करके नाड़ी चक्र का ध्यान करते हैं और इस तरह जितने श्वास और प्रश्वास हम लेते हैं, उतने सभी परमेश्वर को अर्पण हो, ऐसा संकल्प करते हैं। आज सुबह से कल सुबह तक जो श्वासोश्वास चलते हैं वह 21600 होते हैं। इस प्रकार चार सेकंड में एक श्वास अथवा प्रश्वास चलते हैं। यह गिनती हिसाब से निकाली गयी है, इसलिए शायद इसमें भूल हो सकती है। 24 घंटे के श्वास-प्रश्वास को अजपागायत्री कहते हैं। अजपा कहने का कारण यह है कि गायत्री का जप वास्तविक रूप में नहीं करना पड़ता है जितने श्वासोश्वास चलते हैं, उतने गायत्रीमंत्र रूप ही हैं। ये सभी मंत्र शरीर के नाड़ीचक्रों के अलग-अलग देव मानकर उनको अर्पण करें। श्वासोश्वास संख्या इस प्रकार है–(1) गुदास्थान में से मूलाधार चक्र में रहे गणपति को 6000 श्वासोश्वास अर्पण करें। (2) लिंग के मूल में स्वाधिष्ठान चक्र में रहे ब्रह्म को 6000 श्वासों को अर्पित करें। (3) नाभि के नीचे मणिपुर चक्र में रहे विष्णु देवता को 6000 (4) हृदयस्थान में अनाहत चक्र में स्थित रुद्र देवता को 6000 (5) कंठस्थान में विशुद्ध चक्र में स्थित माया सहित जीवात्मा

देवता को 1000 (6) त्रिकुटि स्थान में आज्ञाचक्र में स्थित परब्रह्मशक्ति सहित परमात्मा को 1000 और (7) मस्तिष्क के सहस्सार चक्र में स्थित पराशक्ति सहित गुरुदेव को 1000 श्वासोश्वास अपर्ण करें।

इन सभी चक्रों का आकार पद्माकार से समझें। उसमें तांत्रिक दूसरा प्रकार है। शरीर शास्त्र का आधार है और यह सभी मोक्षदायक है। इस तरह श्वासोश्वास अर्पण करके अजपाजप करके थोड़ा ध्यान करके लोग अपने-अपने काम धंधे में पुनः लग जाते हैं। वर्तमान समय में ऐसे अनेक प्रकार प्रचलित हैं और इस प्रकार ध्यान करके चित्त एकाग्र तथा प्रसन्न करना है और सम्प्रज्ञात समाधि की तैयारी करनी होती है। इस बारे में आगे **हठयोग, लययोग, मंत्रयोग** के प्रकरण में विस्तार से बताया जाएगा, उससे पता चलेगा कि इस विषय की योग्यता कितनी महान् है।

52. वशीकार—(अर्थात् अभ्यास का फल) इस तरह पतंजलि के समय में संप्रज्ञात समाधि साध्य करने के जो भिन्न-भिन्न उपाय थे, वे कहते हैं। ये सभी उपाय इस प्रकार हैं—

(1) एकतत्त्व का अभ्यास अथवा एकत्त्वाभ्यासमार्ग।
(2) मैत्री, करुणा इत्यादि से चित्त सात्त्विक रख के योग साधना उसको सात्त्विक भावमार्ग कहते हैं।
(3) प्राणायाम करके चित्त में उत्पन्न होती अनेक वृत्तियों के कारण रूप जो 'प्राण की गति' उसको रोककर चित्त स्थिर करना, वहहठ मार्ग है।
(4) शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध उसमें से कोई भी एक विषय लेकर, उस विषय में लंपट होकर चित्त को एकाग्र करना, वह विषय प्रवृत्तिमार्ग है।
(5) ज्ञान में ही चित्त का निरोध करके समाधि साधना, वह ज्ञानमार्ग है।
(6) वैराग्य लेकर संसार त्याग कर संन्यास धारण कर त्यागी होना, वह त्यागमार्ग है।
(7) स्वप्न में अथवा निद्रा में जो अनुभव प्राप्त होता है, उन अनुभवों को पकड़ कर चित्त की वृत्तियों को स्थिर करना, वह स्वप्न निद्रा ज्ञानावलंबनमार्ग है।
(8) जिसको जिस इष्टदेव पर श्रद्धा हो उस देव का ध्यान करके चित्त को स्थिर करना, वह इष्टध्यानमार्ग है।

इन सभी भिन्न-भिन्न उपायों के उपरांत अभ्यास और वैराग्य यह भी एक उपाय है और उससे चित्त निरोध होता है। इस बारे में पहले कहा गया है तथा ईश्वर प्रणिधान अथवा भक्तिमार्ग से चित्त निरोध करके समाधि सिद्धि होती है, इसके बारे में भगवान पतंजलि ने बहुत मजबूत सिफारिश की है, इसके बारे में आगे भक्ति योग के प्रकरण में विस्तार से कहा जाएगा। इस प्रकार से सभी उपायों का अनुष्ठान

खूब समय तक साधक को करना चाहिए। तथा वे सिद्धि कब हुई जानें तथा उसका फल क्या होता है? इसके बारे में भगवान् पतञ्जलि कहते हैं कि–

अतिशय सूक्ष्म ऐसा जो परमाणु* और अतिशय स्थूल ऐसा आकाश इन दोनों में योगी के चित्त का प्रवेश होता है और चित्त उस आकार का बनता है। जो अतिशय सूक्ष्म अथवा जो अतिशय महान् इन दोनों का और योगी के चित्त का आकार केवल एक होने के बाद वृत्ति ही मात्र चित्त में प्रबल रूप है, प्रचलित होती है। फिर जो अति सूक्ष्म अथवा परमहत् ये दोनों चित्त व्याप्त रहता है। चित्त का आकार, चित्त की स्थिति और चित्त की व्याप्ति ये सब मिलकर एक रूप ही हो जाता है। इस स्थिति को ही सूत्र में वशीकार ऐसी संज्ञा दी गयी है।

अस्तु, इस तरह समाधि साधने के सब उपायों के बारे में संक्षेप में कहा। इस प्रथम प्रभा की प्रथम कला में योग विद्या की परंपरा उसका संक्षेप में इतिहास, प्रवृत्ति और निवृत्ति मार्ग के प्रकार, योगशास्त्र की महत्ता, योगसूत्र का विषय, प्रकृति, लिंगदेह का निरूपण, योगशब्द की व्याख्या और संप्रज्ञात तथा असंप्रज्ञात समाधि के बारे में संक्षेप में विवेचन किया। दूसरी कला में चित्त की वृत्तियाँ (प्रमाणादि) और उनके अविद्यादि क्लेशों का विवेचन किया गया। तीसरी कला में उत्तमाधिकारी, मध्यमाधिकारी और मंदाधिकारी की चित्तवृत्तियों का विवेक मात्र से निरोध करने के उपायों के बारे में विस्तार से कहा गया और वैसा करके समाधि साधने के बारे में कहा गया। परंतु इस तरह समाधि साधने में जो विघ्न आते हैं, उनका नाश करने के अनेक उपाय चौथी कला में बताया गया। और वैसा करते हुए समाधि साध्य होती है तब वशीकार की प्राप्ति होती है, उसके बारे में भी अभी कहा गया।



* जालांतरगते भानौ यत्सूक्ष्मं दृश्यते रजः। तस्यषष्टितमो भागः परमाणुः सउच्यते। छत में से प्रवेश करने वाले सूर्य किरण का बिंब, उसमें तैरने वाला रज कण, उसका साठवाँ भाग सो परमाणु।

द्वितीय प्रभा : अष्टांग योग

पांचवीं कला–वैराग्य कला

योग के आठ अंगों के विषय में

पिछले प्रकरण में चित्तवृत्ति निरोध के अधिकारीपरत्त्व उपाय बताये तथा योग क्या हैं? चित्तवृत्तियां क्या हैं? उनके भेद कितने है? इत्यादि का निरूपण किया गया। वृत्तियों के अनेक भेद, और उन वृत्तियों जिनमें उत्तम, मध्यम और कनिष्ठ रूप होते हैं, ऐसे उत्तम, मध्यम और मंदाधिकारी को इन वृत्तियों के निरोध करने के भिन्न-भिन्न प्रकारों के बारे में कहा। इन सभी का तात्पर्य इतना ही है कि बहिरंग (बाह्य) और अंतरंग वृत्तियों का निरोध करके विवेकख्याति उत्पन्न करनी चाहिए और विवेकख्याति हो गयी तो फिर भूत, वर्तमान और भविष्य के कर्म के नियम के अनुसार चित्त पर हुए संस्कार और वे संस्कार परिणाम पाते हैं तब अनेक दुःख उत्पन्न होते हैं, उनका नाश होता है और समाधि सिद्ध होती है। विवेकख्याति यानि क्या और वह हान (हेयरूप दुःख के पुनरुदभवरहित नाश) के तौर पर किस तरह से है उसके बारे में भी गत अध्याय के अन्त में विस्तार से कहा जा चुका है। इस सारे विवेचन से स्पष्ट मालूम पड़ा होगा कि किसी भी साधन से, किसी भी तरीके से, किसी भी अधिकारी में विवेकख्याति का उदय होता है तो ही समाधि के लायक हो सकता है। अब विवेकख्याति किस प्रकार उत्पन्न होती है? उसके साधन कौन से हैं? विवेक प्रज्ञा के पूर्व रूप कौन से हैं? उस विषय में जानना चाहिए। उत्तमाधिकारी को विवेक प्रज्ञा (ख्याति) इच्छा मात्र से उत्पन्न करने के प्रकार पिछले प्रकरण में बताए हैं। परंतु वास्तविक रीति से कोई भी अधिकारी में विवेक ख्याति की इच्छा मात्र से उदय नहीं होता है, बहुत देर लगती है और दृश्य ष्यवहार में अनेक परिस्थितियाँ आती हैं। चित्त वृत्ति का निरोध करते व्युत्थान की स्थिति हो जाती है और अनेक विघ्न आ जाते हैं। इसलिए योग साधन से विवेकख्याति जल्दी से उत्पन्न करना सरलमार्ग है। मध्यमाधिकारी को विवेकख्याति उत्पन्न करने के लिए भगवान् पतञ्जलि ने योगसूत्र द्वितीय पाद के प्रथम दो सूत्रों में क्रियायोग के बारे में कहा है और वह उपाय मध्यमाधिकारी के

लिए पर्याप्त है, मंदाधिकारी के लिए नहीं है। अतः विवेकख्याति को साधनों का विस्तार से प्रतिपादन मंदाधिकारी के लिए करना आवश्यक है। क्रिया योग मध्यमाधिकारी के लिए और अष्टांग योग मंदाधिकारी के लिए आवश्यक है और उत्तमाधिकारी के लिए तो समाधि योग जो आगे चलकर कहा जाएगा।

तो भी क्रियायोग में जिन साधनों का समावेश होता है, उन सभी में अष्टांगयोग आ जाता है। समाधि साधने के मुख्य आठ अंग है। उसमें प्रथम **यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार,** इन पाँच को समाधि के **बहिरंग साधन** कहते हैं और **धारणा, ध्यान, समाधि** इन तीनों को समाधि के **अंतरंग साधन** कहते हैं। इन आठ अंगों का **अष्टांगयोग** नाम है और इन अंगों की पद्धति से कोई भी उत्तमाधिकारी या मध्यमाधिकारी विवेकप्रज्ञा उत्पन्न करके योग सिद्ध कर सके तो खूब लाभ मिलता है। सच पूछो तो आजकल उत्तमाधिकारी तो है ही नहीं, और मध्यमाधिकारी भी बहुत कम हैं और कनिष्ठाधिकारी तो अनंत है। इसलिए इन आठ अंग की क्रिया अनुसार अनुक्रम से कोई भी अधिकारी को आगे बैठने से लाभ होता है। अब इन आठ अंगों का निरूपण करते हैं। उसके पूर्व अष्टांगयोग माने जाते हैं। आठ अंग और उनके भाग प्रभाग के बारे में विवरण करते हैं।

(53) यम, नियम, आसन प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि। ये योग के आठ अंग है। (54) योग के अंगों का अनुष्ठान करने से अशुद्धियों का नाश होता है। ज्ञान का प्रकाश होता है और अन्त में विवेक प्रज्ञा उत्पन्न होती है।

53. यमनियमादि आठ में से प्रथम के पाँच संप्रज्ञात योग के बहिरंग साधन हैं और अंतिम तीन अंतरंग साधन हैं। इन सभी का विवेक इस प्रकार हैः—

संप्रज्ञात योग सिद्धि के साधन अथवा अष्टांग योग

बहिरंग साधन	**अंतरंग साधन**	
1. **यम**-उसमें अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह।	6. **धारणा**।	—संयम
2. **नियम**-उसमें शौच, संतोष, तप, स्वाध्याय, ईश्वर प्रणिधान।	7. **ध्यान**।	
3. **आसन**।	8. **समाधि**।	
4. **प्राणायाम**।		
5. **प्रत्याहार**।		

53. यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यान समाधयो ऽष्टावंगानि 2,29.

54. योगांगानुष्ठानादशुद्धिक्षये ज्ञानदीप्तिराविवेकख्यातेः 2,28.

बहिरंग साधन और उनके उपांगों में तप, स्वाध्याय और ईश्वरप्रणिधान इनको क्रियायोग* कहते हैं। ये समाधि सिद्ध करने के लिए और पंचक्लेशों को कम करने के लिए उपयोगी हैं। यह भी पतञ्जलि कहते हैं।†

अंतरंग साधनों में धारणा, ध्यान, समाधि और इन तीनों को माना जाता है तथा इन तीनों को संयम** ऐसी संज्ञा है। ये साधन उत्तम, मध्यम और कनिष्ठ ये तीनों अधिकारियों को भी खूब आवश्यक है और इन तीन साधनों का अनुष्ठान साधक के करने से उसको श्रद्धा उत्पन्न हो सके, ऐसी अनेक सिद्धि मिलती है। योग दो है। एक **संप्रज्ञात** और दूसरा **असंप्रज्ञात**। उसमें संप्रज्ञात के तीन अंतरंग† साधन हैं, परंतु असंप्रज्ञात योग तो ये केवल बहिरंग‡ साधन है। संप्रज्ञात योग साध्य होने के बाद जब विवेकख्याति उत्पन्न होती है, विवेकख्याति के पुनः-पुनः अभ्यास से ज्ञान निर्मल होता है और उसके बाद परवैराग्य उत्पन्न होकर उस वृत्ति का शमन होता है और अंत में जब तमाम वृत्तियों का निरोध होता है तब ही असंप्रज्ञात योग सिद्ध होता है।

यमनियमादि अष्टांगों के स्वरूप के बारे में आगे विस्तार से कहा जाता है तो भी संक्षेप से यही कहते हैं। **यम** यानि व्रत करना; **नियम** यानि चित्त का दमन करना, **आसन** यानि स्थिर होकर सुख कारक बैठना, **प्राणायाम** यानि श्वास प्रश्वास का संशोधन करना, **प्रत्याहार** यानि (विषयेभ्य इंद्रियाणां यच्चित्ताभिमुखं परावर्तन स प्रत्याहारः) विषयों के ऊपर से इन्द्रियों को खींच कर उसका रूझान चित्त ऊपर करना वह **धारणा** यानि (शरीर देशविशेषे बाह्यविषय विशेषे वा चित्तस्य यत् स्थापनं सा धारणा), शरीर के आगे कोई एक मूर्ति अथवा पदार्थ रख कर उस पर, अथवा शरीर के अंदर किसी भी मूर्ति की कल्पना करके उस पर चित्त स्थिर करना, **ध्यान** यानि (तद्देशैकतानता तद्विषयैकतानता वा ध्यानं), **धारणा** करने के लिए हुए विषय और चित्त का एक रूप हो जाना वह और **समाधि** यानि (चित्त स्वरूप शून्यत्वे सति ध्यानविषय मात्र प्रकाशनं समाधिः) जिस मूर्ति अथवा विषय का ध्यान किया जाय तो उस समय अपना खुद के चित्त का ज्ञान चला जाता है और उस मूर्ति (विषय) रूप ही पूरा विश्व जान पड़ना वह, अर्थात् दुनिया के तमाम पदार्थों को ध्यान की मूर्ति जैसे जानना ऐसी स्थिति होनी चाहिये।

---

* तपः स्वाध्यायेश्वर प्रणिधानानिक्रियायोगः 2.1

† समाधिभावनार्थः क्लेशंतन् करणार्थश्च 2.2 इस सूत्र में भावना, क्लेश और तनूकरण ये तीन शब्द हैं। उनमें के भावना = उत्पन्न करना, क्लेश = अविद्या, अस्मिता वगैरह, और तनूकरण = कृश करना। उनको ही जैन निर्जरा कहते हैं, उसमें उपवास वगैरह करने का नियम कहा है और विनय, स्वाध्याय तथा ध्यान भी उसी में गिना जाता है और इस प्रकार जड़ शरीर पर सत्ता बिठाकर, दृढ़ आसन लगाकर, चित्त एकाग्र करके समाधि साधने का यह सारा प्रकार है।

** त्रयमेकत्रसंयमः 3.4.

† त्रयमन्तरंगपूर्वेभ्यः 3, 7.

‡ तदपि बहिरंगम् निर्बीजस्य 3, 8.

इस प्रकार संप्रज्ञात योग के आठ साधनों के बारे में विवेक है। पिछली प्रभा का विवेचन बराबर लक्ष्य में रख के इस प्रभा के ऊपर चिंतन करने से विषय का स्वरूप जल्दी ध्यान में आएगा।

54. अष्टांगयोग की उपयोगिता—अष्टांगयोग का अनुष्ठान करने से विवेकप्रज्ञा उत्पन्न होती है। अशुद्धि का नाश होता है और ज्ञान की ज्योति प्रकट होती है। अशुद्धि अर्थात् क्या है? व्युत्थान अवस्था वही अशुद्धि, संसार में निमग्न होने की वृत्ति अथवा अशुद्धि। सच्चा ज्ञान तो ऋतंभरा प्रज्ञा यही मुख्य है। इसके बारे में समाधि योग का निरूपण आगे स्पष्ट होगा।

इन आठ अंगों के बहिरंग और अंतरंग दो भाग किए गये हैं। यम और नियम के अंग को वैराग्यकला, आसन और प्राणायाम के अंग को अभ्यास कला तथा प्रत्याहार, धारणा, ध्यान समाधि इन चार अंग को समाधिकला ऐसे तीन भाग होते हैं। इसलिए हम भी सभी अंगों के वैराग्य कला, अभ्यासकला और समाधि कला ऐसे तीन भाग क़रके उसका वर्णन करते हैं।

वैराग्य कला के बारे में

वैराग्य कला में यम और नियम को गिना जाता है। (55) अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह यह यम कहलाते हैं। (56) अहिंसा की स्थिरता होने से अर्थात् उसको पूर्ण रीति से पालने से (सांप, नेवला, चूहे, बिल्ली ऐसे परस्पर) हिरन स्वभाव के प्राणी अपने वैर का त्याग करते हैं। (57) सत्य की स्थिरता होने से उस योगी में क्रिया के फल निवास करते हैं। (58) अस्तेय को पालने से सभी रत्नादि मूल्यवान द्रव्य उस योगी की सत्ता में आ जाते हैं। (59) ब्रह्मचर्य पालने से वीर्य का लाभ होता है। (60) अपरिग्रह की स्थिरता होने से जन्मो-जन्म का ज्ञान होता है। (61) इस प्रकार जाति, देश, काल, समय, मर्यादा से परे ऐसा यम सार्वभौम और महाव्रत कहलाता है। (62) शुद्धता, संतोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर प्रणिधान यह नियम है। (63) उसमें शुद्धता ये एक प्रकार की एक शारीरिक और दूसरी चैतसिक, शारीरिक शुद्धता से अपने शरीर का तिरस्कार और दूसरे के साथ संसर्ग से रहित बना प्राप्त होता है। (64) और चैतसिक शुद्धता में सत्त्व की शुद्धि, मन की प्रसन्नता, एकाग्रता, इन्द्रियदमन और आत्मदर्शन करने की योग्यता प्राप्त होती है। (65) संतोष

---

55. अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्याऽपरिग्रहायमाः2,30. **56.** अहिंसाप्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्यागः 2,35. **57.** सत्यप्रतिष्ठायां क्रियाफलाश्रयत्वं 2,36. **58.** अस्तेयप्रतिष्ठायां सर्वरत्नोपस्थानं 2,37. **59.** ब्रह्मचर्यप्रतिष्ठायां वीर्यलाभः 2,38. **60.** अपरिग्रहस्थैर्ये जन्मकथंतासंबोधः 2,39. **61.** एते जाति देशकालसमयानवच्छिन्नाः सार्वभौमामहाव्रतं 2,31. **62.** शौचसंतोषतपः स्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः 2,32. **63.** शौचात् स्वांगजुगुप्सा परेरसंसर्गः 2, 40. **64.** सत्वशुद्धि सौमनस्यैकाग्रतेंद्रिनयजयात्मदर्शनयोग्यत्वानिच 2,41. **65.** संतोषादनुत्तमसुखलाभः, 2,42.

से अति उत्तम सुख की प्राप्ति होती है। (66) तप से अशुद्धि का नाश होता है और शरीर तथा इंद्रियों की सिद्धि प्राप्त होती है। (67) स्वाध्याय से इष्ट देव मिलते हैं। (68) ईश्वरप्रणिधान से समाधि की सिद्धि प्राप्त होती है। (69) इस यम और नियमों के विवेकमात्र से बाध्य होता है तब उसके प्रतिपक्ष की भावना करें। (70) वह ऐसे कि किए हुए, कराए हुए, अनुमोदन दिए हुए, लोभ, क्रोध तथा मोहरूप कारण वाला। मृदु, मध्य तथा अधिमात्र जो हिंसादि वितक हैं वे सभी दुःख और अज्ञानरूप अनंत फल को देने वाले हैं ऐसी, (प्रतिपक्षवाली) भावना करें।

1. यम

55. अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह यह यम कहलाते हैं। दूसरे का प्राण न लेना यह अहिंसा है, इस अहिंसा के अनेक प्रकार जैन लोग कहते हैं। किसी को कड़वी बात कहके दुःख नहीं पहुँचाना भी अहिंसा ही है। सत्य यानि सच बोलना वह। बलात्कार से अथवा एकान्त में किसी परायी वस्तु का अपहरण नहीं करना अथवा दूसरे को दिए बिना कुछ भी नहीं लेना, उसका नाम अस्तेय है। ब्रह्मचर्य यानि किसी कारण से वीर्यपात नहीं होने देना अथवा स्त्री से दूर रहना वह। शरीर का रक्षण हो सके इतनी वस्तु से विशेष वस्तुओं को स्वीकार न करना अथवा किसी भी वस्तु का स्वीकार नहीं करना, वह अपरिग्रह है।

इस तरह यम के पाँच उपांग हैं। उसमें से हरेक का साध्य करने से क्या लाभ होता है। इसके बारे में आगे आएगा तो भी इन पाँचों का साध्य हो तो यम साध्य होता है और उसमें मुख्य इतना ही है कि दूसरों को दुःख नहीं देना, अपने शरीर को संभालना वह वीर्यवान् और सतेज रहे, ऐसी व्यवस्था से रहना।

56. अहिंसा–द्वेष का संपूर्ण नाश कर देना यही वस्तुतः अहिंसा का मुख्य लक्षण है। अपने दुःख के समय मनुष्य कोई अच्छा कार्य भी करेगा, दान भी देगा, अथवा सत्कार्य भी करेगा, यह बात अलग है। परंतु मनुष्य जाति का सच्चा महानुभक्त तो वही है कि जिससे द्वेष और मत्सरबुद्धि सौगंध खाने जितनी भी नहीं है। आज हम जिसको जगत् के महानुपुरुष (वर्तमान के तत्त्ववेत्ता) का मान देते हैं; वे कोई छोटी पदवी, थोड़ी कीर्ति की आशा अथवा थोड़े से सोने की लालच के लिए, एक-दूसरे में द्वेषभाव रखते हैं। परंतु जब तक अन्तःकरण में यह द्वेष रूपी पिशाच का साया है, तब तक वहां सच्ची अहिंसा का नाम भी नहीं लेना चाहिए। जो गाय

---

66. कायेन्द्रियसिद्धिरशुद्धिक्षयात् तपसः 2,43. **67.** स्वाध्यायादिष्टदेवतासंप्रयोगः 2,44. **68.** समाधिसिद्धिरीश्वरप्रणिधानात् 2, 45. **69.** वितर्कबाधनेप्रतिपक्षभावनम् 2,33. **70.** वितर्का हिंसादयः कृतकारितानुमोदिता लोभक्रोधमोहपूर्वका मृदुमध्याधिमात्रा दुःखाज्ञानानन्तफला इतिप्रतिपक्षभावनम् 2,34.

अथवा बकरी इन पशुओं का मांस नहीं खाते क्या इसलिए वे योगी हैं? ऐसा कह सकते हैं और **अ** नाम के मनुष्य ने अमुक खराब वस्तु का सेवन नहीं किया तो क्या इतने से **अ** की योग्यता वनस्पति का अन्न खाने वाले प्राणियों से विशेष मानी जा सकती है? नहीं, नहीं, कभी नहीं, कल्पना कीजिए कि **ब** नाम का मनुष्य एक तरफ मात्र घास खाकर अपना पेट भरता है, लेकिन दूसरी तरफ बिचारी गरीब और निराधार स्त्रियों तथा बच्चों को फँसता है अथवा पैसों के लिए ऐसे की खराब काम करता है, तो क्या उसे साधु कह सकेंगे? नहीं, नहीं, उसे तो शुद्ध पशु से भी नीच समझना चाहिए! जिसके अन्तःकरण में किसी प्राणी को दुःख देना किचिंत भी विचार नहीं आता है, जो अपने कट्टर दुश्मन के वैभव को देखकर खुश होता है वही सच्चा योगी है और सबका गुरु है। इसलिए हमें हमेशा ध्यान रखना चाहिए कि बाह्य शुद्धि तो केवल अन्तःशुद्धि का पोषक रूप होकर रहती है। इसलिए करनी चाहिए। एक पक्ष से तो जहाँ बाह्यशुद्धि कुछ कारणों से असाध्य हो जाती है, वहाँ तो अन्तःशुद्धि को ही महत्त्व देना चाहिए। परंतु जो राज्य अथवा देश अथवा मनुष्य व्यक्ति आन्तरशुद्धि जो कि धर्म का केवल मजबूत पाया है उसको छोड़ देंगे और बाह्य आचार-विचारों से ही चिपके रहेंगे तो देश की अथवा व्यक्ति की क्या दशा होगी। ये कुछ नहीं कह सकते। कुछ ऐसा कहते हैं कि मनुष्य मात्र को दुःख न दे तो अच्छा बाकी हल्की जाति के प्राणियों को कितने ही दुःख दें तो भी कोई बात नहीं है। कुछ लोग तो कुत्ते-बिल्ली को पालते हैं, चीटियों के दरों में आटा डालते हैं और दूसरी तरफ अपने मनुष्य बन्धुओं के गले रौंदते हैं। उनको फँसाते हैं और अनेक आफत यहां-वहां से लाते हैं। यह भी एक विलक्षण नियम है कि जगत में कोई भी सुकल्पना, सुविचार अथवा उत्तमकला हो और उसकी अति होती है, तो तुरंत ही उस सुकल्पना और उत्तम कला **'अतिसर्वत्र-वर्ज्ययेत्'**, इस कहावत के अनुसार ऐसी स्थिति आ जाती है। कुछ धर्म पंथ के लोग शरीर के छोटे-छोटे जीव मर नहीं जाए, इसलिए महीनों तक नहीं नहाते हैं, परंतु ऐसे तो हम अपने मनुष्य बन्धुओं को दुःख देने में और अनेक रोग के बीज बोने में कारण भूत बनते हैं। इतना अच्छा है कि ऐसे अधम लोग हमारे वेदधर्म के अनुयायी नहीं है। अस्तु! तब बाह्य आचार-विचार आन्तर-आध्यात्मिक जीवन के दर्शन रूप हैं। इसलिए बाह्य आचार-विचार का इतना महत्त्व दिया है। परंतु जब यह आन्तर जीवन को प्रकाशित नहीं करते हैं तब तो वह परम धिक्कार पात्र आडंबर बराबर ही है।

अहिंसा की स्थिरता होने से इस योगी के पास हिंसकस्वभाव के प्राणी भी अपने-अपने वैर का त्याग करते हैं। हिंसा नहीं करना इतना ही नहीं परंतु मन में हिंसा का विचार भी नहीं आना चाहिए। चित्त का स्वभाव ही अहिंसा रूप होना

चाहिए। भगवान् पतञ्जलि कहते हैं कि अहिंसा रूप जिसका स्वभाव हो गया है। ऐसा साधक जब पास होता है तब शेर और बकरी एक किनारे पानी पीते हैं। वैर तो जिसके स्वप्न में नहीं है। ऐसी स्थिति होती है तब सिंह, बाघ जैसे हिंसक प्राणी उसको नहीं डराते, परंतु प्रेम करते हैं। इतना ही नहीं परंतु उन प्राणियों की हिंसा भी नाश हो जाती है। पूरा जगत् शान्तिमय और मंगलमय हो जाता है। यह सब अहिंसा से होता है।

57. सत्य–सत्य की स्थिरता होने पर उस योगी में क्रिया के फल निवास करते हैं। एक मात्र सत्य का अमल करने से फल की इतनी सारी प्राप्ति होती है। सत्य के पालन से क्रिया की सिद्धि होती है। सच बोलना सो सच ही बोलना, सत्यवाद ही करना।

किसी से कहेंगे कि 'आपको स्वर्ग मिले' और सुखी हों, तो वह निश्चित रूप से स्वर्ग प्राप्त करेगा और सुखी होगा। सत्य के पालन से योगियों को इतना सारा सामर्थ्य प्राप्त होता है। योगी जो बोलेगा वह सत्य ही होगा, असत्य नहीं होगा। यह सोचना चाहिए कि एक मात्र सत्य साधा जाय तो योगी कितना सारा कम सकता है। क्रिया से जो फल प्राप्त होते हैं वह सबका आश्रय स्थान सत्य है। सत्य का अभ्यास करने से उसके अंतःकरण में एक प्रकार का सामर्थ्य बढ़ता है कि उस सामर्थ्य से अपने संकल्प के द्वारा बाह्य परमाणु आदि वस्तुओं पर असर करने के लिए समर्थ होता है। अतः योगी 'अमुक हो' ऐसा संकल्प करता है उस समय उसके अंतःकरण का संचित बल उस संकल्प के द्वारा बाह्यवस्तु में अपने जैसा दृढ़ प्रभाव डालता है, अथवा तो सर्वशक्तिमान फिर भी विविध प्रतिबंधों से अंतःकरण अल्पशक्ति वाला हो गया होता है। उसमें से संकल्पानुसार बाह्य व्यवस्था करने के लिए शक्ति का प्रतिबंधक यह सत्य का अभ्यास है। उस प्रतिबंध की निवृत्ति होने से वह सामर्थ्य आविर्भाव को प्राप्त करता है, जिससे संकल्प मात्र से तदनुसार बाह्य व्यवस्था होती है।

58. अस्तेय–परायी वस्तु लेने की कभी भी इच्छा नहीं होती, वह अस्तेय है। अर्थात् स्तेय का अभाव अथवा निवृत्ति। दूसरे की ममत्व की मर्यादा में रही वस्तु का बलात्कार से अथवा चोरी से अर्थात् मालिक की इच्छा अथवा आज्ञा के बिना जो ले वह स्तेय; और उससे रहित (अस्पृह) रहना वह अस्तेय। योगेश्वर याज्ञवल्कय कहते हैं–

कर्मणा, मनसावाचा परद्रव्येषु निःस्पृहा।
अस्तेयमिति सम्प्रोक्तमृषिभिस्तत्त्वदर्शिभिः ॥

मन, वाणी और कर्म द्वारा अन्य के द्रव्य में निःस्पृह होकर रहना उसको ही तत्त्वदर्शी

ऋषियों ने अस्तेय कहा है। अस्तेय पालने से महान् लाभ होते हैं। इस विषय में भगवान् पञ्तजलि कहते हैं, उससे सभी रत्नादि मूल्यवान द्रव्य हमारी सत्ता में आ जाते हैं। मतलब कि जिसकी चित्तवृत्ति निःस्पृह होकर सदा के लिए संतोष वाली हो जाती है। ऐसे योगी (साधक) को सभी रत्नों के मिलने के बराबर है, क्योंकि वह ज्ञानी जानता है कि सभी रत्न मृत्तिका ही हैं। क्योंकि योगी होने के कारण वह जानता है कि सारे रत्न एक तरह ही मृत्तिका ही है और ऐसे योगी को किसी काम के लिए जब कुछ द्रव्य चाहिए तब तत्काल वह द्रव्य उसके पास आता है। हम व्यवहार में भी देखते हैं कि जिस वस्तु की हमें बहुत इच्छा हुई हो उस वस्तु की प्राप्ति न होकर दूसरी ही मिलती-जुलती वस्तु मिल जाती है। लोकोक्ति है कि, जिसे माँगते हैं सो दूर जाता है और जिसे त्यागते हैं सो (पास) आता है। मतलब है कि अस्तेय की सभी असर जो साधक की चित्तवृत्त में दृढ़ हो गयी हो, वह सभी पदार्थ अनायास ही स्वाभाविक रीति से मिलते हैं।

59. ब्रह्मचर्य–शरीर के वीर्य का किसी भी प्रकार नाश नहीं करना, वह ब्रह्मचर्य कहा जाता है। दक्षसंहिता में इस बारे में आठ अंगों का वर्णन है। उसमें कहा है कि,

ब्रह्मचर्य सदा रक्षेदष्टधा लक्षणंपृथक्, स्मरणं कीर्तनं केलि प्रेक्षणं गुह्य भाषणं।
संकल्पोऽध्यवसायश्च क्रियानिवृत्ति रेवच एतन्मैथुनमष्टांग प्रवदन्ति मनीषिणः॥

आठ अंग वाले ब्रह्मचर्य का सदा आग्रह से पालन करना चाहिए। स्त्री विषय का अथवा उसके बारे में बातों का (1) स्मरण, (2) कथन, (3) रहस्यवार्ता, (4) राग पूर्वक अवलोकन, (5) रहस्य भाषण, (6) संकल्प, (7) अध्यवसाय और (8) संभोग की निष्पत्ति। यह आठ अंगों वाले मैथुन का वर्णन है। इन आठ अंगों से रहित होना उसको अष्टांग ब्रह्मचर्य कहते हैं। इस संबंध में स्वामी विवेकानन्द अपने राजयोग में लिखते हैं कि शरीर में जो मुख्य शक्ति है वह ओजस् यानी वीर्य के ऊपर ही आधारित है। हम रोज अन्न खाते हैं उसका पाचन होकर अलग-अलग रस उत्पन्न होते हैं। उसमें जो अंतिम रस है, वह ओजस् है और वह अति महत्त्व का है। मनुष्य के अंग में जैसे ओजस् की वृद्धि ज्यादा होती है वैसे उसके शरीर में शक्ति ज्यादा होती है और बुद्धि तीव्र होती है। तीव्र ब्रह्मचर्य पालने से जो वीर्य शरीर में ज्यादा है उसका ओजस् बनता है और उससे योगाभ्यास में बहुत मदद मिलती है। योगशास्त्र में ब्रह्मचर्य की महत्ता बहुत है, उसका कारण यह है कि मनुष्य के शरीर का प्रधान सत्व जो ओजस् है वह स्थित रहने से उसका आचार-विचार, उच्चार शुद्ध रहकर चित्त को एकाग्र होने में सुगमता रहती है। इसलिए योग का अभ्यास करने वाले साधकों (स्त्री अथवा पुरुष) को काम की

इच्छा से दूसरे का स्मरण, कीर्त्तन, रहस्य वार्ता प्रेक्षण, गुह्यभाषण, संकल्प, निश्चय इत्यादि में एक भी करने से योग में हानि होती है। तो भी उसमें से कोई भी एक प्रत्यक्ष हो जाए तो फिर मनुष्य योगभ्रष्ट हो जाता है। उसमें कोई शंका नहीं है। आर्य, ईसाई, बौद्ध इत्यादि मुख्य धर्मों में जो महान पुरुष हुए हैं, वे सभी ब्रह्मचारी थे। यदि अष्टांग ब्रह्मचर्य का पालन नहीं होता है तो उसको योगाभ्यास नहीं करना चाहिए। वैसे ही भक्ति योग में भी स्वामीजी लिखते हैं कि 'भक्तियोग के अनेक साधन हैं। उसमें मुख्य साधन **अनवसाद** अथवा **शक्ति** मुख्य है। श्रुति तो स्पष्ट कहते हैं कि 'इस आत्मा की प्राप्ति दुर्बल मनवाले मनुष्यों को नहीं होती है।' इसमें शरीर और मन दोनों की दुर्बलता का समावेश हो सकता है। मन से और शरीर से भी मजबूत पुरुष ही योगविद्या के सच्चे अधिकारी हो सकते हैं। मन से लूले और शरीर से भी अशक्त के हाथों क्या हो सकता है, कुछ भी नहीं। योगविद्या के अभ्यास से शरीर में जो अदृश्य शक्ति है उसमें की कोई शक्ति यदि कुछ अंश जागृत हो जाती है तो दुर्बल मनुष्य का शरीर टूट जाएगा। उम्मीदवार अथवा युवान, मजबूत और आरोग्य और शरीर से बलवान होगा तो ही योगविद्या का अपार सागर पार कर सकेगा। भक्ति योग अथवा राजयोग का अभ्यास जब कोई निर्बल और रोगी मनुष्य करने जाता है तो तब उसको किसी भी प्रकार का असाध्य व्याधि होता है अथवा तो उसका मन हमेशा क्षीण रहता है। अतः जानबूझ कर शरीर बल की हानि करना यह अध्यात्मज्ञान के अनुरूप नहीं होता है। वैसे ही जो मन से क्षीण होते हैं उनको भी आत्मा प्राप्त नहीं होता है। जिनको भक्त बनने की इच्छा हो उसे हमेशा आनंद में निमग्न रहना चाहिए। जिसका मन प्रसन्न होगा, वह जो भी काम हाथ में लेगा, वह उत्साह से सम्पूर्ण कर सकेगा और मन की ऐसी स्थिरिता होगी तभी अनेक दुखों से घिरे होने पर भी हम अपना रास्ता ढूँढ़ निकालेंगे। इस माया जाल में से अपना रास्ता ढँढ़ लेना, यही मुख्यतः कठिन कार्य है और यह असामान्य मनोबल के बिना असंभव है तो भी अति आनंद में रहना भी ठीक नहीं है। अत्यानंद से सत्य विचार करने के भी अयोग्य होते हैं और परिणामतः हमारी मनः शक्ति का बहुत बार व्यर्थ व्यय होता है। जैसे-जैसे इच्छा की प्रबलता मजबूत होगी, वैसे-वैसे मनोविकारों पर सत्ता जमाते जाते हैं। अत्यानंद के जैसे अति गांभीर्य भी निरुपयोगी है। जब मन, स्थिर, शांत और समतोल होगा तभी आध्यात्मिक अनुभव संभव है। अस्तु! इस संबंध में भगवान् पतञ्जलि कहते हैं कि वीर्य की रक्षा करने से ब्रह्मचर्य सिद्ध होता है और फिर वीर्य दृढ़ बनता है। शरीर, मन तथा इन्द्रियाँ मजबूत होती हैं। ऐसे साधक के अंग में विशेष शक्ति उत्पन्न होती है।

60. अपरिग्रह—अपरिग्रह की स्थिरता होने से जन्मो-जन्म का ज्ञान होता है। इस सूत्र में 'अपरिग्रहस्थैर्य' इस पद का उपयोग किया है। परिग्रह यानि अलग-अलग भोग के साधनों की इच्छा। अलग-अलग पदार्थ और शरीर ये दोनों भोग-भोगने के साधन हैं। जब इन सभी का हमेशा के लिए त्याग करने में आए और उसका अभिमान छोड़ दिया जाय तब अपरिग्रह सिद्ध होता है। फिर बहिर्मुखता नाश होती है और अन्तर्मुखता दृढ़ होती है। भूतकाल के जन्म में कौन था और भविष्य में मेरा कौन सा जन्म होगा। इन सभी का ज्ञान योगियों को होता है। जब योगी को इस प्रकार का ज्ञान होता है तब उसके अपरिग्रह की स्थिरता समझो तथा उसके लिए प्रयत्न छोड़कर उत्तरोत्तर योग्य भूमिका के लिए प्रयत्न करो।

61. यम की महत्ता—इस तरह अहिंसा, अस्तेय, सत्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह ये पाँचों मिलकर **यम*** कहे जाते हैं। पतञ्जलि कहते हैं कि—जाति, देश, काल, समर्थ इन सबकी मर्यादा से बाहर (पर) ऐसा यम सार्वभौम और महाव्रत कहाता है।

पतञ्जलि का यह सूत्र योगशास्त्र के मूल घर जैसा है। वैदिक परंपरा में यम की थोड़ी बहुत मर्यादा है। उनके मत अनुसार तो सभी काल, देश और जातियों में इस व्रत का आचरण करना इष्ट नहीं है। वैदिक परंपरा अनुसार इस व्रत की व्यवस्था इस प्रकार होती है। मैं ब्राह्मण की हत्या नहीं करुँ; यज्ञ में सच बोलूंगा; व्यवहार अस्तेय का आचरण करुँगा; गृहस्थाश्रम करने से पहले ब्रह्मचर्य का पालन करुंगा; शूद्र, अतिशूद्र और अनार्य इन तीनों का दान नहीं लूंगा। ऐसे व्रतों में देश और काल की मर्यादा है और उस मर्यादा से बाहर नहीं जाया जा सकता। योगशास्त्र के मतानुसार इन व्रतों का आचरण करने के लिए बिल्कुल मर्यादा नहीं है। जब चाहें जहां चाहें और किसी भी जाति वाले इस व्रत का पालन और आचरण करें। उसकी मर्यादा बिल्कुल नहीं है। इसलिए अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह यह यम है। और ये व्रत सार्वभौम है। वैदिक परंपरा अनुसार यह व्रत केवल मांगलिक होते हैं लेकिन योगशास्त्र के अनुसार अमल में रखने से ये सब व्रत सार्वभौम हैं, अतः उनको देश, काल, जाति की व्यवस्था लागू पड़ नहीं सकती। वैदिक परंपरा के अनुसार इन व्रतों को देश, काल और जाति का अमुक बाध है। योगशास्त्र, जैन संप्रदाय और बौद्ध संप्रदाय इन तीनों का परस्पर संबंध है। ये तीनों वैदिक परंपरा को स्वीकार नहीं करते हैं। वेदान्ती मानते हैं कि वैदिक परंपरा का स्वीकार करना

* कुछ स्थान पर यम के 10 प्रकार गिनाए हैं। जैसे कि अहिंसादि पाँच और क्षमा, धृति, दया, आर्जव, शौच ये पाँच मिलकर दस। उनमें के क्षमा, धृति, आर्जव, दया इन चार का समावेश अहिंसा में हो जाता है और शौच आगे चलकर बताएँगे, वैसे नियम के अंग में समा जाता है। भागवत में तो 12 यम गिनाये हैं। वे इस प्रकार हैं—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, असंग, लज्जा, असंचय (अपरिग्रह) धर्म में विश्वास, ब्रह्मचर्य, मौन, स्थिरता, क्षमा और अभय।

अर्थात् इन सभी व्रतों का अमुक व्यवस्था से पालन करना। वेदान्ती कहते हैं कि, वेदान्त मुख्य और यज्ञयागादि गौण, यज्ञयागादि केवल साधन हैं, वे कोई साध्य नहीं हैं। योगशास्त्र के अनुसार आत्मज्ञान कर लेना, ये साध्य ही मुख्य है। जैन और बौद्ध ये दोनों वैदिक परंपरा का सवर्था त्याग करते हैं।

2. नियम

62. शुद्धता (शौच) संतोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वरप्रणिधान–ये सब नियम हैं। उसमें शरीर की और मन की शुद्धता रखना उसका नाम **शौच** है अथवा शुद्धता है। हमारे पास जितना है उससे अधिक पाने की इच्छा नहीं होना, वह **संतोष** है। इच्छ्रयान्द्रायणादि व्रतों का आचरण करना, वह **तप** है। वेदाध्ययन और इष्ट मंत्र का जप, वह **स्वाध्याय** और सभी कर्म निष्काम भाव से ईश्वर को अपर्ण करना, वह **ईश्वर प्रणिधान।**

इस तरह नियम के पाँच उपांग है। उनमें से हर एक को साध्य करने से क्या लाभ होता है। वह अब मैं कहता हूँ। तो भी ये पाँच साध्य हो तो ही नियम साध्य होता है। उसमें शरीरशुद्धि और मानसिक शुद्धि मुख्य है। संतोष से रहना, तप करना, वेदाध्ययन करना और जितने-जितने कर्म होते हैं उनको ईश्वर को अर्पण करना।

63. शुद्धता–सबसे प्रथम नियम शौच है अर्थात् शुद्धता। वह दो प्रकार की है, एक **शारीरिक** और दूसरी **मानसिक** अथवा चैतसिक। स्वामी विवेकानंद अपने भक्ति योग में लिखते हैं कि ''मानसिक और शारीरिक शुद्धि भक्तियोग और राजयोग के इमारत की नींव है'' खाने-पीने के संबंध में विवेक और बाह्यबुद्धि ये दो काम सरल है। परंतु अन्तःकरण की शुद्धि के बिना अथवा चित्त की निर्मलता के बिना बाह्यशुद्धि कौड़ी के बराबर समझे।

शारीर शुद्धि

शरीर को शुद्ध रखने के लिए योगशास्त्र के ग्रंथों में अनेक क्रियाएं बतायी गयी हैं। व्यवहार में भी ये क्रियाएं की जाएं तो भी वे खूब उपयोगी हैं। उससे अनेक रोगों का नाश होता है। प्रयत्न पूर्वक साधक को ये क्रियाएं अवश्य करनी चाहिए। शारीर शुद्धि की ये क्रिया नीचे दी गयी हैं। ये छः क्रियाएं हठयोग प्रदीपिका में दी गई हैं।

1. धौति–पन्द्रह हाथ लंबा और चार-चार अंगुल चौड़ा एक पतला कपड़ा लेकर जैसे गुरु कहे उसके अनुसार, गरम पानी अथवा दूध से गीला करके धीरे-धीरे कोई पदार्थ खाते हैं वैसे खा कर पुनः आगे कहा जाएगा उस प्रकार नौलि क्रिया करके धीरे-धीरे बाहर निकाले, उसका नाम धौति क्रिया है। शुरुआत में साधक को एक हाथ लंबा कपड़ा लेकर गले में उतारने का अभ्यास करना चाहिए। ऐसे 15-20 दिन

करने के बाद ज्यादा से ज्यादा लंबा गले में उतार सकेंगे। गले में उतारते समय कपड़ा का अंतिम भाग थोड़ा मुँह में रहे तब बांयी तरफ के दांत में दबाकर एक मिनिट तक रहने देकर नौलि कर्म करके खूब मुँह फाड़कर धीरे-धीरे निकाल कर धो ले। इस क्रिया का निरंतर अभ्यास करने से कास, श्वास, प्लीहा जलोदर, कोढ़ इत्यादि कफ के जो बड़े-बड़े 20 रोग हैं, वे नहीं होते हैं।

2. वस्ति—गुदाद्वार में, बांस की नली छोटे मुंह वाली लेकर प्रवेश करके नाभि तक उतने गहरे पानी में ऊपर होकर बैठे, फिर गुदाद्वार से पानी ऊपर-अंदर खींच कर फिर नौलि कर्म करके उसको बाहर निकालना, वह वस्ति क्रिया है। इसमें अंतिम उँगली जितनी और छः अंगुल लंबी ऐसी कोमल बाँस की नली ले और उसमें से चार अंगुल गुदाद्वार में प्रवेश कराकर तथा दो अंगुल बाहर रखकर। फिर नाभि तक गहरे पानी में बैठे। नौलि क्रिया से पेडू और आंतों को खूब हिलाएँ। जैसे हम नीचे से पवन ऊपर ले जाते हों ऐसा प्रयत्न करें; इससे पानी आंतों में आएगा। इसके बाद मल वाला पानी बाहर निकाल दें। इस प्रकार अभ्यास करने से धीरे-धीरे बांस की नली के बिना भी पानी गुदाद्वार से खींच सकते हैं। इस क्रिया से गुल्म, प्लीहा, अजीर्णरोग, वात, कफ और पित्त के रोगों का नाश होता है और धातु की वृद्धि, इन्द्रियाँ और मन की प्रसन्नता होने के उपरांत शरीर में तेज और जठराग्नि प्रदीप्त होते हैं।

3. नेति—बारह अंगुल लंबा सूत का कोमल धागा लेकर नाक में डालकर मुख में से बाहर निकालने की क्रिया को नेति क्रिया कहते हैं। कपड़े सीने का पतला और नरम धागा लेकर उसको 20 से 25 गुना बल देकर आगे से चार-पाँच अंगुल गूथ कर उस पर मोम लगाकर स्निग्ध करें तथा पीछे का भाग खुला रहने दे फिर आगे के भाग को नरम करके धीरे-धीरे नासिका में प्रवेश कराएँ और जब कंठ को स्पर्श करे तब मुख में बांये हाथ की अंगुली डालकर धीरे-धीरे बाहर निकाल लें। फिर जब गुंथा हुआ भाग हाथ में आए तब बाहर निकाल के नाक के बाहर का छोर दूसरे हाथ से पकड़ के तीन बार ऊपर-नीचे घुमाएं फिर धीरे-धीरे बाहर निकाल लें, तब नेति क्रिया सिद्ध होगी। इस क्रिया के निरंतर अभ्यास से कपाल की शुद्धता और आंखों का तेज बढ़ता है तथा सिर के व्याधि, आंखों की व्याधि, कान की व्याधि अर्थात गले के ऊपर की भाग में जितनी व्याधि हैं उनका नाश होता है।

4. त्राटक—दोनों आंखें खोलकर जहां तक आंख में से आंसू नहीं आए तब तक एक स्थिर दृष्टि नजर से सूक्ष्म रीति से नाक के अगले भाग के ऊपर देखते रहने से त्राटक क्रिया होती है। स्वामी विवेकानंद के गुरुबंधु स्वामी रामकृष्णानंद अपने योग के बारे में व्याख्यान में एक समय ऐसा कहा था कि कागज के ऊपर

एक छोटा काली स्याही का टपका बना के उसके ऊपर आंख की पलक भी नहीं झपके इस तरह दोनों आंखों को खोल के एकाग्र और सूक्ष्म दृष्टि से देखने से आंख के तमाम व्याधियों का नाश होता है। इसमें इतना ध्यान रखना चाहिए कि जब तक आंख में पानी नहीं आए तब तक आंखों को बराबर खुली रखें। जब आंख में पानी आ जाए तब नहीं देखना चाहिए। थोड़ा विश्राम कर लें। इससे नींद चली जाती है और नजर तेज होती है। साधारण मनुष्य जिस वस्तु को सूक्ष्म दर्शक यंत्र से देखता है वो वह आंखों से भी देख सकता है। योगी पद्मासन लगाकर बैठे और अपनी नजर नासाग्र पर अथवा दो भ्रमरों से बीच के ऊपर स्थिर करने से उसके चित्त का आकर्षण जल्दी हो सकता है और शांभवी मुद्रा का अभ्यास करना सुलभ हो जाता है।

5. नौलि—गरदन को नीचे झुकाकर दोनों हाथ दोनों जंघाओं पर रखकर फिर प्राण-श्वास का रेचन करके पेट के दोनों नल को हटाकर जल्दी-जल्दी, बार-बार दांयें से बांयें घुमाएं, उसको नौलि क्रिया कहते हैं। इस क्रिया के अभ्यास से जठर नल की वृद्धि और पेट के तमाम रोगों कि निवृत्ति होती है और धौति तथा वस्ति क्रिया भी इसी से सिद्ध होती है। इस क्रिया का उपयोग योगाभ्यासी के लिए महान है। कारण योग विद्या में मुख्य कुंडली की शक्ति होती है, उसका ज्ञान नौलि क्रिया के बिना नहीं होता है।

6. कपालभाति—लुहार के धमनी के जैसे श्वासो-श्वास का रेचक पूरक जल्दी-जल्दी करना उसका नाम कपालभाति है। इस क्रिया के अभ्यास से कफ से उत्पन्न होने वाले तमाम दोषों का नाश होता है।

इस तरह शरीर शुद्धि के लिए छः क्रिया मुख्य हैं। इन क्रियाओं से शरीर शुद्धि करने से आगे कहा गया वैसे प्राणायाम त्वरित साध्य होता है। शरीर हल्का और मन स्वच्छ होता है। जिस साधक के शरीर में मेद, श्लेष्म इत्यादि अधिक जड़ता बढ़ गयी हो उसको ही ये क्रिया करनी है। बाकी दूसरों के लिए तो निरोपयोगी है। कारण वात, पित्त, कफ ये तीनों शरीर में समधातु है वो यदि ये सभी क्रिया करें तो कफ का उलटशोषण होने से पित्त ज्यादा हो जाता है और शरीर में बुखार इत्यादि रोग उत्पन्न हो जाते हैं। परंतु जिन पुरुषों के शरीर में श्लेष्म की अधिकता होती है उनको अवश्य करनी चाहिए और ऐसा नहीं है तो उनको आगे प्राणायाम के प्रकरण में बताए उस प्रकार नाड़ी शुद्धि से ही शरीर शुद्धि साध्य करना बहुत अच्छी बात है। ऊपर की ये क्रिया हठयोग के विषय में आते हैं तो भी साधारणतः व्यवहार में भी अतिशय उपयोगी होने से यहां दी गयी है शरीर शुद्धि से क्या लाभ होता है उसके बारे में पतञ्जलि कहते हैं कि—

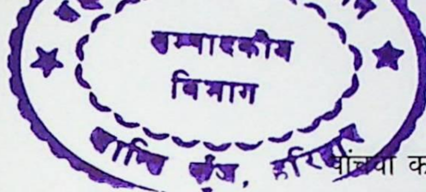
शरीर की शुद्धता से हमारे शरीर विषय का तिरस्कार और दूसरों के साथ संसर्ग रहित होना होता है। शुद्धता क्या है? इसके बारे में योगी इतना ही सोचते हैं कि

जितने अंश से उसका महान् स्वरूप जान पड़ता है। फिर सहज ही उसको अपने शरीर का तिरस्कार उत्पन्न होता है। कारण, शरीर मांस, मेद और दुर्गन्ध से भरपूर है। अपने शरीर की ऐसी दुर्गन्ध की दृष्टि से तिरस्कार उत्पन्न होने के बाद उनमें दूसरे को स्पर्श करने का विचार स्वप्न में भी नहीं आता है। योगी अकेले ही रहते हैं।

मानसिक शुद्धि

इसी तरह मानसिक शुद्धि के संबंध में भी पतञ्जलि लिखते हैं:—सत्त्व की शुद्धि, मन की प्रसन्नता, एकाग्रता, इन्द्रिय दमन और आत्मदर्शन करने की योग्यता यह सभी चित्त (मानसिक) शुद्धि से होता है। इस पर हम जरा विस्तार से विवेचन करते हैं। सत्व गुण क्या है? इसके बारे में पहले बहुत कुछ कहा जा चुका है। चित्त की प्रवृत्ति तीन प्रकार से बनती है। केवल ज्ञानमय में जो प्रवृत्ति है उसका रूप **सतोगुण** है। केवल सुख, दुखात्मक जो प्रवृत्ति है उसका रूप **रजोगुण** है और प्रवृत्ति हिनत्त्व चित्त होती है तब जो चित्त का रूप होता है वह तमोगुण है। योगी के चित्त में सत्व गुण का प्रकाश विशेष होता है। उसका कारण क्या? शुद्धता! रजोगुण, तमोगुण और सत्वगुण यह तीनों मिश्र होकर समान और समतोल बनकर चित्त में प्रतिबिम्बित होते रहते हैं। सत्वगुण अलग पड़ने लगता है। रजोगुण एवं तमोगुण यह दोनों गुण सत्वगुण से दूर-दूर भागते हैं और अन्त में सत्वगुण प्रबल बनता है और उसके बारे में निर्मलता आने लगती है। उसको ही पतञ्जलि ने अपने सूत्र में सत्वगुण की शुद्धि कहा है। योगी के चित्त की ऐसी स्थिति होने लगे तब उसमें एक प्रकार की विशेष प्रसन्नता उत्पन्न होती है और एक प्रकार का विशेष प्रेम उत्पन्न होता है उसको ही सूत्र में सौमनस्य, ऐसा नाम दिया गया है। चित्त की शुद्धता होने से उसको एकाग्र होने की सामर्थ्य प्राप्त होती है। शुद्धता से इन्द्रियों को जीतने की शक्ति प्राप्त होती है। इन्द्रियों के स्वाधीन में होकर चित्त निर्बल हो जाता है और अन्त में अलग हो जाता है और आत्मा के दर्शन करने की योग्यता योगी को प्राप्त होती है। योग शास्त्र का मुख्य उद्देश्य आत्मा का अनुभव करना ही है। इस प्रकार शारीरिक मानसिक अथवा उनके कायिक और चैतसिक शुद्धि से योगी को महान् लाभ होता है।

65. संतोष—अति आवश्यक हो उतने ही पदार्थों की जो प्राण का रक्षण करते हैं उसके सिवा दूसरे पदार्थों को पाने की अस्पृहा वह संतोष है। इससे असीम सुख प्राप्त होता है। कारण कि सुख का मूल संतोष है और दुख का मूल तृष्णा है। इसलिए तृष्णा रहित होकर प्रारब्ध कर्म के अनुसार जो भोग प्राप्त होते हैं उसमें मग्न रहना। इसीलिए मनु कहते हैं कि, जो मनुष्य संतोषरूप ऐश्वर्य से सुखी है, उनको साम्राज्य



भी तृण समान लगता है। प्राणी यदि तृष्णा को छोड़ के सुखी होता है तो बाकी इस स्थूल शरीर के पोषण के लिए कुछ अधिक प्रपंच की जरूरत नहीं है। सोचो कि हाथी अपना निर्वाह सूखी लकड़ी से करते हैं तो क्या वह बलवान नहीं है। कंदमूल खाकर ऋषि-मुनि अपना काल निर्गमन नहीं करते हैं। गंगातरंग कण से शीतल और विद्याधर इत्यादि से विभूषित ऐसा हिमालय का पृष्ठ भाग क्या आप ही नाश हुआ है? नहीं, तो फिर मनुष्य दूसरों को क्यों नाहक पीड़ा देता है। अहो! पृथ्वी जैसी विस्तीर्ण शय्या है तो कृत्रिम पलंग की क्या जरूरत है? बाहु है तो तकिये का क्या कार्य है? अंजलि है तो कलश आदि पात्र की क्या जरूरत है? वस्तुतः किसी की भी जरूरत नहीं है परंतु आशा-तृष्णा का उल्लंघन किसी से नहीं होता है।

संतोषी पुरुष काल की भी परवाह नहीं करते हैं। उनको किसी का भी भरोसा नहीं होता है। उनको तो सर्वदा ईश्वर पर ही भरोसा होता है और कहते हैं कि परमात्मा परम् कृपालु है जो प्राणी उनका भजन नहीं करता, उनका भी वह पोषण करता है तो क्या हमारे जैसे भक्तों की मदद में वह नहीं आयेगा? क्या वह हमें भूल जायेगा? नहीं, नहीं, कदापि नहीं। वह प्रभु हमारा भी पालन-पोषण अवश्य करेंगे। इस संबंध में भगवान् पतंजलि कहते हैं कि संतोष से अति उत्तम सुख की प्राप्ति होती है। इस सूत्र में 'अनुत्तम' इस शब्द का प्रयोग किया है। इससे ज्यादा दूसरा उत्तम सुख नहीं है। वह अनुत्तम है। योगी अन्तर्मुख होते हैं और संतोष वृत्ति उनमें प्रबल होती है। तब उनको जब सुख प्राप्त होता है वह असीमित है। उस सुख के आगे विषय सुखों का कोई मोल नहीं है। पतञ्जलि भाष्य में कहा है किः—

यच्चकाम सुखं लोके यच्चदिव्यंमहत्सुखम्।
तृष्णाक्षय सुखस्यैते नार्हतःषोडशींकलाम्॥

लोक के अंदर जो विषय सुख है तथा सिद्धिय रूप जो बड़ा सुख है। ये दोनों प्रकार के सुख तृष्णा का क्षयरूप संतोष से होने वाले सुख का सोलहवां अंश भी नहीं है। इस पर से उस सुख की उत्तमता पाठकों के लक्ष्य में आयेगी ही।

66. तप—अर्थात् देह को दंड देकर तपस्या करनी। इसके बारे में विस्तार से विवेचन करने की जरूरत है। पूर्व में कहा गया था कि तप, स्वाध्याय और ईश्वरप्रणिधान ये तीनों मिलकर क्रियायोग हैं, इस क्रियायोग में देह दंड नहीं है। चित्त की एकाग्रता साध से उसको निवृत्तिक करना है और अंत में निर्जीव समाधि अथवा जिसको असंप्रज्ञात समाधि कहते हैं, उसको सिद्धि करना है। परन्तु देहदंडन क्या है? अर्थात् तपस्या करना। तपस्या के अनेक प्रकार है। तपस्या और संसार व्यवस्था का विरोध है। संसार ही सच्चा है और उसमें ही परम पुरुषार्थ है, ऐसा कटाक्ष पूर्वमीमांसा में है। योगशास्त्र का रास्ता अलग है। तब इस प्रकार एक पूर्वमीमांसा

परंपरा और दूसरी योग परंपरा। परंतु पूर्वमीमांसा का विषय संहिता, ब्राह्मणादि ग्रंथों में संपूर्ण रीति से आ जाता है। उसमें योग नहीं है। इसलिए ही पूर्वमीमांसा परंपरा को वैदिक परंपरा कहा जाता है। वैदिक परम्परा के अनुसार आचरण करने का अधिकार केवल आर्यो को ही है, दूसरे को नहीं है। योग परम्परा अर्थात् वेदान्त परंपरा अर्थात् संसार त्याग परंपरा अथवा संन्यास परंपरा का अधिकार सभी को है। यह अधिकार सबको होने से वेदों को नहीं मानते हैं। ऐसे जैन और बौद्ध लोग का तो संन्यास ही परम पुरुषार्थ है, ऐसा सिद्धान्त है। और इस परम पुरुषार्थ की सिद्धि के लिए तप और ध्यान दोनों का उन्होंने विशेष विचार किया है। जैन एवं बौद्ध दोनों सिद्धान्त के लोग व्युत्थान अवस्था को **आश्रव** ऐसा नाम देते हैं। जैन बयालीस (42) आश्रव मानते है और उसमें क्रोध, मान, माया इन सबकी भिन्न-भिन्न स्थिति की गिनती करते हैं। काम, मृषावाद पाँच इन्द्रियों की क्रिया शोक, विरति, हास्य, भय, जुगुप्सा, परिग्रह, हिंसा, कायिक, वाचिक, मानसिक क्रिया यह भी उनमें गिनी जाती है। बौद्ध लोग आश्रव को क्लेश ऐसा नाम देते हैं और इस क्लेश में लोभ, द्वेष, मोह, मान, मिथ्यादृष्टि, संशय, आलस्य, औद्धत्य, निर्लज्जता, पापशीलता इत्यादि गिने जाते हैं। व्युत्थान स्थिति को जैन एवं बौद्ध मानते हैं। प्रवज्या यही अपना पुरुषार्थ एवं ऐसा उनका मानने से संवर और निर्जरा यही जो तप के साधन हैं, उसका निरूपण उनके ग्रंथ में अधिक विस्तार से किया है। वैदिक ग्रंथों में 'तप' शब्द बहुत बार आया है। परंतु उसका अर्थ देह को दण्ड ऐसा नहीं होता है। यज्ञ करते समय जिन व्रतों का आचरण किया जाता है। उतना ही तप ऐसी मान्यता उस समय में भी उपनिषदों में कही-कहीं देह दंडन को मिलते-जुलते व्रतों का निरूपण है। पाणिनि के सूत्रों में 'चान्द्रायण' शब्द है। उसके दो प्रकार हैं यह 'चान्द्रायण' व्रत और अनेक कृच्छ्र यह सभी तप के आकार और यही तप योग सूत्र के दूसरे पाद के प्रथम सूत्र में क्रिया योग के भाग में गिना है। प्राजपत्य और सान्तपन ऐसे दो कृच्छ्र प्रसिद्ध हैं तो भी उनका स्वरूप कहता है प्राजपत्य कृच्छ्र बारह दिन तक पालना है। वह इस तरह तीन दिन तक, सुबह भोजन कर, तीन दिन तक शाम का भोजन; तीन दिन तक आयचक्र वृत्ति रखनी अर्थात् किसी के पास से अन्न नहीं माँगना एवं घर में अन्न का संग्रह नहीं करना। समय पर जितना अन्न मिले उतना ही खा लेना और तीन दिन तक बिल्कुल नहीं खाना। इस प्रकार बारहवें दिन के करने से प्राजपत्य सिद्ध होता है। सान्तपन कृच्छ्र दो दिन में साध्य होता है, वह इस प्रकार है। प्रथम दिन पंचगव्य लेना और दूसरे दिन कुछ भी सेवन नहीं करना है। अस्तु! पंचगव्य करने की रीति इस प्रकार है। गाय का मूत्र, गाय का गोबर, गाय का दूध, दही और घी इन सबका मिश्रण करके उसमें दर्श का पानी डाले। इस प्रकार तैयार किया गया

पंचगव्य प्रथम दिन पीना और दूसरे दिन उपवास करने से महा सान्तपन सिद्ध होता है। चान्द्रायण व्रत के दो प्रकार है—एक पिपीलिकामध्य और दूसरा यवमध्य। इस व्रत को एक माह तक आचरण करके पूनम के दिन व्रत का प्रारंभ करना चाहिए। उसमें प्रथम दिन पंद्रह कौर अन्न खाएँ और फिर रोज एक-एक कौर कम करते जाना है। और अमावस के दिन एक कौर लेना चाहिए और फिर से एक-एक कौर तक ले जाना और पूनम के दिन पंद्रह कौर तक आना, उसका नाम पिपीलिकामध्य व्रत है। अमावस के दूसरे दिन से एक कौर, दूसरे दिन दो कौर ऐसे पूनम तक पंद्रह कौर अन्न खाते जाएं और इसी प्रकार रोज एक-एक कौर कम करके अमावस के दिन एक कौर पर आना, उसका नाम यममध्य व्रत है। अस्तु! तप क्या है? उसके बारे में अब बतायेंगे। देह को दंड देना और वृत्तियों का निरोध करना। ऐसे दो प्रकार बाह्य और आन्तर तप भिन्न-भिन्न माना जा सकता है। तप द्वारा अशुद्धता का नाश होने से शरीर की और इन्द्रियों की सिद्धियां साध्य होती है। तप से सभी अशुद्धि का नाश प्राप्त होता है। फिर अणिमा, गरिमा इत्यादि देह संबंधी विभूतियां सिद्ध होती हैं। इस विभूति का विवेचन आगे आएगा। इसमें इन्द्रियों की सिद्धि यही है कि सूक्ष्म विषयों का ग्रहण करने का सामर्थ्य उनके बारे में प्राप्त होता है।

तप का पुनः-पुनः अनुष्ठान करने में आए जब तप की स्थिरता होती है। तब अन्तःकरण में रही राजस्, तामस् गुणरूप, अशुद्धि का क्षय होता है। यही अशुद्धि अणिमा, गरिमा इत्यादि तथा दूरश्रवण, दूरदर्शन इत्यादि सिद्धियों के प्रतिबंध करने वाला होता है उससे इस अशुद्धि का क्षय होने से शरीर संबंधी सिद्ध जैसे कि अणिमा (अर्थात शरीर को सूक्ष्म अणु जितना कर देने का सामर्थ्य), महिमा (शरीर को महान् पदार्थ रूप करने का सामर्थ्य) इत्यादि सिद्धिओं का आविर्भाव प्राप्त होता है।

67. स्वाध्याय—वेदान्त, शतरुद्रि, प्रणव (ॐ) मंत्र का जप, वेदाध्ययन करना वह स्वाध्याय है। साधक की सत्त्वशुद्धि का यह उपाय अच्छा है। श्रवण और मनन इन दोनों अंगों का भी इसी में समावेश किया जाता है। मंत्र का जाप दो प्रकार से किया जाता है। (1) वाचिक और (2) मानस। उसमें वाचिक जप दो प्रकार का है। (1) जोर से उच्चारण करके मंत्र बोलना (2) मन में जाप करना। तथा मानसिक जाप के भी दो प्रकार हैं (1) ध्यानरहित जाप और (2) ध्यान सहित जाप। इन चारों में अंतिम जाप जो ध्यान सहित जाप है, वही उत्तम है। याज्ञवालक्य ने भी कहा है कि:—

उच्चैर्जपादुपांशुस्तु सहस्र गुण मुच्यते।
मानसश्चतथोपांशोत्सहस्रगुणमुच्यते।
मानसाश्चतथाध्यानं सहस्त्र गुणमुच्यते ।

जोर से आवाज करके जाप करने में कोई सुन सके, इस तरह धीरे-धीरे जाप करने से हजारों गुना फल प्राप्त होता है। उससे भी ध्यान रहित मानस जाप करने

से हजार गुना फल प्राप्त होता है और उससे भी ध्यान सहित मानस जाप करने से हजार गुना फल प्राप्त होता है।

सभी मंत्रों में ॐकार जैसा मंत्र नहीं है इसलिए साधक को इस मंत्र का जाप करना इष्ट है। क्योंकि दूसरे देवताओं के जो मंत्र हैं उन मंत्रों का ऋषि, छन्द, न्यास, देवता इत्यादि जानकर उसके ऊपर 10 प्रकार के संस्कार करने पड़ते हैं। तब वह सिद्धिदायक होते हैं। सभी मंत्र की कुछ संख्या होती है इसके बारे में साधक को पतञ्जलि कहते हैं कि *स्वाध्याय जाप से इष्टदेवता की प्राप्ति होती है।* अलग-अलग लोगों के इष्ट देव और देवियाँ अलग-अलग होती हैं; मंत्र की सिद्धि से उन इष्ट देवता का दर्शन होता है। वे हम पर अनुग्रह करते हैं और पुनः-पुनः अनुष्ठान से वेदाध्ययन और जाप करने वाले और साधक जिस समय जिस देवता के दर्शन की इच्छा करते हैं और देवता आकर दर्शन देते हैं। इतना ही नहीं परंतु सभी देव, ऋषि तथा सिद्ध इन योगियों के आधीन होकर रहते हैं।

68. ईश्वरप्रणिधान—जो भी कर्म करते हैं वो ईश्वर को अर्पण करें और चित्त में जो-जो भावनाएं उत्पन्न होती हैं वे सभी ईश्वर को अर्पण करें उसका नाम **ईश्वरप्रणिधान** है। इससे समाधि सिद्ध होती है। अर्थात् ईश्वर की भक्ति से ईश्वर प्रसन्न होते हैं और समाधि में होने वाले विघ्नों को दूर करते हैं और इससे समाधि जल्दी सिद्ध होती है और योगी इस सिद्धि से अपने सभी मनोरथ पूर्ण हुए समझते हैं। जिससे उनकी किसी भी वस्तु की इच्छा नहीं रहती है और फिर दूर देश में हो या दूसरे के मन की बात हो अथवा काल में यह तमाम बातें, वह जान सकते हैं ऐसी बुद्धि (प्रज्ञा) उत्पन्न होती है।

इस प्रकार पाँच नियमों के अंगों का विवरण है। इन दोनों अंगों में तमाम नीतिशास्त्र आ जाते हैं। इतना ही नहीं परंतु उससे ज्यादा भाग इसमें है। भागवत में इन पाँच से भी विशेष अंग गिनाए हैं। वह इस प्रकार हैं—आन्तरः शौच, बाह्यशौच, जप, तप, होम, धर्म में आदर, अतिथिसत्कार, परमात्मा का पूजन, तीर्थों में घूमना, दूसरों के लिए अच्छा काम करना, संतोष और आचार्यों की सेवा, ऐसे बारह अंग हैं।

हठयोग प्रदीपिका इत्यादि ग्रंथों में दस नियम है; वह इस प्रकार है—(1) तप, (2) संतोष, (3) आस्तिक्य, (4) दान, (5) ईश्वर पूजन, (6) सिद्धान्त वाक्य श्रवण, (7) लज्जा, (8) मति, (9) जप, (10) होम। इन दस में से तप, संतोष, ईश्वरपूजन और जप के विषय में कहा जा चुका है। बाकी के नियमों को संक्षेप स्वरूप में इस प्रकार कहते हैं।

आस्तिक्य—परमेश्वर के अस्तित्त्व के विषय में दृढ़निश्चय को आस्तिक्य कहते हैं। ऊँचे-ऊँचे पर्वत के शिखर, महान् वृक्ष जैसे ईश्वर की तरह कुंडली दिखलाकर ईश्वर

का अस्तित्त्व स्थल बना देते हैं। नदियाँ सांप के जैसे दौड़ती जाती हैं तब उसके उठते भव्य शब्द, समुद्र की गंभीर गर्जना तथा वर्षा ऋतु में होता मेघनाद, यह सब क्या बताते हैं, अर्थात् जो नास्तिक लोग हैं, बहरे बन गये हैं। उनके कान में जाकर प्रभु के अस्तित्व का ढिंढोरा पीटते हैं। महान एवं अपार आकाश में प्रकाशमान सूर्य, चंद्र, तारा, धूमकेतु, अग्निमेघ (नेब्यूला), टूटते तारे इत्यादि अपने को बनाने वाले कुशल कारीगर की कुशलता प्रकट करते हैं और आस्तिकता, इस तरह 'प्रभु सर्वत्र' है। ऐसा दृढ़ निश्चय करना वह आस्तिकता है। यह ईश्वर भक्ति से सिद्ध होता है।

दान–गरीब मनुष्य को अपनी शक्ति के अनुसार मदद करना, यह दान है। अतिथि का सत्कार करना, किसी को विमुख नहीं जाने देना, हमेशा सुपात्र को दान देना। देशहित में द्रव्य अथवा दूसरे किसी भी प्रकार से मदद करना। यह भी दान ही है। इन सबका विचार करके तथा भगवद् गीता में कहे सात्त्विक दान, राजस दान, तामस दान इस विषय में भी नियम देखकर उस प्रकार करना चाहिए कि हमसे कोई भी प्राणी भयभीत न हो। इस तरह सभी प्राणियों के साथ व्यवहार करना वह अभयदान है। उसकी योग्यता महान् है और यह अहिंसा व्रत पालने में सिद्ध होता है।

मति–संसार के अनेक सुखमय पदार्थों में तथा स्वर्ग आदि वैभवों में लोभ नहीं करना तथा मन की चंचलताओं को मार देना, जिन-जिन बातों के लिए दुनिया हमारी हंसी करती है, उसको धीरज से सहन करके कल्पना रहित होना, ऐसी बुद्धि को मति कहते हैं और यह अपरिग्रह पालने से सिद्ध होता है।

लज्जा–ईश्वर भक्ति से सिद्ध होता है। गुरु की, सत् पुरुषों की श्रद्धा पूर्वक भक्ति करने में लोग हंसते हैं और उसकी निंदा करते हैं। इसलिए उनमें शर्माना नहीं चाहिए, बेधड़क सत्संग करना चाहिए, भक्ति करनी चाहिए और अच्छी बातों के लिए मन में किसी प्रकार की लाज शर्म नहीं रखना, वह लज्जा है।

होम–पांच कर्मेन्द्रियां, पांच ज्ञानेन्द्रियां और मन इन सबकी प्रवृत्ति विषयों की तरह खींचकर आत्मा में अथवा ब्रह्म में होम करनी, वह होम कहलाता है। राजस प्रवृत्ति वाले पशुओं और फल का होम करते हैं। परतु ज्ञानी तो अन्तःमुख होकर विषयों का इन्द्रियों में और इन्द्रियों का अन्तःकरण में और अन्तःकरण का आत्मा में होम करते हैं। उसको ही ज्ञान यज्ञ या सात्त्विक होम कहते हैं और यह स्वाध्याय से सिद्ध होता है।

70-71 यम नियम का और समाधि का संबंध–यम नियम का अनुष्ठान करने में जब मन में तर्क-वितर्क उत्पन्न होकर चित्त का विक्षेप होकर इस सभी वितर्कों को ब़ाध्य करते हैं तब क्या उपाय करना चाहिए? यह बताना चाहिए। कारण कि यदि इन उपायों का ज्ञान न हो तो अहिंसा आदि वितर्क भी बाध्य होता है क्योंकि यम नियम

के किसी भी उपांग मन और वाणी के सुनने से पालन किया जाता है। उससे थोड़ा विरुद्ध विचार मन में उत्पन्न हो तो वह महान् बाध्यरूप है। मन में इसके विरुद्ध कुछ भी नहीं आना चाहिए। जब यह सभी वितर्क से बाध्य होता है तब उसका अनुष्ठान व्यर्थ जाता है इसलिए वितर्क के बाध्य का उपाय और मन में जो वितर्क आया है, उसके विरुद्ध पक्ष की भावना करके तथा इन वितर्क को तथा प्रतिपक्ष कौन से है, इसलिए दो शब्द इनके बारे में लिखने चाहिए। इस विषय में भगवान् पतंञ्जलि कहते हैं कि इन यम नियमों का वितर्क मात्र दो बाध होता है तब इस वितर्क से प्रतिपक्ष की भावना करें, किए हुए, कराये हुए, अनुमोदन दिये हुए लोभ क्रोध, तथा मोह रूप कारण वाले मृदु, मध्य तथा अधिमात्र जो हिंसा इत्यादि वितर्क हैं। यह सभी दुख और अज्ञान रूप फल को देने वाले हैं। ऐसी प्रतिपक्ष की भावना करें।

अस्तुः! इन दो सूत्रों से यह उपाय बताया, उसमें प्रथम सूत्र में इन वितर्कों का बाध होता है। तब उस वितर्क से उल्टी (प्रतिपक्ष) भावना करें, यह उपाय बताया है और दूसरे सूत्र में यह वितर्क कौन से हैं? प्रतिपक्ष का चिंतन किस तरह करना है? यह सब तथा यम नियम और समाधि का संबंध बताया है, वह इस प्रकार है।

जिससे चित्त एकाग्र नहीं रह सकता और इसमें अनेक भावनाएं उत्पन्न होती हैं उसका नाम वितर्क है। हिंसा, असत्य, चोरी, मन की इच्छा के अनुसार व्यवहार करना, संचय (संग्रह) यह वितर्क है। इन सभी वितर्कों का नाश करना अर्थात् सब को निकाल देना, इन वितर्कों की संख्या 81 तक होती है। तो भी वस्तुतः तो इसके भेद अनन्त हैं। वह कैसे भी हैं? जब असंख्य हैं तो फिर उसके मात्र 81 भेद ही कैसे हो सकते हैं? सभी वितर्क लें तो यह वितर्क (1) हमने किया हुआ अथवा (2) हमने कराया हुआ अथवा किसी वितर्क को (3) हमने अनुमोदन दिया हो, ऐसे एक-एक वितर्क के तीन-तीन भेद हो सकते हैं और प्रत्येक भेद का कारण 1. लोभ अथवा 2. क्रोध अथवा 3. मोह हो सकते हैं। इसलिए यह $(3 \times 3 = 9)$ नौ भेद प्रत्येक वितर्क के होते हैं। इन नौ में से प्रत्येक के तीन-तीन प्रकार के भेद हो सकते हैं। जैसे कि 1. मृदु, 2. मध्य, 3. अधिमात्र (तीव्र)। इन तीनों में से प्रत्येक के फिर तीन-तीन भेद हो सकते हैं। वह इस प्रकार हैं।

1. मृदु	**2. मध्य**	**3. अधिमात्र**
1. मृदु मृदु	1. मृदु मध्य	1. मृदु तीव्र
2. मध्य मृदु	2. तीव्र मध्य	2. मध्य तीव्र
3. तीव्र मृदु	3. मध्य मध्य	3. अधिमात्र तीव्र

कुल मिलाकर 9 भेद हुए। यह 9 भेद और पूर्व के 9 भेद मिलकर $(9 \times 9 = 81)$ 81 परस्पर भेद हुए हैं। इन वितर्कों का फल आखिर में अज्ञान और

दुःख यही है। इस हिंसा आदि करने से पाप लगता है और इस जन्म में अगले जन्म में पाप से पुनः पीड़ा ही उत्पन्न होती है, ऐसा जो चित्त का निश्चय होता है, उनका ही नाम उल्टा चिंतन अथवा **प्रतिपक्ष भावना** कहा जाता है। इस प्रकार प्रतिपक्ष भावना करने से हिंसा, असत्य, चोरी ऐसी ही दूसरे वितर्कों का नाश होता है और अंत में समाधि का लाभ प्राप्त होता है। यम और नियम का अभ्यास संपूर्ण होने से योग सिद्धियां होने लगती हैं।

इस प्रकार यम और नियम का निरूपण और उसके पालन से होती सिद्धियों के बारे में विस्तार से कहा। यम-नियम के प्रत्येक अंग का आचरण यथार्थ रीति से प्रर्वता है, यह साधक को कैसे पालना चाहिए? वह ऐसे ही इन-इन अंगों के पालन से दो सिद्धियां होती हैं। ऐसा कहा है। इसकी प्रतीति हो जाये तब साधक को मानना चाहिए कि इन अंगों की यथार्थ साध्यता हो गयी है। योग के साधक से एकान्तवास जरूरी है। इस एकान्तवास में प्राणियों का निरन्तर भय रहना कम होता है। इस भय से साधक की वृत्तियां संशय में पड़ती है और वृत्तियां संयम में प्रवेश नहीं कर सकती। इस भय की निवृत्ति करने वाले जिसकी सहायता से योग सिद्धि होने वाली है यह शरीर उसकी हिंसक प्राणियों से रक्षा करने वाली अहिंसा है। सत्य, अस्तेय से साधक को वैराग्य उत्पन्न होता है। ब्रह्मचर्य से शरीर एवं मन दृढ़ होता है। चित्त में संयम करने की शक्ति बढ़ती है। अपरिग्रह से भी वैराग्य उत्पन्न होता है। शारीरिक एवं चैतसिक शुद्धता से अनुक्रम से वैराग्य और अभ्यास की योग्यता प्राप्त होती है। इसी प्रकार दूसरे उपांगों के लिए भी समझ लें। इस तरह अष्टांग योग की वैराग्य कला का विवेक है।



छठी कला–अभ्यास कला

आसन और प्राणायाम

3. आसन

अभ्यास कला में आसन और प्राणायाम आते हैं और अष्टांगयोग में आसन तीसरा अंग है। शारीरिक और मानसिक अभ्यास कुछ ऊँचे प्रकार की स्थिति को प्राप्त होते हैं तथा रोज करना पड़ता है। योगियों ने ऐसे प्रकार के आसन और मुद्रा ढूंढ़ ली हैं कि उन आसन मुद्राओं को साधने से शरीर और मन के ऊपर सत्ता हो सकती है। कोई भी आसन और मुद्रा ऐसी होनी चाहिए कि वह आसानी से हो सके, जिस आसन या मुद्रा एक को आसानी होती है तो दूसरे को भारी होती है और इस प्रकार कठिन होने से मानसिक स्थिति का अभ्यास में भी उसका परिणाम शरीर पर पड़ता है। नसों और ज्ञानतंतु में जो पोषक रस होता है वह भी भ्रष्ट होने लगता है। जिससे मन में भी अनेक तरंग उठने की शुरूआत होती है और शरीर प्रकृति की तमाम रचना नए सिरे से बंधने लगती है। शरीर शास्त्र और इंद्रियविज्ञान शास्त्र से हम जानते हैं कि, चेतन परमाणुओं का मुख्य जत्था पीठ की रीढ़ से सुषुम्ना में और मस्तिष्क में है। उन परमाणुओं में विकार होने लगता है, कारण आसन या मुद्रा में रीढ़ खुली रखे, सीधी रखने के लिए अक्कड़ बैठे छाती, सिर, गरदन ये तीनों भाग तीनों एक लाइन में रहे ऐसे बैठना चाहिए। यह मुख्य बात सुनने की जरूरत है। शरीर का सारा वजन पीठ की रीढ़ पर आए। ऐसे बैठने से रीढ़ सीधी रहती है। इसलिए योगियों ने अनेक प्रकार के आसन ढूंढ़ लिए हैं। उसमें से जो अच्छा लगे उसका उपयोग करें। जिन आसनों से शरीर को मजबूती मिलती है, वह आसन हठयोग विषय में आ जाते हैं। शरीर में जितने स्नायु हैं वे सभी प्रयत्न से साध्य हो सकता है और उसे साध्य करने में हठयोग के आसन से बहुत कीमती मदद मिलती है। कुछ योगी आसन और मुद्रा के अभ्यास में हृदय को चलाने वाले स्नायुओं को भी सत्ता में लेकर हृदय का धड़कना, खून का घूमना इत्यादि रोकते हैं। हठयोग का सामान्य उद्देश्य शरीर को वज्र के जैसा बनाना है और जिन्दगी खूब वर्ष तक कायम रखना ही है। हठयोगियों का तो ऐसा ही दृढ़-निश्चय होता है कि हम बहुत वर्षों तक जीएँ और शरीर तंदुरुस्त रखें।' और उसके अनुसार वे अपनी टेक अभ्यास के बल से जिंदा रहने तक संभालते हैं। स्वामी विवेकानंद कहते हैं कि ऐसे योगी को 100 वर्ष तो कुछ हिसाब में ही नहीं है। वे जब 150-200 वर्ष की उम्र के होते है तब उनकी सच्ची जवानी होती है। उनके बाल सफेद नहीं होते हैं, दांत भी नहीं हिलते हैं।" ऐसा करने से शरीर संपत्ति बढ़ती है। परंतु उसके साथ मानसिक

शक्तियाँ भी जागृत होनी चाहिए। हठयोग के साथ राजयोग का भी अभ्यास करना चाहिए। हठयोग से साधारण रीति से यह बात बहुत उपयोगी है, कि सिर दुखने लगे तब जैसे बने वैसे जल्दी से नाक से पानी पीने से तुरंत आराम मिलता है और मस्तिष्क शांत रहता है और ठंड भी कम लगती है। यह बात बहुत सरल है पानी के अंदर नाक डाल के गले में श्वास खींचने से पानी एकदम अंदर चला जाता है। त्राटक से भी आंख की तीव्रता बढ़ती है। दूसरे उपाय भी बहुत उपयोगी है। अस्तु! आसन के संबंध में भगवान् पतञ्जलि क्या कहते हैं। उस पर विचार करते हैं:—

(71) स्थिर होकर सुखकारक जो हो वह आसन, (72) उस प्रयत्न से शिथिल करने से तथा नागनायक में चित्त को अर्पण करने से जल्दी सिद्ध होता है। (73) और उससे द्वंद्व का नाश होता है।

71. आसन—यह योग का तृतीय अंग हैं। अंग में मुख्य दो गुण होने चाहिए, एक तो वह स्थिर होना चाहिए और दूसरा वह सुखावह होना चाहिए। यानि कि जिस स्थिति में हम अधिक समय तक सुख से विचार कर सकते हैं वह आसन उत्तम है। आसन शब्द के दो प्रकार हैं। एक बैठने के लिए उपयोग में लिया जाता है। उसको भी आसन कहते हैं। वह हिरन के चर्म अथवा दर्भ का बना होता है। अथवा ऊन के वस्त्रों से बना होता है। आसन शब्द का दूसरा अर्थ शरीर को अमुक प्रकार से मोड़ के उस स्थिति में शरीर को मोड़कर रखना वह आसन है, यह शरीर संबंधी आसन कहा जाता है। योग के दो प्रकार हैं। एक **राजयोग** और दूसरा **हठयोग**। भगवान पतञ्जलि ने अपने सूत्र में राजयोग अथवा सात्त्विक योग का विचार किया है। हठयोग के ऊपर बहुत ग्रंथ हैं। परंतु मुख्य प्राप्तव्य जो समाधि और उससे प्राप्त करने का आत्म दर्शन के लिए तो मात्र राजयोग अथवा सात्त्विक योग में ही कहा है। हठयोग में सभी हठ ही है और उसका उद्देश्य यही है कि केवल बलात्कार से योग साधकर आत्मा का साक्षात् अनुभव कर लेना। जिस विद्वान ने हठयोगियों और सूफी पंडितों के आसन की जानकारी सूक्ष्म खोजकर प्राप्त की है, वे लिखते हैं कि*—'हठयोगियों के आसनों की अनेक रीति है और उसमें सूफी पंडितों के आसनों को देखकर डर लगती है। बौद्ध लोगों में मृदु आसनों के ही प्रकार होता है। जैनों में भी आसन मृदु अर्थात् हल्का और सरल ही है। सूफी अर्थात् मुसलमान धर्म के अनुयायी के योगासन अनेक हैं, परंतु उन सभी में पद्मासन मुख्य है।'

स्वामी विवेकानंद कहते हैं कि 'जिस आसन से हमको परिताप नहीं होता और विचार आसानी से हो सकता है, ऐसे आसनों को हमें स्वीकार करना' अर्थात् जिस

---

71. स्थिरसुखमासनम् 2,46. **72.** प्रयत्नशैथिल्यानंतसमापत्तिभ्याम् 2,47.

73. ततोद्वंद्वानभिघातः 2,48.

* प्रख्यात विद्वान और शोधक स्वर्गवासी रा. माधवराव मोरेश्वर (कुंटे षड्दर्शन चिन्तनकार)।

आसन से शरीर में चंचलता रहती है, वह आसन योग में सहाय करने वाले नहीं है, परंतु विरुद्ध है। क्योंकि शरीर की चंचलता से प्राणायाम की सिद्धि नहीं होती है तथा चित्त की वृत्ति उस समय शरीर में लगी रहने से ध्येय का अवलंबन नहीं करती। इसलिए जो आसन साधक को स्थिरता और सुख-संपादन कर देता है वो ही आसन सर्वथा योग्य है। यहां विचार करते हैं कि, शयनरूप स्थिति स्थिरता और सुख देते हैं। इसलिए इस शंका के समाधान के लिए श्री बादरायण मुनि ने अपने ब्रह्ममीमांसा में लिखा है कि **'आसीनः संभवात्'** बैठकर संयम करना इस सूत्र से शयनरूप स्थिति का निराकरण हो जाता है। जब सोते हैं तब वह स्थिति ऐसे तो सुख और स्थिरता देती है। तो यह स्थिति साधक को थोड़े समय निद्रावश हो जाती है, यह स्थिति योग के लिए नाशकारक है।

श्री कृष्ण गीता में अर्जुन को योगविद्या का ज्ञान देते समय जो आसन कहते हैं, वे सभी सरल और सुसाध्य हैं। उनसे वे कहते हैंः—

समंकायशिरो ग्रीवं धारयन्नचलं स्थिरः।
संप्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोकयन् ॥

इस श्लोक का सामान्य अर्थ ऐसा है कि छाती गरदन और सिर ये एक लाइन में लाकर स्थिर होकर यहां-वहां नहीं देखते, नाक के अगले भाग के ऊपर स्थिर दृष्टि करें तथा दूसरी जगह ऐसा भी लिखते हैं कि पीठ की रीढ़ सीधी रखके शरीर के ऊपर के भाग का सारा भार पसलियों के ऊपर आए ऐसा करना, जिससे विचार शक्ति दोगुनी बढ़ती है।

72. आसन को स्थिर और सुखकारक करने का उपाय—इस सूत्र के ऊपर विशेष लक्ष्य की जरूरत है। प्रयत्न अर्थात् शरीर स्वाभाविक रीति से ज्यों-ज्यों व्यापार करते हैं तो शरीर में हमेशा क्रिया होती रहती है। इसलिए शरीर निष्क्रिय करना चाहिए; कारण यह क्रिया करते समय आसन साध नहीं सकता है। परंतु यदि ऐसा कहते हैं तो केवल निष्क्रिय शरीर कैसे हो सकता है? ऐसा यदि होता है तो मरण दशा ही होती है। तो भी हो सके उतनी क्रिया शिथिल करनी चाहिए। उसको ही ''(प्रयत्न शैथिल्य)'' उतनी क्रिया शिथिल करनी चाहिए ऐसा नाम दिया गया है। यह आसन साधने का एक उपाय है। परंतु इतने से ही आसन सिद्ध नहीं होता। यह तो मात्र बाह्य शरीर व्यवस्थित करने का उपाय है। परंतु शरीर को चलाने वाले चित्त उसका आसन सिद्ध करते समय अपनी काबू में रखना चाहिए। उस पर कैसे काबू किया जाए? शरीर अच्छी तरह समतोल रखकर छाती, गरदन, सिर सीधा रखकर पीठ की रीढ़ ठीक सीधी रखकर पद्मासन लगाकर और मुख आकाश की ओर करके आकाश में कोई नाग नायक है, ऐसी कल्पना कर उसमें ही चित्त को अर्पण करना चाहिए। ऐसा करने से देह का अभिमान जाता है और संसार में सभी दुःखों का

पराभव होता है। उसको ही सूत्र में **अनंत समापत्ति** ऐसा नाम दिया है। घर में आसन कर नहीं सकता है। क्योंकि आकाश साफ नजर नहीं आयेगा। अनंत शब्द की योजना सूत्र में की है, उसका हेतु यह है कि आकाश ही वस्तुतः अनंत है और उसमें चित्त अर्पण करना है। यह कैसे? **संप्रज्ञात और असंप्रज्ञात** ऐसी दो समाधि है, इन दोनों का विवेचन अगली प्रभा में आएंगे। यह समाधि साधने के बाद चित्त की जो स्थिति होती है उसको **समापत्ति** कहते हैं। शरीर का अभिमान जाकर, संसार का अभिमान छूट कर जब अनंतमय मंगलमय बन जाता है तब पूर्ण समापत्ति प्राप्त होती है। ऐसे समापत्ति शब्द का गर्भित अर्थ इस स्थल में है। इस आसन को साधने का मुख्य प्रकार है। इस उपायों में राजयोगी, को ही ज्ञान होता है।

कुछ हठवादिओं और सूफी लोगों में जड़ता अधिक होती है और उनको अनेक प्रकार के आसन साधने के प्रकार हैं। उसमें जो 84 आसन हैं उनके चित्र वहाँ हैं। जैन योगियों में प्राणायाम के ऊपर कटाक्ष होता है। बौद्ध लोगों में **आस्थानक** नाम का ध्यान साधने की एक रीति है। मुख, नाक और कान बंद करें अर्थात् श्वास और प्रश्वास के लिए जगह नहीं रहती। फिर यह श्वास दिमाग के ऊपर चढ़ती है ऐसा होने से अस्थानक ध्यान सिद्ध होता है। इस बारे में सम्पूर्ण वर्णन **ललितविस्तर** नामक बौद्ध ग्रन्थ में दी गयी है। (देखिए पेज नं. 316)

दक्षिण बौद्ध अर्थात् लंका के बौद्धों के आरंभण (अलिम्बन) और कम्मट्ठाण (कर्मस्थान) यह दो योग के उपाय हैं। इस बारे में भी इसका निरूपण उनके ग्रन्थ में विस्तार से है।

73. आसन की सिद्धि होने से क्या फल होता है? द्वन्द्व का नाश होता है। द्वन्द्व अर्थात् क्या? जैसे कि सर्दी और गर्मी, भूख और प्यास, प्रकाश एवं अंधकार ऐसे जोड़े जगत में अनंत हैं और ऐसी सभी द्वन्द्वों से योगी मुक्त होता है। यह आसन का मुख्य फल है। इस तरह आसन के बारे में विवेचन किया गया है। अब कुछ उपयोगी आसन बताते हैं।

आसनों के प्रकार

पूरी सृष्टि में अलग-अलग प्रकार के चौरासी लाख प्राणी हैं, उन प्रत्येक के एक-एक आसन मिलाकर चौरासी लाख आसन हठयोग विद्या के योगियों ने खोज निकाले हैं। कहा जाता है कि इन सभी के भेद मात्र भगवान् शिव ही जानते हैं। इन सभी आसनों में से मनुष्य को साध्य हो सके ऐसे मात्र चौरासी आसनों को ही शिवजी ने कहा है। उसमें से भी बहुत उपयोगी ऐसे सारभूत मात्र चार आसन करने को ही कहा है। वह आसन नीचे नियमानुसार है।

1. सिद्धासन—बायें पैर को आड़ा (तिरछा) करके उसकी एड़ी से गुदा और लिंग के बीच में जो सीवन होती है उस सीवन को बराबर दबाकर और दायें पैर की

एड़ी लिंग के ऊपर के भाग में वैसे ही दबाकर गर्दन को जरा झुकाकर अपनी ठोड़ी हृदय पर आये। ऐसे शान्त चित्त से बैठें। आंख खोलकर अपनी नजर दोनों भंवरों (भ्रमर) के बीच में रखकर बायें हाथ का पंजा सीधा रखके उसके ऊपर दायें हाथ का पंजा सीधा रखकर बैठने से सिद्धासन होता है। मत्स्येन्द्र योगी के मतानुसार सिद्धासन इस प्रकार हो सकता है—दायें पैर की एड़ी गुदा एवं लिंग के बीच में ऊपर रखके फिर बायें पैर को लिंग के ऊपर रखके पूर्व बताये अनुसार बैठना वह सिद्धासन है। सिद्धासन की प्रशंसा प्रत्येक ग्रन्थों में कही गयी है और वह सही भी है। क्योंकि गुदा लिंग के बीच में जो सीवन है और लिंग के ऊपर का भाग दबाने से काम, विकार, या किसी प्रकार का नीच विकार उत्पन्न नहीं होता है।

2. पद्मासन—दायें पैर को बायीं जंघा पर और बायें पैर को दायीं जंघा पर चढ़ाकर दोनों हाथ पीठ के पीछे घुमाकर पंजे सीधे रखकर दायें हाथ के अंगूठे और उसके पाव की अंगुली से दायें पैर का अंगूठा और इसी प्रकार बायें हाथ से बायें पैर का अंगुठा पकड़ कर देह और मन को स्थिर होकर बैठना पद्मासन है। यह आसन जरा कठिन है। कारण कि किसी के हाथ इस तरीके अंगूठे तक नहीं पहुंच सकते हैं। इसलिए खूब मेहनत करनी पड़ती है। इसलिए जिससे यह आसन सिद्ध नहीं होता, उनको हाथ पीठ के पीछे नहीं ले जाकर गोद में ही दोनों हथेलियों में से बायीं नीचे और दायीं ऊपर रखके कमल के आकार में रखकर ध्यान मुद्रा स्थापित करें, यह अच्छी बात है। इस प्रकार को कुछ लोग वीरासन भी कहते हैं।

3. स्वस्तिकासन—दोनों जाँघें और दोनों घुटनों के बीच पाँव के पंजे आ सके उस तरह बैठने को स्वस्तिकासन कहते हैं।

4. भद्रासन—गुदा और लिंग के बीच सीवन होती है। उसके बायें और दायें दो भाग पड़ते हैं। उसमें दायें भाग को दायें पैर की अंगुली से दबायें और बायें भाग में बायीं एड़ी से दबाकर बैठे! ऐसे बैठने से दोनों पैर के पंजे और अंगुलिय़ां पीठ के पीछे आयेंगे। पीठ के पीछे से दोनों हाथ को पकड़कर बैठने से भद्रासन होता है। गोरक्षनाथ नामक महान् योगी ने इसका अतिशय अभ्यास किया था, इसलिए इसे **गोरक्षासन** भी कहते हैं।

दूसरे भी कुछ उपयोगी आसन हैं। वह इस प्रकार हैं—

5. पश्चिमोत्तानासन—बैठकर दोनों पैर को लकड़ी जैसे लम्बे करके कमर से झुककर दोनों हाथ से दोनों पैर के अंगूठे पकड़कर रखना, उसको पश्चिमोत्तानासन कहते हैं। इसमें इतना ध्यान रखना है कि अंगूठा पकड़ते समय पैर की नसें बहुत खिंचती हैं और घुटने वाले भाग जमीन के ऊपर हो जाता है। वह नहीं होना चाहिए।

6. वामश्वासगमनासन—दायें पैर का घुटना दायें हाथ की काख में रखकर उस तरफ भार देकर बैठने से वामश्वास गमन होता है। अर्थात् इस आसन में बैठने से

श्वासो-श्वास का आना जाना बायीं नासिका से होता है। इस समय बायां पैर घुटने से मोड़कर उसकी एड़ी ऐसे रखे कि दोनों कूल्हे आ जाएं और गुदास्थान उन दोनों के बीच में ऊपर रहकर नहीं दबे।

7. दक्षिणश्वासगमनासन—यह आसन ऊपर के आसन के विरुद्ध करने से सिद्ध होता है। दायें पैर का घुटना दायें हाथ की कांख में रख के भार देकर दक्षिणश्वास (दायीं नासिका में से श्वास) का गमन होता है।

ये तीन आसन प्राणायाम में खुब उपयोगी हैं, इसलिए इनका वर्णन किया गया है। दूसरे अनेक आसन हैं। उनके चित्र और वर्णन योगकौस्तुभ और परमपदबोधनी में दिए हैं। मुद्रा भी आसनों के प्रकार रूप हैं, उसका वर्णन आगे आएगा। इन आसनों को अभ्यास करते समय अग्नि, स्त्रीसंग, मार्गगमन, सुबह के समय स्नान, अतिशय उपवास छोड़ देना चाहिए और काया को क्लेश करने वाले ऐसी तमाम क्रिया छोड़ देनी चाहिए और पतञ्जलि की सिफारिशें और सूचनाएँ ध्यान में रखकर आसन लगाकर अभ्यास करना चाहिए। आसन के लिए जगह निम्न अनुसार पसंद करनी चाहिए।

आसन के लिए जगह—ऐसा शुद्ध स्थान जहाँ की भूमि अधिक नीची न हो और अधिक ऊँची न हो। वहाँ दर्भ, हिरन की काली चमड़ी का, ऊन का आसन रखकर बैठे (भ. गी. 6-11)। उसके लिए ही श्वेताश्वरतर श्रुति में लिखते हैं कि ऊँचा वा नीचा नहीं, गोमय मृतिका इत्यादि से शुद्ध किया हुआ कंकर, जली हुई रेती और ध्वनि और जलाशय रहित हुए मन प्रिय लगे ऐसा एकान्त, खूब हवा नहीं हो ऐसे स्थान पर बैठकर योग का आरंभ करें। इस संबंध में हठप्रदीपिका में लिखते हैं कि—

जहाँ राजा सद्गुणी हो, देश धार्मिक हो, उपद्रव से रहित हो। भिक्षा मिलनी कठिन न हो, आसन के स्थान से चार हाथ जितनी जगह में पत्थर, अग्नि तथा जलाशय नहीं हो, एकान्त हो, जो झगड़े से रहित हो ऐसे स्थान पर योगी को मठ बनाकर रहना चाहिए। मठ में ज्यादा दरवाजे, खिड़की, खड्डे, चूहों के बिल यह सब नहीं होना चाहिए। तथा पृथ्वी प्रदेश समान होनी चाहिए और गोबर से लीप कर शुद्ध रखनी चाहिए। वह जगह मच्छरादि सब जीव-जंतुओं के रहित होनी चाहिए। मठ के अंदर दीवारों पर मुनि, तीर्थ, नदियां, वृक्ष, कमल, पर्वत, महासागर वगैरह सृष्टि सौंदर्य के भव्य चित्र होने चाहिए कि जिन्हें देखकर मन योगाभ्यास में निमग्न हो जाए। वैराग्य उत्पन्न करने के लिए श्मशान, भयंकर नरक और दूसरे दुःखदायक दृश्य चित्रित करना चाहिए। मठ के बाहर शामियाना मण्डप, वेदी, एक कुँआ, जलाशय, वृक्ष, पूज्य वगैरह रखकर मठ को रमणीय करना चाहिए तथा वहाँ योगाभ्यासी को चाहिए कि वह मन को निःसंकल्प करके योग का—चित्तवृत्तियों के निरोध करने का अभ्यास शुरू करना चाहिए।

❁

4-प्राणायाम

प्रथम विभाग (कला-छठी)

प्राणायाम के बारे में सामान्य विचार

श्वासोश्वास की क्रिया

अष्टांगयोग में प्राणायाम चौथा अंग है। इसलिए इसके विषय में संपूर्ण विचार करना चाहिए। प्राणायाम यानि 'प्राण की स्वाभाविक गति का आयाम (रोध) करना, इस विषय में भगवान् पतञ्जलि कहते हैं कि **श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेदः प्राणायामः** (2-49) यानि श्वास और प्रश्वास की गति का विच्छेद अर्थात् श्वास और प्रश्वास में आते-जाते वायु की गति का निरोध करना। उनकी गति तोड़ देनी वही प्राणायाम है। श्वास क्या है? बाहर की हवा नासिका के द्वारा फेफड़ों में जाती है वह श्वास है। प्रश्वास क्या है? फेफडों की अशुद्ध हवा नासिका द्वारा बाहर निकलती है वह प्रश्वास है। छाती के पिंजरे में फेफड़े और हृदय हैं। श्वास लेते समय छाती और पसलियां ऊपर जाती हैं और अंदर जगह होती है। उसके बाद बाहर की हवा और लहू का आकर्षण होता है। तथा श्वास छोड़ते समय (अर्थात् प्रश्वास करते समय) हवा बाहर निकल जाती है और लहू को अंदर जाने में थोड़ा अटकाव होता है। परंतु इस प्रकार छाती और फेफड़ों को उठाने और दबाने की गति में कौन मददगार है? पसलियों और फेफड़ों में स्नायुओं का घर है उसके कारण श्वासोश्वास का काम चलाने में मदद करते हैं। श्वास लेते समय बाहर के स्नायुओं के जोर से आगे का भाग ऊँचा होता है और उससे फेफड़ों का ढाल कम होता है। श्वास छोड़ते समय पसलियां तथा फेफड़े की स्थिति स्थायित्व के कारण यह क्रिया अपने आप हो जाती है। ऐसे समय में स्नायु की शक्ति ज्यादा उपयोगी नहीं है। खास ध्यान रखने वाली बात यह है कि हम जब श्वास लेते हैं तो वह फेफड़ों में चला जाता है और वहां से पुनः बाहर आता है। छाती और पेट के बीच परदा होता है वह श्वास लेते समय संकुचित होकर नीचे उतरता है और इस तरह श्वास-प्रश्वास की क्रिया निरंतर चालू रहती है और उनको चलाने में मुख्य मदद स्नायुओं की होती है। युवा और तंदुरुस्त मनुष्य एक मिनिट में 14 से 18 वार श्वास ले सकता है। बचपन में यह संख्या ज्यादा होती है।

छाती में हृदय, फेफड़ा, कलेजा, यह तीन मुख्य भाग हैं। उसके नीचे एक पिण्ड है। उस पिण्ड के नीचे होजरी है उसके नीचे आंतें, मूत्रपिंड इत्यादि भाग हैं। श्वास लेते समय बाहर की हवा नाक से होकर गले के पीछे से श्वासनली कंठ से होकर फेफड़ों में जाती है। श्वासनली की लंबाई 4 इंच होती है। रीढ़ की गर्दन पाँचवें मनके से पीठ के दूसरे मनके तक जाकर उसके दो विभाग होते हैं। प्रत्येक भाग एक-एक फेफड़े में जाता है। इस हर एक बड़े भाग के दिमाग से होकर फेफड़े में चारों तरफ फैलती हैं, उनके भी अनेक विभाग होकर वे बहुत बारीक हो जाती हैं और उनके छोरों के विभागों के आसपास और छोरों पर करोड़ों सूक्ष्म बुद-बुदे होती हैं। यह पारदर्शक होकर पूरे फेफड़े के ऊपर तथा अंदर रहती हैं। उसका महान उपयोग है। इन फेफड़े के ऊपर खून की केशवाहिनियों की जाल होती है और उसमें शरीर का खराब खून घूमता है। श्वास लेने के बाद बाहर की हवा इन बूंदों में भर जाती है। यह हवा खराब खून में मिलकर खून शुद्ध कर देती है।

इस प्रकार श्वासोश्वास से शरीर में बदलाव होते हैं। अन्ननली के द्वारा जो हवा हम निगलते हैं वह होजरी और आंतों में फैल जाती है और मलद्वार से निकल जाती है और जब होजरी और आंतों में अन्न नहीं होता है तब थोड़ी बहुत हवा रहती है। वह मुँह द्वारा डकार के अथवा मलद्वार द्वारा बाहर निकलती है। शरीर और इन्द्रिय विज्ञान शास्त्र के अनुसार ऊपर कहा, वैसे लहू का घूमना, उसका शुद्ध होना, हृदय का धड़कना, नाड़ी का चलना इत्यादि कार्य होते हैं, उसके बारे में कहा है। इससे ज्ञात होता है कि जो श्वासोश्वास हम लेते हैं उसकी स्वाभाविक गति का विच्छेद करना यह प्राणायाम है।

वायु के प्रकार

यह स्थूल शरीर पंच महाभूतों से बना है। आर्य शास्त्र के अनुसार एक-एक तत्त्व शरीर में अलग-अलग कार्य करते हैं। शब्द, श्रवण, सभी छिद्र समूहों, सूक्ष्म जानने जैसा और बल यह आकाश तत्त्व में आता है। स्पर्श, स्पर्शेन्द्रिय, ऊँचा फेंकना, नीचे फेंकना, आक्षेप, संकुचित होता जाना, प्रसार करना ये सभी वायु तत्त्व के कार्य हैं। अभी ऊपर कहा गया कि जैसे बाहर का श्वास फेफड़ों में, होजरी में, आंतों में, गुदास्थान में तथा शरीर के दूसरे भागों में जाते हैं। वे दस प्रकार के विकार युक्त वायु के नाम हैं, वे दस वायु नीचे दिये जाते हैं–

1. प्राण–श्वास द्वारा बाहर का वायु हृदय में रहनेवाला सभी प्रकार की खून की चेष्टा कराने वाला, शरीर को लघुता देने वाला प्राण है। यह वायु मुख, नासिका, नाभि और हृदय कमल में विचरण करता है। शब्द का उच्चारण, निश्वास, उच्छवास और खांसी इत्यादि के कारण रूप है।

2. अपान—गुदा, लिंग, कटि, जंघा, उदर, दो वृषण और जानु (घुटना) में स्थित वायु को अपान वायु कहते हैं। मलमूत्र को बाहर निकालना और वीर्य का विसर्ग करना उसका कर्म है।

3. व्यान—आंख, कान, घुंटी, कमर और नाक में रहे वायु को व्यान कहते हैं। प्राण और अपान को धारण करना, उनका कुंभक करना, त्याग और ग्रहण, योग में कहे नौलि इत्यादि कर्म इस वायु से होते हैं तथा व्यापक रूप से पूरे शरीर में खून का संचार कराने वाला तथा स्पर्शेन्द्रिय का सहायक है।

4. समान—सभी शरीर में व्याप्त होकर अग्नि के साथ 72 हजार नाड़ियों के छिद्रों में संचरण है और खाये तथा पीये हुए रसों को अच्छी तरह चलाकर शरीर को पुष्टकर सभी रसों का उन नाड़ियों में बांटनेवाला वह समान वायु है।

5. उदान—दो हाथ, दो पैर और अंग के जोड़ों में रहने वाला वायु उदान है। शरीर का झुकना, मरण होना, शरीर को ऊँचा करना ये तीन इसके मुख्य कर्म हैं। परा, प्रश्यंति, मध्यमा ये तीन रूप अन्तः वाणी को बाहर बिखेर के स्पष्ट करने वाला वायु कंठ प्रदेश में मुख्यत्व रहते हैं।

नाग—नाम का वायु त्वचा में, कूर्म खून में, कृकर मांस में, देवदत्त चरबी में और धनंजय हड्डी में, इस प्रकार दूसरे पाँच वायु में रहे हैं और उसमें मुख्य कर्म अनुक्रम से डकार खाना, आंख मटकाना, छींक आना, आलस्य आना और सूजन चढ़नी इतने हैं। वायु के दूसरे भी अनेक प्रकार हैं। हेमादि ने अपने व्रतखंड में 49 प्रकार के वायु बताए हैं जैसे कि—

(1) श्वसन, (2) स्पर्शन, (3) वायु, (4) मातरिश्वा, (5) सदागति, (6) महाबल, (7) बलवर्धन, (8) पृपदश्व, (9) गंधवह, (10) गंधवाहक, (11) अनिल, (12) आशुग, (13) सुसुख, (14) कर्कर, (15) समीक्षण, (16) समीरण, (17) अनुत्तम, (18) मारुत, (19) नागयोनिज, (20) जगत् प्राण, (21) पावक (22) वात, (23) प्रभंजन, (24) पवमान, (25) नभस्वान, (26) अतिबल, (27) तरस्वी (28) द्रावण, (29) देवप्रेक्षक, (30) पात्रवाहक, (31) रथवाट्, (32) उर्ध्वदक, (33) गतिरोधन, (34) पाणिक, (35) साधक, (36) विश्वपूरक, (37) जगदाश्रय, (38) विश्वातिरेकी, (39) प्रजागर, (40) विश्वोदर, (41) अग्रग, (42) तीव्रक, (43) असुरहा, (44) विश्व बर्धन, (45) भद्रजव, (46) पुष्करज, (47) अब्जिनीपति, (48) व्यक्तमूर्ति, (49) विश्वग। यह ब्रह्मांड गत वायु के प्रकार हैं। इस तरह वृत्ति स्थान और क्रिया के भेद से पिंड

और ब्रह्मांड के प्राणदायु अनेक संज्ञा को प्राप्त होते हैं। यह वायु श्वास प्रश्वास के रूप से शरीर में आते हैं। उनकी गति का निरोध, विच्छेद या आयाम (अटकाव, प्रतिबंध, रोध) करना ही वह प्राणायाम है।

श्वासोश्वास और प्राणतत्त्व का सम्बन्ध

हम रोज श्वास लेते हैं, वह बहुत अनियमित होता है। उसको नियम से लेना चाहिए और उसके बाद प्राणायाम का अभ्यास करना चाहिए। श्वासोश्वास और प्राणायाम में बहुत अन्तर है। हम श्वास लेते हैं तब खून, हृदय, फेफड़ों को गति मिलती है, ऐसे में श्वास मात्र फेफड़े को देने वाला मनुष्य के शरीर के प्राण का स्थूल है। इस स्थूल श्वास प्रश्वास को हम **भौतिक प्राण** कहते हैं। प्राण की व्याख्या प्राचीन वैद्य शास्त्र ग्रन्थों में इस प्रकार है "अग्नि, सोम, वायु, सत्व, रज, तम पाँच इन्द्रियां भूतात्मा ये सब मिलकर प्राण कहलाते हैं।" इससे पता चलता है कि प्राण शब्द में कितनी सारी चीजों का समावेश होता है। ऐसे तो श्वासप्रश्वास की गति विच्छेद करना मात्र ही प्राणायाम नहीं है, परंतु सच्चा प्राण है। उसका ही आयाम-निरोध करना प्राणायाम है और श्वास-प्रश्वास की गति-विच्छेद रूप प्राणायाम तो मात्र स्थूल भौतिक प्राण का आयाम करने का साधन रूप कहा जा सकता है। स्थूल श्वास बँध पड़ने पर बहुत करके शरीर में का चैतन्य चला जाता है। परंतु अंत में ऐसा जान पड़ता है कि बहुत से योगी श्वास बंद करके महीनों जी सकते हैं। एक मि. जेसी नामक एक शोधक कहता था कि, बिना श्वास लिए कौन प्राणी जी सकता है? तो उसका उत्तर है मेंढक। मि. जेसी एक प्राणीशास्त्र वेत्ता था। उन्होंने फूल के पौधे लगाने के गमले में एक मेंढक रखा, फिर उस गमले को सब तरफ से अच्छी तरह बंद करके उस पर मिट्टी लपेट (लगा) दी, और बाहर की या अंदर की हवा पास न हो वैसा बंदोबस्त करके ऐसे स्थान पर रखी कि ठंड से या गरमी से उसे कुछ असर न हो। फिर उसने 20 वर्ष के बाद उस गमले की मिट्टी हटा कर देखा कि वह मेंढक मर तो नहीं गया लेकिन वह तो खूब मजबूत बना था। मि. स्मेली नाम के शोधकर्ता अपने ग्रंथ में इस प्रकार जानकारी देते हैं। 1719 ई. की साल में, बहुत पुराने 'एल्म' नाम के पेड़ को काटने पर उसके बीच के भाग से एक बड़ा मेंढक मिला और 1731 ई. में ओक के पेड़ के बीच के भाग से एक दूसरा मेंढक मिला था। इनमें आश्चर्य की बात यह थी कि उनमें हवा के आने-जाने के लिए बिलकुल जगह नहीं थी। उन पेड़ों की आकृति पर से शोधकर्ताओं ने उस समय यह अनुमान किया था कि ये मेंढक कम-से-कम 80 वर्ष तक अंदर बंद रहे होंगे।' खैरंड ए. सी. स्मिथ नाम के प्राणीशास्त्रवेत्ता का प्रत्यक्ष देखा हुआ एक उदाहरण इस प्रकार है—1748 ई. में एक

देवालय के अंदर एक आला बंद कर दिया था। वह 1854 ई. में किसी जरूरी कारण से पुनः खोदा गया तब आले के एक कोने में 'चमगादड़' देखने में आया। प्रथम तो वह बहुत कमजोर हो गया था। फिर बाहर की ताजी हवा और प्रकाश धीरे-धीरे मिलने से होशियार होकर उड़ गया। इस पर से तय हुआ यह कि चमगादड़ हवा, पानी और भक्ष के बिना 106 वर्ष तक जिंदा रह सका!

कुछ प्रकार के सांप और घड़ियाल, सुअर की अनेक जाति और बहुतेरे प्रकार के कीड़ों के संबंध में भी ऊपर लिखी बात लागू पड़ती है। ठंड के दिनों में ये सब प्राणी मर गये हों ऐसे हो जाते हैं और ग्रीष्म ऋतु के आते ही पुनः ताजे हो जाते हैं। यह बात बहुतों को देखने में आयी होगी। इन सब बातों में यह होता है कि फेफड़े में होने वाला श्वासोश्वास हृदय का धड़कना, खून का दौरा होना या रुकना और तमाम शारीरिक क्रियाएं बंद हो जाती हैं। इन सब बातों की स्पष्टता करते हुए प्रख्यात विद्युन्मानस शास्त्री डॉक्टर डाड्स बताते हैं कि ऊपर कही उस स्थिति में प्राणी आ जाते हैं तब उनके हृदय कोश में का प्राण का द्वार बंद हुआ नहीं होता, इसीलिए वे श्वासोश्वास किये बिना* बहुत वर्षों तक जी सकते हैं।'

इतना बताने के बाद वह कहते हैं कि—''लेकिन इस पर से कोई यह कहेगा कि, यही बात मनुष्य के संबंध में लागू की जा सके, वैसी नहीं है। क्योंकि मनुष्य प्राणी श्वासोश्वास किये बिना जी सके वैसा नहीं है।'' यही होता तो मनुष्य जब गर्भावस्था में माँ के उदर में होता है तब श्वासोश्वास किये बिना, हृदय के बिना धड़के, और खून के दौरे के बिना किस तरह जी सकता है? तो उसके जवाब में मैं यही कहूँगा कि बालक गर्भ में होता है तब उसका प्राणद्वार अथवा जीवन द्वार बंद हुआ नहीं होता इसलिए वह जी सकता है। फेफड़े, हृदय और खून के दौरे की गति बंद हो चुकी है और हाथ, पाँव लंबे होकर ठंडे पड़ चुके, ऐसे बहुत से मनुष्य पुनः जिंदा हुए हैं। इस तरह का एक उदाहरण न्यूजेरिसी (अमेरिका) में हुआ है। वहाँ एक मनुष्य मृत्यु के तमाम चिह्न मालूम होने के बाद मर गया हो, वैसा होकर पड़ा था। अधिक जाँच करने पर मालूम पड़ा कि श्वास जड़वत् बन गया है और पूरा शरीर ठंडा होकर मर गया है। उसके फेफड़े हिलते नहीं थे, हृदय की धड़कन बंद पड़ गई थी। नाड़ियाँ मर गयी थीं। नाड़ियों में खून स्थिर हो गया था। उसको गाड़ देने के लिए तीन बार विचार किया गया था। एक बार तो उसके सगे सहोदर आये, पड़ोसी भी इकट्ठे हुए, लेकिन डॉक्टर की विनती से

* हमने प्रायाणाम के पूरक, रेचक और कुंभक ऐसे तीन प्रकार माने हैं, उनमें कुंभक के दो प्रकार हैं। सहित और केवल। केवल कुंभक में श्वासोश्वास का नाम भी होता नहीं है फिर भी योगी कुंभक करके हजारों वर्ष तक समाधि करके जी सकते हैं। यह बात आगे चलकर कही जाएगी।

बात मुलतवी रखी गयी और आखिर वह मनुष्य ऐसी भयंकर स्थिति में से पुनः जिंदा हुआ और अच्छी तरह तंदुरुस्त होकर बैठा हुआ।

ऐसा होने पर भी साधारणतः हम हर एक प्राणी के संबंध में देखते हैं कि श्वासोश्वास बंद पड़ने से प्राणी मर जाता है और इस बात पर से तथा ऊपर की बात पर से सामान्यतः यह कह सकेंगे कि श्वास और प्राण की मित्रता गाढ़ी है। ये दोनों सगे भाई हैं। एक होगा तो दूसरा वहाँ होगा ही, एक नहीं होता तो दूसरा भी वहाँ नहीं होगा। श्वास प्राण का स्थूल स्वरूप है यह बात इस विवेचन से मालूम पड़ेगी। अतः प्रथम स्थूल स्वरूप का ज्ञान प्राप्त करके बाद में सूक्ष्म स्वरूप का ज्ञान प्राप्त करके अभ्यास करना अच्छी बात है। प्राणायाम के द्वारा श्वास का निरोध किया जाता है तब जान सकेंगे कि श्वास-प्रश्वास रूप करने वाली और हृदय को गति अथवा चेतना देने वाली ऐसी कोई गुप्त महान शक्ति सारे शरीर में प्रवर्तित है, वह प्राण है। यह प्राण ज्ञान तंतुओं के चक्रों में से स्नायुओं में जाता है, वहाँ से फेफड़ों में जाकर उनको गति देता है, उसके चलने से वायु का आकर्षण होता है, और उसके कारण श्वास अंदर लिया जा सकता है, और बाहर किया जा सकता है। इस समग्र क्रिया को ही हम श्वासोश्वास कहते हैं। तब इस पर से इतना समझ में आ जाएगा कि, श्वासोश्वास रूप एक महान स्थूल वृक्ष की जड़ों में उनके जीवनरूप जो सूक्ष्म शक्ति है वह प्राण है। यह बात सिद्ध है। उस प्राण का निरोध ही सच्चा प्राणायाम है और उसे ही अपनी सत्ता में लाना चाहिए। अतः बहुत ध्यान में रखना चाहिए कि श्वासोश्वास को चलाने वाली सूक्ष्मशक्ति ही प्राण है। अतः उसे वश में करने के लिए प्रथम स्थूल श्वास को नियम में लाने का अभ्यास करके फिर सूक्ष्म प्राण को नियम में लाने का (अर्थात् प्राणायाम का) अभ्यास करना चाहिए।

प्राणायाम के प्रकार

प्राण क्या है? इस विषय में पहले कहा ही है, उससे ज्ञात होगा कि, श्वासप्रश्वास रूप क्रिया, हृदय गतिमान होने की क्रिया, खून को चलाने वाली ज्ञान तंतुओं को चेतना देने वाली ऐसी कोई गुप्त शक्ति सारे शरीर में प्रवर्तित रहती है, उसी को 'प्राण' संज्ञा दी गई है। उस प्राण की तमाम गति की क्रियाओं का स्थगन करना सो प्रायााणम और वैसा करने के लिए श्वासोश्वास पर कुछ क्रियाएँ करनी पड़ती है। उन क्रियाओं के भेद के कारण प्राणायाम के इतने प्रकार हो सकते हैं जैसे कि–**पूरक, रेचक,** और **कुंभक**। कुंभक के दो प्रकार हैं–(1) **सहित कुंभक** और (2) **केवल कुंभक**। श्वास और प्रश्वास की जो स्वाभाविक गति होती है उसका भंग करके, श्वास अथवा प्रश्वास को धारण करने से या धमनी की तरह उन दोनों की गति प्रवर्तित है उसका स्थगन करने से ये सब प्रकार के प्राणायाम साध्य होते हैं।

शरीर रूपी ढाँचे में अथवा कुंभ (घड़े) में नाक द्वारा खींचे हुए बाहर के वायुरूप पानी को भरना वह पूरक कहा जाता है, अर्थात् छाती, फेफड़े, पेट वगैरह हिस्सों को श्वास के द्वारा खींची हुई हवा से भरना पूरक कहा जाता है। श्वास के द्वारा भरे हुए वायु को प्रश्वास के द्वारा बाहर निकाल देना अथवा रेचन करना उसे रेचक कहा जाता है। सोचो की घड़े में वायु रूप पानी भर रखा है। वह वायुरूप पानी बाहर उंडेल दे रहे हैं, और उड़ेलने के बाद दूसरा वायुरूप पानी भरें। (पूर्ति करें) सो पूरक कहा जाएगा, और घड़े में पानी भरने के बाद सारा उड़ेल दें, सो रेचक कहा जाएगा। तीसरे प्रकार के प्राणायाम को 'कुंभक' कहते हैं। घड़े में पानी भर रखा हो वह जैसे शांत और स्थिर होता है। वैसे ही पानी से भरा हुआ कुंभ यानि घड़े की उपमा देकर इस प्राणायाम को कुंभक ऐसी संज्ञा देते हैं। बाहर की हवा को नाक तथा मुख बंद करके हवा पेट में रोक रखनी और उसी प्रकार श्वास द्वारा हवा खींच कर तुरंत प्रश्वास द्वारा बाहर निकाल कर पुनः नाक, मुख बंद करके पवन को बाहर रोक रखना। ये दो प्रकार से उसको सहित कुंभक ऐसा नाम दिया गया है। उसमें प्रथम आंतर कुंभक और पूरक सहित कुंभक और दूसरे प्रकार को बाह्य कुंभक या रेचक सहित कुंभक कहते हैं। इन दोनों प्रकार को सहित कुंभक ऐसा नाम दिया गया है। हठयोग प्रदीपिका में इस सहित कुंभक के आठ-आठ प्रकार है, उनकी क्रिया विधि नीचे अनुसार है।

1. सूर्यभेदन कुंभक–हमारे नाक में दो नासिका हैं। दायीं नासिका को **पिंगला** और बायीं नासिका को **इडा** कहते हैं। इन दो में से अनुक्रम से सूर्य और चंद्र प्राण बहता है। बाहर के वायु को प्रथम पिंगला से धीरे-धीरे पूरे शरीर में नख से शिखा तक जितना बल है उस प्रमाण में खींच कर उस वायु को यथाशक्ति शरीर में रोक रख के अर्थात् कुंभक करना, फिर इडा द्वारा उसी प्रकार धीरे-धीरे बाहर रेचन करना। उसको **सूर्य भेदन कुंभक** कहते हैं। यह प्राणायाम बार-बार करने योग्य है। इससे मस्तक की शुद्धि होती है। कृमि रोग कम पड़ता है और इससे 80 प्रकार के वायु दोष टलते हैं। इस कुंभक का अनुष्ठान करते समय स्वास्तिक या वज्रासन करना है।

2. उज्जायी कुंभक–सिद्धासन करके मुख बंद रख के साधारण शब्द बोलते समय जैसे प्राणवायु कंठ से हृदय तक जाता है। वैसे ही और उतनी ही गति से दोनों नासिका से वायु खींच कर फिर यथाशक्ति कुंभक करके इडा से इस वायु से रेचक करने से उज्जायी कुंभक कहा जाता है। यह प्राणायाम बार-बार, उठते-चलते सर्वकाल में करने योग्य है। उससे कफ विकार, वायु विकार, जलंदर, जठराग्नि संबंधी तमाम रोगों का नाश होता है। हृदय संबंधी रोग, कंठ के रोग तथा धातु विकार नाश होते हैं।

3. सीत्कारी कुंभक—दोनों होंठों में जीभ को अर्धगोलाकार रख के बाहर के वायु को उसके द्वारा सीत्कार पूर्वक अन्दर खींचकर फिर मुख बंद करके यथाशक्ति कुंभक करके दोनों नासिका द्वारा रेचन करने से सीत्कारी कुंभक होता है। इस प्राणायाम को करने से योगी कामदेव जैसा सौंदर्य वाला होता है। भूख-प्यास की पीड़ा नहीं होती ! निद्रा और आलस्स चली जाती है। शरीर बलवान बनता है। इसमें इतना ध्यान रखना चाहिए कि सांस लें तो 'सी'-'सी' ऐसा आवाज आसानी से होना चाहिए।

4. शीतली कुंभक—कौए की चोंच के जैसे जीभ को मुख से थोड़ा बाहर निकाल कर बाहर के वायु को अंदर खींच लेकर उसको नख से शिखा तक कुंभक करना फिर दोनों नासिका से अंदर का वायु शान्ति से रेचक करना, इसे शीतली कुंभक कहते हैं। इस कुंभक के साध्य होने से गुल्म, प्लीहा, ताब, पित्तविकार और किसी भी प्रकार से विष विकार नहीं होता है और योगी की भूख-प्यास खत्म हो जाती है।

5. भस्त्रिका कुंभक—पद्मासन या वीरासन लगाकर कंठ और उदर सीधा रखके, मुख बंद रखके जिस तरह लुहार अपनी धमनी चलाता है वैसे ही, शरीर में रहे वायु को पुनः-पुनः चलायमान करना। वह ऐसे कि हृदय, कंठ और ललाट तक, बायीं नासिका से वायु भर के, दायीं नासिका से तुरंत रेचक करके पुनः बायीं नासिका से पूरक करके पुनः दायीं नासिका से रेचक करना, बार-बार पूरक-रेचक, रेचक-पूरक करते-करते जब थकान हो जाए तो दायीं नासिका से पूरक करके यथाशक्ति कुंभक करना, फिर बायीं नासिका से रेचक करना उसको भस्त्रिका कुंभक कहते हैं। ये सभी कुंभकों में श्रेष्ठ है और वह श्वास करके विशेष करने के लिए योगी सिफारिश करते हैं। उसके करने से त्रिदोष का नाश होता है। पीठ सुषुम्णा के मेरुदंड के अग्रभाग में वायु को ऊपर चढ़ाने से कफ आदि दोष जो विघ्नरूप है उसको तथा सुषुम्णा में स्थित ब्रह्मग्रंथि, विष्णुग्रन्थि और रुद्रग्रंथि को भेदती है।

6. भ्रामरी कुंभक—जैसे (भंवरा) गुंजन ध्वनि करता है वैसे बायीं नासिका से ऐसी ध्वनि उत्पन्न होती है वैसे वायु को अंदर खीच लें फिर यथाशक्ति कुंभक करें। जिस प्रकार भंवरा गुन-गुन शब्द करता है, वैसा मध्यमसर आवाज हो ऐसे दायीं नासिका से धीरे-धीरे वायु बाहर निकाल लें, भ्रामरी कुंभक होता है। इस कुंभक को सिद्ध करने से साधक का चित्त स्थिर होता है और उसके अंतःकरण में अद्भुत आनंद होता है।

7. मूर्च्छा कुंभक—प्रथम, दायीं नाक से पूरक करके उसी समय अंत में जालंधरबंध को कंठ में मजबूत करके स्थापन करके फिर यथा शक्ति कुंभक करके प्राणवायु से दोनों नाक से आहिस्ता-आहिस्ता रेचक करने से मूर्च्छा कुंभक होता है। इस कुंभक से मन मूर्च्छा पातें हैं और उससे सात्त्विक सुख प्राप्त होता है। कुछ

योगियों के अनुसार पूरक करके जालंधरबंध करने के बाद दोनों हाथ के दोनों अंगूठे से दोनों अंगुली से दोनों आंखों, दोनों हाथ की दूसरी अंगुलिओं से नाक और बाकी की अंगुलिओं से मुँह बंद करके यथाशक्ति कुंभक करते हैं और फिर मात्र दायीं नासिका से वायु का रेचन करते हैं। इसको कुछ लोग षण्मुखी मुद्रा भी कहते हैं।

8. प्लाविनी कुंभक—बाहर के वायु से पेट संपूर्ण भर जाए वैसे, पद्मासन या वीरासन लगाकर छाती को बाहर निकाल के सिर के तरफ दोनों हाथ लंबे करके, दोनों हाथ के अंगूठे के आंक एक दूसरे से भिड़ाकर बाहर के वायु से संपूर्ण पेट भर जाए ऐसे नाक से खींच कर फिर योगी को ऐसा लगे कि जैसे कमल के पत्ते से पानी ऊपर तैरता है वैसे मैं तैर रहा हूँ। ऐसे प्रकार के कुंभक को प्लाविनी ऐसा नाम दिया है। उसको साधने वाला अगाध जल में कमल पत्र के अनुसार सुखपूर्वक गमन कर सकते हैं।

इन सभी कुंभकों में सूर्यभेदन और उज्जायी गरम है, इसलिए शरदऋतु में करना फायदेमंद है। सीत्कारी और शीतली ठंडे हैं, इसलिए उनको गरम ऋतु में करना चाहिए। भस्त्रिका समशीतोष्ण है, इसलिए वह हमेशा हितकारक है। सभी कुंभक रोगनाशक हैं परंतु उसमें विशेषकर के सूर्यभेदन वायु का हनन करता है। उज्जायी कफ को हनन करता है। सीत्कारी और शीतली पित्तनाशक है और भस्त्रिका कुंभक तीनों दोषों का हनन करके सुषुम्णा प्राण को प्रवेश कराता है और षड्चक्र को भेदने में विशेष सहायक है।

इस प्रकार सहित कुंभक के प्रकार हैं। मानो कि घड़े में पानी भरकर रखा है, परंतु वह इतना स्थिर और स्वच्छ है कि, बाहर से देखने वाले को ऐसी शंका होती है कि घड़े में पानी है या नहीं? इसी तरह शरीर में, उदर में, फेफड़ों के सभी अवयवों में वायु भरा है। उसके बावजूद श्वासोश्वास की क्रिया बिलकुल नहीं चलती है। यह वायु आकाश के जैसे केवल स्थिर है, मुख खुला हो तो भी क्या और नासिका के दोष छिद्र खुले हो तो भी क्या? आकाश के जैसे वायु शरीर में बड़े शांत, स्थिर और स्वच्छ भरपूर है तो भी उस समय श्वासोश्वास की क्रिया जरा भी नहीं होती है। ऐसी स्थिति होती है तब उसको केवल कुंभक ऐसा नाम दिया गया है। सच्चा प्राणायाम तो उसको ही कहते हैं, जिसको सिद्ध करने के लिए तमाम सहित कुंभकों का अभ्यास योगी करते हैं। किसी भी प्रकार का प्राणायाम या कुंभक करने से पूर्व नाड़ी शुद्धि तीन या छः मास तक करनी चाहिए और उसको करने के बाद चाहो तो ऊपर बताए कुंभकों में से भस्त्रिका का अभ्यास करें। प्राणायाम के बारे में आगामी विभाग में विस्तार से कहा जाएगा। उसके अनुसार अभ्यास आगे चालू रखना, परंतु वह करने के पहले नाड़ी शुद्धि के लिए मल शोध प्रायाणाम करना चाहिए। अतः उसके बारे में विस्तार से विवेचन करते हैं।

प्राणायाम से शरीर के अंदर के सूक्ष्मनाड़ी के व्यापारों का ज्ञान होता है।

वर्तमान समय में शरीर और इन्द्रिय विज्ञानशास्त्र के जो शोध हुए हैं वह केवल स्थूल है। प्राणी के मृत्यु के बाद उसके शरीर के विभाग चीर के जो दिखाई पड़ती है, उसके ऊपर से तथा सूक्ष्मदर्शक यंत्र इत्यादि साधन से जो देखा जाता है, उसका स्थूल संग्रह और शोध मात्र ही है। सच पूछो तो इस नर देह की अंतर रचना कैसी है। इसके बारे में कोई भी शोधक सच्चा ज्ञान नहीं रखता है। मात्र वे लोग इतना कह सकते हैं कि, इस देह के अवयव और उनकी विभाग रचना कौन-सी व्यवस्था से है और वह भी कब? प्राणी के मर जाने के बाद उसके शरीर को चीरने के बाद जिंदा प्राणी के शरीर में सूक्ष्म व्यापार किस तरह होते होंगे, यह जानने का साधन हाल में किसी की जानकारी में नहीं है, क्योंकि वे व्यापार कैसे चलते होंगे उस तरफ कोई एकाग्रचित्त से देखता ही नहीं है। उन सूक्ष्म व्यापारों का अवलोकन करने का बल प्राप्त करना अत्यंत इष्ट है, अतः प्रथमतः स्थूल व्यापारों का और उनमें का भी अत्यंत स्थूल और लगभग दृश्य श्वासोश्वास, उसका हमें अत्यंत ध्यान से अध्ययन करके वह हमारे वश हो, ऐसा करना चाहिए। इस श्वासोश्वास प्राणायाम की क्रिया से वश हो तब हमसे हमारे शरीर में श्वास के साथ धीरे-धीरे प्रवेश कर सकते हैं और शरीर की सूक्ष्म गति का तथा नाड़ी चक्रों का आरोह-अवरोह का प्रत्यक्ष ज्ञान जान पड़ता है। आरोह अर्थात् शरीर से उस आत्मा तक ज्ञानतंतु की गति और अवरोह अर्थात् आत्मा से शरीर तक आनेवाली इच्छा तंतु की गति। इन दोनों गति का ज्ञान होता है तब नाड़ी चक्रों को चलाने का स्वतंत्र बल प्राप्त होकर प्रथम तो पूरा शरीर और मन अथवा तो अंतरंग हमारी सत्ता में आ जाते हैं अर्थात् पूरे देह यंत्र को चलाने वाला जो मनुष्य मन है वह हमारी सत्ता में आ जाता है। यह सब प्राणायाम से साध्य होता है।

प्राणायाम का अभ्यास रोज करना चाहिए

प्राणायाम करने का, नाड़ी शुद्धि का प्राथमिक विधि के बारे में अर्थात् नाड़ियों में रहे हुए मल की शुद्धि के बारे में अब कहते हैं। वह विधि अमुक ही प्रकार से करने के कौन से कारण हैं, उस बारे में भी स्थान-स्थान पर कहेंगे ही। तो भी मुख्यतः आपको बहुत याद रखना चाहिए कि प्राणायाम का अभ्यास हर रोज करना चाहिए। नित्याभ्यास से अनुभव होता जाता है और मन निःशंक होता है। नाड़ी चक्रों की गति आपके जानने में आएगी। अतः आपके सब संशयों का छेदन हो जाएगा, परंतु वह सब नित्याभ्यास के बिना हो नहीं सकता। दिन में दो समय तो प्राणायाम करने का महावरा रखना ही

चाहिए। प्रातःकाल और संध्याकाल ये दो समय प्राणायाम करने के लिए बहुत अच्छे हैं। सूर्योदय के समय और अस्त के समय सृष्टि में सब जगह शांति होती है और उसका परिणाम हमारे शरीर पर होता है। जिससे शरीर और मन दोनों स्वस्थ होते हैं। रोज प्राणायाम किए बिना भोजन नहीं करना, ऐसा नियम रखना चाहिए।

प्राणायाम करने के लिए जगह

प्राणायाम करने के लिए एक अलग और स्वतंत्र जगह हो तो बहुत अच्छा। पिछले आसन के बारे में विभाग में ये सभी जानकारी दी है। तो भी ये सब योगशास्त्र के जंगलों में जाकर अभ्यास करने के लिए है। आपके गृहास्थाश्रमी के लिए ऐसी व्यवस्था बने तब तक घर में हो तो अच्छा। प्राणायाम के लिए जो जगह घर में पसंद की हो वह जगह स्वतंत्र होनी चाहिए। हमारे लोगों में प्रत्येक घर में देवपूजा के लिए देवगृह होता है। वह जगह बहुत सुविधा भरी होती है। ऐसे स्थान में बहुत घूमना, जाना, आना, सोना वगैरह क्रियाएँ करनी नहीं। वह जगह बहुत पवित्र रखना। स्नान के बिना उस जगह में पांव भी न रखा जाय तो अच्छा। जब-जब इस देवगृह में प्रवेश किया जाए तब-तब शरीर स्वच्छ रखकर और मन के अंदर किसी भी तरह के पापी विचार हो तो उनको भगाकर फिर प्रवेश करना। ऐसे पवित्र स्थान में सुगन्धित पुष्प तथा देवों की ओर वैराग्य पैदा करें, वैसे चित्र रखे जाए, वे सब रमणीय होने चाहिए, इस तरीके से कि उस तरफ देखते ही मन को प्रसन्न्ता और निष्पापपन (पवित्रता) प्राप्त हो। अगरबत्ती का अथवा दूसरे किसी सुगंधित पदार्थ का धूप करना। मन में से दुष्ट विचारों को भगा देना। उस घर में प्रवेश करने के साथ ही मन में यह लगना चाहिए कि, हम पवित्र, शांत और स्थिर लेकिन ईश्वरी सुख में और उसके पवित्र अवलोकन में आये हैं। इस तरह इस स्थान की व्यवस्था रखने से कुछ दिनों के बाद अपने आप वह पवित्र होगा, अहो! इस जगह का महात्म्य ऐसा है कि आपका मन हजारों दुष्ट विचारों से भरा होगा, आपको हजारों आधि-व्याधि हुए होंगे, तो भी आप इस स्थान में प्रवेश करेंगे तब आपको अत्यंत प्रसन्नता प्राप्त होगी। जिसके घर में देवगृह जैसी स्वतंत्र जगह न हो तो उसे चाहिए कि वह अपने घर का एक कोना पंसद करके उसे साफ-सूफ करके वहीं अभ्यास करे। मन को शांत करने वाले इस पवित्र स्थल में प्रवेश करने के बाद आसन लगा कर सीधा और अक्कड़ बैठना चाहिए।

देवगृह में बैठने की विधि

इस तरह आसन लगाकर सीधा बैठकर, पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण चारों दिशाओं का अवलोकन करना। उसके बाद 'शांतिः पुष्टिस्तुष्टिश्चास्तु' यह मंत्र बोलना। इस मंत्र का अर्थ 'सर्व स्थान पर शांतता, पूर्णता और संतोष प्रवर्तित हो' होता है। इस मंत्र का पाठ जैसे-जैसे हम अधिक करते रहेंगे। वैसे-वैसे हमारा मन

अधिक शांत, प्रसन्न और उदार होगा। फिर परमेश्वर की प्रार्थना करना। वह प्रार्थना 'मुझे ज्ञान प्राप्त हो, मेरे मन में दिव्य प्रकाश उत्पन्न हो।' ऐसे आशयवाली की जाय।

शरीर और मन की सशक्तता

फिर अभ्यासी को चाहिए कि अपने शरीर के बारे में विचार करके वह निरोगी और बलवान हो, वैसी भावना करे और शरीर एक नाव है अतः उसी की सहायता से—उसमें बैठकर हमें यह भवसागर तरना है, ऐसा मन से निश्चय करें। निश्चय और उस निश्चय की दृढ़ता ये दो गुण बहुत आवश्यक है। कमजोर और दुर्बल मनुष्य से कुछ हो नहीं सकता, और मोक्ष भी उसे नहीं मिलता। अतः कमजोरी और दुर्बलता को बिलकुल भगा देना चाहिए। आप खुद बहुत बलवान हैं, ऐसा बारंबार अपनी देह को और मन को कहते रहें और आप खुद अपने आप पर महान् दृढ़ निष्ठा रखकर 'हम सोचें वह होगा ही' ऐसी मजबूत श्रद्धा और आग्रह रखें। यह प्राणायाम का प्रथम पाठ है। शरीर शुद्धि के बारे में पहले बहुत कहा है। साधक को चाहिए कि वह बहुत निर्मलता से बर्त्ताव करे। शरीर शुद्धि के बिना प्राण का निरोध त्वरा से हो नहीं हो सकता। जिस साधक का शरीर बहुत स्थूल हो और मेद, श्लेष्म वगैरह की अधिकता से जड़ता बहुत बढ़ गई हो तो उसे धौति, वस्ति वगैरह छः क्रियाएँ करने का अभ्यास करना चाहिये। बाकी दूसरों के लिए तो वह निरूपयोगी है। याज्ञवल्क्य और शंकर ने तो केवल नाड़ियों (ज्ञानतंतुओं) की शुद्धि से शरीर शुद्धि मानी है। वे इन छः क्रियाओं के लिए बहुत सम्मत नहीं है। नाड़ी के अंदर रहे हुए मल को शुद्ध करने के उपाय नीचे के अनुसार है।

मलशोध प्राणायाम अथवा ज्ञान तन्तुओं* (नाड़ियों) की शुद्धि के उपाय

आसन प्रकरण में कहा गया है, उसके अनुसार पवित्र जगह में स्थिर बैठे। रीढ़ को झुकाकर अथवा टेढ़ा-मेढ़ा नहीं बैठे। ऐसा करने से शरीर को बहुत नुकसान होता है। समंकायत्तिरोग्रीवं अर्थात् छाती, गरदन और सिर सीधी लाइन में रखें। शुरुआत में कठिन लगेगा, फिर अभ्यास से साध्य हो जाएगा। इस प्रकार स्थिर बैठकर फिर ज्ञानतंतुओं की शुद्धि करें। इस बारे में भगवान् शंकराचार्य श्वेताश्वर उपनिषद् के ऊपर व्याख्यान लिखते समय कहा है कि—प्राणायाम करने से पूर्व नाड़ी शुद्धि करनी चाहिए। सुबह ,मध्यान्ह, शाम को और मध्य रात्रि को नहा-धोकर स्वच्छ

---

* ज्ञान तंतुओं में अर्थात् नाड़ियों में जो प्रवाही, पोषक पदार्थ भरा होता है उसकी शुद्धि यानि नाड़ी शुद्धि। इस शुद्धि से नाड़ी रस में रहा हुआ रजस् और तमस् गुणरूप मल धुल जा कर शुद्ध होता है।

होकर शांत जगह में अथवा देवगृह में जाकर बैठना चाहिए। फिर पद्मासन अथवा वीरासन या जिस आसन से बहुत समय तक सुख से स्थिरता से रहा जा सके, वैसा आसन लगाकर चित्त स्थिर और प्रसन्न रखके शांतभाव से बैठे। फिर दायीं नासिका को दायीं हाथ के अंगूठे से दबाकर बंद करें और बायीं नासिका से श्वास खींचकर तब बायीं नासिका को बंद रखकर तथा दाहिनी नासिका के ऊपर जो अँगूठा दबाकर रखा था उसे उठाकर, लिया हुआ श्वास इसी नासिका से बाहर निकालना, फिर दाहिनी नासिका से श्वास खींचकर बायीं नासिका से छोड़ देना, ऐसा श्वास 5-6 बार लेकर छोड़ना, उससे नाड़ी शुद्धि अर्थात् ज्ञानतंतु की शुद्धि होती है। ऐसा अभ्यास कहे अनुसार दिवस रात मिलाकर चार बार करना चाहिए। यह अभ्यास तीन मास तक अथवा आवश्यकता लगे तो छः मास तक चालू रखना। हर एक बार श्वास लेते समय और छोड़ते समय ॐ (ओम्) इस पवित्र महामंत्र का मन में उच्चारण करना। वह मंत्र नियमित समय में बाहर अंदर जाये और आये तब हमारे शरीर में के सारे व्यापार नियमित गति से होने लगते हैं। इस तरीके से श्वासोश्वास करने से, इतना सारा आराम मिलता है कि, गाढ़निद्रा आने से जिस तरह शरीर और मन को अतिशय सुख होता है उससे भी हजार गुना सुख मात्र नाड़ी शुद्धि होने से हो सकता है। तो प्राणायाम करके सारा देह यंत्र हाथ में आये तो फिर पूछना ही क्या? ऐसा अभ्यास बहुत समय तक करने के बाद और उससे होने वाला अपूर्व विश्रांति सुख अनुभव करने के बाद साधकों के अनुभव में यह आएगा कि, हमारे चेहरे पर बहुत परिवर्तन हुआ है तथा पहले मुँह पर जो अनेक झुरियाँ थीं, सो मिट गई हैं। ऐसा अभ्यास रोज करने से कंठ में एक प्रकार की मधुरता उत्पन्न होती है। वही अभ्यास थोड़े महीने तक चालू रखने से क्रमशः अनुभव होते जाते हैं।

इस प्रकार करने से हमारे शरीर में जो स्थूल-भौतिक प्राण और उसके जितने अंश होते हैं वह सभी नियमित हो जाते हैं। फेफड़ों की गति का निरोध होता जाता है। उस समय शरीर में अनेक नाड़ियों का सूक्ष्म-चलन चलता रहता है। उसका खूब बारीकी से अवलोकन करना चाहिए। हमारा चित्त सामान्य रीति से बाह्य विषयों में एकाकार हो गया होता है, जिससे (चित्त को) हमारे शरीर की नाड़ियों की गति समझ नहीं आती। ज्ञानतंतुओं के समूह चक्रों में चलती गति के धक्के पूरे शरीर में लगते हैं। उसके आघात-प्रत्याघात से रासायनिक उष्णता और बिजली उत्पन्न होती है, तव हमारे प्रत्येक अवयव जितनी स्थिति में रहते हैं, तो भी इस विषय का संपूर्ण ज्ञान मनुष्य को नहीं होता है। अतः उन नाड़ियों की गतियों के बारे में संपूर्ण जानकारी हासिल कर लेने की बहुत जरूरत है। ये सूक्ष्म गतियाँ मालूम पड़ जाती हैं तथा उन गतियों को अपनी इच्छा के अनुसार कैसे चलाया जा सके? यह जाना जा सकता

है। अथवा हम जब चाहें तब उन्हें बंध भी किया जा सकता है अथवा चलाया भी जा सकता है। यह सब साध्य हो इसलिए प्राण यानि क्या यह जान लेने के बाद उसका निषेध कैसे किया जाय, इस बारे में जान लेना चाहिए। हृदय में के चालू प्रवाहों का ज्ञान हो और उस हृदय को अपनी इच्छानुसार चला सकें, ऐसी सत्ता हममें आ सके तो शरीर में की दूसरी नाड़ियाँ और उनके प्रवाह भी क्रमशः जान सकेंगे, इसमें जरा भी शंका नहीं लाना चाहिए। इसीलिए प्राणायाम करने का अभ्यास रोज करना ही चाहिए।

मलशोध प्राणायाम के प्रकार

प्राणायाम—गोरक्षपद्धति इत्यादि कुछ ग्रंथों में नाड़ी शोधन प्राणायाम के दो तीन प्रकार कहे हैं, उसमें चंद्रांग और सूर्यांग प्राणायाम करने के बारे में कहा है। उसमें प्राणायाम का लक्षण ऐसा कहा है—

पूरके द्वादशी कुर्यात्कुंभके षोडशी भवेत्।
रेचके दश ॐकाराः प्राणायामः स उच्यते ॥

प्राण का पूरक करते समय 12, कुंभक करते समय 16 और रेचक करते समय 10 मात्रा अथवा ॐकार मंत्र का जप करें। उसको प्राणायाम कहते हैं।

चंद्रांग प्राणायाम—एकांत में पद्मासन लगाकर चंद्रनाड़ी इडा से 12 ॐकार की संख्या से मंद-मंद पूरक करके 16 संख्या से कुंभक करके दूध, दही के समान अतिस्वच्छ सफेद वर्ण जैसे अमृत स्वरूप चंद्रमा को कंठ तथा नाभि में ध्यान करें और फिर 10 संख्या से सूर्यनाड़ी से पिंगला से मंद-मंद रेचन करने से चंद्रांग प्राणायाम होता है।

सूर्यांग प्राणायाम—पद्मासन लगाकर सूर्यनाड़ी पिंगला से प्राणवायु का 12 ॐकार की संख्या से पूरक करके 16 संख्या से कुंभक करके उसी समय जाज्वल्यमान् अग्निज्वाला समान अग्निमय सूर्यमंडल का नाभि कमल में ध्यान करें और फिर 10 संख्या से इडा से मंद-मंद रेचन करने से सूर्यांग प्राणायाम होता है।

हठयोग प्रदीपिका में कहा हुआ प्राणायाम—

प्राणं चेदिडया पिबेन्नियमितं भूयोन्यया रेचयेत,
पीत्वा पिंगलया समीरणमथो बध्वा त्यजेद्वामया।
सूर्याचन्द्रमसोरनेन विधिनाऽभ्यासं सदा तन्वतां,
शुद्धा नाडिगणा भवन्ति यमिनां मासत्रयादूर्ध्वतः।

यदि इडा से पूरक करके प्राणवायु पेट में भर के वहाँ नियमित समय तक कुंभक करके फिर उस वायु को पिंगला से आहिस्ता-आहिस्ता बाहर रेचन करें और यदि पिंगला से पूरक करके, कुंभक किया हो तो इडा से आहिस्ता-आहिस्ता रेचक

करें। इस प्रकार बारंबार नित्याभ्यास करने वाले योगी की नाड़ियां 3 मास में शुद्ध होती है। स्वात्माराम योगी कहते हैं किः—

येन त्यजेतेन पीत्वा धारयेदतिरोधतः।
रेचये च ततोऽन्येन शनैरेव न वेगतः॥

इडा अथवा पिंगला से प्राणवायु का रेचन किया हो तो उसी नासिका से पूरक करके उसे अतिशय रोधी (रोककर, कुंभक करके) फिर, जिस नासिका से पूरक किया हो उससे दूसरी नासिका से, मंद-मंद रेचन करना परंतु अधिक त्वरा से श्वास छोड़ना नहीं। क्योंकि वैसा करने से शक्ति चली जाती है। मतलब कि जिस नासिका से पूरक किया हो उसी नासिका से रेचन करना नहीं, परंतु जिस नासिका से रेचक किया हो उसी नासिका से पूरक खुशी से किया जा सकता है।

गायत्री प्राणायाम—गायत्री मंत्र के व्याहृति, गायत्री और शिरोभाग ऐसे तीन भाग हैं। ॐभूः, ॐभुवः, ॐस्वः, ॐमहः, ॐजनः, ॐतपः, ॐसत्यं, ये सात व्याहृतियां, **ॐ तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि धियो यो नः प्रचोदयात्**। इस गायत्री मंत्र और **ॐ आपो ज्योति रसोऽमृतं ब्रह्म भूर्भुवः स्वरोम्** इन्हें शिरोभाव कहते हैं। एक श्रुति में कहा कि, **सव्याहृतिं सप्रणवां गायत्रीं शिरसा सह। त्रिः पठेदायतप्राणः प्राणायामः स उच्यते॥** अर्थात् प्राण का कुंभक करके प्रणव सहित 7 व्याहृति गायत्री तथा शिरोभाव ये तीनों मिलाकर पूरा गायत्री मंत्र तीन बार पढ़ें, उसको प्राणायाम कहते हैं। कुछ ग्रंथों में ऐसा भी कहा है कि, पूरक, कुंभक, रेचक के समय एक-एक गायत्री मंत्र बोलें।

याज्ञवल्कय संहिता, गोरक्ष पद्धति, हठयोग प्रदीपिका इत्यादि ग्रंथों में कहा गया है कि, इस प्रकार नियमित प्राणायाम करने वाले साधक के बाह्य चिह्न कुछ विशेष दीखते हैं। नाड़ीशुद्धि होने से शरीर हल्का होता है, जठराग्नि प्रदीप्त होती है, और चित्त में विचित्र नाद सुनाई देते हैं। नाड़ियों के कफ पित्त आदि विकारों का नाश होकर चिरकाल प्राणायाम का निरोध जल्दी सिद्ध होता है।

मनोविकल्प

योगाभ्यास में दूसरी अड़चन मनोविकल्प (मन में अनेक शंकाएं तर्कों का आना) की है। हम जो कुछ करते हैं, सुनते हैं, उसमें कुछ सार है या नहीं, ऐसी बार-बार मन में शंकाएं होती हैं, उसको ही विकल्प कहते हैं। इस बारे में आगे कहा जा चुका है। मनुष्य ज़ाति में संशय विकल्प उत्पन्न होने का गुण स्वाभाविक है। शंका उत्पन्न होने पर ऐसी बात होता है। अनुभव के बिना किसी भी बात पर श्रद्धा नहीं रखनी चाहिए। तभी मनुष्य जाति की इतनी उन्नति होती है। परंतु अनुभव प्राप्त होने के बाद भी जब श्रद्धा नहीं रखी जाती तब यह बात दुराग्रह वाली और मतांधपनेवाली मानी जाती है

और ऐसे ही जब बिना अनुभव के और व्यर्थ श्रद्धा रखी जाती है वह बात भी मूर्खता पूर्ण ही है। जैसे-जैसे अनुभव की प्राप्ति होती है वैसे-वैसे दृढ़ विश्वास रखने से धीरज से और एकचित्त होकर अभ्यास हमेशा क्रिया जाए तो मनोविकल्प का नाश अपने आप होता जाता है। कारण कि अभ्यास करने से जो-जो लाभ अथवा चमत्कार जान पड़ता है और उस पर श्रद्धा कायम होती है।

अनुभव की प्राप्ति और चमत्कार

अनुभव भिन्न-भिन्न प्रकार से प्राप्त होते हैं। नाक के अग्र भाग के ऊपर दृष्टि रखकर वही सभी विचारों की एकाग्रता करने का अभ्यास शुरु किया जाता है तो कुछ दिनों के बाद सुंदर सुगंध आने लगती है। इस एक ही अनुभव पर से अभ्यासी को यकीन होना चाहिए कि, जड़ वस्तुओं का (यहाँ के उदाहरण में फूल, इतर, कस्तूरी वगैरह की और नाक का अर्थात् इन्द्रियों का संयोग हुए बिना भी हमें उसके गुण धर्म की (सुगंध की) प्रतीति होती है। उसी तरह अभ्यास का बल बढ़ाते रहने से, दूसरे के मन में क्या-क्या विचार चलते हैं, उनका साफ चित्र अभ्यासी के समक्ष खड़े हो जाते हैं, और ऐसा होने पर हम चाहे उनके मन की बातें जान सकते हैं, चित्त की एकाग्रता करके वैसे का वैसे प्रयत्न चालू रखा जाय तो अत्यंत दूर क्या-क्या हो रहा है उनकी ध्वनियाँ भी हमें सुनाई देती हैं! मात्र निश्चय की दृढ़ता चाहिए, और जैसे-जैसे अनुभव प्राप्त हो वैसे-वैसे श्रद्धा का बल बढ़ाना चाहिए। यानी कि जो सोचे सो चमत्कार देखा जाता है।

यहाँ यह बात खास ध्यान देने वाली है कि ऐसे चमत्कार करना या कराना हमारा मुख्य उद्देश्य नहीं है। अपितु, जीव अथवा आत्मा को माया के बंधन से मुक्त करके दुःख का नाश करना हमारा उद्देश्य है। पूरी सृष्टि पर, माया पर और तमाम परमाणुओं के ऊपर हमारी सत्ता चलानी है और 'दुरत्यय' अर्थात् जिनको शरण में लाने में खूब परिश्रम लगता है ऐसी जो **माया** उसको वश में करके रखना यह मुख्य हेतु है और इस हेतु सिद्ध किए बिना नहीं छोड़ना है और ऐसे करते ब्रह्मांड भी फट जाए तो भी क्या ऐसा तीव्र मनोवेग रखना चाहिए और यदि अटक गए तो निश्चय समझो कि पुनः-पुनः संसार के सुख-दुःख के जाल में फंस जाओगे।

अभ्यास का बल धीरे-धीरे बढ़ायें

हठयोग प्रदीपिका में स्पष्ट कहा है कि प्राण का निरोध धीरे-धीरे करें। वन में विचरण करने वाले सिंह, हाथी, बाघ इत्यादि अनेक क्रूर प्राणियों से धीरे-धीरे युक्तिपूर्वक पकड़ा जाये तो ही वश में होते हैं। परंतु यदि एकदम पड़कने जायेंगे तो उल्टा हमको ही मार देंगे, इसी प्रकार प्राणवायु को भी धीरे-धीरे वश करने में नहीं

आये तो साधक को कास, श्वास इत्यादि रोग हो सकते हैं। इसलिए युक्तिपूर्वक प्राण का रेचक पूरक करके कुम्भक करो। केवल हठ से अतिशय निरोध किया हुआ प्राण रोम छिद्रों से निकल जाता है और उससे कोढ़ जैसे रोग हो जाता है। इसलिए कुछ दिन तक रोज सुबह, मध्याह्न, शाम और मध्य रात्रि को चार-चार प्राणायाम (यहाँ नियमित श्वासोश्वास ऐसा अर्थ समझने से उस प्रकार) करें और फिर कुछ दिन तक पाँच-पाँच करें। ऐसे धीरे-धीरे अभ्यास बढ़ाना चाहिए। ऐसे में गुरु की आवश्यकता प्रत्येक ग्रंथों में तथा महात्माओं के अनुभवों से सूचित है। यदि कोई प्राणायाम करने वाले प्रवीण और पवित्र गुरु हो तो उनके पास रहकर अभ्यास करना अच्छा है। लेकिन ऐसे गुरु आज कल अधिक देखने में नहीं आते है, जो देखने में आते हैं उनमें के अधिकतर केवल दंभी ही होते हैं, अतः पूर्ण जाँच करके क्रिया करने को प्रवृत्त होना, तो भी धीरे-धीरे जल्दबाजी न करते हुए, यहां जो अनुभवी महत्माओं के अनुभव और उनके तरीके देते हैं उसके अनुसार अभ्यास करके आगे बढ़ा जाएगा तो हरकत जैसा नहीं है। ऐसा ही अभ्यास करते-करते आप लायक होंगे तब-तब निश्चय से जान लेना कि ऐसे अनुभवी महात्मा आप से दूर नहीं हैं बल्कि पास में ही हैं। वे तो हमेशा जैसे साधकों के राह देखते हुए ही बैठें हैं। जब उनको अमुक साधक लायक है ऐसा मालूम होता है, तब अपने आप प्रकारान्तर से दिखाई देकर सूचित कर जाते हैं।

प्राणायाम साध्य करने के लिए अभ्यास रोज करना ही चाहिए। बीच में दो दिन छोड़कर पुनः शुरु करें, ऐसा कदापि नहीं करना चाहिए। निरंतर अभ्यास के बिना सिद्धि नहीं होती है। केवल सुनकर अथवा ग्रंथों को पढ़कर योग सिद्धि नहीं होती और यह भी ध्यान रखना है कि शरीर अशुद्ध और रोगलिप्त होगा तो भी प्राणायाम का अभ्यास नहीं होगा। इसलिए हमेशा शरीर स्वच्छ और निरोगी रखें। शरीर खूब व्यवस्थित रखना हो तो खाने-पीने में सावधानी रखनी चाहिए।

खाने-पीने में सावधानी

इस संवंध में प्रख्यात स्वामी रामकृष्णानंद जी लिखते हैं कि योगियों ने सृष्टि का अवलोकन अच्छी तरह किया था। जैसे सभी विद्याएं प्रकृति के अभ्यास से प्राप्त हुई हैं। वैसे योगविद्या भी प्रकृति के अभ्यास का ही परिणाम है। मेंढक, सांप और कछुआ इन प्राणियों की स्वाभाविक शक्ति कौन सी है। उसका उन्होंने पूर्ण अवलोकन करके प्राणायाम करने की विद्या तथा खाना कम करने की बात ढूँढ़ ली है। उन्होंने देखा कि मेंढक गरमी में कुछ नहीं खाते हैं, सांप ज्यादातर पवन का भक्षण करता है। कछुआ अपनी रक्षा करने के लिए अपनी अवयवों को खींच कर कुछ भी खाए बिना बहुत दिनों तक जी सकता है। सर्दी में मेंढक का शरीर

कमजोर हो जाता है। इतना ही नहीं उसके शरीर पर सजीवत्व के कोई चिह्न नहीं दिखते। परंतु वर्षा ऋतु में फिर से सजीव हो जाते हैं। भूख की पीड़ा न हो इसलिए योगियों ने मेंढक का अनुसरण किया। कछुए के जैसे अपना मन तमाम विषयों के ऊपर खींचकर एकाग्र होने की प्रेरणा ली और ऐसे उनकी खाना कम करने की युक्ति सिद्ध हुई। कछुआ और सांप ये दोनों प्राणी श्वासोश्वास खूब धीरे-धीरे अथवा बहुत घंटे बाद करते हैं। इससे उनको अपना श्वास कुंभक करने की अर्थात् प्राणायाम करने की युक्ति आयी। जो मनुष्य प्राणायाम अच्छी तरह कर सकता है उसके शरीर की रक्षा के लिए प्रतिदिन सेर अथवा आधा सेर दूध खूब है। इससे ज्यादा वह नहीं खा सकता और यदि खाता है तो उसकी तबियत बिगड़ सकती है। शरीर में अनेक दुष्ट विकार और वासनाएं उत्पन्न होती है। इसलिए अभ्यासी को मात्र ऐसा अन्न खाना चाहिए जो जल्दी से पच जाये और अपने शरीर का जीवन धारण हो सके।

योगी के मुख का विलक्षण तेज और आंखों की अद्भुत शक्ति

इस प्रकार करने से योगी की खुराक कम होती जाती है। वैसे-वैसे उसकी शरीर प्रकृति कमजोर होती जाती है परंतु उसके मुख पर विलक्षण तेज दिखने लगता है। ऐसा किसी दूसरे के मुख पर नहीं दिखता है। अमुक मनुष्य योगी है कि नहीं ऐसी पहचान उसकी आंखों से हो सकती है। योगी की आंखें मन को प्रसन्न करने वाली और सतेज होती है। प्राचीन समय में एक मुनि अपने आश्रम की सारी व्यवस्था अपने एक युवा शिष्य को सौंप कर अपने अरण्यवासी मित्र के पास गए। इधर शिष्य रोज नियम के अनुसार अग्नि को आहुति दी तो अग्निनारायण प्रकट होकर उसको आत्मज्ञान का पाठ कराया। फिर कुछ दिन बाद जब गुरु ने आकर शिष्य के मुख की तरफ देखा तो कहने लगे कि "तुम्हारे मुख पर आत्मज्ञानी पुरुष के जैसा तेज दिखता है उसका कारण क्या है?" अस्तु! मुनि ने शिष्य के मुख पर स्थित आत्मज्ञानी जैसे तेज को जान लिया। इसी प्रकार किसी भी मनुष्य के मुख से उसके स्वभाव की और व्यवहार की परीक्षा कर सकते हैं। कोई भी मनुष्य सुखी हो या दुःखी, यह बात उसके मुख से आसानी से पता चल जाता है। कारण आँख में आत्मज्ञान के चिह्न होते हैं। मन में जो विचार चलते हैं उसका असर आंखों पर होता है। नेत्र विद्या में जो प्रवीण होते हैं वे किसी मनुष्य की आंखों को पहचान करके उसके मन के विचार पता कर सकते हैं। योगी अपनी आंखों में तेज को दूसरे की आंखों के तेज से एकीकरण करके अपने तरफ खींच सकते हैं। तभी प्राण वितिमय (मेस्मेरिजम) के प्रयोग में इसी रीति का प्रयोग होता है।

दृष्टि शक्ति बढ़ाने के लिए त्राटक क्रिया करनी चाहिए। इस क्रिया का प्रथम

चरण यह है कि एक सूक्ष्म बिन्दु की तरफ आंखों में पानी नहीं आए तब तक देखते रहना चाहिए। वह पदार्थ ऐसा भी होना चाहिए कि प्रकाश की उष्णता के साथ आंख में हरकत हो। यद्यपि सूर्य की तरफ देखने की आदत कुछ अभ्यासी डाल सकते हैं। एक सफेद दीवार पर एक कागज पर गोलाकर करके उसके सामने प्रातःकाल में एकाध घंटा दृष्टि बाँध रख बैठा जाय तो नजर सुधरती है। इतना ही नहीं बल्कि दूसरे भी अनेक मार्ग मिल सके वैसे परिणामों का अनुभव होता है। स्फटिक के सूर्य तथा शालिग्राम आदि तथा पारा के शिवलिंग आदि का साधु उपयोग करते हैं। प्राचीन काल में भारतखण्ड में स्त्रियां भी योगाभ्यास करती थीं। यह यहाँ तक कि उसमें अतिशय प्रवीणता संपादन करतीं। ऐसी एक कथा है कि किसी एक योगिनी के मन में ऐसा विचार आया कि जनक राजा सही से आत्मज्ञानी हैं कि नहीं, वह देखना है। वह राजसभा में गई और वहां राजा की आंखों के द्वारा उनके अंतःकरण में प्रवेश करके उसके चित्त को आकर्षित करने का प्रयत्न किया। जब वह निष्फल हुई तब उसने कहा कि राजा आत्मज्ञानी हैं, इसमें कोई शंका नहीं।

योगी बिना खाये पीये बहुत दिन तक रह सकते हैं! सत्य है

अभी कहा कि योगी बिना खाए बहुत दिन तक रह सकते हैं। इस बात पर बहुत लोग अविश्वास करते हैं। परंतु ऐसा करने का कारण नहीं है क्योंकि जो लोग मेहनत कम करते हैं उनकी पाचन शक्ति बहुत कम होती है। वे खुद कम खाना खाते हैं। निद्रावस्था में मनुष्य को खाने की इच्छा नहीं होती है। वैसा महीने तक और दो-दो महीने तक सोते रहने वाले ऐसे बहुत से सोने वालों की बातें सैकड़ों सुनने में आयी है और दर्ज की हुई है। उस अवधि में वे कुछ भी खाते नहीं हैं तो भी उनके शरीर बहुत मजबूत और निरोगी होते हैं। तिम्बेरी नाम के स्थान पर **विलटन** नाम का एक मनुष्य मजदूरी धंधा करता था, वह महीनों तक सोता रहता था। उस समय उसके पेट में एक घूंट पानी भी नहीं जाता था। अर्थात् बिना पानी पिये भी वह शरीर से मजबूत और निरोगी था। भूख नहीं लगने के और कारण है, जैसे कि मन खिन्न होना, अथवा बड़ा धक्का लगने से भी भूख कम लगती है। बंगाली इलाके में नड़िया जिले में डामरहुड़ा नामक गाँव में एक स्त्री के पति की अचानक मृत्यु हो गयी। जिसका उसको इतना दुःख हुआ कि उसने 10-15 दिन तक बिलकुल अन्न-पानी नहीं लिया। उसका दुःख जब थोड़ा कम होने के बाद शुद्धि में आने के बाद उसको भूख लगी और खाने की इच्छा हुई, तब उसको किसी ने खाना दिया। परंतु उसके खाना खाते ही वमन हो गया। दूसरे दिन भी ऐसा ही हुआ। ऐसा बहुत दिन तक चला और अंत में उसने खाना-पीना बिलकुल छोड़ दिया। तथा वह स्त्री बहुत वर्षों तक अन्न खाये बिना जिंदा रही। वह स्त्री

मात्र रोज नहाती थी। उसके सिवा दूसरा कुछ भी नहीं करती थी फिर भी एकदम निरोगी थी। राम कृष्णानन्द कहते हैं कि ये सारी बातें सत्य और हजारों लोगों ने प्रत्यक्ष अनुभव की है, तब वह दुखी है ऐसा कैसे कहा जा सकता है? अस्तु यह बात सही है। ऐसा अनुभव सबको होगा ही, हम जब खाना खाते हैं तो उसके पूर्व शरीर में काम करने का उत्साह और चपलता होती है और उस समय जो काम हाथ में लेते हैं उसमें एकाग्रता से चित्त पिरोया जा सकता है। परंतु खाना-खाने के बाद वह उत्साह नहीं रहता है। आलस्य आने लगती है, निद्रा आने लगती है, सोने का मन होता है इत्यादि इत्यादि! यह हमारे रोज के अनुभव पर से विचार सकते हैं। जितना कम खाते हैं उतना मानसिक कार्य करने मे विशेष जागृति रहती है। यही बात योगियों के संबंध में विचार करने योग्य है।

योगियों को शारीरिक मेहनत नहीं करनी पड़ती है, उनका अधिकतर समय समाधि में ही जाता है। समाधिस्थ मनुष्य बाहर से सो रहा हो, ऐसा लगता है। परंतु अंतर में वह जागृत होता है। उसका चित्त एकाग्र होता है और वह मात्र सद्वस्तु का अनुभव लेता है, इसके बिना दूसरी कोई भी इच्छा नहीं होती है। इससे इस बात का पता चलता है कि योगी अन्न-पानी के बिना चाहे जितने दिन तक रह सकते हैं।

शरीर और मन से मजबूत रहना

प्राणायाम करने वाले को दूसरा यह भी ध्यान रखना चाहिए कि, शरीर अशुद्ध और रोगिष्ट हो तो प्राणायाम का अभ्यास शुरु नहीं करना चाहिए। हमेशा स्वच्छ और निरोगी शरीर रखना चाहिए। यदि शरीर को व्यवस्थित रखना है तो ऊपर बताए अनुसार खाने पीने में खूब सावधानी रखनी चाहिए। मन से दृढ़ होना चाहिए कि 'हमारा शरीर हमेशा निरोगी रहे, कभी भी व्याधि नहीं हो, शरीर की आरोग्यता संभालनी और ज्यादा समय तक जीना इन दो बातों को ध्यान में रखे क्योंकि योगाभ्यास अथवा दूसरा कोई भी प्रकार का अभ्यास अथवा किसी प्रकार का पुरुषार्थ 'तंदुरस्ती हजार नियामत' इस कहावत के बिना सिद्ध नहीं होने वाला है। यह लक्ष्य में रखें।

अभ्यासी का दूसरा गुण मन से मजबूत रहें, ध्यान में रखें। इस प्रकार दृढ़ रखना चाहिए की स्वयं ब्रह्मा भी आ जाएं तो भी पीछे नहीं हटना है। और यह करने से धीरे-धीरे प्राणायाम का फल हुए बिना नहीं रहेगा। ऐसे दृढ़-संकल्प के साथ मन की मजबूती भी पत्थर जैसी कर डालनी चाहिए। चित्त को एकाग्र करते समय अथवा प्राणायाम साध्य करते समय बीच में कदापि सिर पर आसमान टूट पड़े तो भी डरना नहीं चाहिए और अपना निश्चय बदलना नहीं चाहिए। ये दो बातें ध्यान में न रहे अथवा उनमें जरा भी कमी आये तो समाधि तथा प्राण की

स्थिरता नहीं होती है। इसलिए मन की दृढ़ता तथा संकल्प जिसमें नहीं हो उनको यह कार्य नहीं करना चाहिए।

इस प्रकार शरीर और मन से मजबूत होकर जमीन पर बैठकर ध्यानस्थ होना। आस-पास का वातावरण मन को प्रसन्नता देने वाला होना चाहिए। आंख से हरकत पहुंचे ऐसा कुछ नहीं होना चाहिए। एकदम आवाज उत्पन्न होकर कान में पहुँचे, ऐसा भी नहीं चाहिए। जिस तरह मनुष्य निद्रावश होने के बाद कोई बड़ी आवाज होने से एकाएक हड़बड़ा उठता है और नीद उड़ जाती है। इस प्रकार योगी का चित्त एकाग्र होता है और ज्यादा आवाज अथवा भंयकर चित्त दिखे तो उससे समाधि में विघ्न होता है। इसलिए ऐसा कुछ नहीं रखना चाहिए। इसलिए योगाभ्यास की शुरुआत में जो जगह पसंद करे, वह एकान्त और रम्य होना चाहिए।

प्राणायाम करने से शरीर हल्का होता है और उससे जमीन से ऊपर रह सकते हैं*

अभी तक कहा गया है कि चित्त की एकाग्रता करने के लिये श्वासोश्वास का रुधन करना अथवा प्राणायाम करना चाहिए। इस मुख्य हेतु सिद्ध करने के लिए यदि कोई मुख्य साधन हो तो वह मात्र प्राणायाम ही है और उसको सिद्ध करने से अनेक लाभ होते हैं। उसमें मुख्य सर्वदृष्ट लाभ तो यह है कि हमारा शरीर जमीन से अद्धर (ऊपर) रहता है। परंतु याद रखना चाहिए कि कभी-कभी खिलाड़ी भी अपने शरीर, श्वास को दबाकर रखने का अभ्यास करके जमीन से ऊपर रखते हैं, पैसे कमाने के धंधे के हिसाब से उसका उपयोग करते हैं। प्राणायाम का अभ्यास करके श्वास दबाकर रखने से शरीर की शिरा और नाड़ियों में एक प्रकार का हल्का और चपल वायु उत्पन्न होती है। ऐसा होने से शरीर हल्का होकर जमीन से कुछ फीट ऊपर हवा में तैर सकता है। बंगाल और मद्रास के कुछ भागों में ऐसा खेल एक साधारण मदारी करके बताते हैं। शुरुआत में अपनी छोटी लड़कियों को पानी में डुबाने का अभ्यास कराते हैं फिर धीरे-धीरे इन लड़कियों को अपना श्वास रोकने की आदत हो जाती है। इतना होने के बाद उनको धूल अथवा बारीक रेत के ढेर पर बिठा कर साँस रोकने के लिए कहा जाता है, और उसके अनुसार लड़कियां थोड़े मिनट तक करती हैं। तब उनके नीचे से रेत धीरे-धीरे निकाल दी जाती हैं। ऐसा अभ्यास कुछ दिन तक होने के बाद लड़कियाँ हवा में आकर बैठी हों ऐसा मालूम पड़ता है परंतु ये लड़कियाँ चाहे—जैसे असाधारण चमत्कार कर दिखाए तो भी उनकी योग्यता क्षुद्र, है

* यह जानकारी स्वामी रामकृष्णानंद जी के मद्रास में योग पर दिये हुए भाषण से ली है।

यह स्पष्ट है। उनको सारे दिन में ऐसे चमत्कार 25-50 पैसे मिले तो संतोष हो गया, लेकिन उनको योग विद्या का बिलकुल ज्ञान नहीं होता। कहाँ ऐसे चमत्कार और कहाँ चित्तैकाग्य वासनाक्षय, इन्द्रियदमन और मनोनिग्रह और वैराग्य की अतुल संपत्ति? इन दो बातों में जमीन-आसमान का अंतर है। जिस मनुष्य को ये सब बातें कर सकने का बल प्राप्त होता है वह मनुष्य मिटकर देव बन जाता है। खिलाड़ियों को 25-50 पैसे देने पर अपना खेल तुरंत कर दिखाएँगे, लेकिन योगी को तो सारी पृथ्वी और सारे स्वर्ग का वैभव दिया जाय तो भी अपने अंतःकरण में जरा सरीखा हलका विचार भी नहीं लग सकेगा। पहले जो कुंभक के प्रकार कहे हैं, उनमें से प्लाविनी कुंभक की साधना से योगी आसानी से अपना शरीर जमीन से ऊपर रख सकता है।

प्राणायाम करने से आयुष्य की वृद्धि होती है

प्राणायाम में निपुण महात्माओं का ऐसा सिद्धांत है कि प्रत्येक प्राणी को अपने-अपने पाप-पुण्य के अनुसार एक जन्म में जो सुख-दुःख भोगने हैं उसको जितना समय लगता है, उतने की श्वासोश्वास लेने की शक्ति उन प्राणियों को प्राप्त होती है। उसको ही आयुष्य कहते हैं। सामान्य ऐसा नियम है कि मनुष्य में रात्रि और दिन मिलाकर चौबीस कलाग्र में अर्थात् 60 घड़ी के अवकाश में 21600 श्वासोश्वास करने की शक्ति है। इस हिसाब से जिन प्राणी के कर्म के अनुसार किसी प्राणी को 25 करोड़, किसी को 20 करोड़, किसी को 40 लाख, किसी को 10 हजार तो किसी को 100 श्वासोश्वास लेने की शक्ति प्राप्त है और उतने श्वासोश्वास करने के बाद प्राणी मरणाधीन हो जाता है। मानों की **अ** नाम के मनुष्य प्राणी को रोज के 21600 श्वास के हिसाब से 100 वर्ष (अथवा 21600 × 365 दिन × 100 वर्ष = 788400000 श्वासोश्वास करने की शक्ति) आयुष्य प्राप्त हुआ है। परंतु **अ** उसका सही उपयोग नहीं करके इस शक्ति को दुरुपयोग करता है। अब विषय ऐसा है कि मनुष्य जो श्वास लेकर बाहर निकालता है उस प्रश्वास के वायु की स्वाभाविक गति का मान 12 आंगुल जितना होता है। परंतु सर्वथा यह प्रमाण समान नहीं रहता है। खाना खाते समय ज्यादा जोर से श्वासोश्वास करना पड़ता है। तब उसके प्रश्वास की गति 18 आंगुल चलती है। इसी प्रकार चलते समय 24 आंगुल, दौड़ते समय 42 आंगुल, मैथुन करते समय 65 आंगुल और निद्रा स्थित में 100 आंगुल वायु को गति चलती है अर्थात् अलग-अलग स्थिति में उस शक्ति के प्रमाण में श्वास का व्यय सतत् होता जाता है। **अ** को जो शक्ति प्राप्त है उसका वह नियम से व्यय नहीं करता है। जैसे ब के पास एक लाख रुपये है। वह रुपये अपनी इच्छानुसार उड़ाता है। उद्योग करके नया पैसा प्राप्त करने की उसमें अक्ल नहीं है और

मितव्ययिता का नाम भी जानता नहीं है और थोड़े समय में ही वह लाख रुपये खर्च कर डालता है। उसी तरह अ को मिले श्वासोश्वास की शक्तिरूपी रुपयों का मितव्ययिता से खर्च नहीं करके, इच्छानुसार उड़ाएगा तो वह मात्र थोड़े ही वर्षों तक जीकर मृत्यु को प्राप्त होगा, यह बात स्पष्ट है। इसलिए प्रत्येक मनुष्य को सोचना चाहिए कि परमेश्वर ने अपने कर्मानुसार दिए श्वासों को जितना कंजूसी से कम उपयोग कर सके उतना अच्छा, इससे आयुष्य बढ़ता है। 24 घंटे में अ को 21600 श्वास लेने चाहिए, ऐसा स्वाभाविक नियम है परंतु **अ** उसका खर्च ऐसा करता है कि उसमें से कुछ श्वास प्राणायाम करके बाकी जमा रखता है तो इस प्रकार से 100 वर्ष से भी ज्यादा जी सकता है। यह बात स्पष्ट है।

इस प्रकार श्वासोश्वास करने से मिली शक्ति का कंजूसी से करने का सरल उपाय कौन सा है? प्राणायाम! इस विषय में जरा विचार करते हैं। कोई **क** नाम का योगी अपनी अगाध ज्ञान द्वारा ऐसा जान लेता है कि उसका आयुष्य मात्र 21600 श्वास लेने जितना ही है। अर्थात् एक दिन जितना ही है और अपना आयुष्य बढ़ाने के लिए प्रथम दिन (21600 श्वास में से) मात्र 1 श्वास लेकर उसका प्राणायाम करके 24 घंटे तक श्वास को रोके रखता है यानी कि आज सुबह से आने वाली सुबह तक जो 21600 श्वास लेना है उनमें से मात्र एक ही श्वास लेकर उसका कुंभक करके 24 घंटे तक उसे रोक रखते हैं। फिर दूसरे दिन प्रथम दिन लिया हुआ श्वास जिसे कुंभक कर रखा था उसे प्रश्वास रूप से छोड़कर, पुनः दूसरा श्वास लेकर उसका कुंभक करते हैं, उसे तीसरे दिन सुबह प्रश्वास द्वारा छोड़ते हैं, तो इस हिसाब के अनुसार हम योगी को कुल मिलाकर 21600 दिनों तक पहुँच सकें उतने श्वास के जितना अर्थात् 60 वर्ष के जितना आयुष्य मिले यह स्पष्ट है। उसी तरह जो साधक 12 घंटे तक प्राणायाम करे उसका 30 वर्ष का आयुष्य बढ़े। एक घंटा प्राणायाम करे तो ढाई वर्ष का, एक मिनट प्राणायाम करे तो 15 दिन का आयुष्य बढ़े, यह स्पष्ट है। प्राणायाम करने की शक्ति हर मनुष्य को प्राप्त करनी चाहिए। श्रद्धा और दृढ़ता रखकर कोई अच्छा अभ्यासी हो तो उसे एक घंटा तक कुंभक करने की शक्ति कम-से-कम 6-7 वर्ष तक अभ्यास करने से प्राप्त होती है।

प्राचीन काल में महान् ऋषि इसी प्रकार अपने आयुष्य की वृद्धि करके हजारों वर्ष तक जिये। महान् राजा भी चार-चार, छः-छः घड़ी तक प्राणायाम करके दीर्घायुषी होकर अपना राज्य चलाते थे। परंतु यह सब अब नहीं रहा। प्राणायाम करने की पद्धति के समाप्त होने से हम अपने आयुष्य की हानि करते हैं। संसार के अनेक व्यापारों में मेहनत मजदूरी करने में, दौड़ने में, मारामारी, क्रोध, मैथुन इत्यादि कार्यों में श्वासरूपी द्रव्य का खर्च व्यर्थ करते हैं। उसमें नयी रकम कमा कर वृद्धि करने

का तो नाम भी ज्ञात नहीं है। ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य पहले संध्या करते थे, संध्या के कारण प्राणायाम किया जाता है, यह भी प्रसिद्ध बात है। यह परापूर्व का तरीका नष्ट होने लगा है। दिन में होने वाली शारीरिक मेहनत में होने वाला श्वास का भारी खर्च, सायं संध्या करते समय, और रात को निद्रा, विषय सुख वगैरह क्रिया में होने वाला श्वास का खर्च प्रातः संध्या के समय होने वाले प्राणायाम के रूप में पुनः मिल जाता था। इसी कारण से प्राचीन शास्त्रवेत्ताओं ने संध्या के साथ प्राणायाम करने की योजना कर रखी है। यह कितनी उत्तम है? यह ध्यान में आएगा। तब जो कार्य शांतता से और नियमित प्रमाण से करने से उसमें जिस श्वास का व्यय होता है उसकी पूर्ति करने के लिए संध्या के साथ प्राणायाम करने से आय और व्यय का प्रमाण समान रहता है। यह बात इस विवेचन से ध्यान में आयेगा।

घड़ी की कमान ढीली होती है तब हम चाबी लगाते हैं और वह मजबूत होती है, वैसे ही अनियमित प्रमाण में श्वास रूपी द्रव्य का नाहक खर्च करने से आयुष्य रूपी कमान ढीली पड़ती है। उसको प्राणायाम रूपी कुंजी से मजबूत करनी चाहिए।

प्राणायाम का और चित्त की एकाग्रता का सम्बन्ध

इसमें क्या सम्बन्ध है? इसका विवेचन करें। किसी बड़ी मिल में जाकर देखें तो एक मुख्य चक्र होता है। उसको घुमाने से दूसरे सभी चक्र गतिमान होते हैं और सभी चक्र अपना-अपना कार्य करते हैं वैसे ही प्राणवायु हमारे देह का मुख्य चक्र है और इस चक्र को यदि गति दी जाय तो शरीर के दूसरे भाग में गति उत्पन्न होती है और यदि बंद रखा जाए तो शरीर के तमाम भागों में गति उत्पन्न नहीं होने से सारी व्यवस्था बंद हो जाती है। परंतु ये बात हमारे हाथ में नहीं होती है। शरीर रूपी घड़ी के तमाम चक्र हमारी मर्जी के अनुसार चलें और तमाम ज्ञानतंतुओं के चक्र सत्ता में आकर हमारी इच्छा के अधीन हो तो ही हम वह ध्यान कर सकते हैं और प्राणवायु के ऊपर विजय प्राप्त कर सकते हैं। क्योंकि ऐसा होने से ही चित्त शांत और स्थिर होगा और उसका आसानी से निरोध हो सकता है।

चले बिंदौ चले चित्ते चले व यो च सर्वदा।
जायते म्रियते लोकः सत्यं सत्यमिदंवचः ॥

शरीर में रहे बिंदु (वीर्य) के चलायमान होने से चित्त चलायमान होने से मनुष्य निरंतर जन्म-मरण के आधीन होता है। यह वचन सत्य है तथा **अमनस्क** खंड में भी कहा है कि–**प्राणो यत्र विलीयते, मनस्तत्र विलीयते** अर्थात् प्राण का विलय होता है तब मन का भी विलय होता है। इसलिए शरीर के वीर्य इत्यादि प्रवृत्ति का निरोध करने के लिए प्राणवायु का निरोध करना चाहिए। यही बात अमृतसिद्ध में स्पष्ट कर दी है कि–

यावद्विमार्गको वायुर्निश्चलो नहि मध्यगः।
असिद्धं तं विजानीयाद्वायुं कर्मवशानुगम् ॥

अर्थात् जब तक वायु शरीर के सभी भागों में और नाड़ियों में संचार करता है तब तक उसको कर्मानुवश और असिद्ध जाने। इसलिए नाड़ियों में संचरित वायु को मूर्च्छित करें, बांध दो, लीन करना अथवा निश्चय करने से चित्त एकाग्र होकर मुक्ति मिलती है। कारण कहा है कि—

मूर्छितो हरति व्याधिं बद्धः खेचरतां नयेत्।
सर्वसिद्धिकरो लीनो निश्चलो मुक्तिदायकः ॥

अर्थात् जो वायु मूर्च्छित किया है वह व्याधि को हरता है। बांधा हुआ आकाशगमन कराता है, लीन किया हुआ सर्व सिद्धि प्रदान कराता है और निश्चल किया हुआ वायु मुक्ति देता है। इससे जान पड़ता है कि प्राणायाम की महत्ता और उसका चित्त की एकाग्रता के साथ महान् संबंध है। शरीर की तमाम क्रिया बंद करने से मन-चित्त स्थिर होता है और यह प्राणायाम से सिद्ध होता है। इसलिए प्रत्येक मनुष्य को प्राणायाम सीखना चाहिए। मानसिक प्राणायाम के बारे में आगे बतायेंगे। उसका अभ्यास करने से पहले नाड़ी शुद्धि का 3 या 6 महीने तक अच्छा अभ्यास करना चाहिए, वह करने से प्रथम स्थूल श्वासोश्वास जो बहुत अनियमित चलता है वह आपकी सत्ता में आएगा। फिर मानसिक प्राण को सत्ता में लाने का अभ्यास करना चाहिए। मानसिक प्राणायाम कैसे किया जाय, उसके बारे में विस्तार से विवेचन आगे आयेगा।



4–प्राणायाम

द्वितीय विभाग-(कला छठी)

प्राणायाम के बारे में विशेष विचार

उपनिषदों में प्राण का माहात्म्य

दिव्योह्यमूर्तः पुरुषः सबाह्याभ्यंतरो ह्यजः।
अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रो ह्यक्षरात् परतः परः॥
एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च।
खं वायुर्ज्योतिरापश्च पृथिवी विश्वस्य धारिणी॥ **(मुंडक.2.1)**

प्रत्येक उपनिषदों में प्राण का माहात्म्य देखा जाता है। इसमें कहते हैं कि–जो दिव्य पुरुष अमूर्त होकर बाह्य और आंतर में भी है, उसका जन्म नहीं है, प्राण नही है, मन नहीं है। वह शुद्ध, स्वरूप परात्पर और अविनाशी है। उसमें से प्राण, मन, विभिन्न इन्द्रियां, आकाश, वायु, तेज, वाणी और पृथ्वी उत्पन्न होता है। (मुंडक.) अर्थात् इसमें प्रथम आत्मा और उसमें से प्रथम प्राण होने के बाद दूसरा उत्पन्न हुआ है ऐसा कहा है। दूसरे स्थान में ऐसा कहा है कि, *'यदिदं किंच जगत् सर्वं प्राण एजति निःसृतम् (कठ. 2. 6. 2) तथा प्राणो वा इदं सर्वं भूतं यदिदं किंच (छान्दोग्य. 3. 15. 4)* अर्थात् जो यह सब जगत् है वो सब प्राण से ही उत्पन्न होता है और प्राण से ही **कंपायमान** होता है। प्राण ही यह सब भूत है, यह सब क्या है? कहा है कि–*प्राण एव ब्रह्मणश्चतुर्थः पादः स वायुना ज्योतिषा भाति च तपति च (छांदो. 3. 18. 4)* प्राण ही ब्रह्म का चौथा पाद है, वह वायुज्योतिरूप है और तपते हैं तथा तैत्तिरीय श्रुति (भृगुबल्ली 3) में कहा है कि *प्राणो ब्रह्मेति व्यजानात् प्राणाद्धयेव खल्विमानि भूतानि जायते प्राणेन जातानि जीवन्ति प्राणं प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति* अर्थात् प्राण ब्रह्म है ऐसा जानो। ये सभी भूत प्राण से ही उत्पन्न होते हैं फिर प्राण द्वारा ही जीते हैं और वह मृत्यु के बाद पुनः प्राण में ही प्रवेश करता है। और उससे कहा है कि, *प्राणं देव अनुप्राणन्ति मनुष्याः पशवश्च ये प्राणो हि भूतानामायुः तस्मात्सर्वायुषमुच्यते (तैत्तिरीय 2. 3)* प्राण से ही देव, मनुष्य और पशु श्वासोश्वास करते हैं। प्राण ही सभी भूतों का आयुष्य रूप है। इसलिए उसको सर्वायुष्य कहते हैं। एक स्थान पर मुंडक.(2. 2. 2) में कहा गया है

कि–**तदेतदक्षरं ब्रह्म स प्राणस्तुदुवाङ्मनः** अर्थात् वह यह अक्षर ब्रह्म है, वह प्राण, वाणी और मन है। बृहदारण्य उपनिषद् में दूसरे अध्याय के तीसरे मूर्त्तामूर्त्त ब्राह्मण में कहा गया है कि, सृष्टि कि उत्पत्ति के पूर्व जो अव्याकृत ब्रह्म था उसमें **मूर्त्त** (दृश्य, साकार) और **अमूर्त्त** (अदृश्य, निराकार), **विनाशी और अमर, स्थिर और गतिमान, सत्** (जितना हयात (जीवन) वाला है वह) और **त्यम्** (जो हयात (जीवन) वाला है उसके उस तरफ का) ऐसे दो-दो रूप है। यही बात अधिदेव के संबंध में विचारें तो वायु और आकाश के सिवाय सभी पदार्थ पृथ्वी, प्राणी, तेज ये मूर्त्त, मर्त्य, स्थिर और सत् है। इस मूर्त्त का, इस मर्त्य का, इस स्थिर का और इस सत् के सार रूप सूर्य तपन पाता है। कारण कि वह दृश्य पदार्थों का सत साररूप है। परंतु वायु और आकाश अमूर्त्त, अमर, गतिमान और अपरिच्छिन्न अमर्याद है। उनका साररूप पुरुष सूर्यमंडल में है। क्योंकि वह अपरिच्छिन्न का साररूप है।

यही बात अध्यात्म विषय के संबंध में विचार से शरीर के **प्राण** और **आकाश** के अनेक सभी पदार्थ (अर्थात् उनकी तन्मात्राएं) मूर्त्त, मर्त्य, स्थिर और परिच्छिन्न हैं और उसका साररूप चक्षु-नेत्र हैं। कारण वह सत् का साररूप है। परंतु इस देह के अंदर रहे **प्राण** और **आकाश** ये अमूर्त्त, अमर, गतिमान और अपरिच्छिन्न हैं। उनके साररूप दायें नेत्र का पुरुष है। क्योंकि वह अपरिच्छिन्न के साररूप है। इसलिए सभी सत्य का सत्य ऐसा जो नामधेय वह, **प्राणा वै सत्यं तेषामेषसत्यम्,** अर्थात् प्राण यह सत्य है और उसका यह (ब्रह्म) सत्य है।

वृहदाराण्य और छान्दोग्य में वाणी, चक्षु, श्रोत्र, मन इन सभी में **प्राण** ज्येष्ठ-श्रेष्ठ है, ऐसा कहा है। अर्थात् कि मनुष्य वाणी, चक्षु, श्रोत्र, मन के बिना जीवित रह सकता है। परंतु प्राण के बिना जीवित नहीं रह सकता। मनुष्य जब सोता है तब वाणी, चक्षु, श्रोत्र और मन ये सभी प्राण में लीन होते हैं। प्राण ही सबसे ग्रास करता है। जैसे सूत की डोरी से बांधा हुआ पक्षी सभी दिशाओं में उड़कर कहीं आश्रय न पाकर वापस डोरी का आश्रय करता है। वैसे मन भी सभी दिशाओं में भटकने के बाद पतन होकर प्राण का ही आश्रय करता है। मृत्यु के बिस्तर पर पड़े हुए पुरुष की वाणी मन में लीन नहीं हुई है, मन प्राण में लीन नहीं हुआ है, प्राण तेज में और तेज परदेवता में लीन नहीं हुआ हो तब तक वह पहचान सकता है। परंतु मनुष्य की जब मृत्यु होती है तब उसकी वाणी, मन, प्राण के लिए और प्राण तेज में तथा तेज परदेवता में लीन होता है।

इस प्रकार अनेक वर्णन भिन्न-भिन्न दृष्टि से देखे जाते हैं, इन सभी का समन्वय करके इस स्थूल विश्व और हमारी देह इन दोनों का संबंध अर्वाचीन शास्त्र की दृष्टि से अब विस्तार से विचार करते हैं।

विश्व का कारण द्रव्य अर्थात् आकाशतत्त्व = ईथर

भारतवर्ष के प्राचीन तत्त्ववेत्ताओं तथा अर्वाचीन तत्त्ववेत्ताओं के मतानुसार अनुभव से सिद्ध हुए सिद्धांतों पर से ऐसा कहा है कि यह विश्व प्रकृति में से उत्पन्न हुआ है। इस प्रकृति में मुख्य दो घटक द्रव्य है। एक आकाश और दूसरा प्राण। जैसे कुम्हार मिट्टी से घड़ा बनाता है। वैसे पूरा स्थूल ब्रह्मांड आकाशतत्त्व में से उत्पन्न होता है। इस सृष्टि में जितने-जितने पदार्थ हम देखते हैं और जिसको-जिसको रूप, रस, गंध इत्यादि 24 गुण अथवा उसमें से एक अथवा सभी गुण हैं उनके विभिन्न आकाश नाम के द्रव्य में से उत्पन्न हुए हैं। पृथ्वी के आसपास 45 मील तक जो मोटा वातावरण है जिसको हम हवा कहते हैं वह हवा दूसरा ऑक्सीजन, हाइड्रोजन इत्यादि वायु; पानी, रस, तेल इत्यादि विभिन्न वायुरूपी और प्रवाही पदार्थ; सोने जैसी मूल्यवान धातु, मिट्टी जैसे हल्के पदार्थ, हीरा, माणिक इत्यादि मूल्यवान पाषाण यह सब आकाश द्रव्य में से ही उत्पन्न हुए हैं। पृथ्वी, चन्द्र, सूर्य, सूर्यमाला, अनन्त तारा और प्राणियों को बसने के लिए दे सके वैसे और उनको प्रकाश दे सके वैसे तेजस्वी गोले शनि, यूरेनस, नेपच्यून, बृहस्पति, मंगल, शुक्र, बुध आदि महान गोले ये सभी आकाशतत्त्व से उत्पन्न हुए हैं। अर्थात् उसके ही सभी कार्य हैं। सभी जड़ वस्तुएं हमारे सचेतन शरीर, वनस्पतियाँ और सृष्टि, विभिन्न खनिज पदार्थ इन सभी का उपादान कारण आकाश द्रव्य है। मतलब कि सभी दृश्य वस्तुएं आकाश से ही उत्पन्न हुई है। यह आकाशतत्त्व अमुक स्थान का नहीं है ऐसी कोई जगह नहीं है। इसलिए उसको सर्वगामी कहते हैं। इस आकाशतत्त्व का स्वरूप इतना सूक्ष्म है कि, वह जब अपने मूल स्वरूप में होता है तब हमारी स्थूल इन्द्रियों से नहीं जाना जा सकता है। आकाश जब स्थूल रूप धारण करता है तब ही मात्र हम उसको देख सकते हैं। आकाशतत्त्व के परमाणु इतने सूक्ष्म हैं कि हमारे स्थूल मन मात्र से कल्पना भी नहीं कर सकते हैं। उसको अंग्रेजी में **इथर** (Ether) कहते हैं। यह इथर पूरे विश्व में सभी स्थानों पर व्याप्त है। उसके बिना एक परमाणु भी रह सके ऐसी खाली जगह नहीं है। यह विश्व और तमाम पदार्थ आकाश द्रव्य के परमाणुओं के नियमों से बनें हैं। इन तमाम विश्व की पदार्थों अथवा सृष्टि उत्पन्न होने के पूर्व आकाश था। सृष्टि के प्रलय का अवसर आता है तब खनिज उद्भव प्राणीय पदार्थ अथवा धन, प्रवाही और वायुरूप द्रव्य ये आकाश रूप द्रव्य में मिल जाते हैं अथवा गल जाते हैं और अंत में आकाश प्रकृति में लीन होता है और फिर से नयी सृष्टि रचना होता है तब पुनः आकाश और उसमें से सभी चराचर वस्तुएं उत्पन्न होती हैं। मिट्टी से जैसे लाखों घड़े उत्पन्न होते हैं वैसे ही आकाश के परमाणुओं से पूरा 'स्थूल विश्व' उत्पन्न होता है।

विश्व का चालक द्रव्य अर्थात् प्राणतत्त्व (पावर, फोर्स)

अभी कहा कि विश्व जिस प्रकृति से उत्पन्न हुआ है, उस प्रकृति के दो अंश हैं। उसमें एक आकाशतत्त्व और दूसरा प्राणतत्त्व है। विश्व की उत्पत्ति का कारण रूप आकाशतत्त्व से है, इसके विषय में कहा है। विश्व को उत्पन्न होने के लिए दूसरे कारण की अपेक्षा है, वह कारण प्राण है। परमाणुओं का संयोग करना अर्थात् इकट्ठे करना, उनमें गति उत्पन्न करना, आकर्षण अर्थात् खींचने का बल उत्पन्न करना, विकर्षण अर्थात् फेंक देने का बल उत्पन्न होना, और देखना सुनना इत्यादि सभी गतिमान क्रिया **प्राणतत्त्व** द्वारा ही होता है। जहां-जहां गति है, वहां-वहां प्राण है। ऐसा निश्चित जाना है। उष्णता से उत्पन्न गति, गुरुत्वाकर्षण से उत्पन्न होती गति, आकर्षण और विकर्षण से उत्पन्न होती गति, हमारे शरीर में लहू बहने की गति, हृदय धड़कने की गति, नाड़ी चक्रों की गति और सोचने की गति, ये सभी गतियाँ प्राणतत्त्व रूप शक्ति के भिन्न-भिन्न स्वरूप हैं। इन सभी गतियों का उत्पत्ति स्थान प्राण है। परमाणु थोड़ा भी चलायमान (गतिमान) हो तो वहाँ प्राण ही है ऐसा यकीन से समझ लेना।

ध्वनि वेग एक सेकेंड में हवा में 1118 फीट, पानी में 4708 फीट और घन पदार्थ में 16800 फीट होता है। पृथ्वी अपनी दैनिक गति में हर सेकेंड में 1500 फीट के वेग से आगे बढ़ती है। चंद्र पृथ्वी के आसपास एक सेकेंड में 3250 फीट के वेग से घूमता है। पूरी सूर्यमाला एक सेकेंड में 511 मील के वेग से महान सूर्य के आसपास घूमती है। पृथ्वी अपनी कक्षा में उतने ही समय में 18 मील की वेग से चलती है। कुछ धुमकेतु एक सेकेंड में 235 मील के वेग से सूर्य के आसपास घूमते हैं। बिजली का करंट एक सेकेंड में 11040 मील के वेग से, प्रकाश का वेग 180000 मील के वेग से और 1/16 इंच मोटे तांबे के तार से बिजली की गति एक सेकेंड में 277100 मील की वेग वाला होता है और इन्द्रियार्थ संनिकर्षजन्य ज्ञान क्रिया का वेग एक सेकेंड में 2265120 मील की गति वाला होता है तथा आकर्षणशक्ति की गति और उसका तात्कालिक वेग के संबंध में जो शोध हुई है, उससे यह जान पड़ता है कि प्रकाश का जो वेग है उससे कम से कम पाँच करोड़ गुना वेग आकर्षणशक्ति का एकदम तत्कालीन होता है। विश्व की सभी प्रचंड शक्तियों का मूल उत्पत्तिस्थान **प्राणशक्ति** ही है।

पदार्थ विज्ञानशास्त्र में भी तमाम शक्तियाँ जैसी कि गुरुत्व, संलग्नत्व, अछिद्रत्व अवलंबनाकर्षण, उष्णता, प्रकाश, चुम्बकत्व, बिजली और स्फटिकीभवन शक्ति, ये सब **भौतिकशक्तियां** (फिजिकल फोर्सीस), रसायनशास्त्र में के सब मूल तत्त्वों में रही हुई अणुजनक शक्तियाँ और हर एक रसायनिक पदार्थों में रही हुई

तमाम **रसायनिकशक्तियाँ** (केमिकल फोर्सीस) और **सेन्द्रियशक्तियाँ** (ओरगेनिक फोर्सीस) की जिसमें वनस्पति की और प्राणी की हर एक जातियों में और मनुष्य में रही हुई हर एक प्रकार की शक्तियाँ गिनी जाती हैं, ये सब शक्तियाँ प्राण में से ही उत्पन्न होती है।

आकाश विश्व की उत्पत्ति का साधन है और **प्राण** उसमें अनेक आकार बनाता है अर्थात् आकाश द्रव्य को प्राण आकार देते हैं। दाल, चावल, लकड़ी इत्यादि सभी साधन हो परंतु रसोइया नहीं हो तो खाना नहीं बन सकता है। वैसे ही प्राण के बिना सृष्टि को रूप प्राप्त नहीं होता है। **आकाश** साहित्य-रसोई की सामग्री और प्राण रसोइया अथवा तो शास्त्रीय परिभाषा में बोले तो विश्व की उत्पत्ति होने में आकाश वह उपादान कारण और प्राण का निमित्त कारण है। जिस तरह आकाश सर्वगामी है उसी तरह प्राण भी है। प्राण आकाश को व्यक्त अथवा दृश्यमान स्वरूप देता है। प्राण नहीं होता तो आकाश को ऐसा स्वरूप प्राप्त नहीं हुआ होता, अतः इस तरह कि सृष्टि ही उत्पन्न हुई नहीं होती। मतलब कि विश्व सृष्टि की उत्पत्ति होने लगती है, उसके पूर्व प्राण सर्वत्र आकाश में संचरने शुरू होता है, तब ही इस स्थूल **सृष्टि का आरंभ;** प्राण और आकाश ये दोनों समान हो तब सृष्टि की स्थिति, और प्राण की प्रवृत्ति कम होती जाती है, तब **सृष्टि का लय** होता है, ऐसी व्यवस्था चलती है। सृष्टि का प्रलय होने का समय आता है, तब प्राण की प्रवृत्ति कम होती जाती है और सभी गतियां संकुचित होकर विश्व के **महाप्राण** में जाती हैं और प्राण स्वयं भी अंत में आकाश द्रव्य में गुप्त होता है। अर्थात् अन्तर्धान होता है और प्राण जब अन्तर्धान होता है तब सृष्टि का प्रलय होता है।

स्थूल विश्व के उपादान और निमित्त कारण पर अपनी सत्ता स्थापित करनी

प्राण जागृत होता है तब सृष्टि की रचना का आरंभ होता है, सृष्टि के आरंभ से अन्त तक जो महान काल व्यतीत होता है। उसको कल्प कहते हैं। कल्प के अंत में आकाशद्रव्य में प्राण गुप्त होता है। उस समय मात्र आकाश द्रव्य अतिशय स्थिर अवस्था में कुछ समय तक रहता है। आकाश और प्राण इन दोनों को आधुनिक पाश्चात्यतत्त्वज्ञ **मेटर** (Matter) और **मोशन** (Motion) कहते हैं और हमारे यहां द्रव्य और गति ऐसे नाम हैं। हमारे प्राचीन ऋषियों के सिद्धांत लगभग एक समान अर्थ के हैं। दोनों देश के और दोनों जमाने के तत्त्ववेत्ताओं के सिद्धांत सर्व मान्य हैं कि, आकाश का प्राण के साथ संयोग होता है तब सृष्टि का आरंभ होता है और दोनों का वियोग होता है तब सृष्टि का लय है। विश्व के मूल द्रव्यों का हमे ज्ञान होता है और प्राण जो विश्व को जन्म देनेवाला है, उसका कुछ काल तक पोषण करने

वाला और अंत में उसका अंत करने वाला है। तब यह सर्वशक्तिमान प्राण स्वरूप होने से उसकी अपनी सत्ता में आने से प्राणी सर्वशक्तिमान हो जाता है। योगशास्त्र के अभिप्राय के अनुसार यह केवल अनुमान नहीं है परंतु एक खास सिद्धांत है। मनुष्य से यदि प्राण साध्य हो तो सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान हुआ जा सकता है, इस बारे में योगी तो शंका करते ही नहीं है। प्राण जब हमारी सत्ता में आता है तब योगियों में कैसा असामान्य बल आता है? इसके बारे में आगे लिखा ही जाएगा।

इस तरह विस्तार से लिखा गया, उस पर से पाठकों को जानने में आया होगा कि, हमने जो इन अनेक तत्त्वों से, अनेक नामरूपों से भरपूर ऐसा जो विश्व देखते हैं वह आकाश और प्राण जो अन्न के पदार्थों के संयोग से उत्पन्न हुआ है। जो विश्व में अनेक, अनन्त अथवा अपार पदार्थ देखते हैं, परंतु मूल में वे अनेक अथवा अनंत यानी बहुत नहीं हैं। मात्र वे सब पदार्थ, आकाश नाम के महान् तत्त्व पर प्राण का संस्कार होने से ही अनंत हैं, बहुत हैं, ऐसा आभास (दीखता है) होता है और ऐसा है तभी विश्व का रम्य स्वरूप संभावित है। सोने के अलग-अलग तरह के हजारों गहने बनवाये तो भी मूल सोना तो एक ही होता है, उसी तरह इस विश्व के मूल में आकाश यह एक ही तत्त्व है। अग्नि के, हथियारों के और हमारी इच्छा के अनेक संस्कारों से सोने को पीट-पीटकर उस पर अनेक संस्कार (तपाना, ठोकना, चद्दर बनाना, तार खींचना, वगैरह) करने से सोने के जैसे अनेक प्रकार के घाट-स्वरूप गढ़े जाते हैं, उसी तरह प्राण के संयोग से और वियोग से विश्व को विविधता प्राप्त हुई है। मतलब कि, यह सारा ब्रह्मांड, हमारी इन्द्रियां, हमारा मन, हमारी बुद्धि ये सब आकाश के ही रूप हैं। मतलब कि यह स्थूल विश्व (सृष्टि) के घटकावयव दो हैं 1. आकाश और 2. प्राणतत्त्व।

ये दो जगह व्यापक अथवा विश्व व्यापक द्रव्यों का एक रूप करनेवाले परमात्मा सबके मूलबीज रूप में है। प्रकृति के दो अंश आकाश और प्राण, वे परमात्मा के अनेक अंगों में के दो मुख्य अंग हैं और वे विश्व को लागू होते हैं। आकाश और प्राण का एकीकरण (एकत्र) होने के लिए परमात्मा का हर एक शरीर में निवास है वही आत्मा कहलाती है। हमारे अंतःकरण में रही हुई शुद्ध आत्मा समाधि में पहचानी जाती है। समाधि के द्वारा आत्मा की पहचान हो तो प्राणतत्त्व का सारा बल हमारे हाथ में आ सकता है और हम सर्वज्ञ होते हैं और हमारी आत्मा परमात्मा के साथ मिल जाती है अथवा मोक्ष की प्राप्ति होती है। मनुष्य जाति का सच्चा पुरुषार्थ यही है। जगत् में अज्ञान के द्वारा जो अनेक दुःख उत्पन्न होते हैं। उनका उच्छेद करना, विश्व को स्थूल रूप देने वाले आकाश और प्राण यह जो दो मुख्य द्रव्य हैं, उनको हमारे चाकर-दास बना देना, सर्वज्ञता प्राप्त करना और हमारे विश्व बन्धुओं को दुःख

में से मुक्त करवाकर उनको भी मोक्ष प्राप्त करवा देना, यही सच्चा पुरुषार्थ है। यह पुरुषार्थ ज्ञान साध्य है और ज्ञान प्राप्ति के लिए प्राणायाम प्रथम सोपान है।

प्राण के मानसिक कार्य–तीन प्रकार के विचार व्यापार

प्रत्येक प्राणी मात्र में जो जीवन शक्ति है वह **प्राण** है। यह है, तो मानसिक और शारीरिक क्रियाएं चलती हैं। इन सभी क्रिया में उच्च क्रिया 'विचार व्यापार की' है और उस क्रिया के बारे में पुनः हम विचार करने लगे तो यह मालूम होगा कि उसमें भी कुछ भेद है। **अंगज्ञान**, हल्की जाति का विचार व्यापार है, इस ज्ञान से शरीर के अंदर के भाग की तमाम क्रिया चलती हैं। खजुलाहट होता हैं तब उस जगह हमारा हाथ एकदम चला जाता है। ऐसा अंग ज्ञान के कारण संभव होता है। अंगज्ञान से उच्च प्रकार का व्यापार **तर्कशक्ति** का है। इस शक्ति को कुछ सद्विवेक शक्ति या विचार शक्ति कहते हैं। अमुक बात सही है, अमुक बात गलत है ऐसा जब हम बात के विषय में बोलते हैं, इसके प्रमाणों पर विचार करते हैं, उसको मनन क्रिया भी कहते हैं। इस दृश्य विश्व जितना हम देख सकते हैं उन सबके बारे में विचार करने का और उसमें से ही अनुभव सिद्ध अनुमान उत्पन्न करने का जो बल रखते हैं सो इस मननक्रिया से ही मनुष्य जैसे-जैसे अपनी बुद्धि का ज्यादा उपयोग करता है, वैसे-वैसे उसके ज्ञान की मर्यादा बढ़ती रहेगी, यह स्पष्ट है। तो भी इस बुद्धि की कुछ मर्यादा है। इन्द्रियाँ मन की सहायता से जो अमुक प्रकार के अनुभव की खबर बुद्धि को अथवा तर्कशक्ति से देती है, उससे बुद्धि की सत्ता प्रदेश का आधार होता है। बुद्धि प्रदेश बहुत संकुचित है, उसकी मर्यादा अतिशय छोटी है। मनुष्य से बुद्धि के प्रदेश से उस तरफ जाया नहीं जा सकता। उस प्रदेश के जितने वर्तुल में यह दौड़ता है वह वर्तुल सचमुच बहुत छोटा है। तो भी कुछ सत्य बातें इस मंडल से प्राप्त हैं। हमारा चित्त बुद्धि की मर्यादा के दूसरी ओर जाने में सक्षम नहीं है, और यह सत्य बात बुद्धि की मर्यादा के उस ओर से होता है, जो सत्य है। बुद्धि के इस छोटे प्रदेश में जो अद्भुत चमत्कार देखे जाते हैं, उसके मूल कारण इस प्रदेश की अगम्य मर्यादा के होते हैं। इस अगम्य मर्यादा में विचार और बुद्धि का प्रवेश नहीं हो सकता है; परंतु योगी तो कहते हैं कि हमारे मन का तथा विचार और बुद्धि का प्रवेश उसमें हो सकता है। इस स्थिति को समाधि अवस्था कहते हैं। संपूर्ण एकाग्रता अथवा निरोध समय मनुष्य का मन, बुद्धि के प्रदेश की दूसरी तरफ जा सकता है और जितनी बातें अंगज्ञान और तर्कशक्ति से जान नहीं सकते वह सारी बातें मनुष्य के आगे प्रत्यक्ष आकर खड़ी रहती है। मनुष्य देह की तमाम सूक्ष्म शक्तियों का और प्राण के अलग-अलग रूपों को बाह्य विषयों के संबंध से ऊपर खींचकर आंतर विषयों की तरफ घुमाया जाए तो वे शक्तियाँ 'मन' को बुद्धि के अगम्य प्रदेश में धकेलते हैं और जहां शुद्ध ज्ञान का प्रदेश है वहां जाकर सभी कार्य करते हैं।

इससे भी प्राणायाम का महत्व जान पड़ेगा। कारण प्राण को कार्य रूप होते श्वासोश्वास का निरोध करने से ही 'मन' सर्वज्ञता के प्रदेश में जा सकता है।

विश्व का जड़तत्त्व और मन का स्वरूप

इस ब्रह्मांड में प्रत्येक प्राणी पदार्थ अपने-अपने वर्ग के साथ अखंड संवंध रखते हैं। बाह्यदृष्टि से सारा ब्रह्मांड ऐसा ही है। हमारे और सूर्य में कोई भी भेद नहीं है अथवा ऐसे कहें मेज और हमारे में कोई भेद नहीं है। मेज एक जड़त्व का बिन्दु है और हम भी जड़त्त्व के दूसरे बिन्दु की जैसे हैं, यह तमाम आकार जड़तत्त्व के अगाध महासागर के भँवरों के दिखते हैं, वह हमेशा अस्थिर होते हैं। जैसे किसी नदी में भयंकर बाढ़ आयी हो और उसका प्रवाह गंभीरता से चला जाता है, उसमें लाखों भँवर चक्कर-चक्कर घूमते रहते हैं। उसकी प्रत्येक भंवर गर-गर करके हरेक पल नए रूप में प्रकट होती जाती है और दूसरे तरफ से भंवर एक तरफ हटकर टूट के बाद में उसमें पानी के नए परमाणु आ जाते हैं। इसी प्रकार यह ब्रह्मांड प्रत्येक क्षण जड़तत्त्वों की अदला-बदली करता है। उसमें के अनंत भँवरों में से हमारा देह भी एक भँवर ही है। जड़तत्त्वों का समुदाय हम में प्रवेश करता है, गर-गर घूमते हैं, थोड़े समय तक मानव देह में फिरते हैं। फिर पुनः रूपांतर होकर किसी दूसरे ही आकार में (धारों की पशु, पक्षीरूप) घूम कर खनिज पदार्थ के गोले के रूप में पुनः भंवरा बनता है।

ऐसा क्रम निरंतर चलता रहता है। कोई भी शरीर शाश्वत नहीं है। कोई भी वस्तु शाश्वत नहीं है। वह तो मात्र जड़द्रव्य का एक-एक गोला है। चंद्र, सूर्य, मनुष्य, पृथ्वी, वृक्ष, धातु, भी एक गोला के रूप हैं, तो भी उसमें की कोई भी वस्तु स्थिर नहीं हैं। सभी नाशवान हैं। जड़द्रव्य का संयोगीकरण और पृथक्करण बनता ही रहता है। **मन** भी वैसा ही है। प्रत्येक जड़ पदार्थ अर्वाचीन पदार्थ विज्ञान के मतानुसार इथर से बने हैं। उनके ऊपर प्राण की क्रिया होने से वे इथर के अलग-अलग पदार्थ बनते हैं। यही क्रिया जब अतिशय सूक्ष्म प्रमाण में और अति वेग से बनते हैं तब उससे ही इथर का 'मन' बनता है और इसलिए इस मन का विश्व के प्रत्येक पदार्थ के साथ (सभी जड़ पदार्थ इथर के ही बने हैं इसलिए उसका) संबंध होता ही है। यह सूक्ष्म क्रिया यदि थोड़ी भी आपके हाथ में आ जाए तो उससे आप समझ सकते हैं कि यह सारा ब्रह्मांड इसी सूक्ष्म क्रिया से चलन-वलन द्वारा बना है।

विश्व का प्राणतत्त्व तमाम शक्तियों का मूल है

इस प्रकार जड़ विश्व में जैसे हम ऐक्य देखते हैं वैसे आत्मा स्वरूप में भी ऐक्य है। आत्मा सर्वत्र एक ही है, परन्तु प्रत्येक व्यक्ति परत्व उसमें भेद देखा जाता है। इस तमाम चैतन्य की दूसरी तरफ जो कुछ है वह एक है। इस दृश्य चैतन्य में भी एकता है। अर्वाचीन शास्त्र वेत्ताओं ने इसके सप्रमाण सिद्ध की है। वे कहते हैं कि

ब्रह्मांड की तमाम दृश्य या अदृश्य, व्यक्त या अव्यक्त, शक्तियों (फोर्स) की संख्या कुछ प्रमाण में होती है। उसमें बदलाव नहीं होता है। उन्होंने ऐसा सिद्ध किया है कि तमाम शक्तियां दो प्रकार की होती हैं। प्रथम प्रकार में वह आच्छादान प्राप्त, संचित हुई और स्थिर होती है, और वही पुनः क्रिया या गति रूप से व्यक्त-दृश्य होती है। इस प्रकार अनंत काल तक व्यक्त या अव्यक्त, दृश्य या अदृश्य होती रहती है और जब ये सभी व्यक्त अव्यक्त शक्तियां प्राण में से ही उत्पन होती है, तब इस प्राण पर सत्ता चलाने अथवा तो उसको आधीन करना आवश्यक है, उसको ही **प्राणायाम** कहते हैं।

बहुत से लोग ऐसा मानते हैं कि श्वासोश्वास का कोई एक विशेष प्रकार वह प्राण है। परन्तु ऊपर के विवेचन से ये झूठ है, वह स्पष्ट है। प्राण का संबंध मात्र श्वासोश्वास के साथ हो तो वह बहुत कम है। वस्तुतः जो सच्चा प्राण कहलाता है उसको अपनी सत्ता में लेने के लिए जो अनेक मार्ग है, उसमें का श्वासोश्वास की गति रोकना, यह मात्र एक मार्ग है। इस प्राण के ऊपर अपनी सत्ता बिठाने का मुख्य साधन श्वासप्रश्वास की गति के विच्छेद रूप प्राणायाम ही है। शरीर, मन और प्राण ये तीनों को स्वाधीन करना चाहिए। मन और शरीर, प्राण की सत्ता से अपने-अपने कार्य करने के लिए प्रेरित होते हैं। इसलिए प्राण का निरोध करने से दोनों हमारे हाथ में आ जायेंगे। यह बात स्पष्ट है। पिंड और ब्रह्मांड प्राण से भरपूर है। प्राण विश्व में विस्तरित एक महासागर है। ऐसा यदि कहें तो हमारे शरीर में रहने वाला जो प्राण, महासागर की अनंत लहरों में से एक लहर है। ऐसा कहेंगे तो गलत नहीं होगा। एक लहर अथवा मौज हमारी सत्ता में आ सकते तो हमारा शरीर और मन हमारी सत्ता में आ सकता है। और हमारे शरीर में रहा हुआ प्राण जो वास्तव में विश्व के प्राण की एक लहर रूप है उस अर्थ में उसे साध्य करने से विश्व प्राणरूपी महासागर को भी साध्य किया जा सके। उसमें जरा भी शंका कैसी? विश्व में की तमाम शक्तियाँ प्राण के ही भिन्न-भिन्न रूप हैं। जिसे प्राणतत्त्व का ज्ञान हुआ है, उसे ब्रह्मांड में की तमाम शक्तियों का ज्ञान प्राप्त किया ही जानना। फिर वे शक्तियाँ शारीरिक हो या मानसिक हो, जिसने प्राण पर सत्ता प्राप्त की है, उसने अपने मन पर और हमारे साथ में के हजारों लोगों के मन पर और शरीर पर भी सत्ता प्राप्त थी, ही ऐसा जानना क्योंकि प्राण ही ब्रह्मांड की तमाम शक्तियों का मूल है।

प्राण का शारीरिक स्थूल कार्य

श्वासोश्वास के साथ प्राणायाम का कोई संबंध है तो वह यही कि प्राण को हमारी सत्ता में लाने के लिए अभ्यास जारी रखना। मनुष्य देह में प्राण का अतिशय स्पष्ट और दृश्य स्वरूप यदि है वह फेफड़ों की हलचल है। यह यदि बंद हो जाए

तो शरीर छूटा ही समझो। उसकी क्रिया बंद हुई कि शरीर की तमाम शक्तियों के रूप भी बंद हुए समझो। कुछ योगियों ने ऐसी रीति का भी अभ्यास किया है कि फेफड़ों की क्रिया बंद हो जाए तो भी शरीर जीवित रह सकता है। कुछ तो ऐसे हैं कि अपने देह को जमीन में गाड़ कर और बिना श्वासोश्वास की क्रिया किए बिना कुछ महीनों तक रह सकते हैं। परंतु साधारण मनुष्य के शरीर में तो फेफड़ों की गति ही मुख्य है। अतिशय सूक्ष्म वस्तु के पास जाना हो तो प्रथम स्थूल वस्तुओं की मदद लेनी ही चाहिए और फिर हमें अतिशय सूक्ष्म वस्तु को जाकर मिलने तक आहिस्ता-आहिस्ता प्रवास करना चाहिये। शरीर की तमाम शक्तियों में प्रमुख शक्ति यदि है तो वह फेफड़ा ही है और वही पूरे शरीर को गतिमान रखने वाला महान् चक्र है और फेफड़ों की गति अपने आधीन हो सके तो वही सच्चा प्राणायाम है। उस शक्ति का श्वासोश्वास के साथ संबंध होता है। श्वासोश्वास कुछ उस शक्ति को उत्पन्न नहीं कर सकता। लेकिन उलट पक्ष से तो उस शक्ति से ही श्वासोश्वास उत्पन्न हो सकता है। साथ उसकी गति से नासिका द्वारा बाहर की हवा शरीर में खींची जाती है। हमारे शरीर में जो प्राण है वह फेफड़ों को हिलाता है और फेफड़ों की गति हवा को अंदर खींच लेती हैं इसलिए प्राणायाम श्वासोश्वांस नहीं है। परंतु फेफड़ों को हिलाने वाले जो स्नायु है उनकी शक्ति पर सत्ता करना है। जो शक्ति ज्ञानतंतुओं की स्नायु में जाती है, स्नायु से फेफड़ों में जाती है और उनको अमुक नियम से हिलाते हैं, वह जो ये सभी स्नायुओं की शक्ति वही **प्राण** है। इस महान शक्ति को प्राणायाम करके अपनी सत्ता में ला सकते हैं और यह जब हमारी सत्ता में आ जाता है, तब हमको तुरंत पता चल जाता है, शरीर की प्राण की तमाम क्रिया धीरे-धीरे हमारी सत्ता में आ सकते हैं। प्रख्यात स्वामी विवेकानंद कहते हैं कि "मैंने खुद ऐसे व्यक्ति देखे हैं जिन्होंने शरीर की तमाम स्नायु अपनी-अपनी सत्ता में लाए हैं और वस्तुतः क्यों नहीं आना चाहिए? किसी अमुक स्नायु के ऊपर जो सत्ता है वह चलने में सक्षम है तो शरीर की तमाम स्नायु और तमाम ज्ञान तन्तु के ऊपर चलने में सक्षम क्यों नहीं? उसमें असंभावित क्या है? अभी ऐसी शक्ति हम में नहीं है, यह शक्ति मंद पड़ गई है। अभ्यास से सब सिद्ध हो सकता है। हमारी इच्छानुसार हम अपने कान नहीं हिला सकते हैं, परंतु पशु तो हिला सकते हैं। ये शक्ति हम में नहीं है। कारण कि हम उसका अभ्यास नहीं करते हैं।"

प्राणतत्त्व का शरीर में पूरक करना और मलीन सत्व का रेचन करने से रोगादि का दूर होना

इस बात को सभी जानते हैं कि गुप्त शक्ति हो तो उसको पुनः प्रकट रूप में ला सकते हैं और अतिशय अभ्यास तथा परिश्रम से मनुष्य देह की कुछ अतिशय गुप्त

शक्ति को पुनः सत्ता में ला सकते हैं। प्राणायाम के दृढ़ अभ्यास से सब साध्य है। प्राणायाम करते समय जब श्वास अंदर खींचा जाता है तब, शरीर के सभी भाग ब्रह्मांड के प्राण सत्त्व से पूरा करना होता है, न कि मात्र स्थूल हवा से पूरा करना होता है। प्राण का पूरक करते समय बाहर की वायु ही मात्र नहीं ली जाती परंतु विश्व का जीवनतत्त्व अर्थात् प्राण सत्व ही लिया जाता है और रेचक करते समय शरीर के तमाम भाग के मलीन सत्वों को डाल दिया जाता है। इस प्रकार प्राणायाम करने से शरीर पर सत्ता चला सकते हैं। तमाम व्याधियों और दुःखों पर भी विजय प्राप्त कर सकते हैं। जगत् की प्रत्येक वस्तु संसर्गजन्य या संबंध वाली है। फिर वह अच्छी हो या बुरी। यदि आपके शरीर में कोई विकार है तो वह विकार दूसरे के देह में उत्पन्न करने के गुण इनमें आ जाते हैं। उसे निरोग और मजबूत करने के लिए आपके आसपास दूसरों को मजबूत और निरोग रख सकेंगे। आपके आरोग्य की लहर जैसे दूसरे के शरीर में जा रही है, उसमें जैसा हो। एक मनुष्य दूसरे मनुष्य को ठीक करने का प्रयत्न करे तो उसका प्रथम कार्य यह है कि मात्र अपना आरोग्य उसको देता है। अतिशय बलवान मनुष्य यदि अतिशय निर्बल के साथ में रहेगा तो वह योग सिद्ध खड़ा होगा। फिर ये बात उसके जानकारी में आवे या न आवे, लेकिन वह क्रिया यदि समझ कर की जाए तो विशेष फायदा होगा और दूसरी बात ऐसी है कि कोई मनुष्य खुद मजबूत और हृष्ट-पुष्ट होता, ऐसा भी नहीं होता है तो भी दूसरे की तबियत अच्छी कर सकता है, यह बात हम प्रत्यक्ष बहुत बार देखते हैं। ऐसा बनता है तब प्रथम के मनुष्य के प्राण के ऊपर ज्यादा सत्ता होती है, जिससे उस समय अपने प्राण तत्त्व को इस अमुक आंदोलनात्मक स्थिति में आते हैं और फिर वह स्थिति वे दूसरे को देते हैं।

श्रद्धा-विश्वास का और प्राणतत्त्व का परस्पर सम्बन्ध

कुछ प्रयोग ऐसे भी हैं जो कि खुद अंतर से किये जाते हैं, कारण, जिस पर प्रयोग करना है, वह पदार्थ और प्रयोग करने वाला व्यक्ति इन दोनों के बीच में महान अंतर होता है। सूर्य और हमारे बीच में खाली जगह है, ऐसा बहुत लोग मानते हैं, पर ऐसा नहीं है। दोनों के बीच में जड़तत्त्वों का प्रचंड महासागर है। इस महासागर के एक सिरे पर हम रहते हैं और दूसरे सिरे पर सूर्य है। नदी के एक भाग से दूसरे भाग तक थोड़ी भी खाली जगह नहीं होती, दोनों भाग के बीच पानी भरपूर होता है। विश्व में यही स्थिति है, तो फिर कोई अमुक शक्ति एक स्थान से दूसरे स्थान तक स्थलांतर करने में क्या अड़चन है? ऐसा होने में कोई विरुद्ध प्रमाण नहीं देखा जाता है। प्राणतत्त्व चाहे उतने अंतर से प्रवास-स्थलांतर कर सकता है। यह बात सत्य है। यही बात अपने रोग के बारे में सोच सकते हैं। जगत् में ऐसा कोई रोग नहीं है जो जगत् के तमाम मनुष्यों का संहार कर

सके। हैजा और दूसरे भयंकर उपद्रवों में सेकेंड में 60 मनुष्यों की मृत्यु होती है। फिर वह प्रमाण कम-कम होता जाता है। 30 या 20 होता जाता है और दूसरे अच्छे होते जाते हैं और ऐसे में कोई होमोपैथिक डॉक्टर अपनी दवा देकर सबको ठीक कर देता है। क्योंकि होमोपैथिक पद्धति ऐसी है जो मरीज को कोई नुकसान नहीं पहुँचाती है, परंतु स्वाभाविक रूप से आराम देती है। इन दोनों प्रकार के डॉक्टरों में से कोई सिद्ध या मांत्रिक आकर कुछ मंत्र-तंत्र करके, मात्र श्रद्धा से ही हजारों लोगों को ठीक कर देते हैं। तब श्रद्धा मात्र से ही रोग ठीक कर सकने वाले डॉक्टर इन सब से विशेष अच्छे हैं यह स्पष्ट है। क्योंकि वे रोगियों के रोग सहन करने की शक्ति बढ़ाते है और ऐसा करने से रोगियों के प्राण गुप्त होते हैं, वे श्रद्धा द्वारा उन्नति बढ़ाते है परन्तु श्रद्धा उत्पन्न कर वे रोग को हमेशा के लिए खत्म करने की भूल करते है। वे तो यह मानकर चलते हैं कि मात्र विश्वास ही मनुष्य को ठीक करता है। ऐसा ही हो तो, मात्र श्रद्धा से किसी रोगी को आराम नहीं भी होता। कुछ रोग के लक्षण अतिशय खराब होते हैं। वे ऐसे कि रोगी को रोग हुआ है कि नहीं यह समझ में नहीं आ सकता। ऐसे प्रसंग पर उसके अंतःकरण में श्रद्धा यही मुख्य रोग होता है और अधिकतर त्वरा से मरण की तैयारी उसी से होती है। इस बाधा से मात्र श्रद्धा-विश्वास से कुछ भी आशय नहीं होता, परंतु उस समय रोगी को बड़ी हिम्मत देने वाला कोई मिले, और ऐसी श्रद्धा उत्पन्न कराने वाला कोई मिले तो वह रोग मैं अभी अच्छा करता हूँ तो वैसा करने से रोगी शायद अच्छा भी हो। यह गुण श्रद्धा से नहीं परंतु प्राण से ही आता है। इस प्राण पर सत्ता चलानेवाला पवित्र मनुष्य प्राणतत्त्व को एक विशिष्ट आंदोलन के रूप में लेते हैं और इस आंदोलन से उत्पन्न होती लहरें दूसरे मनुष्य के अंदर डाल सकते हैं। यह बात हम बहुत बार स्पष्टता से देख सकते हैं। वह ऐसे कि कोई वक्ता श्रोता के समक्ष भाषण करता है। यदि उसका भाषण आवेश वाला है तो श्रोता भी आवेश में आ जाते हैं और यदि उसका भाषण नरम है तो श्रोता का मन भाषण की तरफ आकर्षित नहीं होता है। तब वक्ता अपना मन कुछ प्रकार की आंदोलन स्थिति में लाता है और उस स्थिति में श्रोता पर जैसे-तैसे ज्यादा असर करके यशस्वी बनने का प्रयत्न करता है।

वास्तव में तो इच्छामात्र से जगत् की उथल-पुथल करने वाले महात्मा जगत् की महान् इच्छाशक्ति के रूप ही है। वे अपने प्राण अति ऊँचे प्रकार की तरंगों द्वारा खूब उच्च प्रदेश में फैलाने की शक्ति रखते हैं और इतने विशाल और शक्तिशाली होते हैं कि एक ही क्षण में दूसरे को अपने काबू में कर लेते हैं। उस शक्ति की ओर हजारों (व्यक्तियों) के प्राण खींच आते हैं, और आधा जगत् वह

महात्मा जो कुछ करता है, सोचता है और कहता है, उस संबंध में सोचता रहता है। जगत् के महान भविष्यवादी प्राण पर सत्ता चलाने की अद्‌भुत शक्ति रखते हैं। यह शक्ति उनको विलक्षण इच्छाशक्ति द्वारा प्राप्त होती है। उन्होंने अपना प्राण गति की उच्च स्थिति में लाया होता है। वही दिव्य शक्ति से सारे जगत् पर अमल विजय प्राप्त की जा सकती है। शक्ति के तमाम रूप इस सत्ता में से ही उत्पन्न होते हैं। उनमें से गुरु भेद वाली चाबियाँ मनुष्य के लक्ष्य में आ नहीं सकती, लेकिन ऐसा माने वगैर ऊपर की किसी भी बात का खुलासा हो नहीं सकता। कभी-कभी हमारे शरीर में प्राण का संग्रह कम या ज्यादा होता है और समतोल स्थिति का भंग होता है। ऐसी स्थिति होने पर जिसे हम रोग कहते हैं, उसकी उत्पत्ति होती है। यदि प्राण की वृद्धि बहुत हो तो उसे कम करने से और यदि कम हो तो अधिक करने से रोग की शांति होती है। तब अब समझ में आएगा ही कि शरीर के किस भाग में प्राण कम हुआ है और किस भाग में अधिक हुआ है, यह जानना उसका ही नाम प्राणायाम। इस स्थिति के समय ज्ञान इतना सारा सूक्ष्म हो जाता है कि मन को पाँव के, हाथ के या किसी भी अवयव में प्राण कम है या ज्यादा यह जान सकने की सत्ता आती है और उसके अनुसार उस-उस स्थान में प्राण की पूर्ति कर सकने का बल प्राप्त होता है, प्राणायाम में जो अनेक फायदे समाविष्ट हैं उनमें का यह मुख्य है। भगवान पतञ्जलि के राजयोग का मुख्य उद्देश्य भी ऐसा ही है कि प्राण की अनेक क्रिया में के भेद परखकर उस पर सत्ता चलाना सीखना। कोई भी मनुष्य अपने प्राण का मालिक कब हो सकता है? अर्थात् वह जब अपने मन और शरीर में की तमाम शक्तियों को प्राणायाम करके एक बिंदु में लाकर अपने प्राण का स्वामी बन सकता है।

प्राणायाम से इच्छाशक्ति और क्रियाशक्ति का वेग बढ़ा सकते हैं

महासमुद्र के मध्य भाग में पर्वत जैसे लहरें उत्पन्न होते हैं। जैसे-जैसे किनारे की तरफ आते हैं, वैसे-वैसे इन लहरों का कद छोटा होता जाता है, और अंत में तो असंख्य सूक्ष्म बुलबुलों के रूप में आ जाते हैं। परंतु इन छोटे-बड़े बुलबुलों का मुख्य आश्रय कौन है? अर्थात् समुद्र। बुलबुले समुद्र के एक किनारे की तरफ होते हैं और पर्वत जैसे लहरें समुद्र के मध्य भाग में (अर्थात् दूसरी तरफ जुड़े हुए) होते हैं, इसी प्रकार कोई महान भव्य अथवा दिव्य मनुष्य हो, दूसरा हल्का मनुष्य हो, ये दोनों उन बुलबुले और लहरों के रूप में होते हैं, तो वह प्रत्येक, इस विश्व के अगाध अपार चैतन्यमहासागर से जुड़े हुए हैं। यह सर्वसामान्य हक प्रत्येक प्राणी को जन्म से प्राप्त है। उस प्राणी के आसपास अगाध और विस्तीर्ण चैतन्य महासागर भरपूर हैं। परमाणुओं को मात्र सूक्ष्मदर्शी यन्त्र से देख सकते हैं।

लहरों ने आकर्षण किया, जो अगाध चैतन्य सागर में से सतत खींच-खींच के पूर्व का आकार बदल-बदल के कालान्तर में वनस्पति फिर जानवर, फिर मनुष्य और अंत में परमेश्वर रूप बनता है। परंतु ऐसा करने में इन परमाणुओं को करोड़ों युगों तक प्रयत्न करना पड़ता है। वनस्पति से उस परमेश्वर तक पहुंचने का अंतर यद्यपि इस तरह बहुत है, तो भी यदि उसका वेग (गति) बढ़ाया जा सके तो वह अंतर अधिक नहीं है। योगी तो कहते हैं कि जो कार्य जितनी शक्ति से संपूर्ण करने में अधिक समय लगता है, वह कार्य यदि उससे दुगुनी, तीन गुनी या चार गुनी शक्ति से किया जाय तो उनकी गति से थोड़े समय में संपूर्ण होगा, यह स्पष्ट है, उसके अनुसार यदि कोई साधक विश्व में के अस्तित्व में रहे हुए अपार जड़तत्व के समुद्र में से वह चैतन्य यदि धीरे-धीरे आकर्षण करके आगे बढ़ सके तो, देव की पंक्ति में आने के लिए उसे सेकेंड़ों या हजारों वर्ष चाहिए, उससे भी उच्च पंक्ति में पहुँचने में पांच हजार वर्ष चाहिए और पूर्ण (परमेश्वर) स्वरूप में पहुंचने के लिए शायद 50 लाख वर्ष भी चाहिए, परंतु यह प्रयत्न अतिशय प्रबल इच्छाशक्ति से किया जाए तो थोड़े समय में बल के 10 वर्ष में या मात्र 6 मास में इस स्थिति को क्यों प्राप्त नहीं हो? इसके लिए कोई गणना नहीं कर सकते हैं कि कुछ वर्ष या समय चाहिए। इंजन 5 मन कोयले से उत्पन्न होने वाली उष्णता के बल से दो घंटे में अमुक मील तक जा सकता है, उसी इंजन में 10 मन कोयले डालकर चलाएँ तो एक ही घंटे में उतने मील जा सकेगा। उसी तरह कोई जीवात्मा अपनी क्रिया का वेग (गति) प्रबल इच्छा शक्ति से अपनी संपूर्णता चालू जन्म में ही क्यों न प्राप्त कर सके? और आखिर तमाम प्राणी वह पूर्णता प्राप्त करेंगे यह तो सब जानते ही हैं। लेकिन वैसा होने के लिए करोड़ों युगों जितना महाकाल चाहिए और इतने सारे समय तक कौन राह देखकर बैठे? वर्तमान देह में, इस मनुष्य योनि में ही मुक्ति की प्राप्ति में क्या बाधा है? उस स्थिति का अपार ज्ञान और अगाध शक्तियाँ वर्तमान अवस्था में ही हम क्यों न प्राप्त कर सकें?

योगी की दृष्टि तो अपनी जिंदगी की सफलता और तमाम योगशास्त्र की प्रवृत्ति उसमें ही समायी है और योगशास्त्र यही सिखाता है कि अपनी प्रबल इच्छाशक्ति को बढ़ाकर जिस मुक्ति को प्राप्त करने के लिए अनंत काल चाहिए; वह इसी जन्म में ही प्राप्त करनी और उसको आवश्यक उतनी शक्ति बढ़ाकर, इस असंपूर्णता के एक सिरे से संपूर्णता के दूसरे सिरे तक इस मनुष्य देह में ही जल्दी से आ पहुँचना। प्राचीन काल के महान भविष्यवादी, योगी और साधु अनंत काल की राह देखे बिना इस जन्म में ही संपूर्णता को प्राप्त किया और उन्होंने एकाग्रता के हथियार से प्रबल इच्छाशक्ति से प्रबल क्रिया बढ़ाकर, इस महा मार्ग की मुसाफरी वे जल्दी से प्राप्त कर सके। राजयोग यह बात हमें सिखाता है।

अध्यात्मशास्त्र के साथ प्राणायाम का सम्बन्ध

अध्यात्मशास्त्र के साथ प्राणायाम का संबंध है। मरने वाले की जीवात्माएं अस्तित्व में होती हैं, यह बात सच है (मात्र इतना ही नहीं कि वे हमको देख नहीं सकते हैं) तो ये भी सत्य है कि उनको हम देख, सुन नहीं सकते और उनको स्पर्श नहीं कर सकते, ऐसे हजारों-लाखों मरने वालों की आत्माएं होंगी। हम उन देह में से आते जाते हैं और ये भी संभावित है कि ये भी हमें देख सुन और स्पर्श नहीं कर सकते हैं। अर्थात् एक वृत्त में दूसरा वृत्त या एक ब्रह्मांड में दूसरा ब्रह्मांड होता है। हमारी पाँच ज्ञानेन्द्रियां हैं और हमारा प्राण जो अमुक चैतन्य स्थिति वाला है उसी चैतन्य स्थिति वाले तमाम प्राणी एक दूसरे को देख सकेंगे। परंतु जो प्राणी अपना प्राण उससे ऊँची जात के चैतन्य से स्पष्ट-व्यक्त करते होंगे उन प्राणियों को हम नहीं देख सकते। अतिशय तीव्र प्रकाश के सामने हम नहीं देख सकते परंतु कुछ प्राणी तीव्र प्रकाश में देख सकते हैं और कुछ अतिशय मंद प्रकाश में भी देख सकते हैं। हमारी दृष्टि की मर्यादा पर उस प्राण के मौजे की एक परत है। उदाहरण के तौर पर जैसे समुद्र में जैसे-जैसे गहराई में जाएंगे वैसे-वैसे पानी ज्यादा गाढ़ा होता जाता जाएगा और जो प्राणी समुद्र के तल में रहते हैं यदि वे सतह पर आएंगे तो ऊपर के हलके पानी के कारण तुरंत उनकी मृत्यु हो जाती है।

कल्पना कीजिए कि प्राण की सत्ता में जो चैतन्य है उसमें इन सारे ब्रह्मांड जड़द्रव्य का अथवा तो ईथर का एक समुद्र है और उस चैतन्य के चढ़ते-उतरते दर्जे वाली मोटी परतें एक दूसरे पर हैं जो परतें अधिक बाहर हैं उतने छेक पतले-पतले और जो परतें मध्य स्थान के पास की हैं वे अधिकाधिक मोटी घन होती जाती है एक-एक चैतन्य को समूह की एक-एक परत बनी हैं। कल्पना करें कि, तमाम वस्तुएँ एक-एक वर्तुल हैं, और परिपूर्णता उनका मध्य बिंदु है। बाहर से मध्य बिंदु की तरफ जैसे-जैसे जाएँगे वैसे-वैसे अधिक पतले या मोटे और मध्य बिन्दु से जैसे बाहर आते जाएँगे वैसे-वैसे अधिक मोटे या पतले आंदोलन, तरंग देखने में आएँगे। उस वर्तुल का बाह्य कवच जड़तत्व का है। मन और आत्मा मध्य बिंदु है। फिर कल्पना करें कि इस दृश्य तत्व की कड़ियाँ काट डाल कर उसकी परत बनायी। एक-एक परत लाखों मील के विस्तार वाली होने से अमुक प्रकार के चैतन्य मील के विस्तार वाली होने से अमुक प्रकार के चैतन्य भी है। उस परत पर उसके ही जैसी दूसरी परत उससे ऊँचे प्रकार के चैतन्य की है, प्रथम की तरह लाखों मील के विस्तार वाली है, और उसी प्रकार सारी रचना है। इस पर से यह तो निश्चित है कि एक तरह के चैतन्य में बसने वाले प्राणी परस्पर को पहचान सकेंगे, परंतु उसी स्तर के नीचे के या ऊपर के स्तरों में के प्राणियों को पहचान नहीं सकेंगे। तो भी दूरबीन से या सूक्ष्मदर्शकयंत्र की मदद से हम अपनी

दृश्य शक्ति बढ़ा सकते हैं और ऊँचे प्रकार के या नीचे प्रकार के चैतन्य में भी शोध कर सकते हैं। उसी तरह हर एक मनुष्य ऊँची या नीची परत वाले चैतन्य की स्थिति में अपने प्रयत्न से आ सकता है और उसमें क्या-क्या बन सकता है वह भी जान सकता है। कल्पना करें कि जिस कमरे में हम बैठे हैं उस कमरे को हम सही आँख से देख नहीं सकते, ऐसे सूक्ष्म प्राणियों से पूरी तरह भरा है। वे प्राणी किसी अमुक प्रकार के चैतन्य वाले प्राण के स्वरूप हैं और एक दूसरे प्रकार के चैतन्य वाले प्राण के स्वरूप हैं और यह सोंचे कि वे अधिक बुद्धिमान हैं और हम मंद हैं। वे जिस तरह के प्राण के बने हैं उस तरह हम भी प्राण के ही बने हुए हैं। प्राण समुद्र के ही वे सब विभाग हैं, मात्र चैतन्य की जाति में फर्क होता है। मैं यदि उस बुद्धिमान चैतन्य में जा सकूँ, तो उनमें की परत मेरे लिए बदल जाएगी। फिर मैं आपको देख नहीं सकूँगा, आप गुप्त होंगे और उस परत में के प्राणियों को मैं देख सकूँगा। तब चैतन्य की ऊँची स्थिति में मन को ले जाने के सब प्रकारों के लिए योगशास्त्र में एक ही शब्द है। उसे समाधि कहते हैं। चैतन्य की ऊँची स्थिति या मन के परिपूर्ण ज्ञान की स्थिति, उन सबका समावेश समाधि शब्द में ही हो सकता है। हम सब समाधि की छेक नीच पंक्ति में है, अतः हम उन बुद्धिमान प्राणियों को देख नहीं सकते। समाधि की ऊँची स्थिति में सत्य वस्तुओं का ज्ञान होता है, उसके साथ उन बुद्धिमान प्राणियों का दर्शन भी कर सकते हैं। इस पर से जान सकेंगे कि प्राणायाम में सच्चा अध्यात्मशास्त्र समाविष्ट है। प्राण मानसिक शक्ति का स्वरूप है, अतः मानसिक शक्ति से ही उसे अपने अधीन लाया जा सकता है। प्राणायाम का जो भाग, शारीरिक साधनों से, प्राणियों को शारीरिक स्वरूपों पर सत्ता चलाने में आता है उसे ही वैद्य शास्त्र कहते हैं, और जो भाग मानसिक शक्ति द्वारा प्राण के मानसिक स्वरूपों पर सत्ता चलाने में साधन भूत होता है उसका समावेश योग विद्या में किया जाता है।

प्राण ही शरीर सम्पत्ति है

इन सभी से यह जान पड़ता है कि हमारे शरीर का मुख्य आधार प्राण ही है। जिसको जीव कहते हैं, वह पूरे लिंगदेह का समग्र नाम है और उसका मुख्य भाग प्राण है और उससे ही स्थूल शरीर में चलन-वलन आदि व्यापार बनते हैं। शरीर के अवयव यथार्थ कर्मों में प्रेरित करना, लहू शुद्ध रखना तथा उन सबके द्वारा मन भी स्वच्छ रखना, यह सब प्राण का काम है। प्राण अपनी स्वाभाविक गति छोड़कर जैसे-तैसे चलने लगता है और उसमें तत्त्वों के विवर्त से विक्रिया होती है इससे ही रोगोत्पत्ति होती है। मनुष्य का बल पराक्रम जो वीर्य शब्द से बोले जाते हैं वह प्राणशुद्धि से ही बनता है। इसलिए **प्राण विक्रिया** से वीर्य का भी भंग होता है। प्राण निरंतर शुद्ध रहे इसलिए बहिरंग तथा अंतरंग साधन खोजे जाते हैं। स्थान, पान,

भोजन, विहार इत्यादि नियम बहिरंग साधन हैं तथा प्राणायाम, स्वरशास्त्र, विचार, सात्त्विकता, ध्यान, उपासना आदि ये अंतरंग साधन हैं। इस तरह सोचते हुए तो केवल स्थूल देह को संभालने से तो लिंगदेह की भी प्राणशुद्धि द्वारा योग्य ध्यान रखकर, निरोगी रखना उतना नहीं परंतु उसमें की गुप्त आध्यात्मिक शक्तियों को उत्तेजित करके उसको परमानंद तक पहुंचाना, ये सभी का रहस्य तत्त्व है। विश्व व्यवस्था ही ऐसी है कि ब्रह्मांड के ग्रहोपग्रहादि के प्राण द्वारा पिंड का प्राण यथार्थ चलता है, परंतु उसको मनुष्य विक्रिया कर बिगाड़ देता है इसलिए शास्त्र मात्र की प्रवृत्ति प्राण को अपने स्वभाव में स्थापित करने पर है। उसमें कुछ विक्रिया या सुधार करने पर नहीं है। जिस रोगी के प्राणक्रम में गड़बड़ हो गई हो उस रोगी को प्राणविनिमय बहुत अच्छा असर करता है। प्राणविनिमय से विकृत प्राण संस्कार पाकर शुद्ध हो जाता है। यानि प्रकृति सुधरती है। केवल स्थूल देह को लगे व्याधि से लिंगदेह को लगे असाध्य व्याधि जैसे कि बाई, हिस्टीरीया, मुर्छा इत्यादि में प्राणविनिमय खुद जल्दी से और चमत्कारिक गुण करता है, यह सुविदित हैं।

प्राण का मुख्य हिस्सा शरीर में कहाँ है?

प्राण का शरीर के मुख्य स्थान चेतन ज्ञानतंतुओं में रहे पानी जैसे सूक्ष्म पदार्थ के साथ है और सिर के तथा मेरूदंड के भाग में उसका मुख्य भंडार है। प्राण की स्थिति शरीर मात्र में है और उसका मूल स्थान लिंगदेह में है यानि पश्चिम के विद्वान कहते हैं, ज्ञान तंतुओं में रहने वाले स्वच्छ पानी जैसे पदार्थ में है। पीठ की मेरूदंड के भाग में उसका बड़ा हिस्सा है और गरदन तथा सिर की सन्धि पर जहां मस्तिष्क का भाग-**ब्रह्मरंध्र** है वहां उसका मुख्य स्थान है। इस प्राण का चेतना उत्पन्न करने वाले ज्ञानतंतुओं के साथ निकट संबंध है, यह ज्ञानतंतु मस्तिष्क और पीछे की रीढ़ में अनुक्रम से 12 और 31 निकलते हैं। उसमें के कुछ बाहर के पदार्थों का ज्ञान मस्तिष्क को देते हैं। उनको **ज्ञानतंतु** कहते हैं और वह ज्ञान दिमाग में पहुँचने के बाद उसके अनुसार क्रिया या गति का काम करने वाले ज्ञानतंतुओं को **क्रियातंतु** कहते हैं। इस तरह **ज्ञान** और **क्रिया** को ले जाने वाले और लाने वाले ये ज्ञानतंतु पूरे शरीर में रहकर इच्छा, लगाव, तर्क, वितर्क, संस्कार, भावना, क्रोध इत्यादि व्यापार चलाते हैं। क्रियातंतु पीठ की रीढ़ में रही रस्सीनुमा स्नायु के दोनों ओर जुड़े होते हैं, वह (1) कंठ, (2) हृदय, (3) जठर-होजरी, (4) आंतें और (5) मलमूत्र स्थान। इन पाँचों स्थान में बंटकर उसके उन भागों में चक्ररूप से बँटकर उन-उन स्थानों में बह रही लहू की धमनी, शिरा और स्नायु इन तीनों के साथ जुड़कर शरीर की क्रिया चलाते हैं। ज्ञानतंतु का चक्र कंठ भाग में है, उसको **विशुद्धिचक्र** कहते हैं, हृदय के भाग में जो तंतु है उसको **अनाहत चक्र** कहते हैं, जठर के तन्तु चक्र को **मणिपूरक चक्र**

कहते हैं, आतों के तन्तु भाग को **स्वाधिष्ठानचक्र** कहते हैं और मलमूत्र (गुदास्थि) स्थान में जो तंतु जालरूप में हैं उसको **मूलाधार चक्र** कहते हैं। मस्तिष्क के ज्ञानतंतुओं के जाले में से सूक्ष्म तंतुचक्र बना है। (यानि मस्तिष्क के बीच का भाग है) उसको **सहस्रारचक्र** कहते हैं।

मनुष्य के बल, पराक्रम, बुद्धि, ज्ञान इन सभी का एक नाम वीर्य भी है। उस वीर्य को योग्य रूप से स्थापित करने वाला प्राण है। जड़पदार्थ तथा चैतन्यवाले पदार्थ में प्राण है, यह पूर्व में कहा जा चुका है, पूरी सृष्टि से प्राण है, हवा, ग्रहोपग्रह, पृथ्वी ये सभी अपने-अपने प्राण से भरपूर हैं, पृथ्वी को अपनी उष्णता द्वारा प्राण देने वाला महान् सूर्य इस प्राण का मुख्य स्थान है। उसमें से ही प्राण का निरंतर प्रवाह चालू रहता है और उससे समग्र पृथ्वी प्राणवाली बनती है। चंद्र में से भी ऐसा ही प्रवाह निकलकर विश्व का पोषण करता है। परंतु सूर्य प्राण गरम है, चंद्र प्राण शीतल है, दिन को सूर्य प्राण का प्राबल्य रहता है और रात्रि को चंद्र प्राण का प्राबल्य होता है। मनुष्य के शरीर में जो प्राण है उसका संबंध इस सूर्य चंद्र प्राण के साथ होता है। इस प्राण की अवस्था मनुष्य शरीर में अमुक समय कैसी है वह उसके दायीं और बायीं नासिका से आते-जाते श्वासोश्वास की गति या स्वर के अनुसार सूर्य या चंद्र स्वर के से जान सकते हैं। यह प्राण मनुष्य के शरीर में या सभी सृष्टि में अकेला ही है, ऐसे नहीं समझें। उसके साथ दूसरे तत्त्व भी मिले हुए हैं। उससे ही शरीर बना है और जैसे प्राण का प्रवाह शरीर में चलता है वैसे अमुक-अमुक समय अमुक-अमुक तत्त्व का बल भी शरीर में प्रधान होता है। विशेष, आचार या विचार से मनुष्य का मन या शरीर या चलन-वलन मिले ऐसे आचार-विचार के अनुसार अमुक-अमुक तत्त्व की प्रवृत्ति बढ़ने-घटने लगती है। और प्राण में जुदे-जुदे रंग मालूम होने लगते हैं। इस तरह के प्राण की जो छाया शरीर के बाहर कम ज्यादा सर्वदा दीखती रहती है, उस पर से अमुक मनुष्य की कृति, गति, रीति उन सबका ज्ञान उस छाया को देखने की जिसे शक्ति हो वह मालूम कर सकता है, और उसके अनुसार ही ऐसे लोगों का संसर्ग करता है, या नहीं करता है। सूर्य, चंद्र अन्य ग्रह तथा सारी सृष्टि में भी तात्विक परितर्वनों से प्राण के जो-जो रंग होते हैं, उन पर से महात्मा लोग सारे विश्व का भी भविष्य समग्र रूप से कह सकते हैं। शरीर में रोग की उत्पत्ति होना ये भी प्राण में विकृति होने से यानि जिस समय जो प्रवाह होना चाहिए वह नहीं होने से होती है। इसलिए मनुष्य के तन-मन इस सभी का आरोग्य रखनेवाला प्राण ही है और प्राण की रचना तथा उसको चलाने की रीति और उसके ऊपर सत्ता चलाके उपयोग में लाने वाला योगशास्त्र ही मुख्य है, यह सब ऊपर कहा जा चुका है।

प्राण में मुख्य गुण आकर्षित करने का है। वस्तु, विचार, हवा सभी को

आकर्षित कर सकता है, फिर जिसका वह प्राण है उसका जैसा बल है किसी के प्राण रोग को आकर्षित करके दूर भी कर सकते हैं। कोई प्राण को आकर्षित करके उसके द्वारा चमत्कार भी करा सकते हैं। कोई प्राणी पदार्थ ऐसे भी हो सकते हैं कि जिन के शरीर की रचना में ही प्राण की चमत्कारिक शक्ति सविशेष आविर्भाव होती है। पश्चिम देश के अवलोकन करने वाले सांप की दृष्टि में इस शक्ति का प्रबल आविर्भाव सिद्ध करके देखा है। सांप अपनी दृष्टि की शक्ति से छोटे पक्षियों का आकर्षण करके अपने मुँह में लेकर खा सकते हैं। यह सर्वत्र प्रसिद्ध है। किसी भव्य पुरुष को देखते ही हम उनकी छाया से प्रभावित हो जाते हैं, किसी को देखने पर प्रेम उत्पन्न होता है, या द्वेष हो जाता है, और वैसा होने के लिए किसी प्रकार का कारण नहीं होता। प्राण की विरुद्धता के कारण साँप और नेवले वगैरह प्राणियों में वैर होता है। यह प्रसिद्ध बात है। अफ्रिका में एक निग्रो की जाति है, जिससे महा विषारी सांप भी दूर भाग जाते हैं। ये सब प्राणतत्व के चमत्कार हैं, ये प्रत्यक्षतौर पर हमारे देखने में आता है। प्राण का एक स्थान से दूसरे स्थान पर अदल-बदल (लेन-देन) किया जाता है, और उसके अनुसार एक मनुष्य अपने प्राण और उसके द्वारा प्रवर्तित तत्त्वों के साथ दूसरे का प्राणतत्व जोड़कर रोग शांति, चमत्कार वगैरह प्रयोग करने का विवेक आर्यावर्त्त, यूरोप, अमेरिका वगैरह देशों में जिस शास्त्र के द्वारा किया जाता है उसे मेस्मेरिजम या प्राण विनिमय कहते हैं। यह प्रसिद्ध है।



4-प्राणायाम

तृतीय विभाग (कला-छठी)

प्राणायाम विधि

श्रीमद्विद्यारण्य स्वामी अपने जीवनमुक्ति विवेक के मनोनाश के प्रकरण के शुरुआत में जनकराज, वशिष्ठ, गौडपादाचार्य इत्यादि महात्माओं के ग्रंथ को लिखते हैं कि—"इस हजारों अंकुर, शाखा पल्लव तथा फलवाले संसार रूपी वृक्ष का मूल मन ही है, इसमें संदेह नहीं है। संकल्प विकल्प करना यही उसका स्वरूप है, इसलिए संकल्पों को शमन करने से मन को निचोड़ डाले, जिससे यह संसार वृक्ष भी शुष्क हो जाए, अब मैं समझ गया, समझ गया। मैंने आत्मधन को चुराने वाले 'मन' नाम के चोर को देखा है, इसलिए आज मैं और मेरा कारण चिरकाल तक मुझे उसने मारा है।"

अनेक प्रकार के कष्टरूप फल को देनेवाले इस संसार वृक्ष को निर्मूल करने का केवल अपने मन का निग्रह करना यही मात्र उपाय है। मन के उदर से मनुष्य नाश को पाता है और अस्त से अभ्युदय को पाता है। ज्ञानी पुरुष का मन नाश पाता है और अज्ञानी का मन उसको बांध देता है। जब तक एक परमतत्त्व के दृढ़ अभ्यास द्वारा अपने मन का जय किया नहीं, तब तक मध्य रात्रि में नृत्य करने वाले पिशाचादि जैसी वासना हृदय में नृत्य करती रहती हैं। जिसमें चित्त का गर्व शांत हुआ है तथा जिसने इन्द्रिय रूपी शत्रुओं को वश में कर लिया है उसकी वासनाएं शांत हो जाती हैं। हाथ, दाँत और अंग से दबा-दबा कर, पीस-पीस कर तथा मसल-मसल कर भी प्रथम तो मन को जय करना, जो पुरुष, अपने मन के वश नहीं हो जाते वे ही इस विशाल विश्व में भाग्यवान हैं, सद्बुद्धिवान हैं तथा महान पुरुषों में उनकी गिनती हो सकती है। हृदयरूपी बिल में चक्राकार बैठा हुआ, संकल्प-विकल्प रूप भयंकर विष वाला मनरूपी साँप जिसका मर गया है वैसे उस उदय होने वाले पूर्णचंद्र जैसे पुरुष को मैं वंदन करता हूँ। इस मायाचक्र की नाभि सचमुच यह चित्त ही है। मन के निग्रह से दुःख की निवृत्ति ज्ञान और अक्षयशांति प्राप्त होती है। वह निग्रह दो प्रकारों से हो सकता है। हठ से और युक्ति से अथवा क्रम से। चक्षु, श्रोत्र इत्यादि इन्द्रियों के स्थानों की बंध अर्थात् व्यापार रहित कर देने से **हठनिरोध** होता

है और अध्यात्मविद्या, दृश्य का मिथ्या, इस आत्मा का स्वयंप्रकाशित इत्यादि जानने से क्रम निग्रह होता है। परंतु वे जड़मति वाले हैं उनको सत्पुरुष का समागम यही उपाय है। ऐसे पुरुषों की वासनाएं अति प्रबल होने से उनके लिए तो प्राणवायु का निरोध ही उपाय है। कारण श्वासोश्वास रूप प्राण की गति तथा वासनाएं चित्त के वेग में रखते हैं। इसलिए उन दोनों का निरोध होने से चित्त शांति को प्राप्त होता है। अतः हृदय, ग्रीवा, मस्तक इन तीनों को ऊँचा रखकर, शरीर से समान होकर, मन सहित इन्द्रियों को हृदय में लगाकर आसन की सिद्धि प्राप्त करने के बाद, प्राणायामरूपी सुकान जिसका है ऐसे प्रणव मंत्र के जयरूपी नाव से इस संसाररूपी नदी के भय देने वाले तमाम प्रवाहों में से तर जाना। योगी दो प्रकार के हैं। आसुरी संपत्तिवाले और आसुरी संपत्ति बिना के। उसमें प्रथम प्रकार के योगी को यह उपाय ही सर्वथा योग्य है और दूसरे प्रकार के योगी के लिए ब्रह्म, आत्मा इत्यादि का ध्यान ही उपाय है। प्राणवायु का स्पंदक्रिया रूप जो व्यापार है वैसा ही मन का भी व्यापार है। इसलिए साधक को प्राणायाम करके प्राण और मन को रोकना चाहिए। अब यथा शास्त्र प्राणायाम करने की विधि कहते हैं।

प्राणायाम के बारे में भगवान् पतञ्जलि क्या कहते हैं?

प्राण और प्राणायाम के बारे में अंत में कहा जा चुका है। अब उसमें अभ्यास के बारे में कहते हैं। इस विषय में पतञ्जलि पाँच सूत्र में कहते हैं–

74. आसन पर स्थित होने के बाद श्वास और प्रश्वास की गति का विच्छेद करना वह प्राणायाम। 75. यह प्राणायाम बाह्यवृत्ति, आभ्यांतरवृत्ति और स्तंभवृत्ति, यह तीन प्रकार का है। इन तीनों का देशकाल और संख्या से निर्णय करके दीर्घ सूक्ष्म होता है। 76. बाह्य विषय और आभ्यंतर विषय को त्यागपूर्वक किया जाता है। 77. वह चौथा प्राणायाम है–इस तरह ऊपर के चार प्राणायाम की और उसमें के चौथे प्राणायाम की सिद्धि होती है, तब प्रकाश को ढकने वाला जो आवरण है उसका क्षय होता है 78. और इतना होने के बाद प्राणायाम के बाद का जो मुख्य साधन धारणा है उसको करने के लिए मन की योग्यता प्राप्त होती है।

74. प्राणायाम की व्याख्या–इस तरह ऊपर के सूत्रों में प्राणायाम की व्याख्या अनेक प्रकार और उसके फल के बारे में संक्षेप में कहा है। उसमें प्रथम सूत्र में **श्वास** ऐसा शब्द है उसका अर्थ "हम रोज बाहर का जो वायु नाक तथा मुख द्वारा उदर में लेते हैं, उतना ही है और **प्रश्वास** इस शब्द का अर्थ श्वास से बाहर की वायु उदर में लेने के

---

74. तस्मिन् सति श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेदः प्राणायामः 2,49., **75.** बाह्याभ्यन्तरस्तम्भ-वृतिर्देशकालसंख्याभिः परिदृष्टो दीर्घसूक्ष्मः 2,50., **76.** बाह्याभ्यन्तरविषयाक्षेपी चतुर्थः 2,51., **77.** ततः क्षीयतेप्रकाशावरणम् 2,52., **78.** धारणासु च योग्यता मनसः 2,53.

उच्छवास, जो अन्दर से बाहर जाता है, वह वायु इतना ही है। उसको ही हम श्वासोश्वास की क्रिया कहते हैं। इस क्रिया में होती वायु के आने-जाने की गति को तोड़कर शरीर में वायु अचल और शान्त रहे ऐसी स्थिति करनी उसका नाम प्राणायाम है।

75. प्राणायाम के प्रकार—दूसरे सूत्र के इस प्राणायाम के तीन प्रकार कहे हैं, उनके लक्षण नीचे अनुसार हैं।

(अ) बाह्यवृत्ति प्राणायाम—उसको ही रेचक कहते हैं। यह क्रिया प्रश्वास में स्वाभाविक रीति से ही होती है अर्थात् बाहर के वायु को लेने के बाद उसके अंदर आने की गति का विच्छेद करना, वह यह विच्छेद कैसे हो सकता है? श्वास द्वारा लिए हुए। **वायु का रेचन** करके बाहर निकालने से होता है। उसमें श्वास की बाहर से अंदर आने की जो स्वाभाविक वृत्ति ही है, उसकी गति का विच्छेद करने के लिए **रेचन क्रिया** करना उसे **रेचक प्राणायाम** अथवा **बाह्यवृत्ति प्राणायाम** कहते हैं।

(ब) आभ्यांतरवृत्ति प्राणायाम—उसकी 'पूरक' ऐसी संज्ञा है। यह क्रिया भी श्वास में स्वाभाविक रीति से प्रत्येक प्राणी में होती रहती है। उसमें पेट का, फेफड़ों का तथा शरीर के दूसरे भागों में अंदर का वायु प्रश्वास द्वारा बाहर निकलने के बाद पुनः श्वास लेकर आभ्यांतर (अंदर) लिया जाता है। श्वास द्वारा बाहर के वायु, आभ्यांतर जाने की वृत्ति स्वाभाविक रीति से ही होती है। इसलिए उसकी गति का विच्छेद करने से यह प्राणायाम सिद्ध होता है। यह विच्छेद कैसे हो सकता है अर्थात् बाहर के वायु को नासिका द्वारा अंदर लेने के बाद 'उसको रोक रखने से' इस वायु की गति का नाश हो सकता है। कारण यह श्वास फिर से प्रश्वास द्वारा बाहर निकाले तो ही उसकी प्रवृत्ति, पेट खाली होने से अंदर जाने के लिए होती है, इसलिए उसका रेचन नहीं करते हैं। पूरक करना चाहिए, वह आभ्यांतर वृत्ति प्राणायाम कहा जाता है।

(स) स्तंभवृत्ति प्राणायाम—इसका अर्थ भी स्पष्ट ही है। कारण ऊपर कहा है वैसे वायु की बाह्यवृत्ति का भी स्तंभन करना अर्थात् उस वृत्ति को रोकना और आभ्यांतर वृत्ति का भी स्तंभन करना अर्थात् उस वृत्ति को भी रोकना, ऐसे दोनों वृत्तियों को रोकने से उसको **स्तंभवृत्ति प्राणायाम** कहते हैं। जैसे कि प्रथम हमने श्वास लिया और नियम द्वारा बाहर (प्रश्वास) द्वारा निकाला पर उसको नहीं निकालकर मुंह और नाक दोनों को बंद करके शरीर में यथाशक्ति रोक रखना उसको **आन्तर कुंभक*** और इस तरह रोके हुए वायु को यथाशक्ति बाहर निकालकर पुनः श्वास नहीं लेकर मुंह और नाक दोनों को बंद करके वायु को बाहर ही रोक रखना उसको **बाह्य कुंभक**** कहते हैं। ऐसे दोनों प्रकार से शरीर के बाहर और अन्दर से वायु

---

* यथाशक्ति वायुमापूर्यानन्तरं क्रियमाणोऽन्तःकुंभक इति। ** यथाशक्ति सर्वे वायुं विरेच्यानंतरं क्रियमाणो बहिःकुंभकः (देखिए जीवन्मुक्ति विवेक मनोनाश प्रकरण)

के **स्तंभ** कर देना उसको ही स्तंभवृत्ति प्राणायाम या **सहित कुंभक** कहते हैं।

इन तीनों प्राणायाम को करने की कृति

प्रथम दायें हाथ की अंगुलियां नाक की नासिका के ऊपर रखो। वह ऐसे कि अंगुठा दायीं नासिका पर आए और अंतिम दो अंगुलियां बायीं नासिका पर आए। ऐसा करने का कारण यह है कि नासिका जब खोलनी या बंद करनी हो तब मात्र उन-उन अंगुलियों का ही उपयोग हो सकता है। प्रथम बांयी नासिका से (दाहिनी नासिका, अँगूठे से बँद रखकर) बाहर का वायु अंदर लेना, अंदर लेने के बाद बायीं नासिका (दाहिने हाथ की) आखिरी दो उँगलियों से दबाना यानी बाहर का पवन शरीर में बंद हो जाएगा, और उसको बंद रखने से उसका स्तंभन होगा। इस क्रिया में बाहर से शरीर में पवन बंद किया अतः उसे **'पूरक'** क्रिया कहते हैं, और उसे नाक मुँह बंद करके शरीररूपी कुंभ अर्थात् घड़े में बंद करके रखा, उस क्रिया को **आंतर कुंभक** कहते हैं। हर एक मनुष्य में जिस प्रमाण में शक्ति होती है उस प्रमाण में पूरक क्रिया से बाहर के वायु को कुंभक कर सकने की शक्ति होती है और अधिक समय तक कुंभक तो कर ही नहीं सकता। अस्तु, कुंभक किये हुए वायु को दाहिनी नासिका पर से अँगूठा उठाकर उसके द्वारा निकाल देना, यानी **रेचक** करना। उसी को **'रेचक'** क्रिया कहते हैं। इतना करने के बाद दाहिनी नासिका बंद रखना, और बांयी तो इस समय बंद होती ही है। ऐसा करने से बाहर का पवन शरीर में जा नहीं सकेगा, कारण कि मुख और नाक, दोनों शरीर-रूपी इमारत के दरवाजे कि जिनमें से पवन शरीर में आता है और जाता है सो दोनों बंद होते हैं। इस क्रिया को **'बाह्य कुंभक'** कहते हैं। अतः इन सबका क्रम लगाएँ, तो प्रथम खास की पूर्ति करना यानी पूरक, फिर उसे शरीररूपी कुंभ (घड़े) में बंद रखना, यानी, **आंतर कुंभक** करना, इस तरीके से जितनी शक्ति को उसके प्रमाण में बंद रखने के बाद श्वास को बाहर **'रेचक'** करना अर्थात् बाहर निकाल देना, और पुनः नया श्वास शरीर में नहीं घुसने देना, उसकी **'बाह्य कुंभक'** ऐसी संज्ञा है। इस पर से मालूम होगा कि पूरक और रेचक एक ही प्रकार से ही मात्र हो सकते हैं और कुंभक तो दो प्रकार से हो सकता है। इस तरह दोनों प्रकार से होने वाले कुंभक को **'सहित कुंभक'** नाम शास्त्र में दिया हुआ है। **उस सहित कुंभक का ही नाम स्तंभवृत्ति प्राणायाम है।** कारण उससे आभ्यंतरवृत्ति पूरक और, बाह्यवृत्ति-**रेचक** उन दोनों का स्तंभन होता है, अर्थात् इन दोनों प्रकार के वायुओं की वृत्ति का स्तंभ होता है। अतः उसे 'स्तंभवृत्ति प्राणायाम' यानी 'सहित कुंभक' नाम दिया गया है वह यथार्थ है।

प्राणायाम का देश से निर्णय

बाहर के वायु का श्वास लेना अर्थात् पूरक करना और श्वास छोड़ देना यहाँ नासिका से करना चाहिए। कभी भी मुँह से तो करना ही नहीं। साधारण व्यवहार में भी यह बात बहुत याद रखने जैसी है। थकान लगती है तो साँस और हाँफ भी हो जाती है तो उस समय भी हमेशा नाक से ही श्वास लेना और छोड़ना चाहिए। मुँह से श्वास लेने छोड़ने से शरीर की शक्ति घटती है और फेफड़े नरम हो जाते हैं। और लिया हुआ श्वास भी बहुत धीरे-धीरे छोड़ना, एकदम छोड़ना नहीं, यह तो नियम याद रखना चाहिए। ऊपर कहे तीनों प्राणायाम दो प्रकार के हैं। एक **दीर्घ** यानी लंबा और **सूक्ष्म** यानी बारीक। पूरक, आंतर कुंभक, रेचक और बाह्य कुंभक इन चारों का अथवा दूसरी तरह से कहें तो पूरक, रेचक और सहित कुंभक इन तीनों का दीर्घ और सूक्ष्म ऐसे भेद किस तरह किया जा सकता है? उस शंका के समाधान के लिए सूत्र में ही कहा है कि देश, काल और संख्या का नियम रखने से प्रथम दीर्घ प्राणायाम हो सकता है, और वह सिद्ध होने के बाद सूक्ष्म प्राणायाम तो आसानी से सिद्ध हो सकता है।

बाह्य देश का निर्णय—उसमें प्रथम शरीर एक देश है। नाक में से जो वायु बाहर आता है उसके स्पर्श नासिका से बाहर अंगुली पर हाथ रखने से होता है कि कम ज्यादा अंतर रखने से होता है, इस बारे में विचार करें उस पर से देश का माप निकलता है। नाक के अगले भाग से 12 अंगुल हाथ दूर रखने से तो रुई अथवा वैसा ही दूसरा कोई हलका पदार्थ रखके उच्छवास (प्रश्वास) बाहर निकालें और जब रूई थोड़ी हिले वैसी स्थिति में श्वास निकालने से पता चलेगा कि हमारा श्वास कितने अंगुल चलता है। यदि रूई एक हाथ दूर रखी हो और वहां रूई नहीं उड़े तो उसे रेचक प्राणायाम का परिमाण एक हाथ जितना माना जाता है। इत्यादि। इस अनुसार बाह्य देश से रेचक प्राणायाम की भूमिका का निर्णय करते हैं।

आभ्यांतर देश का निर्णय—जो श्वास बाहर से शरीर के अंदर लिया उसको 'पूरक' ऐसा कहा जाता है। उसका माप शरीर के अंदर के देश पर से निश्चय कर सकते हैं। वायु को पूरक किया जाय तब शरीर के कंठ, पेट इत्यादि जो भाग तक वायु पूरक करने में आया हो उस भाग में वायु का स्पर्श हुआ हो ऐसी प्रतीति होती है। श्वास ऐसे लें कि श्वास कंठ तक ही जाए, परंतु पेट में नहीं जाए। इसी प्रकार पेट से पैर तक के शरीर की अंदर के प्रदेश की व्यवस्था समझ लें और इस प्रकार जब शरीर में पूरक करते वायु का स्पर्श कंठ तक हो तब वह पूरक कंठ देश तक का माना जाता है। छाती तक इस वायु का स्पर्श होता है तब वह पूरक हृदय देश तक का गिना जाता है। इस प्रकार सिर से पैर के तले तक गिना जाता है और उससे शरीर के आभ्यांतर-अंदर के पूरक के परिणाम से देश का निर्णय होता है।

सहित कुंभक प्राणायाम का निर्णय बाह्य और आंतर ये दोनों देश से किया जाता है, क्योंकि कुंभक में जैसे वायु के बाहर से अभाव होता है तथा अंदर से भी होता है यानि उसमें बाहर और अंदर दोनों स्थानों के वायु का रोध होता है। अर्थात् दोनों वायुओं को रौधने (बंद) किया जाता है। कुंभक में देश की परीक्षा हो नहीं सकती, मात्र रेचक के समय बाह्य देश का निर्णय रूई जैसे पदार्थ की गति के अभाव से और पूरक से समय आंतर देश का निर्णय स्पर्श का अनुभव महसूस न होने से हो सकता है। इस प्रकार रेचक, पूरक और सहित कुंभक का निर्णय बाह्य और आंतर देश से किया जाय तो उससे यह प्राणायाम देश से दीर्घ और सूक्ष्म होता है।

काल और संख्या से प्राणायाम का निर्णय

प्राणायाम का निर्णय जैसे देश से कर सकते हैं। वैसे काल और संख्या से भी कर सकते हैं। जैसे कि कुछ पल तक रेचक, कुछ पल तक पूरक और कुछ पल तक **आंतर** और **बाह्य** दोनों प्रकार का **सहित कुंभक** और संख्या से ऐसे कि 10 ओंकार गिनने तक पूरक, 20 ओंकार तक रेचक और 40 ओंकार गिनने तक **आंतर** और **बाह्य** इन दोनों प्रकार के सहित कुंभक करना चाहिए। इस प्रकार से प्राणायाम का माप काल और संख्या से ले सकते हैं। जो माप संख्या से लेते हैं उसको भी अमुक समय तो लगता ही है, इसलिए इन दोनों का माप संख्या से करने से उसमें काल का भी समावेश हो सकता है। जैसे कि 4 गिनने तक बाहर का वायु पूरक किया, 16 गिनने तक उसका **आंतर कुंभक** किया और 8 गिनने तक रेचक किया और दोनों नासिका दबाकर कुछ समय तक बाहर अर्थात् बाह्य कुंभक किया तो इन संख्या को गिनने में जो समय लगता है वह भी साथ-साथ गिना और संख्या के साथ काल का भी माप लिया। हर एक लघु अक्षर का उच्चारण अधिक त्वरा से नहीं और बहुत धीरे से भी नहीं, इस तरह मध्यम तरीके से करने पर जितना समय लगता है, उसे 'मात्रा' नाम दिया जाता है। और एक मात्रा से यदि पूरक किया हो तो चार मात्रा तक कुंभक करना पड़ता है, और 8 मात्रा तक रेचक करना पड़ता है। अतः हमेशा पूरक, कुंभक और रेचक की संख्या 1:4:2 इतना होता है। पूरक के समय 1 ओंकार तो आंतर कुंभक के समय 4 ओंकार और रेचक के समय 2 ओंकार बोलने का प्रमाण होता है। पूरक के समय ओंकार की 10 आवृत्ति हुई, बीस आवृत्ति हुई, तीस आवृत्ति हुई ऐसे क्रम के द्वारा काल की परीक्षा करने के बाद, ऐसे पूरक इस महीने में 10 हुए। उसके बाद के महीने में बीस हुए, उसके बाद के महीने में तीस हुए इत्यादि क्रम के द्वारा संख्या परीक्षा करना (देखिए जीवन्मुक्ति विवेक)। इन सबको ध्यान में रखकर आसान तरीका आगे बताया जाएगा, उसके अनुसार साधक को बर्ताव करना चाहिए। अतः अधिक सरलता से समझ में आएगा। अभी तो मात्र पतञ्जलि के सूत्र का अर्थ समझाता हूँ।

इस तरह देश और संख्या से प्राणायाम का निर्णय किया जाता है। जिस प्रमाण से देश बड़ा, सख्या का नाप बड़ा क्रम प्रमाण में दीर्घ प्राणायाम कहा जायेगा और वह साध्य हो तो फिर सूक्ष्म प्राणायाम तो आसानी से साध्य हो सके, वैसा है। इतना होने के बाद बाह्य वृत्ति आभ्यंतर वृत्ति और स्तंभ वृत्ति प्राणायाम साध्य होता है, इसमें इतना ध्यान रखने का है कि स्तंभवृत्ति प्राणायाम को सहित कुम्भक कहते हैं। अतः वह साध्य होने के बाद चौथा प्राणायाम केवल कुंभक साध्य करना है। उसका लक्षण पातञ्जलि के तीसरे सूत्र में बताया है।

76. केवल कुंभक का लक्षण—ऊपर बताए अनुसार सहित कुंभक में दो प्रकार के वायु रोके जाते हैं। वायु उदर में आए, तो अन्तः कुंभक करे और बाहर जाए तब बाह्यकुंभक करे, उसको सहित कुंभक कहते हैं। इस कुंभक में बाह्य और आभ्यंतर विषय मुख्य है, वह दीर्घ और सूक्ष्म है। जैसे कि एक धना रूई का गोला हो उसे कातकर तंतु (धागा) निकालने से बनी रूई अत्यंत लंबा अथवा दीर्घ होता है और उसका सूक्ष्म सूत्र कातने से कहीं रूई सूक्ष्म हो जाता है। उसी तरह प्राणरूपी रूई का गोले का रेचक पूरकरूपी तंतु अधिक देश और अधिक संख्या से अभ्यास करके दीर्घ और फिर लक्ष में न आये वैसा सूक्ष्म हो जाता है। वह दीर्घ और सूक्ष्म होता है। इसलिए दीर्घ और सूक्ष्म इन दोनों विषयों का त्याग करने से उत्तम प्राणायाम होता है वह चौथा प्राणायाम है। उसको ही योगी केवल कुंभक कहते हैं। जैसे की घड़े में भरा हुआ पानी स्थिर और स्वच्छ हो या बाहर से देखने वाले को ऐसी शंका हो कि उसमें पानी है या नहीं? ऐसे ही शरीर में सभी जगह उदर, फेफड़ों में सभी भाग में वायु भरा है परंतु श्वास-प्रश्वास बिलकुल चलता ही नहीं है। वह वायु आकाश के जैसे केवल स्थिर है। मुंह खुला हो तो भी क्या और नासिका के दोनों छिद्र खुले हों तो भी क्या, आसमान की तरह वायु शरीर में सब जगह शांत, स्थिर और स्वच्छ भरा पूरा है फिर भी उस समय श्वास-प्रश्वास की क्रिया बिलकुल होती नहीं है, उसका नाम केवल कुंभक, वह चौथा प्राणायाम है। ऐसा साध्य होने तक सहित कुंभक का अभ्यास निरंतर चालू रखना है। इस पर से स्पष्ट मालूम होगा कि, इस चौथे प्राणायाम का बाह्य या आंतर इन दो में से एक भी विषय नहीं है, इन दोनों का त्याग है, अतः इस तरह सरलता से जो केवल कुंभक किया जाय वही उत्तम प्राणायाम कहा जाएगा।

77. प्राणायाम सिद्ध करने से प्राप्त फल—इस सूत्र में ऐसा कहा है कि जब केवल कुंभक प्राणायाम सिद्ध होता है तब प्रकाश को ढकने वाला पाप और अशुद्धि जो आवरण उसका क्षय होने से उत्तम ज्ञान में जो प्रमुख ज्ञान **विवेक ख्याति** उसका उदय होता है। विवेकख्याति रूप ज्ञान को और योग विद्या का प्रतिबंध करने वाला क्लेश और पापरूप मल उसका नाश होता है। प्राणायाम से तमाम इन्द्रियों के जो मल

लगा हुआ है, उसका नाश होता है। पूर्व में कहा है कि प्राण इस शरीर में स्थित सूक्ष्म वायु है। यह सूक्ष्म रजकण मय प्राण की ही सत्ता से बाहर के वायु शरीर में आता है और शरीर का वायु बाहर जाता है। इसलिए स्थूल वायु वह सच्चा प्राण नहीं है। प्राण के परमाणु तो इन दोनों से अतिशय सूक्ष्म हैं और उनके जन्म के पूर्व जीवात्मा के साथ लिंगदेह के साथ चिपके हैं, प्राण, मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार इन चारों का परमाणुओं के साथ गाढ़ संबंध है। इस सूक्ष्म प्राण का निरोध होकर एक प्रकार की अति सूक्ष्म अग्नि उत्पन्न होकर उसमें से जल उत्पन्न होता है। वह अग्नि तथा जल भी अति सूक्ष्म कला वाले होते हैं। इन तीनों के द्वारा अंतःकरण के और ज्ञानतंतुओं के परमाणुओं में मल रूप से रहे हुए रजस् और तमस् के परमाणु जल कर घुल जाते हैं, उन दोनों के जाने से अंदर मात्र सत्त्वगुण होता है। उसका प्रकाश उत्पन्न होता है। अतः जब तक प्राणायाम साध्य नहीं हुआ है तब तक अंतःकरण अथवा लिंगदेह के परमाणुओं के अंदर रहे हुए सत्त्वगुण, रजोगुण तथा तमोगुणरूपी मल से आवृत्त-कवच रूप होता है, और उस आवरण का इस प्रकार से क्षय होने से सारे लिंगदेह के परमाणुओं में के रजस् तमस् के संस्कार धुल जा कर सत्त्वगुण का प्रकाश होकर ज्ञान के दीये अंतःकरण में प्रकट होने लगते हैं। यह बात वर्तमान विद्या के अनुसार इस तरह समझाते हैं।

प्राण की प्रबलता और निर्बलता

विद्युतशास्त्र में यह सर्वत्र प्रसिद्ध बात है कि बिजली उत्पन्न करने के लिए एक बैटरी बनायी जाती है, उसमें तार का संबंध होता है। उस तार के दो छोर होते हैं, उन्हें पोल कहते हैं। एक को प्रबल और दूसरे छोर को निर्बल कहते हैं। प्रबल छोर को पोजीटीव पोल कहते हैं, और निर्बल छोर को नेगेटीव पोल कहते हैं। उनमें से एक का स्वभाव पदार्थ को आकर्षित करने का होता है, और दूसरे का स्वभाव पदार्थ को फेंक देने का होता है। अब इस बिजली के दोनों छोर इकट्ठा करें तो उसमें से बिजली की चिनगारियाँ निकलती हैं, और उससे उष्णता और प्रकाश उत्पन्न होते हैं, लेकिन उन्हीं दो छोरों को इकट्ठे नहीं करते हुए एक कोयला लेकर उसका पतला रॉड बनाकर उस रॉड के दोनों छोरों के साथ प्रबल और निर्बल छोरों का संबंध करने से उसमें से जो उष्णता उत्पन्न होगी वह कोयले के परमाणुओं में इकट्ठा होगी और उससे अधिक गरम होने से प्रकाश के रूप में उसमें से बहुत तेज बाहर आएगा। उसी तरह हमारे शरीर में दिमाग और पीठ की रीढ़ में जो मज्जा रहा है वह एक बैटरी (बिजली उत्पन्न करने वाला यंत्र) रूप है। उसमें से निकलने वाले ज्ञानतंतु और क्रियातंतु ऐसे दो प्रकार के अनेक तार बिजली के नियम के अनुसार सारे शरीर में जोड़ दिये हैं और उनके बल से बाहर का वायु अंदर आता है और अंदर की वायु बाहर जाता है। इन दो छोरों का संबंध शरीर के भिन्न-भिन्न भागों में होने से शरीर

के हर एक सेन्द्रिय रजकणों में उष्णता, उत्पन्न होती है। उससे शरीर गरम रहता है, लेकिन उसमें अनेक पाप रूप अशुद्धि की उपाधि होने से वह उष्णता बढ़कर प्रकाश के रूप में उत्पन्न नहीं होती, उसका कारण यह है कि बिजली के दोनों छोरों में से अधिकतर शक्ति बाहर के व्यापारों से, श्वासोश्वास से, और शरीर की अनेक क्रियाओं से बेकार जाती है। और वह जब श्वासोश्वास को रोकने से मन की वृत्तियों के द्वार से जो शक्ति व्यर्थ बाहर जाती है उसे रोककर संयम द्वारपर स्थिर करने से, शारीरिक व्यापार नहीं करने से, आहार बिलकुल कम कर देने से, शांत और अचल उत्पन्न करने से ज्ञानतंतु और क्रियातंतु रूप दो विद्युत प्रवाह इकठ्ठा होकर शरीर में जिस-जिस स्थान पर जितने-जितने जोड़, उन तंतुओं के आ मिलते हैं, उतने-उतने स्थान पर दीये प्रगट होते हैं, और पहले कहे हुए चक्रों में मुख्यतः उस प्रकाश का अनहद भंडार संग्रह होता है और ब्रह्मरंध्र में तो सहस्र सूर्य उगे हों उतना प्रकाश उत्पन्न होता है, यह सारा प्रकाश और उसका अद्भुत तेज यह केवल प्राणायाम का ही फल है। अर्थात् इस तरह विद्युन्मय शरीर होता है अतः स्थूल शरीर के साथ जुड़े हुए सूक्ष्म शरीर के परमाणुओं में से रजस् तमस् को वहाँ से तुरंत जाना पड़ता है, उनमें जो मल होता है सो जल जाता है; और यह स्थूल शरीर तो केवल उस कोयले के अनुसार उष्णता और प्रकाश उत्पन्न करने वाले एक साधन रूप ही होता है। लेकिन वही विद्युत जब उष्णता के रूप में प्रकट होती है और प्रकाशित होती है तभी जाग्रत स्थिति में असल ज्ञान का दीया प्रगट होता है।

लिंगदेह के संबंध में भी ऐसा ही है। उसमें जो प्राण के परमाणु होते हैं उन्हें ही मूल विद्युत् शक्ति के तरीके कहा जा सकता है और उसके दो तार को स्थूल श्वास-प्रश्वास के प्रवाह। वे प्रवाह मुख और नासिका के द्वारा अनियमित तरीके से जाता है। सो न जाय इसलिए अमुक ही नासिका में से उसके जाने आने का नियम रखना पड़ता है। इडा को बायीं नासिका कहते हैं और पिंगला को दाहिनी नासिका कहते हैं। इडा को चंद्रप्राण और पिंगला को सूर्य प्राण कहते हैं। सूर्यप्राण प्रबल है और चंद्र प्राण निर्बल है, ईडा नाड़ी का प्रवाह दिमाग और करोड़ रज्जुरूपी बिजली उत्पन्न करने वाले यंत्र स्थान की बायीं तरफ से जाता है, और पिंगला का प्रवाह उसकी दाहिनी तरफ से जाता है। वे दोनों प्रवाह ब्रह्मग्रंथि में इकट्ठे होते हैं और जब केवल कुंभक किया जाता तब ब्रह्म ग्रंथि में की उष्णता बढ़ने लगती है, और उसके धक्के आधार चक्र में रही हुई कुंडलिनी शक्ति पर लगते हैं, जिससे सर्पाकार कुंडलिनी सीधी हो जाती है, और प्राण सीधा सुषुम्णा द्वार में घुसकर सारे चक्रों को बेंधता हुआ, ब्रह्मरंध्र तक जाता है, तब दिमाग की ओर पीठ की रीढ़ के तमाम भागों में तथा मूलाधार तथा ब्रह्मग्रंथि में स्थित चालू जन्म के और पूर्व के अनंत जन्मों के

संस्कार जलने लगते हैं। और वे जब जल जाते हैं तब सब परमाणु स्वच्छ होकर सत्त्वगुण का प्रकाश सब जगह फैल जाता है, और विवेक ख्याति उत्पन्न होने से भूत, वर्तमान और भविष्य के तमाम विश्व के पदार्थों का इसी स्थूल देह में प्रत्यक्ष ज्ञान होता है। अतः अर्वाचीन शास्त्रीय दृष्टि से भी प्राणायाम की योग्यता महान है, यह बात विशेष ध्यान में आएगी।

78. इस पांचवें सूत्र का अर्थ अब विशेष स्पष्टता से समझ आ जायेगा, इतना सब होता है तब मन किसी भी वस्तु की धारणा करने लायक होता है। धारणा सिद्ध करने में ध्यान और समाधि बहुत दूर नहीं है और समाधि को भी संप्रज्ञात तथा असंप्रज्ञात इन दोनों भूमिकाओं से प्रसार होने का काम बहुत कठिन नहीं है और जीवनमुक्ति भी पास ही है। इस प्रकार भगवान् पतंजलि के कहने का मुख्य आशय है, वह कहा गया है।

प्राणायाम करने की विधि

ऊपर के अनुसार प्राणायाम दो हैं, 1. सहित कुंभक और 2. केवल कुंभक। उसमें का प्रथम प्राणायाम सिद्ध करने के लिए कुंभक कितने समय तक कर सकते हैं। इस बारे में साधकों को स्वयं परीक्षण करके देखना चाहिए। जैसे कि बाहर का वायु अंदर लेने के बाद उसको रोकना और तुरंत एक, दो, तीन, चार ऐसे साधारण वेग से गिनने की शुरुआत मन में करनी चाहिए। ऐसे जब तक वायु रोक सके तब तक जितनी संख्या हो वो ध्यान में रखें। यदि 16 गिनने तक प्राण का रोध कर सकते हो तो उसको 1/4 भाग की संख्या से इडा से पूरक करना और 16 तक कुंभक करने के बाद उसके 1/2 भाग की संख्या से पिंगला से रेचक करना चाहिए। अतः प्रथम हम श्वास को उदर में कितने समय तक रौंध (रोक) सकते हैं उसका संख्या से अंदाजा करना और उसके बाद इस प्रमाण में पूरक, रेचक करने से यह बात सिद्ध होगा। दूसरी कुछ बातें जो बतायी है उसके अनुसार मुख बंद रखें। अंगुलियां इडा पिंगला के द्वार पर जैसे कहा है वैसे रखके द्वार खोलें अथवा बंद करें। पूरक करते समय श्वास सहन हो उतना लें, इससे कुंभक करने में ज्यादा तकलीफ नहीं पड़ती है। कुंभक करने के बाद उस श्वास को पिंगला द्वारा रेचक करना अर्थात् पेट से जितना निकाल सकें उतना निकाल लें, लेकिन इस समय पेट में से जितना वायु बाहर उड़ेला जाय, उतना उंड़ेल देना। इतने नियमों को बताने के बाद अब नीचे की रीति अनुसार करें यानि सहित कुंभक सिद्ध होगा।

श्वास-प्रश्वास का रेचक-पूरक, पिंगला और इडा से करना है। यह नाड़ियां कहां से निकलती हैं? नाभि के नीचे जो **ब्रह्मग्रंथि** है उसमें से निकलती है। वह सुषुम्णा यानि पीठ की रीढ़ में करोड़ों की संख्या में दायीं और बायीं तरफ से होकर नाक तक आयी हुई हैं। जब-जब श्वास-प्रश्वास द्वारा यह वायु जाता है, आता है और रुकता है, तब-तब उसके उद्घात-आघात नाभि के कंद पर होता है। वह आघात कहां तक है? कंद के नीचे रहने वाली कुंडलिनी की शक्ति ऊपर जाती है। यह शक्ति पीठ की रीढ़ की पूरे

भाग तक जाती है। मूलाधारचक्र के बीच में सुषुम्णा का मार्ग निरोध करके बैठा है। श्वास-प्रश्वास से जो हर समय कुंभक किया जाता है, उसके आघात कुंडलिनी पर पड़ते रहते हैं और अंत में यह शक्ति जागृत होती है, तब सुषुम्णा का रंध्र खुलता है। बार-बार कुंभक करने का मुख्य हेतु यही है कि, उसके उद्घात बार-बार कंद स्थान पर होने से उसके नीचे रही हुई कुंडलिनी जागृत होती है और वह जागृत होने के बाद जब इस शरीर का सूक्ष्म प्राण सुषुम्णा को बींधने लगे तब हमें आहिस्ता-आहिस्ता आतींद्रिय ज्ञान प्राप्त होता जाता है। अतः सहित कुंभक और केवल कुंभक अधिक हो वैसा करने का शक्य प्रयत्न करना चाहिए। अतः अभ्यासी को नीचे लिखे अनुसार करना चाहिए।

सहित कुंभक का अभ्यास

सहित कुंभक के **आंतरकुंभक** और **बाह्यकुंभक** दो प्रकार पूर्व में कहे गए, अब उनके अभ्यास के बारे में कहते हैं।

(1) आंतर कुंभक का अभ्यास :—शरीर में वायु भर के उसका कुंभक करना उसको आंतर कुंभक कहते हैं। इसको करने से पहले शरीर में जितना वायु हो उतना पिंगला को अंगूठे से दबाकर मात्र इड़ा से बाहर निकालने के बाद प्राणायाम की शुरुआत करें। अब इड़ा से बाहर के वायु को धीरे-धीरे 4 गिनने तक अंदर खींचों वह इतने तक कि पेट में थोड़ा खाली जगह रह सके उसका नाम पूरक कहा जाता है। पूरक करते समय जो श्वास अंदर खींचा जाता है, उसका प्रवाह इड़ा नाड़ी से चला जाता है, वह कंद पर टकराने के बाद उसका प्रत्याघात मूलाधार चक्र में रही कुंडलिनी पर होता जाता है और यह चक्र त्रिकोणाकार होने से उसके ऊपर खूब जोर से आघात पाता है। पूरक करने के 4 अंक गिनने के बाद उतनी ही गति से 16 अंक गिनें और इड़ाद्वार बंद रखके 16 गिनने तक पूरक किया हुआ श्वास रोके रखें उसको **आंतर कुंभक** कहते हैं और 16 अंक गिने जाने के बाद रेचक करना। वह इस तरह आंतर कुंभक के समय नाक के दोनों छिद्र बंद थे, अब पिंगला छिद्र के ऊपर से अंगूठा उठा लें और मन में ऐसी कल्पना करें कि हम इड़ा नाड़ी का प्रवाह अब-अब दूसरी तरफ यानी पास की पिंगला नाड़ी की तरफ ले जाकर फिर जितनी गति से 16 गिने थे उतनी ही गति से 8 अंक गिनने तक पिंगला द्वार से इस श्वास का बाहर रेचक करे। इस समय इड़ा बंद रखें और नीचे अनुसार पुनः उलट क्रिया करें।

इतना करने के बाद पिंगला नाड़ी से 4 गिनने तक ऊपर अनुसार पूरक करें। 16 गिनने तक कुंभक करें और पिंगला बंद करें। इड़ा तो बंद ही होती है और इस समय 16 गिनने के बाद खोल कर 8 तक रेचक करें। प्रत्येक पूरक रेचक करते समय मन में ऊपर अनुसार कल्पना करें। इतनी क्रिया होने के बाद उसको एक प्राणायाम कहते हैं। इसमें दो बार करनी पड़ती है। उसमें प्रथम प्रकार की क्रिया को

लोमगति प्राणायाम कहते हैं और दूसरी प्रकार को **विलोमगति प्राणायाम** कहते हैं। जब लोम-विलोम गति पूरी होती है तब एक प्राणायाम हुआ ऐसा कहते हैं।

पूरक कुंभक तथा रेचक अनुक्रम* से 4 : 16 : 8 इन संख्या (प्रमाण) गिन के नियमित करें। थोड़े दिन तक इस प्रमाण में अभ्यास करके उसकी स्थिरता होने के बाद यह प्रमाण जरा बढ़ाना चाहिए और 5 : 20 : 10 इन प्रमाण के अभ्यास चालू रखें, वह सिद्ध होने के बाद 6 : 24 : 12, इन अंकों को गिन के पूरक कुंभक और रेचक करें। ऐसा अपनी शक्ति अनुसार अभ्यास बढ़ाएं। ऐसे 16 : 64 : 32 इतने प्रमाण में बढ़ाएं, कूर्मपुराण में प्राणायाम के मंद, मध्यम और उत्तम ऐसे तीन प्रकार कहे हैं, उसमें 12 मात्रा† (12 : 48 : 24) वाला मंद प्राणायाम है। 24 मात्रा (24 : 96 : 48) वाला मध्यम प्राणायाम है। 36 मात्रा (36 : 144 : 72) वाला प्राणायाम उत्तम कहा जाता है। यह सभी प्राणायामों को प्रमाण में 16 : 64 : 32 पर प्राणायाम सिद्ध करें और उसका अभ्यास रोज सुबह, मध्यान्ह, सांयकाल और मध्यरात्रि इन चार काल में प्रत्येक समय चार-चार प्राणायाम करके 16 प्राणायाम (लोम-विलोम) करें। यह अभ्यास 1 मास तक करने से भ्रूण हत्यादि पापों का नाश होता है। 6 मास तक करने से जन्मांतरों में किए हुए पापों का नाश होता है और एक वर्ष तक करने से ब्रह्महत्यादि पापों का नाश होता है। (याज्ञवल्क्य संहिता)।

''नाभि‡ के मूल में से प्रेरित वायु को मस्तक के साथ अभिघात करें उसको उद्घात या **उद्धात** कहते हैं। यह सभी उद्घातों की गणना कुंभक प्राणायाम कह

* पहले कहे अनुसार नियमित श्वासोश्वास करके जिसने नाड़ी शुद्धि की हो उसके लिए इस तरह है, लेकिन जिन्होंने वैसा नहीं किया है उस नए साधक को चाहिए कि वह नाड़ी शुद्धि करे; और यदि वह नहीं करनी हो तो सुबह और शाम को इस तरह दो समय मिलाकर 8 प्राणायाम लगभग 2 महीने तक करने के बाद तीन-तीन अथवा चार-चार प्राणायाम दिन में तीन अथवा चार बार करना, इस नियम से विरुद्ध चलने वाले को श्वास, कास वगैरह व्याधि होते हैं यह अच्छी तरह याद रखना चाहिए।

† मात्रा का काल अनेक तरह से गिना जाता है। स्कन्दपुराण में तो कहते हैं कि अधिक उतावले से नहीं और अधिक धीमे से भी नहीं लेकिन साधारण वेग से कोहनी के आसपास हाथ को प्रदक्षिणा करवाकर एक चुटकी बजाने में जितना समय हो उतने समय को 6 मात्रा का समय कहा जाएगा। यह काल और संगीतशास्त्र का लघु अर्थात् एक मात्रा का काल बराबर मिलता आता है। जब प्राणायाम 1: 4 : 2 इस प्रमाण में किया जाय तब उसे एक मात्रिक प्राणायाम कहते हैं। 2 : 8 : 4 यह द्विमात्रिक, 3 : 12 : 6 यह त्रिमात्रिक प्राणायाम कहा जाता है।

‡ उद्घातो नाम नाभिमूलात् प्रेरितस्य वायोः शिरस्यभ्यहननं। तत्र ताभिः षट्त्रिंशन्मात्राभिः परिमितः प्रथम उद्घातो मंदः। स एव द्विगुणीकृतो द्वितीयो मध्यमः। स एव त्रिगुणीकृतस्तृतीयस्तीव्रः। प्राणेनोत्सर्यमाणेन अपानः पीड्यते यदा। गत्वा चोर्ध्व निवर्तत एतदुद्धातलक्षणम् ॥

(स्कन्द पुराण के अनुसार)

सकते हैं। उसी प्रमाण में प्राणायाम की संख्या है। कुंभक की व्यवस्था काल से इस प्रकार होती है और नाभि के मूल से प्रेरित वायु का जितने देश में गमन होता है, उतने उद्‌घात, देश के विचार से, कुंभक में देश की व्यवस्था गिनी जाती है। उसमें 36 मात्रा से प्रमाण करके प्रथम उद्‌घात वह **मंदउद्‌घात** है, 72 मात्रा वाला वह **मध्यमउद्‌घात** और 108 मात्रा वाला प्राणायाम करने से **तीव्रउद्‌घात** होता है इस प्रकार संख्या की व्यवस्था है और काल, देश और संख्या से जो व्यवस्था होती है वह ऊपर अनुसार होती है।"

इस प्रकार प्राणायाम करने की रीति शास्त्रों में प्रतिपादित है। यथाशक्ति जिस प्रकार कुंभक होता है उसी प्रकार पूरक और रेचक की संख्या का निर्णय करना चाहिये। 4:16:8 का अनुपात उत्तम है। स्वामी विवेकानंद ने कहा है कि कोई भी साधक शुरुआत में चतुर्मासिक (4:16:8) प्राणायाम लोम-विलोम गति में, सुबह चार बार, दोपहर में 4 बार और मध्यरात्रि में 4 बार, इस प्रकार 16 प्राणायाम करना चाहिए। ऐसा नियम बनाना चाहिये कि प्राणायाम नहीं तो भोजन नहीं करना। यह नियम पालने से शरीर को भी बहुत कसरत मिलती है। और वैसा करने में अधिक समय भी नहीं लगता। आहार-विहार का विचार भी करना चाहिए। अभ्यास में बढ़ोत्तरी करने में बहुत ही एहतियात रखनी चाहिये। जिस प्रकार सिंह, बाघ आदि हिंसक जानवर शिकार पकड़ने में शान्ति व एकाग्रता अपनाते हैं उसी प्रकार हमारा चित्त होना चाहिये। समय-समय पर जो अनुभव प्राप्त होते हैं उनसे सीख लेनी चाहिये।

आंतरकुंभक के अभ्यास में बढ़ोत्तरी, बंधत्रय और ध्यान

ऊपर के अनुसार प्राणायाम की ॐ मंत्र की संख्या लगभग वर्ष 6 मास तक बढ़ाकर फिर पूरक, कुंभक और रेचक क्रियाएँ नीचे अनुसार करें। इन तीनों के लिए योगतारावलि इत्यादि ग्रंथों में अनुक्रम से **मूलबंध, जालंधरबंध** और **उड्डीयानबंध** करने को कहा है जैसे कि *जालन्धरोड्डीयनमूलबंधान् जल्पंति कंठोदरपायुमूले। बंधत्रयेऽस्मिन्परिचीयमाने बंधः कुतो दारुणकालपाशैः ॥* अर्थात् कंठ, उदर और पायु (गुदा) इन तीनों जगह करने का जो प्राणबंध उनको अनुक्रम से जालंधर, उड्डीयन और मूलबंध कहते हैं। इन तीनों बंधों को अखंड करने से भयंकर ऐसे काल पाश का भय स्वप्न में भी नहीं रहता है। अस्तु! इन तीनों बंधों को करते समय पूरक, रेचक और कुंभक के समय अनुक्रम से ब्रह्मा, विष्णु और महेश का ध्यान धरना चाहिए क्योंकि प्राणायाम से चित्त एकाग्र होता है कुछ कल्पनाओं की अपेक्षा है। किसी पदार्थ पर चित्त को रोक कर उस पर चित्त लगा कर फिर मन में कोई सृष्टि रचना करना। वाड़ी, जंगल, पर्वत अथवा कुछ भी कल्पना करके उसमें तन्मय हो जाना उसकी तुलनाएँ भगवनूस्वरूप या ऐसी कुछ पवित्र कल्पना करके उसमें तन्मय

हो जाना अच्छी बात है। कारण वाड़ी, जंगल ये पदार्थ जड़ है, और भगवनूस्वरूप सात्विक भावना है, और अभी बंध के साथ ही कहा जाएगा वैसे पूरक के समय विष्णु का ध्यान, कुंभक के समय ब्रह्मा का ध्यान और रेचक के समय महेश्वर का ध्यान अनुक्रम से नाभि, हृदय और ललाट में करने से चित्त की एकाग्रता भगवतस्वरूप भावना, पवित्रता और प्राणायाम में प्राण के प्रवाह के ऊपर चित्त की तन्मयता अधिक अच्छी तरह हो सकती है। इसी हेतु से अथर्ववेद के ध्यान बिंदु उपनिषद् में ऊपर के ध्यान कहे हैं।

पूरक समय मूलबंध और विष्णु का ध्यान—*पार्ष्णिभागेन संपीड्य योनिमांकुचय-गुद्रम्। अपानमूर्ध्वमाकृष्य मूलबन्धोऽभि धीयते ॥*—सिद्धासन करके अर्थात् गुदा और लिंग की सीवनी को योनि स्थान कहते हैं। उसको दायें पैर की एड़ी से दबाकर और बायें पैर की एड़ी लिंग पर रखकर वहां दबाकर गुदाद्वार (मलद्वार) संकुचित करके उसमें रहने वाले अपान वायु को ऊपर आकर्षण करने से मूलबंध कहते हैं। इस क्रिया से मलद्वार-गुदास्थान का बंधन होता है इसलिए उसको मूलबंध कहते हैं। इस तरह यह बंध पूरक करने से बाहर का प्राणवायु गुदास्थान में रहे अपान वायु में होम होता है। पूरक के समय नाभिस्थान में अतसी पुष्प के समान आसमानी रंगवाले और चारों हाथ में शंख, चक्र, गदा, पदम् से शोभित ऐसे लक्ष्मी जी के साथ श्री भगवान् विष्णु हैं, ऐसी भावना करके ध्यान धरें।

कुंभक समय जालंधर बंध और ब्रह्मा का ध्यान— *कंठमाकुंच्य हृदये स्थापयेच्चिबुकं दृढं। बंधोजालन्धराख्योऽयं जरामृत्युविनाशकः ॥*—कंठ नली का आकुंचन करके गरदन झुकाकर दाढ़ी-हनु-चिबुक को हृदय से चार आंगुल ऊपर रखके कंठ का बंध करना उसे **जालंधरबंध** कहते हैं। इस बंध से वायु का आसानी से कुंभक हो सकता है। वह जरा और मृत्यु को दूर करने वाला है। इस प्रकार कुंभक के समय इस बंध को करके हृदय स्थान में चार मुखवाले लालरंग वाले और कमल के आसन पर विराजित सर्व के परमपिता श्री ब्रह्माजी का ध्यान करें। हृदय कमलरूप है, यह बात प्रसिद्ध है। उसमें ही ब्रह्मा का स्थान है। यह बंध करते समय प्राण और अपान की गति का रोध होता है।

रेचक समय में उड्डीयान बंध और महेश्वर का ध्यान— *उदरे पश्चिमंतानं नाभेरुर्ध्वं च कारयेत्। उड्डियानो ह्यासौ बंधो मृत्युमातंगकेसरी ॥*— ऊपर अनुसार कुंभक करने के बाद नाभि के नीचे का और ऊपर का भाग पीठ की तरफ ऐसे खींचे कि पेट जठर इत्यादि भाग पीठ को अड़े अर्थात् बाहर से पेट और पेढ़ू की सपाटी पर इतना खड़ा पड़े कि पेट की और पेढ़ू की चमड़ी जैसे पीठ की मेरुदंड को स्पर्श करे और ऐसे करने से उड्डीयानबंध सिद्ध होता है। यह बंध मृत्युरूपी हाथी का केसरी

सिंह है और यह करके कुंभक किया हुआ वायु का रेचक करें। रेचक करते समय ललाट में शुद्ध स्फटिक मणि जैसे गौरवर्ण वाले और सभी पापों का नाश करने वाले कालातीत ऐसे तीन नेत्रोंवाले श्री महादेवजी का ध्यान करें। ऐसे पूरक, कुंभक, रेचक करते समय बंधत्रय का अभ्यास रखने से प्राण अपान वायु का निरोध होता है। यही बात भगवद्गीता में श्री भगवान् कहते हैं–*अपाने जुह्वति प्राणं प्राणेऽपानं तथापरे। प्राणापानगती रुध्वा प्राणायामपरायणाः॥* कुछ (साधक) गुदास्थान में रहे हुए अपान (वायु) में, नासिका से हृदय तक रहे हुए प्राण वायु को होमते (डालते) हैं। यानी कि बाहर के प्राणवायु को नासिका के द्वारा आकर्षित करके पूरक करते हैं। कुछ (साधक) अपान वायु को प्राण में होमते (छोड़ते) हैं, अर्थात् रेचक करते हैं और कुछ प्राण तथा अपान की गति का रोध (रूकावट) करके कुंभक करते हैं।

इस प्रकार सहित कुंभक का अभ्यास करें। 12 मात्रा वाले प्राणायाम कनिष्ठ गिने हैं। उसका मान बयालिस विपल जितना कहा है और ऐसा करने से नये अभ्यासी को थकान लगता है। पसीना आता है। ऐसा होता है तब यही पसीना सुखाना चाहिए। इससे शरीर दृढ़ और हलका होता है और जड़ता खत्म हो जाती है। अभ्यासी शुरुआत में दूध, घी इत्यादि पौष्टिक पदार्थों वाला श्रेष्ठ भोजन करें। ऊपर बताए अनुसार 3 बंध सहित नियमित आहार युक्ति प्रमाण से जो प्राणायाम किया जाए उसको युक्त प्राणायाम कहते हैं और ऐसा करने से हिचकी, श्वास, कास, सिर, आंख, कान इत्यादि सभी प्रकार के दर्द नष्ट होते हैं। इस कनिष्ठ प्राणायाम को सकृदुद्धात कहा है।

24 मात्रा वाला 84 विपल जितने काल वाला जो प्राणायाम है उसको मध्यम माना गया है और उसको करने से शरीर में कंपन उत्पन्न होता है। 36 मात्रावाला 124 विपल जितना जो प्राणायाम है उसको उत्तम माना गया है और ऐसा करने से अपना शरीर जमीन से ऊपर हवा में रह सकता है। क्योंकि ज्ञानतंतु और नसों में एक प्रकार का सूक्ष्म वायु उत्पन्न होने से शरीर खूब हल्का होता है और उससे भूमि त्याग होने लगता है। उसको **दादुरीकुंभक** भी कहते हैं। कारण दादुर यानी मेंढक, और वह फुदक-फुदक कर जिस तरह भूमि पर चलता है उसी तरह योगी का शरीर भी होता है। इस प्रकार प्राणायाम का उत्तरोत्तर अभ्यास करें। प्रत्येक प्राणायाम लोम-विलोम गति से प्रातःकाल, मध्यान्ह, सायंकाल, मध्यरात्रि इन चारों समय 80-80 करने चाहिए और रोज पूरे दिन में 320 प्राणायाम अवश्य करने चाहिए। खाना खाने के बाद 2 घंटे तक प्राणायाम नहीं करना चाहिए। पूरक और कुंभक करते समय ध्यान अवश्य करें। तभी प्राणायाम के साथ चित्त स्थिर होगा। कुछ योगी ऊपर के अनुसार ध्यान नहीं करते, वे ॐ मंत्र के अ, उ और म इन तीन अक्षरों का अनुक्रम से पूरक, कुंभक और रेचक करते समय स्मरण करते हैं। उसको **सगर्भ प्राणायाम** कहते हैं और जो अक्षरों के उच्चारण के बिना प्राणायाम करते हैं उसे **अगर्भ प्राणायाम** कहते हैं।

मात्र प्राणायाम से ही समाधि तक जाया जा सकता है

इस प्रकार अभ्यास बढ़ाकर कुछ योगी प्राणायाम करके ही प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि तक पहुंचते हैं। योग चिंतामणि में कहा है कि *प्राणायाम एवाभ्यासक्रमेण वर्द्धमानः प्रत्याहारध्यानधारणासमाधिशब्दैरुच्यते ॥* अभ्यास क्रम से बढ़ाया हुआ प्राणायाम ही प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि नाम से जानते हैं। **स्कंदपुराण** में भी ऐसा ही कहते हैं, *प्राणायागद्विषट्केन प्रत्याहार उदाहृतः। प्रत्याहारद्विषट्केन धारणा परिकीर्तिता ॥ भवेदीश्वरसंगत्यै ध्यानं द्वादशधारणं। ध्यानद्वादशकेनैव समाधिरभिधीयते॥ यत्समाधौ परं ज्योतिरनंतं स्वप्रकाशकं। तस्मिन् दृष्टे क्रियाकांडं यातायातं निवर्त्तते॥* ऊपर कहा था कि 36 मात्रा वाला उत्तम प्राणायाम है। उसका 125 विपल जितना काल होता है और बंधपूर्वक 125 विपल तक प्राणायाम की स्थिरता होने के बाद जब उसका आघात ब्रह्मरंध्र तक जाता है तब प्राण की स्थिरता होती है। यह स्थिरता यदि 12 गुना अर्थात् 25 पल तक रहे तो वह प्रत्याहार कहा जाता है। प्रत्याहार से 12 गुना स्थिरता अर्थात् यह स्थिरता 5 घड़ी तक रहे तो वह धारणा है। धारणा जैसी स्थिति 12 गुना अर्थात् 60 घड़ी = 1 दिन तक ठीक रहे तब वह ध्यान कहा जाता है। और ध्यान की स्थिति 12 गुनी अर्थात् 12 दिन तक रहे तो समाधि कही जाती है। इस दशा में अनन्त स्वप्रकाश ज्योति (ब्रह्म) का दर्शन होता है और उसके दर्शन से कर्मकांड तथा जन्म-मरण की निवृत्ति हो जाती है। यह बात गोरक्ष पद्धति में मिलता है। *धारणा पंचनाडीभिर्ध्यानं स्यात्षष्टिनाडिकं। दिषद्वादशकेन स्यात्समाधिः प्राणसंयमात् ॥* अर्थात् पाँच नाड़ी (घड़ी) तक प्राण का संयम करने को धारणा कहा जाता है, छः घड़ी तक प्राण का संयम करने को ध्यान कहा जाता है और 22 दिन तक प्राण संयम करके प्राणवायु के तमाम व्यापारों को रोक रखने को समाधि कहा जाता है।

इस प्रकार सहित कुंभक प्राणायाम के अभ्यास का विवेक है। जब हम श्वास लेते हैं तब यह प्राण में प्रवेश करते समय स्वाभाविक गति 10 आंगुल होती है और निकालते समय 12 आंगुल होती है, यदि इन बारह आंगुल में से 1 आंगुल गति कम करने में आए तो निष्कामता प्राप्त होती है। 2 आंगुल गति कम करने से आनंद, 3 आंगुल गति कम करने से कवित्वशक्ति, 4 से वाचासिद्ध, 5 से दूरदृष्टि, 6 से आकाशगमन, 7 से प्रचंड वेग, 8 से सिद्धि, 9 से नवनिधि, 10 से दशमूर्तित्व और अनेक रूप लेने की शक्ति, 11 से अपनी छाया का नाश और 12 आंगुल गति कम करने से सद्गति प्राप्त होती है, गंगामृत का प्राशन होता है। उसके पश्चात् उस योगी को खाने-पीने की आवश्यकता महसूस नहीं होती क्योंकि वह अमृत पीता है।

(2) बाह्यकुंभक का अभ्यास—आंतरकुंभक को **वैदिक प्राणायाम** कहते हैं और बाह्यकुंभक को **तांत्रिक प्राणायाम** कहते हैं। क्योंकि कहा है कि *पूरणादिरेचनीतः प्राणायामस्तु वैदिकः। रेचनादि पूरणांतः प्राणायामस्तु तांत्रिकः*। अर्थात् कुंभक को प्रारंभ में पूरक और अंत में रेचक वह (अंतः कुंभक) वैदिक है और उसके प्रारंभ में रेचक और अंत में पूरक करने में आता है वह (बाह्य कुंभक) प्राणायाम तांत्रिक है। पहले कहा गया है कि, हृदय के अंदर जो वायु है उसे प्राण कहते हैं और नाभि के नीचे से गुदास्थान तक के भाग में जो वायु रहा है उसे अपान कहते हैं। अब सहितकुभंक प्राणायाम में हमेशा प्राण और अपान दोनों वायु परस्पर में पूरक रेचक से होमने (मिश्र करने) के होते हैं और उनका स्तंभन करना पड़ता है। परंतु वह सब सहित कुंभक के प्रथम प्रकार वाले आंतर कुंभक में किस तरह हो सकता है उसके बारे में पहले कहा ही है। अब बाह्यकुंभक में प्राण और अपान को परस्पर होम कर गति का स्तंभन कैसे करें, उसके बारे में कहते हैं। इतना ध्यान रखें कि आंतर कुंभक के समय प्राण और अपान का स्थान हृदय और गुदा के प्रदेश में होता है और पूरक, कुंभक, रेचक समय दोनों वायु परस्पर स्तंभ पाते हैं। परंतु बाह्यकुंभक समय जब हृदय का प्राण शरीर के बाहर से आकाश में भरना हो तब अपान का स्थान बाह्य आकाश में गिना जाता है, जिससे इस कुंभक में प्राण और अपान का स्थान अनुक्रम से हृदय और नासिका के बाहर के आकाश में होता है। आंतर कुंभक के समय हृदय रूपी घड़े में प्राण और अपान को भरना होता है और बाह्यकुंभक के समय बाह्य आकाश रूपी घड़े में प्राण अपान को भरने होते हैं और उसके अनुसार सारी व्यवस्था आंतर कुंभक की दृष्टि से विरुद्ध हो जाएगी। अतः आंतरकुंभक करने के बाद जो रेचक किया जाता है, वह बाह्यकुंभक का पूरक किया था और बाहर का प्रश्वास अन्दर करके आन्तंरकुम्भक का पूरक किया। वह बाह्यकुंभक का रेचक गिना गया। यह बात योगवशिष्ठ निर्वाण प्रकरण के पूर्वार्ध के 'समाधिवर्णन' नाम के चौबीसवें सर्ग में विस्तार से वर्णन है। नासिका के अग्र भाग के बाहर से आकाश में 12 अंगुल और नीचे की जगह में बारहवां अंगुल का सिरा नासिका के सामने होता है, उसमें रहते हुए और उत्पन्न नहीं हुए श्वास की स्थिति (स्थिरता) को विद्वान **बाह्यकुम्भक** कहते हैं। हृदय से बाहर निकलते प्रश्वास की नासिका के अग्रभाग तक जो गति होती है उसको योगी **प्रथम बाह्यपूरक** कहते हैं और नासिका के अग्र से निकले प्रश्वास की बारह आंगुल तक के बाह्य आकाश में जो गति होती है उसको योगी **द्वितीय बाह्यपूरक** कहते हैं। हृदय का वायु नासिका के अग्र भाग से प्रश्वास रूप से बाहर निकल कर 12 आंगुल के अंत में अस्त होकर फिर श्वास उदय नहीं हो तब यह धीमा पूर्ण स्थिति वाला **बाह्य कुंभक** होता है, ऐसा योगी कहते हैं। नासिका की बाहर के 12 आंगुल के अंत में

श्वास उन्मुख होकर प्रथम क्षण में चलनता उत्पन्न होती है उसको **प्रथम प्रकार का बाह्य रेचक** कहते हैं और श्वास के बाहर का 12 वें आंगुल के अंत से उत्पन्न होकर नासिका से हृदय तक पहुंचना उसको **दूसरे प्रकार का बाह्य रेचक** कहते हैं। हृदय में स्थित कमलपत्र से प्राण का (उच्छवास) उदय होता है और यह प्राण बाहर निकल कर, बाहर के आकाश में 12 वें आंगुल के प्रदेश के अंत में अस्त होता है। अपान (श्वास) का उदय, बाहर के आकाश के बारहवीं उँगली के छोर में से होता है और हृदय में स्थित कमल में उसका अस्त होता है। बाह्याकाश की बारहवीं उँगली के छोर तक के आकाश में जहाँ प्राण अचेत होता है वहीं से तुरंत ही अपान उदय होता है। प्राण अग्नि की शिखा की तरह बाहर के आकाश की तरफ चलती रहती है और अपान हृदय के आकाश की ओर आन्तर प्रदेश में जल के जैसा चलता है और अपान रूप चंद्रमा बाहर से आकर देह को तृप्त और शीतल करता है और प्राणरूप सूर्य अथवा अग्नि शरीर के आंतरिक भाग को तपाते हैं। प्राणरूप उत्तम सूर्य हरेक क्षण में हृदय के आकाश को तपाकर मुँह के अग्ररूप आकाश को तपाता है। अपान रूप चन्द्रमा मुँह के अग्रभाग को भिगोता है और उसके तुरन्त बाद हृदय के आकाश को भिगोता है। प्राण अंदर के तथा बाहर के आकाश को सूर्य को प्राप्त कर पुनः स्वयं ही आह्लाद देने वाले चन्द्र को भी प्राप्त होता है और यही प्राण शरीर के चन्द्रमणी को छोड़ क्षण भर में शोषण करने वाले सूर्य को भी प्राप्त होता है। अर्थात् प्राण और अपान ये ही पवन के धर्म है। प्राण और अपान के अस्त और उदय को बराबर विलोकन हेतु बाहर का अन्धकार क्षीण होता है अथवा न भी हो तो उससे कुछ होता नहीं है, परन्तु हृदय के अन्धकार का क्षय तो होना ही चाहिये। बाहर के अन्धकार के क्षीण होने से केवल जगत का ही प्रकाश होता है, परन्तु हृदय का अन्धकार क्षीण होता है तो आत्म स्वरूप का प्रकाश होता है और मुक्ति प्राप्त होती है। हृदय कमल की कोटरों में जिसे अपानरूपी चन्द्र अस्त होता है उसी स्थान से बाह्य आकाश की ओर प्रवृत्तिवाला प्राण रूपी सूर्य उदय होता है। जिस प्रकार छाया अस्त होती है, उसी स्थल में तुरन्त धूप का उदय होता है। उसी प्रकार अपान हृदय में अस्त होते हुये उसी स्थल में प्राण उदय होते हैं और जिस प्रकार धूप चारों ओर नष्ट होते ही छाया प्रकट होती है उसी प्रकार प्राण बाह्य आकाश में अपना नष्ट होता है और क्षणमात्र में अपान उदय होता है अर्थात् कि, प्राण की जन्मभूमि में अपान नष्ट होता है और अपान की जन्मभूमि में प्राण नष्ट होता है। काकभुशंड वशिष्ठ मुनि को कहते हैं कि हे महामुनि! प्राण अस्त होते हुये और अपान हृदय प्राप्त होने के उन्मुख होते हुये बाहर के प्रदेश में जो बाह्य कुंभक होता है उसके लम्बे काय तन्तु अवलम्बन करने में आता है। अर्थात् अपान की उदयपन प्रवृत्ति को रोक सकें तो फिर किसी बात का शोक नहीं करना पड़ता है। प्राण के बाह्य

आकाश अस्त होने के पश्चात् अपान के उदय बिना का जो क्षण होता है, वह अप्रयत्न सिद्ध बाह्य कुंभक कहलाता है। इस कुंभक को सिद्ध करने की रीति इस प्रकार है—पिंगला से 8 गिनने तक श्वास को बाहर निकालें (अर्थात् आंतर कुंभक से रेचक और बाह्य की दृष्टि से पूरक करना) फिर दोनों नासिका को बंद करके 16 गिनती तक गिनने तक प्रश्वास बाहर रोक रखें और 4 गिनती तक इड़ा द्वारा श्वास लें (अर्थात् आंतर कुंभक की दृष्टि से पूरक करना और बाह्य कुंभक की दृष्टि से रेचक करना) फिर लिए हुए श्वास को इड़ा बंद रखके पिंगला से 8 गिनने तक बाहर निकाल दें और पुनः 16 गिनने तक प्रथम अनुसार बाह्य कुंभक करें। इस प्राणायाम से कुल-मिलाकर छाती, फेफड़े वगैरह बहुत बलवान होते हैं। जैसे-जैसे अभ्यास बढ़ता जाय और संख्या का प्रमाण हमेशा 2:4:1 इस प्रकार रखना चाहिए। जिस प्रकार पुष्प में सुगन्ध रहती है, वैसे प्राणरूपी पुष्प के अन्दर निवास करता हुआ प्राण के अधिष्ठान रूप और प्राण रहित चैतन्य रूप आत्मा का चिन्तन करना। जिस प्रकार जप के अन्दर रस रहता है उसी प्रकार अपान रूपी प्राण के अन्दर अपान के अधिष्ठान रूप और प्राण अपान से रहित चैतन्यरूप आत्मा का चिन्तन करना। जो चैतन्यतत्त्व रूप हृदय में और बाहर प्राण तथा अपान की कुंभकरूप है और रेचक तथा पूरकरूपी विवर्त्त प्राप्त होता है, उसका अनुसंधान करना। इस प्रकार धीरे-धीरे रोज नियमपूर्वक भक्ति पूर्वक अभ्यास करना चाहिये।

अस्तु! इस प्रकार सहित कुंभक प्राणायाम का अभ्यास विवेक है। यह सिद्ध होने के बाद जो केवल कुंभक नाम का चौथा प्राणायाम है, उसे दीर्घकाल तक करने का सामर्थ्य प्राप्त होता है।

केवल कुंभक करने की विधि

इस कुंभक के विषय में पूर्व में कहा है तो भी याज्ञवल्क्य संहिता में नीचे अनुसार लक्षण दिया है।

रेचकं पूरकं त्यक्त्वा सुखं यद्वायुधारणम्।
प्राणायामोऽयमित्युक्तः स वै केवल कुंभकः ॥

अर्थात् रेचक नहीं करना और पूरक भी नहीं करना, परंतु शरीर के सभी छिद्रों में स्थित वायु का वहां ही सुखपूर्वक निरोध करना, वह **केवल कुंभक** है। रेचक पूरक के बिना, सहित कुंभक के अधिक अभ्यास के बल से जो कुंभक होता है उसे केवल कुंभक कहते हैं। वशिष्ठ मुनि तो कहते हैं कि जब तक केवल कुंभक सिद्ध नहीं होता है तब तक सहित कुंभक का अभ्यास चालू रखना चाहिये। इसके लिये कोई अन्य अभ्यास और साधन नहीं है। कई बार तुम्हारी ऐसी स्थिति भी हो जाती है कि श्वास-प्रश्वास कुछ भी नहीं लेते हुये साधारण रूप से 5-6 सेकंड तक रहा जा सकता

है, उसी तरह ज्यादा देर तक भी इस प्रकार रहना संभव है। कारण कि इस प्रकार से नाक और मुख खुले होने पर भी श्वास-प्रश्वास की गति बिल्कुल भी नहीं होनी चाहिये और जो इस स्थिति में अधिक समय तक रह सकता और तभी चित्त और मन शांत तथा स्थिर होता है। परंतु इस स्थिति में अधिक समय तक रहना बहुत ही कठिन है और इसी के लिए सहित कुम्भक की तीव्र अभ्यास करना चाहिये। इस कुंभक को सिद्ध करने के लिये शंकराचार्य ने एक उपाय बताया है–*त्रिकूटसंज्ञे तिमिरेंतरेखेसंस्तंभिते केवलकुंभ एव। प्राणानिलो भानुशशांकनाड्यौ विहाय सद्यो विलयं प्रयाति*॥ (योगतारावलि)। त्रिकुटी अर्थात् दो भवों के बीच प्राण की धारणा कर एक समान रूप से देखते रहने से इड़ा, पिंगला नाड़ियों में जो वायु बहती है उसका स्तंभन होता है और केवल कुंभक प्राप्त होता है।

इसको ही पतञ्जलि चौथा प्राणायाम कहते हैं। सहित कुंभक यह तीसरा प्राणायाम है और उसको ही स्तंभवृत्ति प्राणायाम नाम दिया गया है। यह प्राणायाम देश, काल और संख्या से मर्यादित होता है। इसलिए उसको परिच्छिन्न कहते हैं, परंतु चौथे प्राणायाम में ऐसी कोई मर्यादा नहीं होती है इसलिए उसको अपरिच्छिन्न कहते हैं। परंतु यह अति अभ्यास हो तो ही सिद्ध हो सकता है। कुछ योगी इस केवल कुंभक को सौ-सौ दिन तक करते हैं। यह विलक्षण बात है।

अस्तु, ऊपर लिखे प्रमाण के अनुसार प्राणायाम की सिद्धि होती है और अंतःकरण शुद्ध हो जाता है। इसमें रजोगुण वाले परमाणु होने से उसका स्वभाव हमेशा प्रवृत्ति वाला होता है जिससे एक ही विषय पर अंतःकरण अधिक समय तक स्थिर नहीं रह सकता है और जब रजस् परमाणुओं का प्राणायाम से क्षय होता है, तब अंतःकरण सूक्ष्म विषयों पर स्थिर होता है और यह प्राप्त करने के बाद ही उसकी योग्यता धारण करने में आती है। इस ग्रंथ के पृष्ठ 78-79 में लिखे अनुसार भगवान पतञ्जलि ने चित्त के निरोध के लिये जो-जो अनेक मानसिक उपाय बताये हैं उसमें यह प्राणायाम मुख्य उपाय है। **प्रच्छर्दनविधारणाभ्यां वा प्राणस्य** (अथवा प्राण के रेचक कुंभक से 1, 35) इस सूत्र से बताया है। अंतःकरण और प्राण इन दोनों की गति परस्पर सहायता की अपेक्षा रखते हैं, जिससे एक के निरोध से दूसरे का निरोध हो जाता है। मन प्राण से गतिमान होता है इसलिये प्राण बिना मन से कार्य होता नहीं, इसलिए जब वायु से प्राण का स्फुरण होता है तब मन का भी होता है और प्राण का विलय होता है तब मन का भी विलय होता है।

इस प्रकार सभी विवेक है। उसका ध्यान पूर्वक पढ़ के विचार करके उपयोग करें। **अब तक जो प्राणायाम के विषय में विस्तार से कहने में आया है, उसके बारे में संक्षेप में कहते हैं।**

पतञ्जलि के दिए हुए नाम

1. बाह्यवृत्ति—उसको ही रेचक कहते हैं। जो शरीर में वायु की वृत्ति बाह्य है ऐसा प्रश्वासरूप प्राणायाम।

2. आभ्यांतरवृत्ति—उसको ही पूरक कहते हैं। जो शरीरस्थ वायु की वृत्ति आंतर है ऐसा श्वासरूप प्राणायाम।

3. स्तंभवृत्ति—उसको ही सहित कुंभक कहते हैं, उसके नीचे अनुसार दो प्रकार होता है।

अ. पेट का तथा दूसरे भागों में रहा वायु बाहर निकाल कर नाक, मुंह बंद करके बाहर रोकना, उसको बाह्यकुंभक कहते हैं।

ब. बाहर की वायु फेफड़ा, पेट इत्यादि भागों में भर के, नाक मुंह बंद करके अंदर ही रोकना, उसको आंतर कुंभक कहते हैं।

4. बाह्याभ्यंतर विषयाक्षेपी—उसको ही केवल कुंभक कहते हैं। अर्थात् जिसमें रेचक और पूरक इन दो में से एक भी किया जाता नहीं है। यानी शरीर में उदर, फेफड़े, वगैरह सब जगह वायु है। परंतु श्वास-प्रश्वास बिलकुल चलता नहीं है और आकाश की तरह सब जगह स्थिर है। नाक, मुंह खुले हों और आकाश जैसे सभी शांत है वैसे वायु भी सभी जगह शांत, स्थिर और स्वच्छ भरपूर है तो भी श्वासोश्वास की क्रिया बिलकुल चलती नहीं है ऐसा प्राण निरोध वह केवल कुंभक कहा जाता है। इस कुंभक की स्तुति शंकराचार्य अपनी योगतारावलि में इस प्रकार करते हैं—

बंधत्रय के अभ्यास के परिपाक से प्राप्त होने वाला उसमें रेचक पूरक नहीं और विषय वासनाओं का नाश कर डालता है ऐसे केवल कुंभक विद्या उसका मैं प्रेम से सेवन करता हूँ। जिसमें श्वास प्रश्वास खूटा (समाप्त हुआ) है, जिसमें विचार की तरंगे भी स्थिर हुए हैं, ऐसी मंगलमय केवल कुंभक, स्थिति, जिसका अनुभव योगाभ्यास निपुण साधक सावधान चित्त से अनाहत चक्र में आंतर अनुभव करते हैं, जिसकी महिमा जितनी गाईए उतनी कम है। हठयोग में यदि हजारों कुंभक किए हैं, परंतु उसमें रेचक, पूरक नहीं, ऐसा केवल कुंभक जो प्राणायाम वही सर्वोत्तम है।*

---

* बंधत्रयाभ्यासविपाकजातां विर्वीजतां रेचकपूरकाभ्यां। विशोधयन्तीं विषयप्रवाहां विद्यांभजे केवलकुंभरुपाम् ॥ वैसं ही सहस्रशः सन्ति हठेषु कुंभाः संभाव्यते केवलकुंभ एव। आदि आदि।

सातवीं कला–समाध्किला

प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि

समाधि के बारे में

योग के आठ अंगों में से यम, नियम, आसन और प्राणायाम इन चार अंगों के विषय में विस्तार से कहा है। अब बाकी रहे प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि इन चार अंगों के विषय में विचार करते हैं। इन चार अंगों को निर्विकल्पयोगीन्द्रादि ने समाधि कला ऐसा नाम दिया है। उसमें प्रत्येक अंगों के बारे में भगवान् पतञ्जलि कहते हैं–

(79) इन्द्रियाँ अपने-अपने विषय के त्याग करके चित्त के स्वरूप में अनुकरण करे तब उसे प्रत्याहार कहते हैं। (80) और यह सिद्ध होने से परमरूप से वश में होती है। (81) ध्येय पदार्थ का देश विषय चित्त को वृत्ति मात्र से ही बांधना अर्थात् ध्येय मूर्त्ति के देश में चित्त की स्थापना करना, एकाग्र करना इस प्रकार की धारणा। (82) जिस पदार्थ पर धारणा की उस देश में चित्त को बाँध दिया हो तो देश में प्रत्यय (वृत्ति) की जो एकतानता होती है। (83) यही ध्यान जब-जब ध्यान पदार्थों के अर्थमात्र का निर्भास करा दें। (और ध्यान जो एक प्रकार की वृत्ति मात्र से जिससे वह) स्वयं के स्वरूप की शून्यवत् स्थिति हो तब समाधि कहलाती है।

5. प्रत्याहार

79. आसन और प्रायाणाम के अभ्यास से धारणा करने के योग्य जब चित्त हो, और किसी विषय पर से स्वयं ही उपराम पाकर अर्थात् पीछे मुड़कर स्थिर होकर बैठे, तब बाह्य इन्द्रियां भी उसका अनुसरण करके उस विषय से वापस आ जाए उसका नाम **प्रत्याहार**। **प्रति** यानि उलट, **आहार** यानी हरण करना, खींच लेना, अर्थात् शब्द स्पर्शादि विषय से उलट। जब चित्त खींच लेना वह विषयों से वापस आ जाए तब इन्द्रियों का भी चित्त का, मन का अनुसरण करना, उसके आधीन रहना वह **प्रत्याहार**। जिस पुरुष ने इस तरह प्रत्याहार से चित्त को स्वाधीन किया है और

---

79. स्वविषयासंप्रयोगेचित्तस्य स्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणां प्रत्याहारः 2,54. **80.** ततःपरमावश्यतेन्द्रियाणाम् 2,55. **81.** देशबन्धश्चितस्यधारणा 3,10. **82.** तत्रप्रत्ययैकतानता ध्यानम् 3,2. **83.** तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः 3,3.

इन्द्रियों पर सत्ता स्थापित की है वह समाधि के द्वार पर ही खड़ा है, ऐसा मानना। जिसका मन विशुद्ध और पवित्र होकर आप में एकाग्र हो सके वैसा सूक्ष्म हो रहा है और जिसकी इन्द्रियां उस मन का अनुसरण करती हैं और उसके आधीन हैं वैसे पुरुष को वृत्ति निरोध के अभ्यास से समाधि का नाम बहुत नजदीक है। अतः इस संबंध में थोड़ा विस्तार से विवेचन करें।

हमें जो ज्ञान होता है वह इन्द्रियों के द्वारा होता है। वाक्, पाणि, पाद, पायु, उपस्थ ये कर्मेन्द्रियां हैं, वह शरीर के बाहर स्पष्ट दिखती हैं। उन इन्द्रियों के साथ संलग्न दूसरी ज्ञानेन्द्रियां हैं। वे शरीर के अंदर हैं। उन दोनों का संबंध ज्ञानतंतुओं की मारफत दिमाग के साथ जुड़ा हुआ है। वर्तमान शरीर विद्या के अनुसार दिमाग के केन्द्र में **मन का** स्थान है। उस केन्द्र के द्वारा ये सब इन्द्रियां अपना-अपना कार्य करती हैं। ये सब इन्द्रियां, किसी भी अमुक पदार्थ के साथ जुड़ती हैं। तब उस पदार्थ का ज्ञान, ज्ञानतंतु के द्वारा दिमाग में पहुंचने के बाद 'यह अमुक पदार्थ है,' ऐसा भान हमें होता है। यह भान होते समय मन की सारी एकाग्रता उस पदार्थ के साथ बनी रहती है। परंतु ऐसी एकाग्रता धारण करने वाले के लिए उस पदार्थ पर वह सतत् चालू रखना बहुत कठिन बात है और उसमें भी एक ही इन्द्रिय के साथ मन का संयोग अथवा एकाग्रता एक समान रीति से अधिक देर तक टिकी रहे, यह बात तो उससे भी कठिन है। इन सब का कारण यह है कि हमारा मन हमारे स्वाधीन नहीं है। अतः वह सब इन्द्रियों के आधीन हो रहा है और उसका ही केवल गुलाम जैसा हो रहा है। मन जब किसी अमुक पदार्थ पर जा कर चिपका रहता है तब शरीर के अंदर और बाहर अनेक प्रकार की क्रियाएं शुरू होती हैं और ज्ञानेन्द्रियां और कर्मेन्द्रियां अपना-अपना काम करने लग जाती हैं। मन के अंदर इच्छा उत्पन्न होती है, अथवा तो अपने आप अमुक स्थान में जा बैठता है और अमुक पदार्थ प्राप्त करने का प्रयत्न उत्पन्न होता है और वह पदार्थ प्राप्त करने के लिए मन काबू में नहीं रहता तब मन के अधीन होकर लोग बिलकुल न करने के काम करते हैं और दुःख भोगते हैं। इसीलिए मन का निग्रह करके उसको जय करना और उसे इन्द्रियों के दासत्व में से छुड़ा कर स्वतंत्र करना।

हर एक देश में सब लोगों में आज तक यह उपदेश दिया जाता है कि भाईयों 'चोरी नहीं करना', 'झूठ नहीं बोलना', अनीति के रास्ते नहीं जाना'। यही उपदेश माता-पिता की ओर से बच्चों को, पुराण और वेदान्त के आचार्यों से अपने श्रोताओं को और शिष्यों को, राजा की तरफ से प्रजा को और शिक्षकों की तरफ से विद्यार्थियों को दिया जाता है। फिर भी चोरी करने के लिये, झूठ बोलने के बारे में उत्तेजन तो

सबकी तरफ से हमेशा मिलता ही रहता है। परंतु उसमें मुख्य विलक्षणता तो यह है कि विद्यार्थियों को, श्रोताओं को, प्रजा वगैरह सबको अमुक प्रकार के दरबार में कैसे रखा जा सकता है। उस संबंध में सरल और प्रबल उपाय कोई भी ढूंढ़ नहीं सकता है। व्यर्थ तोता जैसे उपदेश से क्या होगा? तोता रटन जैसा उपदेश देना हो तो भी 'चोरी करना नहीं', यह बात शिष्यों और विद्यार्थियों के मन में रात-दिन दृढ़ता से जम जाय, इस बारे में तो निदान सिखाना ही चाहिए। हम जो कार्य करते हैं वह लौकिक हो, अथवा हमारा निजी हो, शारीरिक हो या मानसिक हो, वह सब करने के लिए हमेशा मन को ज्ञानतंतुओं की तरफ से उत्तेजना मिलता ही रहता है। हमारा मन हमारे कहने में नही रहने के कारण और वह ज्ञानतंतुओं का केवल गुलाम बना होने के कारण हम केवल मूर्खता भरे पाप करके दुःख के चक्कर में फंस जाते हैं। हमारा मन हमारे हाथ में हो अथवा हमारा मनोनिग्रह बहुत प्रबल (दृढ़) हो तो ऐसी खराब बात हमसे कभी हो नहीं सकती। इसीलिए अपना मन अपने स्वाधीन हो और उसे इन्द्रियों की सत्ता से जल्द छुड़ाया जा सके तथा हमारे विकार और वासनाएं हमारे काबू में आ सकें। यह स्पष्ट हैं और इस स्थिति में हम आ सकें तो कोई भी खराब काम करते समय खूब विचार करके वह काम न करने की तरफ मन की प्रवृत्ति तुरंत मोड़ी जा सकेगी।

मनोजय करना, मन को अपने काबू में करना, यह सब हमें खुद करना चाहिये। दूसरे की इच्छा से अथवा मंत्र-तंत्र की युक्ति से, अथवा दूसरों के उपदेश से हमारा मन अपने काबू में आये तो उससे लाभ नहीं होगा बल्कि उलटे हानि ही मात्र होती है। दूसरे के मंत्र-तंत्र से और उपदेश से अपने मन को भी जड़ में बंद करने से जो यह बहुत दुष्ट है, वैसी दुष्ट स्थिति में उसे रहने दिया जाए।

दूसरों के मंत्रोपदेश की थोड़ी-सी भी सहायता न लेकर जो पुरुष अपना मन, विषयों में से जरूरत हो तब अलग नहीं कर सकते, वे पुरुष केवल इन्द्रियों के गुलाम बन कर रहते हैं। जब तक अन्यों के उपदेश की स्मृति रहती है, तब तक उसके मन में खराब काम करने के लिए कुछ संकोच होता है। परंतु एक बार उसकी स्मृति चली जाती है, तब पुनः पूर्ववत्, था वैसा हो जाता है। अतः जो पुरुष अपने मन से अथवा अपनी सहायता से मन का निग्रह कर सकता है वही पुरुष इन्द्रियों के दासत्त्व में से मुक्त होता है, अथवा इन्द्रियों पर सत्ता प्राप्त कर सकता है, ऐसा कर सकता है। ऐसे पुरुषों का ही स्वातंत्र्य देना अधिक योग्य है। जब तक विषयों में से हमारा मन पराङ्मुख नहीं हुआ है तब तक केवल 'चलने-बोलने-जीवित रहते हुए भी स्वेच्छा शून्य' जड़ यंत्रवत ही हैं।

धर्म, भक्ति और योग का प्रथम सोपान कौन सा?

मनोविकारों को स्वाधीन रखना, मन को इन्द्रिय विषयों से अलग करना, इन्द्रियों पर मजबूत सत्ता बनाये रखना और मन को अपनी इच्छा का दास बना देना पर धर्म की शिक्षा का, भक्ति की शिक्षा का और योग की शिक्षा का पहला अभ्यास पाठ है। इस बाबत का अभ्यास रोज त्वरा से चालू रखना। मुमुक्षु के द्वारा शरीर को खूब कस करके अभ्यास किये बिना, आत्मा को प्राप्त होने वाले जो दैवी अनुपम सिद्धि वगैरह प्राप्त कभी नहीं होंगे। मन से मन का हमेशा ध्यान करना, उसी तरह ईश्वर का भी ध्यान करना। शुरुआत में ईश्वर का ध्यान करने की तरफ मन को प्रवृत्त करना बहुत कठिन लगेगा, परंतु सतत् प्रयत्न करने से, सामर्थ्य बढ़ता जाएगा। मन और उसकी वृत्तियां अतिशय चंचल हैं, उनके बारे में भगवद् गीता में श्री कृष्ण भगवान् का और अर्जुन का संवाद थोड़ा देता हूँ। अर्जुन कहता है—हे मधुसूदन! चित्त को एक समान रखने से होने वाला योग जो आपने कहा, उसका आधार, चंचलता के कारण, मुझे तो मजबूत नहीं लगता। अर्थात् वह योग बहुत समय तक टिका रहेगा वैसा मुझे नहीं लगता, क्योंकि मन बहुत चंचल है, जोश वाला है, बलवान है। उसे रोकना बहुत कठिन है। वायु को रोकना जिस तरह कठिन है, वैसा ही मन को रोक रखना कठिन है।

श्री भगवान् कहते हैं—हे अर्जुन! मन यद्यपि निःशंक चंचल है और रोका न जा सके वैसा है, परंतु हमेशा अभ्यास से यानी महावरा से और वैराग्य से मन रोका जा सकता है। जिसकी आत्मा (मन) वश में नहीं हुई है उसे मेरे विचार के अनुसार योग प्राप्त होना कठिन है। लेकिन जिसने आत्मा को काबू में किया है और उसी उपाय के द्वारा जो परिश्रम कर रहा है वह तो योग को प्राप्त कर सकता है

—गीता अध्याय 6-36

मतलब कि—

ढलान से सरकने वाली गेंद को रोकने से रोकी नहीं जाती उसे यदि आप ठीक से ठोकर मारेंगे तो वह कैसे रुक जाएगी? उसी तरह नीचे रास्ते जाने वाले का मन-हृदय इसी तरह का होता है। उसके यदि आप अनुकूल होंगे तो (योग प्राप्ति के) खेल में आप नुकसान में रहेंगे।

—केशववृत्ति, पृष्ठ 302

मन बहुत ही चंचल है। वह एक भक्तिरूप है। उस मन की भक्ति की चेष्टा का वर्णन करने में सहस्र मुख वाला शेष भी हार खा जाता है। तब इस मर्कटरूपी मन को वश में कैसे किया जाए? उसके लिए कोई उपाय है या नहीं? ऐसे प्रश्न या ऐसी जिज्ञासा उत्पन्न हो तो उसके समाधान में इतना ही कहना है कि यह बात

प्रत्याहार शक्ति से साध्य होती है, जिसका मन स्वाधीन है और जिसका नहीं है उसके बारे में कठोपनिषद् में बहुत सुंदर वर्णन किया गया है। जैसा कि–

'आत्मा रथ में बैठा हुआ है, शरीर रथ है, बुद्धि उस रथ को हांकने वाली है, मन राश अथवा रस्सियां हैं, उस रथ में इन्द्रियां घोड़े हैं, उन घोड़ों के लिए विषय एक सड़क (रास्ता) है। विद्वान लोग शरीर, इन्द्रिय और मन इतनों को भोक्ता कहते हैं। जिसे विज्ञान नहीं है और जिसका मन कदापि स्वाधीन नहीं रहता, उसे सारथी को, उस, जैसे सारथी के वश में दुष्ट घोड़े नहीं रहते, उसी तरह इन्द्रियां वश में नहीं होतीं।

परंतु जो विज्ञानी होते हैं और जिसका मन सर्वकाल शुद्ध और स्वाधीन होता है। उसे, सारथी को जैसे अच्छे घोड़े वश में होते हैं वैसे इन्द्रियां भी वश में होती हैं। जो विज्ञानी नहीं है, उसका मन स्वाधीन नहीं है जो हमेशा अशुचि रहता है, उसे वह (अक्षर) पद की प्राप्ति नहीं होती। वह पुनः संसार में ही फंसता है, परंतु जो विज्ञान युक्त है, जिसका मन स्वाधीन है, जो हमेशा शुचि रहता है उसे वह पद प्राप्त होता है। उससे वह हटता नहीं है और पुनः जन्म-मरण के चक्कर में नहीं आता।

जो विज्ञानी नहीं होते उनका चित्त इन्द्रियों का अनुकरण करना होता है और ऐसे चित्त को इन्द्रियां तत्काल अपने-अपने विषय में ले जा कर उसे आंशिक करके वृत्तियां उत्पन्न करवाती हैं और अपने विषय में चलाती हैं। श्रीकृष्ण भगवान् ने भी कहा है कि *इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः* इन्द्रियां मन को बलात्कार से अपने-अपने विषयों में खींच ले जाती हैं और *पराञ्चि खानि व्यतृणत्स्वयंभूः* इन्द्रियों को स्रष्टा ने स्वभाव से बहिर्मुख की है। उन इन्द्रियों के गुण को दूर करके उससे विरुद्ध गुणों की इन्द्रियों में सिद्ध करने को **प्रत्याहार** कहते हैं। जैसे एक भंवरा एक विषय पर गिरे कि तुरंत दूसरी मधुमक्खियाँ प्रवृत्ति होकर सब उस तरफ दौड़ जाती हैं, वैसे ही इन्द्रियों का चित्त के ही अनुकूल होकर रहना प्रत्याहार है।

प्रत्याहार से इन्द्रियों का और मन का परम जय करना चाहिए

80. श्रोत्रादिक तमाम इन्द्रियों का और मन का निरोध कर के स्थिरता धारण करना, यही योग कहा जाएगा, यही परमतप है और स्वर्ग की प्राप्ति के अनुरूप है। अतः उपवास, प्राणायाम, एकांतवास तथा विज्ञान विचारों से इन्द्रियों का दमन करके मन को मार डालना चाहिए। जो पुरुष जिह्वा, उपस्थादिक इन्द्रियों में लुभा जाकर भोग भोगने में प्रवृत्त होते हैं उनके मन कुत्तों की माफिक भटका करते हैं, जो जितेन्द्रिय हैं, सत्य भाषण करने वाले हैं और जिनके मन स्वच्छ रहते हैं उनका तप दिन प्रतिदिन वृद्धि प्राप्त करता रहता है। कहा गया है कि–

मनसश्चेन्द्रियाणां च निग्रहः परमं तपः।
तज्यायः सर्वधर्मेभ्यः स धर्मः पर उच्यते ॥

मन और इन्द्रियों का निग्रह करना ही परमतप है और वही तमाम धर्मों का श्रेष्ठ धर्म है (मनु)। और कहा है कि–

वेदास्त्यागश्च यज्ञाश्च नियमाश्च तपांसिच।
नैवाजितेन्द्रियस्येह सिद्धिं गच्छन्ति कर्हिचित् ॥

जो पुरुष जितेन्द्रिय नहीं है उसे वेदाध्ययन, त्याग, यज्ञ, नियम, तप वगैरह कर्मों की सिद्धि बिलकुल भी नहीं होती। (**मनु. अध्याय 2**) फिर मनु उसी स्थान पर लिखते हैं कि–

इन्द्रियाणां तु सर्वेषां यद्येकं क्षरतीन्द्रियम्।
तेनास्य क्षरति प्रज्ञादृतेः पादादिवोदकम् ॥

पांचों इन्द्रियों में से यदि एकाध इन्द्रिय अधोगति प्राप्त करे (टपके, फिसले) तो उसे पानी से भरी हुई **मशक** में एकाध सुराख हो जाय तो पानी टपकने लगता है, उसी तरह पुरुष के तमाम प्रज्ञासाध्य जपतपादि टपकने लगते हैं, अर्थात् व्यर्थ जाते हैं। इसलिए ज्ञानी पुरुष को चाहिए कि वह दोष दृष्टि से बर्ताव करें और हमेशा *भोजनांते स्मशानांते मैथुनांते च या मतिः। सा मतिः सर्वदा चेत्स्यात्को च मुच्येत बंधनात् ॥* भोजन के अंत में, श्मशान के अंत में और मैथुन कर्म के अंत में जैसी बुद्धि रहती है वैसी बुद्धि सर्वकाल रहनी चाहिए और वैसी बुद्धि जिसकी रहती है वैसा कौन सा पुरुष मोक्ष प्राप्त नहीं करता? यही बात योगवासिष्ठ में वीतहव्य मुनि ने इसके अनुसार कही है, *कुरंगालिपतंगेभमीना स्त्वेकैकशो हताः। सर्वैर्युक्तैरनर्थैस्तु व्याप्तस्याज्ञ कुतः सुखम् ॥* मृग, भ्रमर, पतंग, हाथी और मछलियां केवल-केवल एक-एक इन्द्रिय के विषय (अर्थ) को मोह में मृत्यु प्राप्त करते हैं, तो हे चित्त! तुम पांचों अनर्थरूप विषयों वाला हो फिर कहां से सुख प्राप्त करेगा? इसीलिए विषयों से अलग रहना। मनोहर पायसादि भोजन, युवा सौंदर्ययुक्त स्त्री के मुख, उसके वस्त्र और स्वर्णादिक द्रव्यों के संसर्ग से महात्मा जनों का चित्त भी चलायमान होते हैं। पराशर, विश्वामित्र, ऋषि शृंग वगैरह ऋषि भी स्त्री स्वरूप देखकर तप से भ्रष्ट हुए हैं। यह बात पुराणों में प्रसिद्ध है। अतः शब्दादि विषयों से खींची हुई श्रोत्र आदि इन्द्रियों को अल्पाहार से, एकांतवास से और आसन जय से वश करने का यत्न अभ्यासी को करना चाहिए और शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध ये पांच आत्मारूप सूर्य के किरण हैं। ऐसा चितंन करना ही प्रत्याहार है। जितना-जितना यह चराचर दृश्य जगत् दिखाई देता है उस सब को अपने हृदय में आत्म स्वरूप करके देखना, यही बात गोरक्षशतक में इस तरह वर्णन है।

यं यं शृणोति, कर्णाभ्यामप्रियं प्रियमेव वा।
अस्पर्शमथवा स्पर्शे यं यं स्पृशति चर्मणा ॥
अमेध्यमथवा मेध्यं यं यं पश्यति चक्षुषा।
अलौण्यमथवा लौण्यं यं यं स्पृशति जिह्वया ॥
अगंधअथवां गंध यं यं जिघ्रति नासया।
तं तमात्मेति विज्ञाय प्रत्याहरति योगवित् ॥
अंगमध्ये यथांगानि कूर्मसंकोचयेत् ध्रुवम्।
योगी प्रत्याहरे देवमिन्द्रियाणि तथात्मनि ॥

जितना-जितना प्रिय अथवा अप्रिय श्रवणेन्द्रिय से सुना जाता है, जितना-जितना कोमल अथवा कठिन स्पर्श का अनुभव स्पर्शेन्द्रिय से होता है, जितना-जितना कुरूप और सुरूप नेत्रेन्द्रिय से मालूम होता है। स्वाद अथवा अस्वाद जितना-जितना जीभ से जाना जा सकता है और नाक से जितना-जितना सुगंध अथवा दुर्गंध वाला सूंघा जाता है। उतना-उतना विवेकी पुरुषो को मन में लाकर, उसी में उनका विलय करके, उस मन का ज्ञान स्वरूप आत्मबुद्धि में लय करना और आत्मारूप जानना उसे योग विद्या के महात्माओं ने प्रत्याहार कहा है। अतः जिस तरह कछुआ अपने अवयवों को अंग में (उदर में) खींच लेता है वैसे योगी पुरुषों को अपनी इन्द्रियों को आत्मस्वरूप में प्रत्याहार करना और तमाम पदार्थों में जो सत्ता, स्फुरता और प्रियतारूप मात्र एक ही आत्मा है ऐसा समझ कर नाम रूपों और क्रियाओं से मन को विरक्त करके आत्मा में लीन होना ही सच्चा प्रत्याहार है।

प्रत्याहार साध्य की बहुत सरल विधियाँ

1. प्रत्याहार साध्य की युक्ति के बारे में प्रथम यह कहना कि अपने मन को भूत की तरह चाहे जहां खूब भटकने देना, इस समय इतना खास ध्यान में रखना चाहिए कि उसे अपने काबू में लाना है। इस तरह उनके भटकने की रट प्रथम-प्रथम देने से किसी-किसी समय वह ऐसे-ऐसे खराब विषयों के बारे में विचार करना शुरू कर देता है कि यह देखकर हम खुद आश्चर्यचकित हो जाते हैं और हंसी आती है और मन ही मन हम अपने मन से कहते हैं कि अरे मन! मूर्ख! यह क्या? ऐसे खराब विषयों में कहां जाता है और आखिर अपने मन की नीचता के बारे में, उसकी दुष्टता के बारे में तथा खराब विषयों के भर जाने में नीच आदत के वास्ते, हमें खुद ही तिरस्कार उत्पन्न होगा। इस तरह बहुत समय तक मन को भटकने देने से और आँखों द्वारा तटस्थ होकर देखते रहने से उसका मन मौजीपना धीरे-धीरे कम होता जाएगा और अधिक चलने से जैसे गाड़ी का घोड़ा थक जाता है वैसे मन भी थक कर शांत हो जाएगा। ऐसा अभ्यास बहुत दिन तक चालू रखने

से मन की चंचलता एकदम मंद होती जाएगी, और मन अपनी सत्ता में आने लगेगा और फिर उसे जिस तरह चलाना चाहेंगे चलेगा और जिस पदार्थ अथवा विषय का ध्यान करने देंगे उस पदार्थ में सदाबहार बन जाएगा और ऐसी स्थिति में यदि शायद उसके समक्ष हजारों विषय आयेंगे तो भी उनकी तरफ टेढ़ी दृष्टि से भी नहीं देखेगा। ऐसी स्थिति हुई कि प्रत्याहार साध्य हुआ मानना, अर्थात् मनोमय भी साध्य हुआ समझ लेना।

2. प्रत्याहार साध्य करने की दूसरी युक्तियाँ इस प्रकार हैं—पद्मासन पर बैठ कर पूर्वोत्तर उत्तम प्राणायाम 12 बार करने से अथवा केवल कुंभक करके श्वासोश्वास की गति रोकने से प्रत्याहार साध्य होता है। अथवा सिद्धासन पर बैठकर दो भृकुटियों के बीच अथवा नाक के अग्रिम भाग पर दृष्टि का जरा भी पलक गिराये बिना स्थिर दृष्टि से देखने से प्रत्याहार साधा जाता है। अथवा दोनों हाथों की अनामिकाओं से दोनों कान के द्वार बंद करके, शरीर के अंदर होने वाले नाद को सुनने से प्रत्याहार साधा जाता है। इस समय इन्द्रियों को स्थिर करके, आंखें बंद करके, श्वास को यथा शक्ति कुछ समय तक स्थिर करके नासाद्वार से उस श्वास को धीरे-धीरे छोड़ना इस अभ्यास से जठराग्नि में होने वाली सूक्ष्म आवाजें सुनाई देती हैं। जिस तरह फूल के अंदर का शड़द पीने से भंवरा सुगंध की इच्छा नहीं करता, उसी तरह नाद सुनने में आ सकता हुआ मन-चित्त पांचों विषयों की अपेक्षा नहीं करता और ऐसा होने पर धीरे-धीरे मन स्थिर होकर रहता है।

इस प्रकार प्रत्याहार सिद्ध होने से देवों की प्रसन्नता, मन की स्थिरता, निर्मलता, तप की वृद्धि, दीनता का क्षय, शरीर का आरोग्य, इन्द्रियों का परम जय और धारणा, स्वप्न, समाधि में प्रवेश करने की चित्त की योग्यता प्राप्त होती है।

6. धारणा

81. चित्त को किसी भी देश में बांधने को धारणा कहते हैं—अमुक वस्तु में देश की कल्पना करना और चित्त को एकाकार करके उसमें तल्लीन करके बांध देना, धारणा कही जाती है। मानो कि आप शिवजी, विष्णु की या किसी देव की मूर्ति लेकर अपने सन्मुख रख कर आसन लगा कर बैठे हैं। प्राणायाम से चित्त और शरीर शांत करके अंतर्मुख होने के लिए प्रयत्न करते हैं। प्रत्याहार, ये पांचों इन्द्रियां तथा अति चंचल मन को विषयों से खींचकर एकाग्र अथवा शांत हुए हैं। ऐसे समय आपकी सब इन्द्रियां चित्त का अनुसरण करती हैं। अतः जहां मन लगाएंगे, वहां वह स्थिर होगा ऐसी स्थिति में आ गए हैं। ऐसे समय उस मूर्ति की तरफ देखकर उस मूर्ति के जिनके देश में (लंबी, चौड़ी, ऊँची) दिखती है, उनके ही **देश में चित्त को बांध देना,** वह **देशमय** उसकी वृत्ति होकर रहना, केवल तदाकार

होकर रहना धारणा कही जाती है। जब उस मूर्ति के देश का त्याग करके आपका मन अत्यत चंचल होकर जहां जिस विषय पर जा बैठे उस विषय पर से दोष दृष्टि पूर्वक प्रयत्न से खींच कर, निग्रह करके उसे पुनः उसी मूर्ति के देश में इस तरह स्थापित करना कि आपके अंतःकरण की अंतरायरहित (अर्थात् उसमें दूसरे विषयों पर जाने का प्रवाह बिलकुल भी उत्पन्न नहीं होना चाहिये) ऐसी स्थिति होकर वही की वही मूर्ति आपके चित्त का विषय हो जाय। आपके मन में, स्वप्न में, जाग्रत में भी वह मूर्ति और उसकी कल्पना देखी जाए। आपका दिमाग, आपका शरीर, आपके स्नायु, आपके ज्ञानतंतु उतना ही नहीं, लेकिन आपके शरीर का हर एक भाग उस मूर्तिमय कल्पना से अथवा उसके देश से भर जाना चाहिए। उसके सिवाय दूसरी जो-जो कल्पनाएं मन में आएं सो सब फेंक दी जाएं। जीव जाय तो भी भले, उसकी परवाह भी न रखी जाए। वह साध्य होगी कि नहीं उसका विचार भी मन में उत्पन्न न हो, उस मूर्ति का जो आकार है उस आकार में देश में चित्त को बांध कर तन्मय होकर जाओगे तब जो स्थिति होगी सो **धारणा**।

धारणा करने के पदार्थ

किसी मूर्ति के या पदार्थ के देश का बाह्य चित्त को स्थापित करना वह धारणा है। इस विचार से जैसे और जितने पदार्थ लिये जाएं, वैसे और उनके देश होंगे यह स्पष्ट है, और ऐसा सोचते देश दो प्रकार के हो सकते हैं। (1) **बाह्य** और (2) **आंतर** अथवा दूसरी तरह से विभाग कहे तो (1) **आधिभौतिक,** (2) **आधिदैविक** और (3) **आध्यात्मिक** ऐसे तीन प्रकार के देश हो सकते हैं। मणि, रत्न, दीया, वृक्ष की शाखा, पर्वत की चोटी, शालिग्राम, शिवलिंग, किसी भी देव की मूर्ति, शुक्र सनकादि जैसे संतपुरुष, ईश्वर का सगुण-स्वरूप वगैरह **आधिभौतिक देशवाले पदार्थ कहलाते हैं।** सूर्य, चन्द्र, तारे, शुक्र, गुरु वगैरह ग्रह, ध्रुव का तारा, ये सब **आधिदैविक देशवाले पदार्थ हैं**। नासिका का अग्रभाग, दो भृकुटियों के बीच का भाग, हृदयपक्ष, कंठस्थान, जीभ का अग्र, मध्य और आखिरी भाग, तालु स्थान, नेत्र, माथे के ऊपर का 12 आंगुल तक का प्रदेश और पांव से घुटनों तक का शरीर का भाग (कि जिसमें पृथ्वी तत्त्व का स्थान है), घुटने से गुदाद्वार तक भाग (कि जिसमें जल तत्त्व का स्थान है), गुदा से हृदय तक का शरीर का भाग (कि जिसमें अग्नि तत्त्व का स्थान है), हृदय से दो भृकुटियों के बीच का प्रदेश (कि जिसमें वायु तत्त्व का स्थान है) और भृकुटियों से ब्रह्मरंध्र तक का भाग (कि जिसमें आकाश तत्त्व का स्थान है) **शरीर के ये सब विभाग आध्यात्मिक देश कहा जाता है।** थराड रज्जू को लगा हुआ मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपुर, अनाहत, विशुद्ध, आज्ञा और सिर में रहा हुआ सहस्रार (अजरामर) ये सब ज्ञानतंतुओं के चक्र हैं, वह भी आध्यात्मिक देश

है। धारणा करने के बाह्य और आभ्यंतर ऐसे दो देशों पर गणाव्याज हैं। उनमें **आधिभौतिक** और **आधिदैविक** देश बाह्य में गिने जा सकते हैं और आध्यात्मिक देशों को आंतर में गिना जा सकता है। आभ्यंतर में धारणा के 10 प्रदेश गरुड़पुराण में गिनाये गये हैं। जैसे कि प्राङ्नाभ्यां हृदयेचाऽथ तृतीये च तथोरसि। कंठे मुखे नासिकाग्रे नेत्र भ्रूमध्यमूर्द्धसु ॥ किञ्चित्तस्मात्पर स्मिंश्च धारणा दशकीर्तिताः ॥ प्राण, नाभि, हृदय, छाती, कंठ, जीभ का अग्र भाग, नासिकाग्र, नेत्र की भृकुटियों के बीच, मूर्धा और मूर्धा के ऊपर बारह अंगुलियों का प्रदेश कि जहां पर प्राण शरीर की लिंग शरीर की वृत्ति होती है, इस तरह आभ्यंतर प्रदेश में 10 स्थानों पर धारणा की गई है।

धारणा का अभ्यास और उससे प्राप्त अनुभव

जिस तरह कोई धनुर्विद्या को सीखने वाला अभ्यासी प्रथम स्थूल पदार्थों को लेकर बांधने का महावरा करता है। वैसे बाह्य देश में रहे हुए **भौतिक** और **दैवी** पदार्थों को साधक धारणा करने के लिए लेता है और फिर सूक्ष्म ऐसे आध्यात्मिक या आंतर देश में रहे हुए पदार्थ लेता है। बाह्य देश वाले पदार्थों में भी प्रथम स्थूल मूर्त और बिना अवयव के पदार्थ जैसे कि चद्रकांत मणि, शिवलिंग, शालिग्राम वगैरह लेना चाहिए और उनके बाद अवयव वाले मूर्त विषय जैसे कि हरि, विष्णु, गणपत्ि देव वगैरह देवों की शास्त्र में कहे अनुसार प्रतिमाएं इस तरह क्रमशः उत्तमोत्तम पदाथ लेने चाहिये। अपने समक्ष अधिक से अधिक दो हाथ की दूरी पर अथवा एक **बलिश्त** के अंतर पर कोई भी पदार्थ रखना, अथवा वहां कोई भी निशान (चिह्न) करना और उसके सामने त्राटक की तरह देखना और नेत्र के द्वारा निकलने वाली वृत्ति को स्थिर करके तन्मय हो जाना। इस तरह रोज पांच क्षण का अभ्यास करने से जब उसकी धारणा सिद्ध होने लगेगी तब आरंभ में तुषार, सामान्य प्रकाश, पंच महाभूतों के परमाणु के रंग, तेज का बिन्दु, तेज का महान् जत्था और अपने प्रतिबिम्ब का अनुभव होता है। इसे कोई **भूचरी मुद्रा** कहता है। इस प्रकार भौतिक और दैविक पदार्थ लेकर धारणा करने से चित्त की स्थिरता होती है और उस-उस पदार्थ के मुख्य-मुख्य धर्म साधक के चित्त में आविर्भाव होते हैं।

अब आध्यात्मिक देश में धारणा करने के प्रकार कहते हैं। हमारे आर्यशास्त्र के अनुसार अनादि सृष्टि की उत्पत्ति में प्रथम शब्द (उसे ही शब्द ब्रह्म, अनादि स्फाट, वाचू वगैरह कहते हैं) और उससे आकाश तत्व, उससे अग्नि अथवा तेजस्, उससे अप्-जल और उससे पृथ्वी गठित होती है, उसी तरह उत्तरोत्तर स्थूल होता जाता है और ब्रह्मांड की विराटरूप रचना गठित होती है। उन्हीं तत्वों से ब्रह्मांड का सूक्ष्म शरीर भी प्रथम से रचित हुआ होता है और उसके साथ स्थूल शरीर वाले ग्रह, तारे, पृथ्वी वगैरह गठित होते हैं। यह व्यवस्था ठीक मनुष्य देह को भी लागू है। यह तत्त्व

मनुष्य देह में कौन से स्थानों में रहे हैं उसके बारे में पहले कहा ही है। (देखिए पृष्ठ-78 कालम 44) एक तत्त्व की अमुक गति, रंग, आकृति, स्वाद पर से परीक्षा की जा सकती है। उन तत्त्वों का प्राणतत्त्व के साथ संबंध है। इसीलिए जिस समय शरीर में जो प्राण का प्रवाह होता है उस तत्त्व का प्रवाह भी चलता है। उसके बारे में प्राणायाम के प्रकरण (विभाग 2) में दिग्दर्शन किया है। ऐसा नियम है कि 2. 5 घंटा में से 50 क्षण तक पृथ्वी, 40 क्षण तक जल, 30 क्षण तक अग्नि, 20 क्षण तक वायु और 10 क्षण तक आकाश तत्व बहता है। उसी तरह आज सूर्योदय से आनेवाली सूर्योदय तक की हर एक 2.5 घटिकाओं में उस नियम से तत्त्व स्वर (श्वासोश्वास) के साथ बहते हैं। उनमें से हर एक तत्व की परीक्षा इसके अनुसार है—

तत्व का नाम	रंग	आकृति	मंत्र बीज	श्वास बहते समय	स्वभाव	स्वाद
पृथ्वी	पीला	चतुष्कोण	लँ	12 अंगुलियां	थोड़ा गरम	मधुर
जल	सफेद	अर्धचन्द्र	वँ	16 अंगुलियां	शीतल	कसैला
अग्नि	लाल	त्रिकोण	रँ	4 अंगुलियां	गरम	तीक्ष्ण
वायु	भूरा	चौकोर	यँ	8 अंगुलियां	थोड़ा शीतल	खट्टा
आकाश	मिश्र	वर्तुल	हँ	0 अंगुलियां	मिश्र	कटु

तत्त्वों का रंग षण्मुखी मुद्रा करके (पृष्ठ 121, मूर्च्छा कुंभक देखिये) देखने से उन-उन तत्वों का वह-वह रंग मालूम होता है। कांच या कांसा पर अपने श्वास को रोक करके रेचन करने से उस पर आकृति उठती है उस पर से उन तत्त्वों को पहचानना, श्वास का वहन होते समय वह श्वास कितनी अंगुलियां चलता है उस पर से भी तत्त्व पहचाना जा सकता है, कभी-कभी एक ही तत्त्व चलता नहीं होगा। उसमें मिश्रण भी होता है। उसके अनुसार रंग वगैरह में फर्क पड़ता है और स्वाभाविक चल रहे तत्त्व के प्रकार को बदला भी जा सकता है। मानो कि अभी जल तत्त्व का प्रवाह चल रहा है और हमें अग्नि तत्त्व का काम है तो उसके अनुसार उस व्यवस्था को बदला जा सकता है। जिस तत्त्व की अपेक्षा हो उस तत्त्व के बीज मंत्र का जाप करने से वह तत्त्व चालू होता है। शुद्ध बुद्धि वाले साधक इच्छा मात्र से स्वर तथा तत्त्व बदल सकते हैं। शरीर में उष्णता बढ़ गई हो तो जलतत्त्व के रंगवाला पानी-दवा देने से लाभ हुए बिना नहीं रहता। हाल में **क्रोमोपथी** (रंग रसायन) नाम की वैदिक चिकित्सा से रोग दूर करने के बारे में प्रसिद्ध अमेरिकन डॉ. बेबिट ने शोध की है, वह इस व्यवस्था से मिलती-जुलती है। उसका मुख्य सिद्धांत यह है कि रंग के अलग-अलग योग से अलग-अलग रोग मिट जाते हैं और वह सारी शक्ति सूर्य के ताप में से ग्रहण की जा सकती है। वह इस तरह की अमुक रंग की बोतल में पानी

भरकर अमुक रीति से (सूर्य) ताप में रखने से उसमें रखा पानी अमुक गुणवाला बनता है और रंग उसी रोग को मिलता है। अस्तु, उसी तरह पांचों तत्वों में फर्क करके रोग शांत होने को संभव सोचकर योगाभ्यासी उसकी धारणा करके उन तत्त्वों की सिद्धि के द्वारा अमुक व्यवस्था कर सकते हैं। जल और वायु तत्त्व सात्त्विक है, पृथ्वी और अग्नि तत्त्व रजस्तमस वाले हैं, आकाश मिश्र है, जल, पृथ्वी, वायु से कार्य सिद्ध होता है। चंद्र-स्वर ईड़ा नाड़ी में बहुत इष्ट है। तेजस् तत्त्व से कार्य बने या न बने ऐसा कहते हैं। आकाश से विपरीत होता है। सूर्य स्वर पिंगला नाड़ी में अग्नि तत्त्व लाभ देता है। योगाभ्यास में सुषुम्णा अथवा चंद्र नाड़ी को जल अथवा तो पृथ्वी तत्त्व इष्ट है। व्यवहार कार्य, साधन वगैरह ये सब तत्त्वों के स्वभाव के अनुसार घटित होता है और इस तरह सारा शरीर विभाग में बंटे हुए तत्त्वों का संक्षेप में विवेक है। उन्हीं तत्त्वों का योगी धारणा से नीचे मुताबिक जय प्राप्त करते हैं–

पंच तत्त्वों की धारणा–(1) स्तंभिनी अथवा पृथ्वी धारणा, (2) द्राविणी अथवा तेजो धारणा, (3) वैश्वानरी अथवा जल धारणा, (4) भ्रामरी अथवा वायु धारणा और (5) शोषणी अथवा आकाश धारणा, उन पांच तत्त्वों की धारणा का अनुक्रम से पांच नाम हैं। उन्हें करने की रीति नीचे अनुसार है–

(1) पांव से घुटने तक के शरीर के उतने भाग में पृथ्वी तत्त्व का मुख्य स्थान है अतः शरीर के भाग में प्राण का निरोध करके **'लँ'** बीजमंत्र के साथ गुरुमंत्र की भावना करके, चार भुजों वाला ऐसे सृष्टि के कारण रूप श्री ब्रह्मा का ध्यान करना। इस तरह रोज दो घंटा करने से साधक सर्व व्याधियों तथा उनके कार्यों से मुक्त होता है और **पृथ्वी तत्त्व का जय** कर सकते हैं।

(2) घुटने से गुदा तक के भाग में स्थित जल स्थान में प्राणवायु का निरोध करके **'वँ'** बीज के साथ शीतलता की भावना करके, चार भुजों वाले सुंदर मूर्ति शुद्ध स्फटिक मणि के समान गौर आकृति वाले तथा पीले वस्त्र से सुगंध पुष्प वाले तथा सौम्याकृति मंद-मंद हंसने वाले मुखवाले श्री नारायण की धारणा करना, इस तरह रोज दो घंटा करने से सब पापों से मुक्त होकर **जल तत्त्व का जय** हो सकता है।

(3) गुदा से हृदय तक के भाग में स्थित अग्नि स्थान में प्राण को रोध करके **'रँ'** बीज के साथ, वह उष्णता की भावना करके, वहां त्रिनेत्र बाल सूर्य के जैसे प्रभाव वाले भस्म से लेप किये हुए सुप्रसन्न मुख वाले कर्पूरगौर श्री महारुद्र हैं, ऐसी धारणा करना, इस तरह रोज दो घंटा करने से **अग्नि तत्त्व का जय** हो सकता है।

(4) हृदय से भृकुटि तक के भाग में स्थित वायु स्थान में प्राण का रोध करके **'यँ'** बीज के साथ वहनता-उत्पत्ति को स्वरूप की भावना करके सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान, शांत, सर्वव्यापक, सर्व के कारण भगवान् ईश्वर हैं, ऐसा चिंतन करके धारणा करना, ऐसा रोज दो घंटा करने से **वायु तत्त्व का जय** होता है।

(5) भृकुटि से ब्रह्मरंध्र तक के आकाश तत्त्व के स्थान में प्राण का रोध करके **'हँ'** बीज के साथ लयता की भावना करके, ॐकार की अर्धमात्रा रूप सर्वगत् शुद्ध स्फटिक समान, गौरवर्ण तथा मस्तक संबंधी बाल चन्द्रमा और पांच मुख, दस भुजा और हर एक मुख पर तीन-तीन नेत्र, हाथ में खड्ग, शूल, पिनाक वगैरह हथियार और तमाम प्रकार के भूषणों से विभूषित, अर्धांग में पार्वती से युक्त ऐसे सबके कारणों के भी कारणरूप ऐसे श्री महादेवजी वहां हैं, ऐसा रोज दो घंटा निरंतर चिंतन करने से **आकाश तत्त्व का जय** होता है और साधक कैवल्यपद प्राप्त करता है।

पीठ की करोड सम्बन्ध मूलाधारादि चक्रों की व्यवस्था और उनमें धारणा, ध्यान वगैरह करने का सब प्रकार विस्तार से आगे **हठयोग, लययोग, मंत्रयोग** के प्रकरण में कहा जाएगा। नासिका के अग्रभाग में, तालू स्थान में, जीभ के अग्र, मध्य और मूल भाग में धारणा करने से जो अनुभव होता है उसके बारे में पृष्ठ 80-81 में विषयवती प्रवृत्ति मार्ग के वर्णन में कहा है। नाभि, हृदय, छाती, कंठ, भ्रूमध्य देश, मूर्धा और उसके ऊपर इस तरह क्रमशः उस-उस स्थान पर चित्त के द्वारा भी हुई भावना के देश में बाँध के रखना। इन सब स्थानों में कुछ स्थूल पदार्थ होते नहीं है, अतः वहां कुछ कल्पनाएं दौड़ानी पड़ती हैं। कल्पना कीजिये कि, हृदय की अंदर के अमुक भाग में मन को स्थिर करके रखना है, तो यह बात बहुत कठिन है। परंतु उसकी सरलता के लिए एक आसान उपाय तो यही है कि, वहां एक कमल है ऐसी कल्पना करना। वह कमल तेजस्वी होने के कारण उसका प्रकाश बहुत स्वच्छ है ऐसा सोचकर चित्त की वृत्तियों का प्रवाह वहां बढ़ाना, अतः चित्त स्थिर होगा। यही बात विष्णु पुराण में कही है। वह यह कि—प्राणायाम से वायु का और प्रत्याहार से इन्द्रियों का पराजय संपादन करके जिस स्थान में देश में चित्त को बांधना हो उस स्थान में हिरण्यगर्भादिक देव हैं, ऐसी कल्पना करके वहां चित्त स्थिर करना और उस देव का मूर्त्त (मालूम हो वैसा) स्वरूप कैसा है? तो वह सर्व उपाधियों से रहित है, ऐसी कल्पना करके चिन्तन करना, इसे धारणा कहते हैं। चित्त स्थिर करने के लिए कोई भी आधार न हो तो धारणा हो नहीं सकती। अतः जिसका प्रसाद युक्त मुख है। जिसके नेत्र अति सुंदर कमल पत्र जैसे हैं, जिसके गाल बहुत सुंदर है, जिसका कपाल अति विस्तार वाला और कांतियुक्त है, कान में कुंडल पहने हैं, शंख के समान सुंदर जिसका गला है (वगैरह-वगैरह वर्णन से सर्वांगपरिपूर्ण) ऐसे ब्रह्मस्वरूप परमात्मा श्री विष्णु का स्वरूप चिंतनीय है।

धारणा तो चाहे उस विषय की हो सकती है, परंतु धारणा करने के लिए जिस पदार्थ या विषय को (बिन्दु, स्थान या वस्तु) लिया जाय वह उत्तमोत्तम पवित्र हो तो हमारे हलके जीवन को उच्चगामी किया जा सकेगा। वही पदार्थ यदि व्यवहार के प्रापंचिक हो तो हमारे जीवन को नीचगामी और अधोगामी कर सकेगा और उस पर

से दक्षिण और वाम ऐसे दो मार्ग हमारे शास्त्रों में और दूसरे देश के शास्त्रों में भी सुप्रसिद्ध है। इन दो प्रकारों में भेद उतना ही है कि उच्च अथवा नीच भावना पर धारणा करना। इन दोनों मार्गों का साधन धारणा है। परंतु यमनियमादि अष्टांग योग की पद्धति से विशुद्ध अंतःकरण, प्रतिभा की सहायता से जो उच्च भावना की धारणा करता है और अष्टांग योग में कही हुई पद्धति की अपेक्षा न रखते हुए यथेच्छ आहार विहार में प्रवर्तमान अंतःकरण प्रापंचिक फल की इच्छा से जो अधम भाव की धारणा करे, उनमें जो अंतर है उन्हें ही दक्षिण और वाम शब्द से दिखाने का हेतु है। मद्य मांसादि का सेवन करना या पांच प्रकार का पूजन करना अथवा भैरवी चक्र आदि की व्यवस्था करना ये सर्व वाम मार्ग के चिह्न गिने जाते हैं। यही ठीक है, उस मार्ग से सिद्ध करने के फल को सहायक होने वाले मलिन सत्त्वों के साथ संबंध रखने वाले पदार्थों का सेवन उस मार्ग की सिद्धि को आवश्यक है, परंतु शुद्ध दक्षिण मार्ग की बातें करने वाले वेदान्त और योग की अवर्ण्य सृष्टि में विहरने की इच्छा रखने वाले, जिनके-जिनके साधक धारणा के समय किसी भी प्रापंचिक भाव से नीचे बह जाते हैं वे सब अनजाने भी वाममार्ग के ही उपासक हैं और वाममार्ग के फल से मुक्त नहीं हैं। केवल मादक पदार्थ के सेवन से ही वाम मार्ग नहीं होता, शक्ति की उपासना से ही वाममार्ग नहीं होता, मादक पदार्थ का सेवन अनिष्ट फिर भी एकाग्रता का साधक होता है, शक्ति का उपासक यथार्थ समझ के साथ हो तो ऐक्य भावना का पोषक होता है। वाममार्ग वास्तविक तौर पर तो अधम भावना से आसुरी संपन्न के लक्षणों से पहचाना जा सकता है। व्यवहार की अधम भावनाओं की सिद्धि चाहने वाले वाममार्ग ही हैं। उनके जीवन में उच्चता का क्षण ही नहीं है और संकोच, कृपणता, भय, शंका और उनके परिणाम, ईर्ष्या, स्वार्थ, निर्दयता, अस्वस्थता इत्यादि का ही वे अनुभव करते हैं। अतः अष्टांगयोग पद्धति से सुपरिरक्षित धारणा कभी भी वाममार्गानुगामी होने वाली नहीं है तथापि साधक को इनकी सावधानी करवाना उचित है और इसीलिए धारणा को उच्चगामी रखने के लिए पवित्र पदार्थों, कल्पनाओं या भावनाओं की (अर्थात् भगवद्गीतादि ग्रंथों में कही हुई दैवी संपत्ति की) धारणा करना, लेकिन अधमता में वह नहीं जाता।

अस्तु! शरीर के बाह्य और आभ्यंतर देशीय पवित्र भावनामय पदार्थों में धारणा करने का प्रकार ऊपर के अनुसार है। स्थूल सूक्ष्म क्रम से देश लेते जाना, उसमें चित्त को बांधे रखना और प्रयोग का आरंभ और अंत एक ही समय करना इस तरह नियमित तौर पर रोज आठ-आठ घड़ी तक अभ्यास करने से, अभ्यासी को उस-उस विषय की धारणा तीन महीने में सिद्ध होगी। फिर अधिकार के लिए कम ज्यादा समय लगे वह बात अलग है। धारणा के अभ्यास से योग में कुछ अंश में प्रतीति होकर श्रद्धा उत्पन्न कर सके, वैसी सिद्धियां प्राप्त होती हैं।

अभ्यासी को सूचना

साधक को चाहिये कि रोज अभ्यास करें, किसी की सोहबत (मित्रता) करना नहीं, मौन धारण करना, व्यवहार के कार्यों में अधिक नहीं पड़ना; क्योंकि साथ, वादविवाद और व्यावहारिक उद्योग में मन में भ्रान्तियाँ उत्पन्न होती हैं, अतः इन सबका त्याग करना चाहिए। इस प्रकार मनोनिग्रह करके जो हमेशा योगाभ्यास करते हैं उसे उत्तम प्रकार की शांति प्राप्त होती है। रोज के अभ्यास से मन का स्थिर होने का बल प्रतिदिन बढ़ता जाता है। दृष्टि निर्मल होती है और वस्तु का स्वरूप जैसा हो वैसा दिखाई देता है। शरीर का आरोग्य बढ़ता जाता है। हम धारणा का अभ्यास करते हैं तब किसी-किसी समय हमारे कान ऊपर एरण पर ठोकने से होने वाली आवाज 'धण-धण' की सुनाई देती है। कभी-कभी तेज की ज्योति अथवा ज्वाला दिखाई पड़ती है। पहले कहा वैसे हृदय में धारणा करने से सूर्य, स्फटिक, बिजली, ओस, बादल, चंद्र वगैरह दिखाई पड़ते हैं और उन्हें देख हमारे मन में अभ्यास की सिद्धि के बारे में अधिक यकीन होता जाता है। ऐसा-ऐसा महसूस हो तब जानना कि हमारा अभ्यास ठीक चलता है।

अभ्यासी को हमेशा ध्यान में रखना चाहिए कि धारणा का शुभ उपयोग करने के लिए काव्य, चित्र, शिल्प, संगीत वगैरह कलाओं की माता प्रतिभा अथवा कल्पना* की अतिदृढ़ उपासना करनी चाहिये। मनुष्य के अंतःकरण को यदि व्यवहार की

---

* प्रत्यक्ष अनुभवों के संस्कार जैसे दृढ़ या अदृढ़ हो उसके अनुसार कल्पना स्मृति के द्वारा उत्पन्न हो आती है और उसके अनुसार कल्पना तो सब कोई कर सकता है। अमुक स्थिति, अमुक वृत्ति, अमुक व्यक्ति, अमुक प्रदेश या उन सबका मिश्रण सो तो सब कोई यथाशक्ति कर सके और उस प्रकार के मिश्रण में से कल्पना उत्पन्न हो सके या शांत हो सकती है। प्रतिभा भी एक प्रकार की कल्पना ही है, क्योंकि वह भी प्रत्यक्ष नहीं ऐसा कुछ पैदा करती है, प्रतिभा उदय होते ही प्रत्यक्ष होने का यत्न करती है और उसके अनुसार प्रतिभा आयी और भान हुआ कि तुरंत कवि भाष्य के द्वारा, चित्रकार रंग के द्वारा, शिल्पी पाषाण के द्वारा और गायक शब्द-नाद के द्वारा उसे प्रत्यक्ष करके, अपनी प्रतिभा का आनंद अपने से बाहर निकाल कर साक्षात् अनुभव करके देखने का प्रयत्न करेगा और कल्पना करके कुछ करा जाय, देखी हुई बातें वर्णन की जा सके कि बनायी हुई कहानी की जाय या एक स्वप्न का वृतान्त कहा जाय, यह बात तो आसान है, लेकिन प्रतिभा के चित्र जो हैं वह ऐसे हमेशा आसान नहीं है। कल्पना तो सूक्ष्म व्यवहार के प्रदेश को चिपकी रही भावना है। स्थूल में से ही वह उसके दूसरे पार जाने का यत्न करती है। परंतु प्रतिभा तो स्थूल तथा सूक्ष्म उन दोनों प्रदेशों के पार की भावना है और सूक्ष्म व्यवहार में से स्थूल में आने का प्रयत्न करती है। प्रतिभा के संस्कार वाले हृदय में जो भावनामय दर्शन उत्पन्न होते हैं और उन दर्शनों में हृदय को अमुक काल तक, दूसरे आने जाने-वाले भावों को तद्रूप करके पिघला देने की जो शक्ति रहती है। उसे 'रस' नाम दिया जाता है। रस जब हृदय में जमता है तब प्रत्यक्ष होने का प्रयत्न

अधमता के पार तैरते रहने का आलंबन न हो तो वह उच्चता को प्राप्त नहीं कर सकता। व्यावहारिक प्रसंग मनुष्य को निरंतर क्लेश उत्पन्न करता है। उसकी वृत्ति क्लिष्ट होने से उसके अंतःकरण में क्लेश और विपक्ष के संस्कार बंधते जाते हैं और उसके कारण एकाग्रता की भूमिका उसके हाथ में न रहने से उसका अभ्यास व्यर्थ होने लगता है। जो भाग्यशाली जन व्यवहार से ऊपर देख सकते हैं, जिसके अंतरचक्षु किसी अलौकिक सृष्टि में हमेशा बिचरते रहते हैं उसे व्यवहार का भय नहीं लगता। उर्ध्वगति के स्वभाव वाले अग्नि की शिखा शुद्ध-अशुद्ध जो कुछ अपने में गिरे उसे भस्म करके ऊर्ध्व और ऊर्ध्व जाया करते हैं। उसी तरह व्यवहार के अनेक प्रसंगों में आने पर उनमें बंध न जाते हुए उसके पार प्रतिभा वाले मनुष्य सहज निकल जा सकते हैं। व्यवहार के प्रसंग के पार निकलना यानी उस प्रसंग में विजय प्राप्त करना

करता है। भावना और स्थूल इन दो से सारा विश्व बनता है। स्थूल का स्वभाव ऐसा है कि भावना की तरफ ऊँचे जाकर अप्रत्यक्ष होते जाना और भावना का स्वभाव ऐसा है कि स्थूल की तरफ नीचे उतर कर प्रत्यक्ष होते जाना। उस स्थूल और भावना के समाधान में ही प्रत्यक्ष व्यक्ति अपना-अपना व्यवहार, अपना-अपना जगत् सोच लेते हैं। भावना को इस स्वभाव के कारण इस जमने के साथ स्वयं प्रत्यक्षता ग्रहण करने की तरफ उद्यत होता है। ऐसा रस का रवैया, वह जिस स्थान में रस हुआ है, जिस मनुष्य के हृदय में असर है उस मनुष्य की प्रकृति को अनुकरण करके बाहर दर्शन देता है। जो प्रकृति भाषा की रचना और सूक्ष्म अर्थ योजना में प्रवीण होगा उसमें रस काव्यरूप से मालूम पड़ेगा। जो प्रकृति अवयव रचना और स्थूल भाव बनाने में प्रवीण होगी उसमें रस शिल्परूप से मालूम पड़ेगा। जो प्रकृति प्रकाश और अंधकार के मिश्रण में और रंग की गूढ़ छाया में अर्थ देखती होगी उसमें रस चित्र रूप से दर्शन देगा। जो प्रकृति पदार्थ मात्र, संभव पात्र का नाम अमुक ध्वनिरूप से, अमुक शब्द रूप से व्यक्त कर सकती होगी, उसमें रस संगीत रूप से दर्शन देगा और वही रस ऐसी यथार्थ और समान व्यवस्था वाली प्रकृति के बजाय किसी विषय प्रकृति में उदय होगी उनमें इन कलाओं के बदले ईश्वरमिजाजी, संवरना, उछृंखलता इत्यादि रूप में दर्शन देगी।

इस तरह अपनी आत्मा की भावना बहिष्कार प्राप्त करती जाय, अर्थात् बाहर प्रकट होती जाती है उसके परिणाम स्वरूप ये सब सूक्ष्म कलाएं अर्थ, पाषाण, रंग और नाद-ध्वनि इन चारों के द्वारा उत्पन्न होती है। काव्य शास्त्र में शब्द का 'व्यंग्य' ऐसा अर्थ होता है। वह भी सब जगह घटित हो सकता है। काव्य का ध्वनि शब्दार्थ से व्यंजित होता है। शिल्प की ध्वनि पाषाण से व्यंजित होता है, चित्र का ध्वनि रंग से व्यंजित होता है और संगीत का ध्वनि नाद मात्र से व्यंजित होता है। अस्तु! काव्य, शिल्प, चित्र, संगीत इन सबके जीवरूप जो प्रतिभा जन्य रस वह मनुष्य को व्यवहार के नीच, अधम और संकुचित प्रदेश के पार ले जाकर एक क्षण के लिए भी व्यवहार के पार ऐसे उत्तमोत्तम, अनंत, अगाध, जीवन का अनुभव कराता है और उससे ही मनुष्य संगीतादि कलाओं में लीन होने पर अपने छोटे-बड़े झगड़ों को, लंबी-छोटी आशाओं को और इच्छाओं को, निराशा दुःख तथा राग-द्वेष के संकोचों को संपूर्ण रीति से भूल जाता है और खुद कोई महान् स्वतंत्र, संपूर्ण आनंदमय पदार्थ है, अनंत जीवन में का एक बिन्दु है ऐसा साक्षात् अनुभव कर लेता है।

नहीं, लेकिन उस प्रसंग पर जो कर्तव्य हो सो करने के बाद जय-विजय के हर्ष-विवाद की गिनती करने के लिए रुके बगैर अपनी नित्य सृष्टि में विराम लेना। ऐसी उस प्रकार से पार निकलने वाली प्रकृति रहती है। यह नहीं समझना कि ऐसी प्रकृति वाले जन का व्यवहार बहुत शिथिल और अव्यवस्थित हो जाएगा। उसकी दृष्टि उसे अधम से अधम व्यवहार में से भी कुछ सिखाती है। उसके अंदर के अग्नि व्यवहार के कचरे को भी अग्नि रूप कर सकता है। जिसे वृत्ति निरोध कर एक क्षण अनुभव हुआ है, वह कह सकेगा कि उसमें जो आनंद है सो दूसरे किसी में नहीं है और वास्तविक तौर पर आनंद किसमें है? क्षुद्र से क्षुद्र आनंद से लेकर ब्रह्मानंद तक के अनुभव मात्र में आनंद का तत्त्व वृत्ति निरोध अथवा एकाग्रता ही है। अंतःकरण में वासना के संस्कार होने से वह संस्कारों को अनुकूलता मिले। अतः तृष्णा उत्पन्न होती है। उस तृष्णा के संतोष तक आकुलता, चंचलता और विह्वलता (जिसे क्लेश, दुःख वगैरह नाम से कहते हैं वह) उद्भव होती है। तृष्णा शांत करने वाली सिद्धि हुई कि वृत्ति में से चंचलता निकल कर अंतःकरण स्थिर होता है और वैसे स्थिर दर्पण जैसे अंतःकरण में आत्मा के स्वाभाविक आनंद का प्रतिबिंब पड़ता है। दर्पण की शुद्धता के प्रमाण में प्रतिबिंब की स्वच्छता अनुभव की जाती है। पुनः वही की वही या अन्य तृष्णा उठने पर पुनः वृत्ति विक्षिप्त होती है और क्लेश अनुभव किया जाता है? यूं वस्तुतः आनंद मात्र का निदान आत्मा है और वृत्ति निरोध में ही आनंद के क्षण का संभव है।

तब व्यवहार में भी जो-जो तृप्ति यानी आनंद आवे वह वृत्ति निरोध का ही प्रकार है। यह जानने वाला और व्यवहार के पार ले जाने वाली प्रतिभा को पहचानने वाला पुरुष धारणा का अच्छा उपयोग कर सके, यह स्पष्ट है। धारणा करने के लिए जो पवित्र पदार्थ, कल्पना या भावना की गई है उसके देश में चित्त को बांधने से उस उत्तम भावना के संस्कार का अंतःकरण में संचय होने से परिणाम स्वरूप वह समग्र भाव हृदय में पुष्ट होगा और अखंड आनंद समझा जाएगा। धारणा के अभ्यास से मनुष्य को चाहे सो प्रसंग पर चाहे उतनी फैली वृत्तियों को भी तुरंत ही एकाग्र कर सकने का सामर्थ्य प्राप्त होता है और वह सामर्थ्य प्राणी होने से ही व्यवहार की अधमता से छूटने का और परमार्थ की भावना में प्रवेश करने का मार्ग हाथ में आता है। महाभारत के मोक्ष पर्व में कहा है कि :—

विपन्ना धारणास्तात नयंति न सुभां गतिं।
नेतृहीना यथा नावः पुरुषानर्णवे नृप ॥
यस्तु तिष्ठति कौंतेय धारणासु यथाविधि।
मरणं जन्मदुःखंचसुखंच स विमुंचति ॥

सुस्थेयंक्षुरधारासु निशितासु महीपते।
धारणासु तु योगस्य दुःस्थेयमकृतात्मभिः ॥

प्रमाद से की हुई धारणा साधक को शुभगति नहीं देती, क्योंकि समुद्र में बिना सुकान (पतवार) की नौका पुरुषों को उस पार ले नहीं जा सकती। उसी तरह धारणा रूपी नौका चित्तरूप सुकान की स्थिति के बिना साधक पुरुषों को संसार रूपी समुद्र को पार उतार नहीं सकती। जो पुरुष शास्त्र विधि से अप्रमत्त होकर धारणा का अभ्यास करता है वह जन्म-मरण सुख-दुःखादिक सब क्लेशों से विमुक्त होता है। अत्यंत तीक्ष्ण उस्तरे की धार पर स्थित होना आसान बात है, लेकिन विक्षिप्त चित्तवाले पुरुषों को पहले कहा है, उसके अनुसार धारणा के लिए स्थित होना बहुत कठिन बात है। जिसे योगी होने की और अभ्यास का बल बढ़ाने की इच्छा हो उसे खाने-पीने के संबंध में बहुत विचार रखना चाहिये। जिसे अतिशय त्वरा से अभ्यास करना हो उसे तो थोड़े दिनों तक दूध और कुट्टु जैसे हलके धान्य या कंद-मूल पर कुछ महीने तक निर्वाह करना चाहिये। परंतु जिनको अपना रोज का काम संभाल कर रोज थोड़ा-थोड़ा अभ्यास करना हो उनको इच्छानुसार खाना-खाने की बंधन नहीं है, मात्र वह अधिक प्रमाण में न खाया जाए उसका ध्यान रखा जाय।

परंतु उससे भी अधिक जल्दी योगी होना हो तो उसे अपने आहार में अतिशय नियमितता पालनी चाहिए। इन्द्रियों की क्रियाएं अतिशय सूक्ष्म-सूक्ष्म होती जाती है। इससे प्रारंभ में ठेठ हलकी बाबतों में भी आपकी प्रकृति में परिवर्तन हुआ मालूम पड़ेगा। जब तक आपके शरीर पर आपकी सत्ता नहीं है तब तक खुराक का एक कौर भी कम ज्यादा खाया जाएगा तो आपके पूरे शरीर में गड़बड़ शुरु होगी। आप मन को एकाग्र करने की शुरुआत करेंगे तो प्रारंभ में एकाध सूई या पिन गिरेगी तो उसकी आवाज से आपके दिमाग में मेघ गर्जना जैसा धड़ाका हुआ है, ऐसा लगेगा। इन्द्रियां जैसे-जैसे सूक्ष्म होती जाती हैं वैसे-वैसे उनके द्वारा प्राप्त ज्ञान भी अतिशय सूक्ष्म होता है। वाद-विवाद छोड़ देना और योगशास्त्र पर जिसने अनुभवसिद्ध ग्रंथ लिखे हों। उसके ग्रंथ पढ़ना। दूसरा कुछ पढ़ना नहीं। सत्य बात का श्रवण, मनन और निदिध्यासन करना। किसी भी बात का अंत लाये बिना वह बात बीच में छोड़ नहीं देना। हजार बातें एक ही समय मन पर नहीं लेना। पूर्ण योगाभ्यासी को सर्वसंग त्याग किये बिना चारा नहीं है। प्रबलता से अभ्यास करो। अपने जीव की भी दरकार (ध्यान) न रखो। यह बात साध्य होगी या नहीं उसके बारे में जहां भी विचार किये बिना केवल तद्रूप होकर अभ्यास करेंगे तो स्वामी विवेकानन्द कहते हैं कि, 'छः महीने में योगी हो सकेंगे।'

जो मूर्ख हैं, अज्ञ हैं, आलसी हैं और जिनके मन स्थिर नहीं हैं, ऐसे तमोगुणी और रजोगुणियों से योगाभ्यास हो नहीं सकता। योगाभ्यास साध्य करने के लिए निःशंक और निर्भय होना चाहिए और अपनी बुद्धि बहुत दृढ़ रखनी चाहिये। 'एक आचमनी में समुद्र का जल पान कर डालूंगा।' अथवा एक पल भर में हिमालय पर्वत को यहां लाकर खड़ा कर दूंगा' ऐसा असामान्य बल मन में लाकर आगे बढ़ा जाय तभी अभ्यास दृढ़ होगा और ऐसा होने के बाद योग विद्या का मार्ग देखा जा सकेगा और इस छोर से उस छोर तक निर्विघ्न पाया जा सकेगा।

7. ध्यान

82. मानो कि, आपने अपने सन्मुख शिव की या विष्णु की मूर्ति रखी है। आसन लगाकर, प्राणायाम करके, प्रत्याहार से चपल चित्त को विषयों से खींच लिया हो; उस मूर्ति के देश में मात्र चित्त को बांधकर-तदाकार करके धारणा की है, अर्थात् उस मूर्ति का जितना विस्तार है उतना विस्तार आपके चित्त का हो रहा है। इतना होने पर आंखें बंद करके देखी हुई (अनुभव की हुई) मूर्ति को एक सरीखी मन में लाकर, बीच में जरा भी अंतर किये बिना मैं विष्णु की मूर्ति का चिंतन करता हूँ, इस प्रकार का आपके चित्त का प्रवाह सतत्-अखंड तेलधारावत् आगे चालू रहा है। वह मूर्ति और 'मैं खुद' ऐसी चित्त की एकता हो रही है, वैसी ही वृत्ति परंपरा मन में चलती जाती है, बीच में आपके चित्त में दूसरी वृत्ति उदय नहीं होती, ऐसी चित्त की स्थिति को **ध्यान** कहते हैं। अथवा मानो कि आज श्री कृष्ण की मूर्ति देख कर उस पर चित्त एकाग्र करने का प्रयत्न करते हैं, उस मूर्ति के बारे में चित्त में विरुद्ध प्रकार की वृत्तियां उत्पन्न न हो इसलिए आप प्रयत्न करते हैं, वह प्रयत्न **धारणा** कहा जाएगा। उसी स्थिति में आगे बढ़ते हुए आंखें बंद करके, मन में उस मूर्ति संबंधी उत्पन्न होने वाले प्रत्यय (मूर्ति को आलंबन-विषय करने वाली वृत्ति) की एकभावना (एकता), यानी कि, अन्य विषयों से अलग हुआ श्री कृष्णमूर्ति संबंधी एकाग्रता का प्रवाह सो ध्यान कहा जाता है। आप जिस मूर्ति का ध्यान करते हैं, उस मूर्ति को ध्येय कहते हैं। ध्येय का ध्यान करने वाला **ध्याता** कहा जाता है और **ध्याता, ध्येय, ध्यान** तीन को त्रिपुटी कहते हैं। ध्येय वस्तुयें चित्त की वृत्ति की एकाकार प्रवाह सो **ध्यान**। धारणा में वृत्ति का पदार्थ के एक देश में स्थापन होता है, क्योंकि वृत्ति का स्वभाव पदार्थ का जितना भाग समक्ष देखा जाता है उनका ही विषय कहना होता है, अतः उसे एक देश में स्थापित करके ध्येय वस्तु का स्वरूप रचा जाता है और वह सिद्ध होने पर उस वस्तु में वृत्ति का जो एकाकार प्रवाह चलता है वह ध्यान है। परंतु ध्येय वस्तु संबंधी **प्रत्यय की**

एकतानता के तत्त्व विषयक प्रवाह दो तरह के हैं (1) **विच्छिन्न** (2) **अविच्छिन्न**। उसमें ध्यान में वह प्रवाह सतत धारारूप से नहीं होता, अतः ध्यान के अंदर 'मैं अमुक मूर्ति-ध्येय का ध्यान चिंतन करता हूँ' इस तरह की एक वृत्ति होती है; अर्थात् वह प्रवाह बीच में विच्छेद वाला—**विच्छिन्न** होता है। 'मैं अमुक ध्येय का चिंतन करता हूँ' ऐसी अंतराय के साथ वृत्ति का प्रवाह ध्येय की तरफ चलता है' अतः ध्यान में ध्येय का भान और प्रत्यय (वृत्ति) का भान इस तरह दो प्रकार के भान होते हैं। उस प्रकार का विच्छेद दूर होने से जब **अविच्छिन्न** प्रवाह चला जाता है तब दूसरे प्रकार का प्रवाह **समाधि** कहा जाता है।

ध्यान करने के पदार्थ

धारणा करने के जो पदार्थ लिये जाते हैं उस पर त्राटक क्रिया करने की तरह देखकर धारणा करके, मन जब स्थिर होता है, तब उसे आंतरज्ञान की शक्ति प्राप्त होती है। वह शक्ति प्राप्त होने के बाद उसे ध्यान की तरफ मोड़ना। ध्यान का प्रारंभ स्थूल पदार्थों से करना, फिर आहिस्ता-आहिस्ता स्थूल पदार्थ छोड़कर सूक्ष्म पदार्थ लेना, फिर उससे भी सूक्ष्मतम और सूक्ष्मतम पदार्थ लेकर निराकार पदार्थ तक पहुँचना। इस क्रम पर से ध्येय पदार्थों के अनेक तरह से वर्ग किये जा सकते हैं। विष्णु मूर्ति, शिवलिंग, सूर्यकान्तमणि वगैरह पदार्थ ध्येय के तौर पर लेना। वे **आधिभौतिक पदार्थ** के तौर पर पहचाने जाते हैं, सूर्य, चंद्र, तारे, शुक्र वगैरह **आधिदैविक पदार्थ** माने जाते हैं और विराट स्वरूप, हृदयपक्ष, भ्रूमध्यदेश, मूलाधारादि षट्चक्रों का चिंतन वगैरह **आध्यात्मिक** कहलाते हैं। कुछ योगी आध्यात्मिक ध्यान के **सगुण** और **निर्गुण** ऐसे दो भेद कहते हैं। हृदय एक कमल रूप है और उसमें **विष्णु** है, **अग्नि** है अथवा **सूर्य** है ऐसी भावना से ध्यान करने को **विष्णु ध्यान, अग्नि ध्यान** अथवा **सूर्य ध्यान** कहा जाता है, दोनों भृकुटियों के बीच अंदर के भाग में ध्यान करने को **भ्रूध्यान** और हृदयकमल में पुरुष के ध्यान को **पुरुषध्यान** इस तरह पांच सगुण ध्यान कहलाये। निर्गुण ध्यान एक है। **पदस्थ, पिंडस्थ, रूपरथ** और **रूपातीत** ऐसे चार प्रकार के **सुंदरदास** वगैरह साधुओं ने कहे हैं। ये सब पदार्थ उत्तरोत्तर उच्च-उच्च लेने के हेतु यह है कि मन को प्रथम बाह्य इन्द्रियों के ज्ञान से होने वाले कार्य जांचने की तरफ मोड़ना और फिर आंतर शक्तियों और उसके बाद मन के प्रत्याघात से होने वाली क्रियाओं की तरफ मोड़ना। इन्द्रियों के ज्ञान से होने वाले बाह्य कार्य देखने में जब मन (चित्त) निपुण बनता है तब तमाम सूक्ष्म जड़तत्त्व, सूक्ष्म जड़ आकार, देख सकने का बल प्राप्त होता है। ऐसे-ऐसे सब अंतरंग व्यापार दिखलाने (देखने) में मन जब निपुण होता है तब बाह्य क्रियाएं होने के पहले ही उसकी जानकारी में आती हैं। मानसिक

प्रत्याघात से होने वाली क्रियाओं का ज्ञान जब मन को होता है तब योगी को अनेक बातों का ज्ञान होता है, क्योंकि, हर एक ज्ञेय पदार्थ और विकार उस प्रत्याघात का परिणाम है। कोई भी छोटा पदार्थ हाथ में लेकर हम उसके सब विभाग देख सकते हैं, उसी तरह योगी मन की हर एक आघात और प्रत्याघात से होने वाली क्रियाएं देख सकता है। इसके अलावा योगी को अनेक शक्तियां प्राप्त होती हैं।

ध्यान करने का अभ्यास

पूर्वोक्त **आधिभौतिक, आधिदैविक** पदार्थ ध्येय के तौर पर लेकर उन पर धारणा करके, आंख बंद रख कर अंतःकरण में उन पदार्थों का मानसिक स्वरूप बना कर उनका ध्यान पहले कहे अनुसार करना। पांच तत्त्वों की धारणा करने का प्रकार पहले कह चुके हैं। उन तत्त्वों की धारणा संपूर्ण होने के बाद यदि उनका ध्यान करना हो तो इस अनुसार करना—पृथ्वी तत्त्व के लिए मन में किसी पर्वत की चोटी का, पुष्पों अथवा वृक्षों का स्वरूप सोचकर उनका ध्यान करना, जल तत्त्व के लिए किसी प्रवाह का ध्यान करना, आकाश तत्त्व के लिए सूक्ष्म पूर्णता का ध्यान करना और उसमें इस बाह्य आकाश में जिस तरह सूर्य, चन्द्र, तारे वगैरह हैं, ऐसा मानसिक आकाश में भी है, ऐसा मन में सोचना। इस प्रकार पंचतत्त्वों का ध्यान किया जाता है। कुछ योगी मात्र कोई भी रंग लेकर उसका ध्यान करते हैं, कोई अंधकार का ध्यान करता है। इस प्रकार **भौतिक** और **आधिदैविक** ध्येय के ध्यान का संक्षेप में विवेक हैं। आध्यात्मिक ध्यान बहुत है। उसमें भगवान् याज्ञवल्क्य ने सगुण पांच और निर्गुण एक ऐसे छः ध्यान कहे हैं। वे नीचे अनुसार हैं—

1. विष्णु ध्यान—मानो कि आपका हृदय एक कमल रूप है। उसमें आठ पंखुड़ियां हैं और वह अधोमुख है। प्राणायाम से रेचक क्रिया करेंगे तो वह कमल ऊर्ध्वमुख होगा। उस कमल की केशरवाली कर्णिका में यह भावना करो कि—

वासुदेवं जगद्योनिं नारायणमजं विभुम्।
चतुर्भुजमुदारांगं शंख चक्र गदा धरम् ॥
किरीरकेयूरधरं पद्मपत्रनिभेक्षणम्।
श्रीवत्सवक्षसं श्रीशं पूर्णचन्द्रनिभाननम् ॥
नीलोत्पलदलाभासं सुप्रसन्नं शुचिस्मितम्।
शुद्धस्फटिकसंकाशं पीतवाससमच्युतम् ॥
पद्मस्थस्वपदद्वंद्वं परमात्मानमव्ययम्।
प्रभाभिर्भासयद्रूपं परितः पुरुषोत्तमम् ॥
मनसाऽऽलोक्य देवेशं सर्वभूत हृदिस्थितम्।
सोहमात्मेति विज्ञानं सगुणं ध्यानमुच्यते ॥

सर्व जगत् के कारणरूप नारायण, अजन्मा, व्यापक, चतुर्भुज, उदार अंगवाले, शंख, चक्र और गदा को धारण करने वाले श्री वासुदेव मुकुट और बाजुबंध पहने हुए, पद्मपत्र जैसे नेत्र वाले श्री वत्स जिसके वक्षस्थल में है, ऐसे लक्ष्मीपति, पूर्ण चन्द्र समान मुख वाले, आसमानी रंगवाले कमल जैसे श्यामवर्ण शरीर वाले, सुप्रसन्न मुस्कराते मुख वाले शुद्ध स्फटिक के जैसी प्रभावाले, पीतांबरधारी, अच्युत, कमल प्रभा से जिसका रूप प्रकाशवान है ऐसे और जो सर्वभूतों के हृदय में रहे ऐसे लक्ष्मी के पति पुरुषोत्तम विष्णु भगवान् 'सो मैं हूँ' ऐसी एकाग्र चित्त से अभेद भावना करके उसका ध्यान करने को विष्णु ध्यान कहते हैं।

2. अग्नि ध्यान—यह भावना करें कि, आपका हृदय एक कमलरूप है, उस कमल की कर्णिका प्रकृति है; अणिमा, महिमा, गरिमा, लघिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशत्व और वशित्व ये आठ सिद्धियां उसकी आठ पंखुड़ियां है। पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, ये पंचभूत, पांच कर्मेन्द्रिय, पांच ज्ञानेन्द्रिय और मन मिलकर प्रकृति के 16 विकार कमल के अंदर के केशर के तंतु हैं, यह तत्त्व कमल का कंद है और ज्ञान कमल की नाल है, इस प्रकार का कमल प्राणायाम से विकसित करके उसमें ऐसी भावना से ध्यान करें कि—

विश्वार्चिषं महावन्हिं ज्वलंतं विश्वतोमुखम्।
वैश्वानरं जगद्योनिं शिखानां बीजमीश्वरम् ॥
तापयंतं स्वकं देहमापादतल मस्तकम्।
निर्वातदीपवत्तस्मिन् दिपितं हव्यवाहनम् ॥
दृष्ट्वा तस्य शिखामध्ये परमात्मानमक्षरम्।
नीलतोयदमध्यस्थविद्युल्लेखेव राजितम् ॥
नीवारशूकवद्रूपंपीताभं सर्वकारणम्।
ज्ञात्वा वैश्वानरं देवं सोहमात्मेति या मतिः ॥

अनेक कारणों से व्याप्त, महावन्हि, चारों ओर से प्रकाशवान, वैश्वानर, जगत् का कारण, शिखाओं का बीज, ईश्वर, पांव से मस्तक तक अपनी देह को नाप कर रहनेवाले, निर्वात दीये की तरह अचल शिखावान, उस शिखा में हव्य वाहन के रूप में शोभन वाले और उसकी शिखा के मध्य भाग में बिजली की तरह शोभित अक्षर परमात्मा, नीवार के अग्र भाग के समान रूपवाले पीतवर्ण ऐसे सबके कारण रूप वैश्वानर देव जो अग्नि है 'सो मैं हूँ' ऐसी एकाग्र चित्त से अभेद भावना करके ध्यान करने को अग्नि ध्यान कहते हैं।

3. सूर्य ध्यान—ऊपर कहे अनुसार हृदय को कमलरूप सोच कर ऐसी भावना करके ध्यान करें कि—

आत्मानं सर्वजगतः पुरुषं हेमरूपिणम् ।
हिरण्यश्मश्रुकेशं च हिरण्मयनखंहरिम् ॥
पद्मासनं चतुर्वक्रं सृष्टिस्थित्यंतकारणम् ।
ब्रह्मासनस्थितं सौम्यं प्रबुद्ध कमलासनम् ॥
भासयंतं जगत्सर्वं दृष्ट्वालोकैकसाक्षिणम् ।
सोहमात्मेति या बुद्धिः सा च ध्यानेषु शस्यते ॥

सुवर्णमय श्मश्रु, केश और नाखूनों से शोभित, पद्मासन पर बैठे हुए चतुर्मुख, सर्व जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और नाश के कारण भूत, विकसित हृदय कमल में ब्रह्मासन लगाकर विराजमान और अतीव सौंदर्य से युक्त ऐसे सर्वजगत् को प्रकाशित करने वाले और सब लोक के साक्षी भूत ऐसे जो सर्व जगत् के आत्मरूप सुवर्णमयमंडलाकार पुरुष सूर्य भगवान् है 'वह मैं ही हूँ' ऐसी एकाग्रचित्त से अभेद भावना करके ध्यान करने को सूर्यध्यान कहा जाता है। सब ध्यानों में यह ध्यान प्रशस्त है।

4. भ्रूध्यान–

भ्रुवोर्मध्येऽतरात्मानं भारूपं सर्व कारणम् ।
स्थाणुवन्मूर्ध्निपर्यन्तं देहमध्यात्समुत्थितम् ॥
जगत्कारणमव्यक्तं ज्वलन्तममित्तौजसम् ।
मनसालोक्यसोहंस्यामित्येतद्ध्यानमुत्तमम् ॥

दोनों भृकुटियों के बीच देह के मध्य भाग में से मस्तक तक किसी वृक्ष की तरह स्थिर और सब तरफ से प्रकाशमान तथा सर्व जगत् के कारणभूत और अतिशय प्रकाशमान ऐसी जो अंतरात्मा है उसका तेजोविंब स्वरूप से एकाग्र मन से 'वह मैं ही हूँ' उस तरह का अभेद चिंतन करने का नाम भ्रूध्यान है। सब ध्यानों में यह उत्तम है।

5. पुरुष ध्यान–पहले कहा था उसके अनुसार हृदय को कमल रूप सोच कर ऐसी भावना करके ध्यान करें कि–

उन्निद्रहृदयांभोजेसोममंडलमध्यने ।
स्वात्मान मंडलाकारं भोक्तृरूपिणमक्षरम् ॥
सुधारसं विमुंचद्भिश्शशिरश्मिभिरावृतम् ।
सहस्रच्छदसंयुक्तात् शिरः पद्मादधोमुखात् ।
निर्गतामृतधाराभिः सहस्राभिः समंततः ।
प्लावितं पुरुषं तत्र चिंतयेत्तुसमाहितः ॥
तेनामृतरसेनैव सांगोपांगकलेवरम् ।
अहमेवपरंब्रह्म सच्चिदानंदलक्षणम् ॥

उस हृदय कमल में चंद्र मंडल के मध्य भाग के अंदर हजार पंखुड़ियों वाला और अधोमुख रहा हुआ एक पद्म दशवां द्वार संबंध है। उस पदार्थ में से गिरने वाली अनेक अमृत धाराओं से आप्लावित, सुधारस से सिंचित चंद्र किरणों से आवृत्त, अमृत के सिंचन से सब अंगों से पुष्ट, मंडलाकार, तेजोमय, शरीर से युक्त ऐसा जो भोक्तारूप पुरुष है 'वही सच्चिदानंद परब्रह्म रूप 'मैं हूँ' इस तरह का अभेद चिंतन करके ध्यान करने को पुरुष ध्यान कहा जाता है। याज्ञवल्क्य मुनि ने कहा है कि जो साधक इसके मुताबिक छः महीने तक ध्यान करे सो मृत्यु को जीत सकता है और एक वर्ष तक ध्यान करे तो जीवंत अवस्था में मुक्त होता है, यह निःशंक मानना।

6. निर्गुण ध्यान–

एकं ज्योतिर्मयं शुद्धं सर्वगं व्योमवद्दृढम्।
अनंतमचलं नित्यमादिमध्यांतवर्जितम्॥
स्थूलं सूक्ष्ममनाकाशमसवर्णमचाक्षुषम्।
न रसं नच गंधाख्यमप्रमेयमनामयम्॥
आनंदमजरं नित्यं सदसत् सर्वकारणम्।
सर्वाधारं जगद्रूपममूर्त्तमजमव्ययम्॥
अदृश्यं दृश्यमंतःस्थं बहिःस्थं सर्वतोमुखम्।
सर्वदृक् सर्वतः पादं सर्वस्पृक् सर्वतः करम्।
ब्रह्म ब्रह्ममयो ऽहं स्यामिति येद्वेदनं भवत्॥

एक ज्योतिर्मय, शुद्ध, आकाश की तरह व्यापक दृढ़, अचल, नित्य, आदिमध्य अंत से रहित, स्थूल, सूक्ष्म, अनाकाश, असवर्ण, अरूप, अरस, अगंध, अप्रमेय, अनामय, आनंद स्वरूप, अजर, त्रिकालाबाध्य, सत्, असत्य स्वरूप, सर्व जगत् का कारण, सर्व का अधिष्ठान, अमूर्त, अजन्मा, अविकारी, अज्ञानी जनों को अदृश्य, ज्ञानी जनों को दृश्य, सर्व के अंतर और बाहर स्थित, सबकी तरफ मुखवाला, सर्व दृष्टा, सर्व की तरफ पांववाला, सर्व की तरफ त्वचा वाला और सर्व की तरफ हस्तवाला ऐसा जो अनंत ब्रह्म है 'सो ब्रह्म मैं ही हूँ' इस प्रकार एकाग्र चित्त से चिंतन करने को निर्गुण ध्यान कहते हैं।

इस प्रकार दूसरे अनेक ध्यान हैं परंतु उन सबमें यह सगुण-निर्गुण ध्यान ही मुख्य है। उपनिषद् ग्रंथों में दहरपुंडरीक में ब्रह्मोपासना का महात्म्य बहुत देखा जाता है। अतः उसके बारे में कहता हूँ–

दहरपुंडरीक में ब्रह्मोपासना–इस दिशा में जो महान् भव्य और विस्तीर्ण आकाश है, उसमें स्वर्ग पृथ्वी दोनों स्थित हैं वैसे अग्नि और वायु, सूर्य और चन्द्र, विद्युत और तारागण, और जो-जो कुछ हैं या नहीं हैं सो सब इस विश्व में स्थित हैं।

जिस तरह से सब विश्व में (ब्रह्मांड) स्थित हैं वैसे हमारे पिंड में भी हैं। यह शरीर ब्रह्मपुर है, उसके अंदर दहरपुंडरीक वेश्म है। दहर यानी अल्प, पुंडरीक यानी कमल के जैसा और वेश्म यानी गृह, अर्थात् इस शरीर के अंदर जो छोटा हृदय कमल रूप गृह है उसके अंदर, इस स्थूल ब्रह्मांड में आकाश की तरह दहराकाश (हृदयाकाश, अल्प अंतराकाश) है। उसके अंदर स्वर्ग, पृथ्वी, अग्नि, वायु, सूर्य, चन्द्र, विद्युत, तारागण, सर्वभूत और सर्व काय स्थित है। किसी कारण से शरीर जीर्ण हो अथवा नष्ट हो तो भी उस हृदयाकाश में का ब्रह्म जरा मृत्यु को प्राप्त नहीं करता। वह ब्रह्मरूप पुर सत्य है। उसमें काम स्थित है। वह आत्मा **अपहतपाप्मा** (अर्थात् नष्ट हुआ है धर्म अधर्म नाम का पाप जिसका वह) है, **विजर** (जरा नष्ट हुई है वैसा), **विमृत्यु** (मरण रहित), **विशोक** (शोक नष्ट हुआ है वैसा), **विजिघत्स** (खाने की इच्छा से रहित), **अपिपांस** (पीने की इच्छा से रहित), **सत्यकाम** और **सत्य संकल्प** है। वह आत्मा इस हृदय संबंधी है, उसे जो जानता है वह स्वर्ग (हृदयगत ब्रह्म) को प्राप्त करता है। इसीलिए वही अमृत अभय है, ब्रह्म है और उस ब्रह्म का नाम **सत्यं** (सत्य) है। यह सत्यं शब्द 'स', 'ती', 'यं' इन तीन अक्षरों से हुआ है। उनमें स यानी अमृत, ती यानी विनाशी, और यं यानी नियमन करना, अर्थात् स और ती अमृत (अमर) और विनाशी इन दोनों नियम में लाने वाले, जो यह सब जानता है सो स्वर्ग लोक प्राप्त करता है। अस्तु, यह सब विवेक श्री छान्दोग्य उपनिषद् के आठवें प्रपाठक में हे तब इस विचार के अनुसार आपका हृदय एक कमलरूप है ऐसा सोचें, उस हृदय कमल की पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु, आकाश, मन, बुद्धि और अहंकार इन आठ प्रकृति रूप आठ पंखुड़ियां हैं, ऐसी कल्पना करें, उस हृदयकमल के अंदर जहां खाली भाग है वहां एक तेजस्वी ज्योति जलती है वैसा सोचो, वह ज्योति आत्मा है ऐसा मान लें, उस ज्योति में और दूसरी एक तेजस्वी खाली जगह है, ऐसा सोचो, वही आपका परमात्मा है यह निश्चय पूर्वक जानें। उस हृदयस्थ पर धारणा करके उसका ध्यान धरो। इस हृदयाकाश का वर्णन करते हुए कोई साधक कहता है कि–

(यह काव्य में है यहां उसका भावानुवाद है।)

सुख साधने के लिए जीव जगत् में विविध वस्तु ढूंढ़ता है। शब्दादि विषय संग्रह करके, सुख प्राप्ति मानकर खुश होते हैं। लेकिन सच्चा सुख जरा भी नहीं मिलता और अंत में विनाश ही होता है। मनुष्य रूपी देह धारण करके अनवेष्टव्य (अनवेषण के योग्य तो) हृदयाकाश ही है।

जो व्यक्ति सुख प्राप्त करने का यत्न करता है वह दुःख देकर ही शांत होता है। दुःख रूपी अग्नि में बहुत जलने पर भी वह शांत नहीं होता। संसार की सब प्रवृत्तियां मृत्यु का महापाश है, निःसार संसृष्टि (संसार) के लिये अनवेष्टव्य हृदयाकाश है।

सूर्य या नभस्थित अगणित तारामंडल, महाजल निधि में मौलिक रत्न गंभीर जल ये सब अनवेष्टव्य नहीं है उनसे सुख की आशा नहीं है। सुख के लिए तो एक अनवेष्टव्य हृदयाकाश है।

गिरितल या शिखर अन्वेष्टव्य नहीं है। भूस्तर, स्वर्णधात्वादि की खानें, पर्वत के अंतमयप्रदेश, जहाँ सिद्धेश्वरों का वास है, वह मेरू सृष्टिस्तंभ भी अन्वेष्टव्य नहीं है। जगत् में जीव के लिए अन्वेष्टव्य मात्र हृदयाकाश है।

नीचे गहरे पाताललोक में स्थित शेषनाग, वैभव की जहाँ कमी नहीं है ऐसे ऊँचे भुवर (अंतरिक्ष) लोक अन्वेष्टव्य नहीं है। आखिर में तो वहाँ भी पतन का ग्रास है। इस जगत् में अन्वेष्टव्य तो सुखद हृदयाकाश ही है।

जहाँ कोई विरल योगी महाधन को ढूंढ़ता है और उसे प्राप्त करने के बाद पूर्ण होकर अक्रिय बनता है। जहां सूर्य चन्द्र प्रकाशक नहीं है। प्रकाशन तो एक आत्म प्रकाश है, सुख भोगने की इच्छा वालों को यहां अन्वेष्टव्य हृदयाकाश है।

भूमि, आप, अनल (अग्नि), अनिल (वायु), नभ, मन निश्चय करने वाली बुद्धि और अहंकार सहित प्रभु की भिन्न प्रकृति अष्टधा है, हृदय पद्मदल पर कली में हृषिकेश निवास है, वह हृदय पद्म के अंदर रहा हुआ हृदयाकाश अन्वेष्टव्य है।

हे जनों, यदि आप दुःख टालना चाहते हो तो चारों दिशाओं में भ्रमण क्यों करते हो। इस तन मन का भ्रमण छोड़ कर अपने शरीर में ही सत्वर शांति प्राप्त करें। जहां ब्रह्म का वास है उस हृदय पक्ष में ये सुख उठा लो। सब कुछ छोड़ कर शरीराकाश को ही अन्वेष्टव्य करें।

अन्वेषण के लिए, न तो पर्वत पर जाना है न तो अरण्य में जाना है। शरीर के वस्त्र भगवा करके न तो त्यागी होना है। अपने गृह में गुरु द्वारा किया हुआ उपदेश ही योग्य प्रयास है। गृही साधक के लिए तो अपने घर ही हृदयाकाश अन्वेष्टव्य है।

क्रमशः अधिक व्यवहार छोड़कर अधिक निवृत्ति प्राप्त करके विषयाभिमुखवृत्ति को विषयों से रोककर, वृत्ति को हृदय के साथ मिलाकर जब तक श्वास है तब तक विघ्न आने पर भी अडिग रह कर आगे बढ़ना और मरणांत तक यत्न करके हृदयाकाश को अन्वेष्टव्य करना है।

श्रेयः साधक अधिकारी वर्ग की सदुपदेश श्रेणी में के चतुर्थ सदुपदेश में कोई विद्वान हृदयाकाश के अन्वेषणार्थ अनुशासन करते हैं कि—

ढूंढ़ो हृदयाकाश, साधकों! ढूंढ़ो हृदयाकाश.....

जहां बसत हैं विश्वपति स्वप्रकाश साधको! ढूंढ़ो...

बुद्धि को प्रबोध करके, वृत्ति को रोधकर, अष्टदलान्वित पद्म में प्रवेश करो तो अष्टदल में अष्ट प्रकृति प्राप्त करेंगे, उनकी तरफ जरा भी लक्ष नहीं देना, मध्य कली

में भी सद्य बहेंगे, वहाँ स्थिति कर्तव्य है, वह परम गंतव्य स्थान है। वहां ठहरने से सब दुखों का नाश होता है। साधकों! ढूंढ़ो हृदयाकाश अंतर्मुख साक्षी प्रयत्न से देखना, मन को हरने वाली चैतन्यज्योति में मग्न रहना, असंख्य जन्म के पालक होना, यही कर्तव्य की अवधि है, यही प्राप्तव्य का अवधि है। हृदय शांत रखकर मिथ्या चिदाभास को टालना चाहिये। साधकों ढूंढ़ो हृदयाकाश।

गरिमा, लघिमा, महिमा, अणिमा, प्राकाम्य, प्राप्ति, ईशिता, वशिता यह शास्त्र प्रसिद्ध अष्ट सिद्धि हैं। हृदयाकाश को ढूंढ़ने से जागृति आती है। चिद् रस का अघाओ तक पीओ और अमरत्व का अनुभव करो और जन्ममरण की त्रास को मिटाओ। साधकों ढूंढ़ो हृदयाकाश।

ध्यान महात्म्य

ध्यान का महात्म्य बयान करते हुए ध्यान बिंदु उपनिषद् में कहा है कि यदि *शैलसमं पापं विस्तीर्णं योजनान् बहून्। भिद्यते ध्यानयोगेन नान्यो भेदः कथंचन॥* और शंकर भी विवेक चूड़ामणि में कहते हैं कि *यथा सुवर्णं पटुपाकशोधितं त्यक्त्वा मलं स्वात्मगुणं समृच्छति। तथा मनः सत्वर जस्तमोमलं ध्यानेन संत्यज्य समेति तत्त्वम्॥* अर्थात् पर्वत जितने ऊँचे और विस्तीर्ण पाप हो तो ध्यान करने से उन सबका भेदन हो सकता है। दूसरे उपाय से नहीं होगा, जिस तरह क्षार (नमकीन पानी) में डाला हुआ सुवर्ण अपना मल फेंककर शुद्धि उज्ज्वल गुण प्राप्त करता है। उसी तरह ध्यान रूपी क्षार से मन का रजो, तमोगुण रूप मल धुलकर सत्त्व गुण का प्रकाश होता है। छांदोग्योपनिषद् में भी वही बात सनत् कुमार ने नारद जी से कही है कि चार वेद, इतिहास, पुराण, पित्र्य, राशि, दैव निधि, देवविद्या, ब्रह्मविद्या, भूतविद्या, क्षत्रविद्या, नक्षत्रविद्या, सर्पदेवजननविद्या, यह सब नाम मात्र हैं, अतः वह उपासना करने योग्य है। अतः जो उनकी उपासना करते हैं उसे जितना नाममात्र का विषय है उसमें स्वेच्छानुसार प्रवृत्ति हो सकती है। इस पर नारद कहते हैं, हे भगवन्! नाम से क्या अधिक है? सनत्कुमार कहते हैं, नाम से वाक् अधिकतर हैं, क्योंकि वाक् से ही चारों वेद, उपवेद, इतिहास, पुराण, वगैरह पूर्वोक्त विद्याओं को जाना जा सकता है, और पृथ्वी, स्वर्ग, वायु, आकाश, जल, तेज, देव, मनुष्य, पशु, पक्षी, तृण, वनस्पति, श्वापद, कीट, पतंग, चींटी, तक सर्व जगत् को और धर्म, अधर्म, सत्य, असत्य, साधु, असाधु और हृदयज्ञ, तथा अहृदयज्ञ को वाक् से ही जाना जा सकता है। यदि वाक् न होती तो धर्म, अधर्म, सत्य, असत्य, साधु, असाधु को जाना नहीं जा सकता था। नारद कहते हैं–भगवन् वाक् से क्या अधिक है? सनत्कुमार कहते हैं–वाक् से मन अधिकतर है क्योंकि मन वाक् और नाम दोनों का अनुभव कर सकता है और उस मन से संकल्प अधिकतर है, कारण मन, वाक्, नाम की उत्पत्ति संकल्प स्वरूप है

और सिद्धि भी संकल्प में होती है, अर्थात् वह सब संकल्प में प्रतिष्ठित है। स्वर्ग और पृथ्वी, वायु और आकाश, जल और तेज, संकल्प को करने वाले की तरह हैं। उस संकलृप्ति के कारण (संकल्प के निमित्त) वर्षा समर्थ बनती है। वर्षा की संकलृप्ति के कारण अन्न, अन्न के कारण प्राण, प्राण के कारण मंत्र, मंत्र के कारण कर्म और कर्म की संकलृप्ति के कारण लोक समर्थ बनता है। लोक की संकलृप्ति के कारण सर्व जगत् स्वरूप की पूर्णता अर्थात् यह प्रसिद्ध सर्व जगत् जो फलस्वरूप अवसान वाला है, वह सर्वसंकल्प रूप मूल वाला है। अतः वह संकल्प श्रेष्ठ है। संकल्प से चित्त अधिकतर है, क्योंकि, जब प्राप्त हुई वस्तु को 'यह इस तरह प्राप्त हुई' इस तरह चेतना की जाती है तब अर्थ का ग्रहण और त्याग संकल्प से होता है, उसके बाद मनन किया जाता है और फिर मन वाक् को प्रेरित करता है, वह वाक् नाम को प्रेरणा करता है, नाम से मंत्र की और मंत्र से कर्म की एकता होती है। तब संकल्प से कर्मफल तक की जो-जो वस्तुएं हैं वह चित्त स्वरूप (चित्त से उत्पत्ति वाली) हैं, चित्तरूप एक आयतन (आश्रय स्थान) वाली है और चित्त में प्रतिष्ठित है। चित्त से ध्यान अधिकतर है। क्योंकि ध्यान देवतादिक आलंबनों के बारे में अचल और भिन्न नीतियां–विजातीय प्रत्यय-से अंतराय रहित प्रत्ययों की संतान है, जिसे 'एकाग्रता' कहते हैं। जिस तरह योगी ध्यान करते हुए ध्यान के फल को प्राप्त करता हुआ निश्चल होता है वैसे *ध्यायतीव पृथिवी ध्यायनीवान्तरिक्षं ध्यायतीव द्यौर्ध्यायंतीवाऽऽपोध्यायन्तीव पर्वता ध्यायन्तीव देव मनुष्या स्तस्माद्यइह मनुष्याणां महत्तां प्राप्नुवन्ति ध्यानापादा ँशा इहैव ते भवंत्यथ येऽल्पाः कलहिनः पिशुना उपवादिनस्तेऽथ ये प्रभवो ध्यानापादा ँशा इवैव ते भवन्ति। ध्यानमुपास्वेति* अर्थात् पृथ्वी ध्यान करती हो वैसी (स्थिति) है। उसी तरह अंतरिक्ष, स्वर्ग, जल, पृथ्वी, देव, मनुष्य, ध्यान करते हो वैसे स्थित है। इसीलिए उनको जो महत्त्व प्राप्त हुआ है वह सब ध्यान के फल के एक अंशमात्र के समान है। परंतु जो अधम, लड़ाकू, दुर्जन और निन्दक होते हैं वे सब ध्यान नहीं करने से ऐसी स्थिति में आ पड़े हैं। इसलिए हे नारद! तू ध्यान की उपासना कर। उस ध्यान से विज्ञान प्राप्त होता है। अतः ध्यान से विज्ञान अधिकतर है। अस्तु, इस तरह उपनिषदों में ध्यान को महत्व दिया गया है।

अनुभवजन्यज्ञान, स्मृतिरूपज्ञान, कल्पना-भावनारूप, भ्रमरूपज्ञान और ध्यानरूप मानस भावना से प्राप्त होनेवाले सत्यज्ञान का परस्पर भेद

पहले सूर्यध्यान, विष्णुध्यान, वगैरह अनेक ध्यान करने की पद्धति ही है, उन सब में अमुक भावना अथवा कल्पना करने के बारे में कहा गया है। परंतु कल्पना या भावना स्वतः सत्यज्ञान नहीं है अर्थात् भ्रमरूप या अयथार्थ ज्ञान है, अतः वह

अयोग्य है ऐसी शंका प्राप्त होना संभव है। परंतु ध्यान तो अनुभवरूप ज्ञान से और स्मृतिरूप ज्ञान से भिन्न है और केवल मनोराज्य से भी वह अलग है। हमने शालिग्राम अथवा शिवलिंग जैसा कोई पदार्थ, आंख के सम्मुख आने के बाद देखा, और उसके बाद उस पदार्थ को अनुकूल चित्त की स्थिति हुई तो उसे ज्ञान अथवा यथार्थ अनुभव कहते हैं। यह अनुभव केवल वस्तु परतंत्र है, क्योंकि अनुभव को प्रकट करने वाले इन्द्रियां और अर्थ के समागम रूप सामग्री पेश होने के बाद अनुभव करने वाला मनुष्य को वह अनुभव प्राप्त करने की इच्छा हो या न हो तो भी वह अनुभव प्रकट होता है। हमारे समक्ष पदार्थ पड़ा है और हमारी चाक्षुषवृत्ति उस पदार्थ के साथ संबंध में आती है और मन जागृत हो तो उस पदार्थ का ज्ञान हमें इष्ट हो या न हो तो भी प्रकट तो होगा ही। इस तरह ज्ञान की सामग्री पुरुष से शायद परतंत्र हो, लेकिन ज्ञान सामग्री पुरुष के सन्मुख पेश होने के बाद ज्ञान का आविर्भाव (उत्पत्ति) पुरुष के हाथ में नहीं रहता, अर्थात् ज्ञान वस्तु के आधीन बरताव करता है और ज्ञान प्रमाण प्रवृत्ति से ही प्रकट होता है, अन्य मनोवृत्ति से प्रकट नहीं होता।

स्मृति एक प्रकार का यथार्थ ज्ञान है, लेकिन अनुभव और स्मृति में फर्क मात्र इतना ही है कि स्मृति में प्रत्यक्ष पदार्थ के अभाव में मूल अनुभव के संस्कार बल से उस पदार्थ के जैसी वृत्ति प्रकट होती है। और अनुभव में पदार्थ का साक्षात् संबंध भी जरूर रहता है, लेकिन पहले प्रत्यक्ष अनुभव में किये हुए पदार्थ के स्मृति से अनुभव में आये हुए विशेष अंश से कम या अधिक अंश का भान, स्मृति में नहीं होता है, परंतु यदि पहले अनुभव किये हुए पदार्थ का स्मृति काल में कम या अधिक अंश का भान हो तो वह वृत्ति स्मृतिरूप नहीं कहलाती है। लेकिन कल्पना अथवा भावना कही जाती है। कल्पना भ्रमरूप होने के कारण तीन प्रकार की है, वह इसके अनुसार–

(1) पहले किसी भी समय अनुभव नहीं किये हुए पदार्थ की अपनी-अपनी इच्छानुसार आकारों का आरोप करके मानसमूर्ति खड़ी करके रूप भावना, जैसे कि शेखचिल्ली की मनोराज्यवत् कल्पनाएं।

(2) मान लो कि हमने राजश्री दिनमणि नागेश्वर भट्ट नाम के किसी मनुष्य को व्यापार करते हुए देखा हो और उसी रूप में हम उसे मन में उपस्थित करें तो हमारा ज्ञान सच्ची स्मृति रूप है। लेकिन हमने उसे कोई ग्रंथ लिखते हुए देखा है। लेकिन भोजन के व्यापार में गूंथा हुआ वृत्ति में उपस्थित करें सो वह भ्रमरूप कल्पना है। मतलब कि पहले साक्षात् अनुभव में आये हुए पदार्थ का विद्यमान अंशों को अविद्यमान अंश के साथ मिश्र करके जो स्वरूप रचना, फिर वैसा मिश्र स्वरूप विश्व में हो या न भी हो वह दूसरे प्रकार की भावना अथवा कल्पना है और उतने ही अंश स्मृति में और इस प्रकार की भावना में फर्क है। यह भावना यद्यपि केवल असंभवरूप

नहीं है, क्योंकि राजश्री दिनमणि शंकर का हम भोजन करते हुए भी अनुभव कर सकते हैं। तो भी वह कल्पना अनुभव किये हुए अंश से अलग प्रकार की होने के कारण यथार्थ ज्ञानरूप नहीं है लेकिन भ्रमरूप है और अनुभव में आये हुए राजश्री दिनमणि शंकर, आकाश में उड़ रहे हैं वैसी कल्पना करे तो वह सदसद् अंश के मिश्रण से प्रकट हुई अविद्यमान विशिष्ट प्रार्थना रूप दूसरे प्रकार की भावनारूप है। इस प्रकार की भावना में पहले अनुभव किये हुए अंश होते हैं। लेकिन दूसरे नहीं अनुभव किये अंश ऐसे प्रवेश करने में, रचने में आते हैं, विशिष्ट (मूल) पदार्थ असंभवरूप बनता है, प्रथम प्रकार की केवल मनोराज्य रूप कल्पना में और इसमें फर्क इतना ही है कि, प्रथम में कोई भी अंश अनुभव का अनुसरण करता नहीं होता लेकिन दूसरे में होता है।

(३) मानो कि राजश्री बापाजी रामचंद्र नाम के किसी सद्गृहस्थ ने कोई पदार्थ अच्छी तरह अनुभव किया है, अब उनके कहने मात्र से वह पदार्थ हमने नहीं जाना, देखा हुआ फिर भी उसके विद्यमान अंशों, की यथार्थ ज्ञान उदयार्थ जो भावना की जाती है वह तीसरे प्रकार की भावना है। अमुक पदार्थ को हमने प्रसंग पर देखा हो, लेकिन जिस रूप में वह वस्तुतः है, उस रूप में सर्वांश में हम वृत्ति में उसे उपस्थित न कर सकते हो, तब जिसने वह यथार्थ अनुभव किया है और जिसके वाक्य में हमें श्रद्धा है ऐसी पुरुष के वर्णानुसार हमारी वृत्ति में उस पदार्थ के स्वरूप की रचना वह यह तीसरे प्रकार की (अधिगत पदार्थ की) भावना का उदाहरण है। यह भावना स्वतः मिथ्या ज्ञानरूप है क्योंकि हाल तो अर्थानुकूल नहीं है, लेकिन अर्थानुकूल होने की योग्यता वाली है। जब अर्थानुकूल होगी तब वह भावनारूप नहीं रहेगी, लेकिन प्रभारूप में परिवर्तित हो जाएगी। परंतु इस तरह वह भावना प्रभारूप से परिवर्तित हो जाएगी। परंतु इस तरह वह भावना प्रभारूप में परिवर्तित होने तक तो हमारे मानसिक प्रयत्न पर ही उसका आधार रहेगा। उसे अन्यथा करने के लिए अथवा बिठा देने मात्र के लिए हम समर्थ हैं। यथार्थ ज्ञान-प्रभा उत्पन्न होने के बाद वह अपनी इच्छानुसार बरताव नहीं करता। अग्नि में हाथ डालने के बाद नहीं, मैं नहीं जलता, ऐसा नहीं होता।

जो भावना यथार्थ ज्ञान में परिवर्तित होती है ऐसी यह तीसरे प्रकार की भावना के विषय दो प्रकार के हो सकते हैं। (1) **आंतर** अथवा (2) **बाह्य**। जिस विषय (पदार्थ) की भावना की जाय वह यदि आंतर हो तो भावना की परिपाक अवस्था पर अन्य प्रयत्न के बिना प्रभारूप ज्ञान प्रकट होता है और यदि बाह्य हो तो उस बाह्यार्थ का इन्द्रियों तथा मन के साथ का संबंध करवाने के रूप प्रयत्न करना पड़ता है। उसके बिना साक्षात् अनुभव होता नहीं है।

इन सब विचारधारा पर रा.न.दे. महेता सदुपदेश श्रेणी के चतुर्थ सदुपदेश के

पृष्ठ 23 में ध्यान का ऐसा लक्षण करानेवाले सर्वज्ञ पुरुष के वाक्यानुसार अन्य वृत्तिओं का निरोध—व्यवधान (रुकावट) पूर्वक लक्ष्य पदार्थ के आकार से वृत्तियों का जो अखंड प्रकार चलाने को शास्त्रीय ध्यानरूप मनोव्यापार कहते हैं।

प्रथम प्रकार की मनोराज्य रूप भावना और दूसरे प्रकार की (विद्यमान अविद्यमान अंश को मिश्र करके कल्पित मूर्ति को खड़ी करने की) भावना से, ध्यानरूप मनोभावना अलग प्रकार की है। क्योंकि भावनीय पदार्थ जिस रूप में उपासने में चिंतन करने में आता है उस रूप में वस्तुतः है; तो भी भावना के समय चित्त वृत्ति पुरुष को अधीन बरताव करते होने के कारण वस्तु के यथार्थ ज्ञानरूप नहीं है, परंतु ध्यान के परिपाक समय पर साक्षात्कार पर्यवसान प्राप्त करे, वैसी है और इसीलिए ही (पंचदशी में कहे हुए अविसंवादिभ्रमन्याय से) निर्गुणपद का ध्यान होने के उपायों में भारतीय तीर्थादि मुनि पुंगवों ने ध्यान की गणना की है। इस तरह ध्यान की योग्यता का बयान करते हुए पंचदशीकार अपने ध्यानदीप में अंत में लिखते हैं कि—

उपासनस्य सामर्थ्याद् विद्योत्पत्तिभवेत् ततः।
नान्यः पंथा इति ह्येतत् शास्त्रेणैवविरुध्यते ॥ 142 ॥
अनुभूतेर भावेऽपि ब्रह्मास्मीत्येव चिंत्यताम्।
अप्यसत्प्राप्यते ध्यानात् नित्यात्पं ब्रह्मकिं पुनः ॥ 155 ॥
अनात्मबुद्धि शैथिल्यं फलं ध्यानाद् दिने-दिने।
पश्यन्नपि न चेद ध्यायेत् कोऽपरोऽस्मात् पशुर्वद ॥ 156 ॥

उपासना (ध्यान) के सामर्थ्य से विद्या की उत्पत्ति होती है अतः 'दूसरा मार्ग नहीं है' यह श्रुति कहती है। वह बात विरोध नहीं है। 142। अनुभव का अभाव होने पर भी 'मैं ब्रह्म हूँ' यही चिंतन करना, क्योंकि असत् वस्तु भी ध्यान से प्राप्त होती है तो फिर नित्यप्राप्त ऐसा ब्रह्म प्राप्त हो उसमें क्या आश्चर्य है। 155। ध्यान से आनात्माकार बुद्धि की शिथिलतारूप फल प्राप्त होता है। ऐसा जो पुरुष देखता है फिर भी यदि वह ध्यान न करे तो कहिये इनसे दूसरा कौन मूर्ख है? 156।

8. समाधि

83. मानो कि आप अपने सन्मुख शिवलिंग, शालिग्राम, कृष्णमूर्ति, ऐसा कोई साकार पदार्थ रखकर उसका ध्यान करते हैं। वह ध्यान करते समय प्रथम आपकी चित्तवृत्ति का प्रवाह ध्येय पदार्थ में लगा रहा है, आपके मन में-चित्त में 'इस मूर्ति का मैं चिंतन करता हूँ' ऐसी अखंडवृत्ति बनी रही है। उस वृत्ति का प्रकार अंतराय रहित उस मूर्ति की तरफ चल रहा है, ऐसे समय आपके मन में वह मूर्ति और उस मूर्ति संबंधी वृत्ति इन दोनों प्रकार का ही भान मात्र रहा है। इन दो के सिवाय तीसरे किसी

पदार्थ का या वृत्ति का आपको भान नहीं होता, ऐसी जो आपकी चित्त वृत्ति की स्थिति, वह ध्यान कहा जाता है। समाधि यानि ध्यान की उच्च दशा? जब ध्यान की अतिशयता होगी, ध्यान की परिपाक अवस्था होगी, तब आपके चित्त में से ध्येय का और उस संबंधी वृत्ति का भान चला जाएगा, ध्यान में का ध्येयाकार वृत्ति का प्रकार विच्छिन्न (खंडित) होता है, वह चला जाकर अखंडन होगा उस अवस्था को समाधि कहेंगे। इस स्थिति को पहुंचने के लिए ध्यान का अभ्यास अतिशय करना पड़ता है। ध्यान में ध्येय का भान और प्रत्यय-वृत्ति का भान ऐसे दो भान होते हैं। जब ध्यान का अतिशय अभ्यास होता है, ध्येयाकार वृत्ति का प्रवाह अखंड होता है तब वस्तुतः ध्येय का प्रत्यय तो होता है तथापि वह अखंडित चलता रहने के कारण ध्यान हो वह ध्येय से पृथकता से महसूस होना बंध होता है, अतः उस समय ध्याता को मात्र ध्येय स्वरूप का ही निर्भास होता है। लेकिन वह हुई वृत्तिरूप प्रत्यय का पृथक भान चला जाता है अतः वह मानो स्वरूप शून्य हो ऐसा होता है और उस प्रकार का ध्येय मात्र का निर्भास करने वाला प्रत्यय (वृत्ति) समाधि है। यही बात पतंञ्जलि भाष्य में भगवान् वेद व्यास लिखते हैं कि–*ध्यानमेव ध्येयाकार निर्भासं प्रत्ययात्मकेन स्वरूपेण शून्यमिव यदा भवति। ध्येयस्वभावावेशात्तदा समाधिरित्युच्यते॥ इदमत्र बोध्यम्। ध्यातृध्येयध्यानकलनावद् ध्यानं तद्रहितं समाधिरिति ध्यान समाध्योर्विभागः।* जब ध्यान ही ध्येय के आकार में दिखाई देने लगता है और ध्येय स्वरूप के आवेश से 'मैं चिंतन करता हूँ' ऐसी वृत्ति का भान जरा भी रहता नहीं है तब उस ध्यान को ही समाधि कहते हैं। यहां पर समझना है कि ध्याता, ध्येय और ध्यान इन तीनों के बारे में पृथक ध्यान नहीं रहकर केवल ध्येय के आकार वाला ही ध्यान भासमान होता है, वह समाधि है। मतलब कि जहां चित्त की एकाग्रता विरुद्ध वृत्ति से खंडित हो वह धारणा, जहां पर एकाग्रता खंडित न होकर ध्याता, ध्येय और ध्यान इन तीनों का स्फुरण होता है वह ध्यान और जिसमें केवल ध्येय का ही स्फुरण हो वह समाधि कही जाएगी। इस तरह इन दोनों में फर्क है।

मतलब कि ध्येय, ध्याता, ध्यान इस त्रिपुटी का जरा भी ध्यान न रह कर केवल ध्येय के आकार वाला ध्यान वह समाधि है। उस समाधि की व्याख्या इतर ग्रंथों में इस तरह है–

सलिले सैन्धवं यद्वत्साम्यं भजति योगतः।
तथात्ममन सोरैक्यं समाधिरभिधीयते॥ 5॥
यदा संक्षीयते प्राणो मानसं च प्रलीयते।
तदा समरसत्वं च समाधिर भिधीयते॥ 6॥
तत्समं च द्वयोरैक्यं जीवात्म परमात्मनोः।

प्रनष्ट सर्व संकल्पः समाधिः सोऽभिधीयते ॥ 7 ॥

(हठयोग प्रदीपिका चतुर्थोपदेश)

सरित्पतौ निविष्टांबु यथाऽभिन्नं लयंत्वियात्।
तथा भिन्नं मनस्तत्र समाधिं सममाप्नुयात् ॥

(याज्ञवल्क्य संहिता)

यं लब्ध्वाप्य वमन्येत समाधिः परिकीर्तितः।

(अमृत बिन्दूपनिषद्)

शब्दादीनां च तन्मात्रं यावत्कर्णादिषु स्थितम्।
तावदेवं स्मृतं ध्यानं समाधिः स्यादतः परम् ॥ 83 ॥
धारणा पञ्चनाडीभिर्ध्यानं च षष्टिनाडीभिः।
दिन द्वादशकेन स्यात्समाधिः प्राण संयमात् ॥ 84 ॥

(गोरक्ष पद्धति)

तिष्ठेत्तल्लयतो युक्तः समाधिः सोऽभिधीयते।

(गरुड़ पुराण)

यदा पञ्चावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह।
बुद्धिश्च न विवेष्ठते तामाहुः परमाङ्गतिम् ॥ 10 ॥
तां योगमिति मन्यन्ते स्थिरामिन्द्रिय धारणाम् ॥ 11 ॥

(कठ. 20 अ. वल्ली)

सत्वा व बोध एवाऽसौ वासनातृण पावकः।
प्रोक्तः समाधिशब्देन न तु तुष्णीमवस्थितिः।

इत्यादि।

इन सबका भावार्थ इस अनुसार—जिस तरह सैंधव क्षार पानी के अंदर डालने से पानी के साथ एकता प्राप्त करता है वैसे आत्मा में धारण किया हुआ मन आत्माकार होने से आत्मारूप को प्राप्त होता है। उसी आत्ममन की एकता को समाधि कहते हैं। ॥ 5 ॥ जब प्राण अच्छी तरह क्षीण हो जाता है और मन का भी लय हो जाता है उस समय हो जाने वाली समरसता को समाधि कहते हैं। ॥ 6 ॥ जीवात्मा और परमात्मा उन दोनों की एकतारूपता को भी समता कहते हैं और उस समय जिसमें सब संकल्प नष्ट होते हैं उसे समाधि कहते हैं। ॥ 7 ॥ (हठयोग प्र.)। जिस तरह समुद्र में गिरा हुआ जल बिन्दु समुद्र के पानी के साथ एक रूप होकर पानी जैसा दीखता है, वैसे ध्येयाकार हुआ चित्त जिस समय स्वरूप शून्य बनकर ध्येयाकार दीखता है तब उसे समाधि कहते हैं। (याज्ञ.)। ध्येयाकार हुए चित्त के स्वरूप का परित्याग होकर ध्येयाकार की स्थिति सो समाधि। (अमृत

बिन्दु.)। ध्यानावस्था में स्थिर हुए योगी को कर्ण, चक्षु वगैरह इन्द्रियों के बारे में शब्दरूपादि विषयों का सूक्ष्म भाग भी जब तक ज्ञान में आवे तब तक की स्थिति ध्यानावस्था गिनी जाती है और जब आत्मा में पांचों इन्द्रियां लीन हो जाएं तब आत्मा में अर्थमात्र का भान रहे उस अवस्था को समाधि कहते हैं। ॥ 83 ॥ प्राणवायु के व्यापार पांच घड़ी तक रोकने को धारणा कहते हैं। उससे बारह गुनी अवस्था सो ध्यान अर्थात् 60 घड़ी (2 दिन) तक प्राण के व्यापार को रोकने को ध्यान कहते हैं और बारह दिन तक ध्यान की वही स्थिति रहे, अर्थात् उतने समय तक प्राणव्यापार बंधे रहने को समाधि कहते हैं। ॥ 84 ॥ (गोरक्ष पद्धति)। ध्यान से प्रत्यय रूप स्वरूप को लय से युक्त हो उसे समाधि कहते हैं। (गरुड़ पुराण)। जिस काल के बारे में पांच इन्द्रियां और उनके संकल्पादिक व्यापार वाला अंतःकरण कि जिसमें मन रहा है वह जब आत्मा के बारे में समान गतिक होता है और वह बुद्धि गतिरूप चेष्टा से रहित होती है उस अवस्था को योगी परमगति कहते हैं और इस तरह इन्द्रियों को स्थिर करने की स्थिति को योग कहा जाता है (कठ.)। जब ध्येय स्वरूप का निर्भास होता है और वासना का नाश होता है, तब प्राप्त अवस्था समाधि, शब्द से बयान की जाती है। श्री सुंदरदास जी समाधि के बारे में यूं कहते हैं—

चौपाई छंद। सर्वांगयोग ग्रंथ (अष्टांग योग)

अब समाधि ऐसी विधि करई, जैसे लोग नीरमहिं गरइ।
मन इन्द्रिय की वृत्ति समावे, ताको नाम समाधि कहावे ॥ 49 ॥
जीवात्म परमातम् दोइ, समरस करि जब एकै होई।
बिसरे आप कछु नहीं जानै, ताको नाम समाधि बखाने ॥ 50 ॥
काल न खाई शास्त्र नहि लागै, जंत्र, मंत्र देवता भागै।
शीतल उष्ण कहूं नहि होई, परम समाधि कहावे सोई ॥ 51 ॥

इसके अनुसार समाधि साध्य हुई है ऐसे जो योगी की स्थिति जैसे *अंतः शून्यो बहिःशून्यः शून्यः कुंभ इवांबरे। अंतःपूर्णो वहिः पूर्णः पूर्णकुंभ इवार्णवे ॥* आकाश में स्थित कुंभ अंदर से शून्य बाहर से भी शून्य होता है और समुद्र में रहा हुआ कुंभ अंदर से पूर्ण और बाहर से पूर्ण हुआ होता है। वैसी योगी की स्थिति होती है। समाधि में मग्न योगी को, इन्द्रियों से भी परे ऐसे विषय और जो बुद्धि से ही मात्र जाना जा सके वैसे कैवल्य सुख का अनुभव प्राप्त होता है। उस महान् आनंद में योगीराज निमग्न होते हैं तब पुष्प के अंदर रहे हुए मधु को पीने में निमग्न भ्रमर चलित नहीं होता, उसी तरह योगी समाधि से चलायमान नहीं होता और इसीलिए वह उस परमानंद से उसे कोई वस्तु अधिक

प्रिय नहीं लगती। वह महान् सुख में निमग्न होता है तब ठंड, धूप, बारिश, तूफान, वगैरह भौतिक उपाधियां और सिंह, बाघ के शब्दों से समाधि जरा भी चलित नहीं होती। इस शब्द में योगवाशिष्ठ में एक अच्छा दृष्टांत दिया है, वह इसके अनुसार है—शिखिध्वज नाम का एक राजा एक समय समाधि में निमग्न हो गया था। उस समय उसकी रानी चूडाला सोचने लगी कि स्वामी को समाधि यथार्थ लगी है या नहीं, उसका यकीन करूं। ऐसा सोचकर उसे जगाने के लिए अपने योग बल से सिंह, बाघ वगैरह वनचरों से भी भयंकर ऐसा सिंह का नाद किया। परंतु वह राजा समाधि में मग्न होने के कारण जरा भी चलित नहीं हुआ। इस तरह दूसरे बारंबार महान् शब्द करने पर भी जब शिखिध्वज राजा चलित नहीं हुआ तब चूडाला रानी ने उसे गरदन से पकड़कर खूब धक्के देकर हिलाया और आखिर उसे जमीन पर उलटा गिराया फिर भी वह राजा समाधि से भ्रष्ट नहीं हुआ। अस्तु, इस अवस्था को योगी लोग—

राजयोगः समाधिश्च उन्मनी च मनोन्मनी।
अमरत्वं लयस्तत्वं शून्याशून्यं परं पदम् ॥3॥
अमनस्कं तथाद्वैतं निरालंबं निरंजनम्।
जीवनमुक्तिश्च सहजा तुर्याचेत्येक वाचकाः ॥4॥ (हठयोग प्र.4)

राजयोग, समाधि, उन्मनी, मनोन्मनी, अमरत्व, लय, शून्याशून्य, परंपद, अमनस्क, अद्वैत, निरालंब, निरंजन, जीवनमुक्ति, सहजा या तुर्या कहते हैं। ये सब समाधि शब्द के अर्थवाचक शब्द हैं। इस अवस्था संबंधी योगी गोरखनाथ लिखते हैं कि, *न गंधं न रसं रूपं न च स्पर्शं न निःस्वनम्। न आत्मानं न परस्वञ्च योगी युक्तः समाधिना ॥88॥ अभेद्यः सर्वशास्त्राणामवध्यः सर्व देहिनाम्। अग्राह्यो मन्त्रयन्त्राणां योगी युक्तः समाधिना ॥89॥ बाध्यते न स कालेन लिप्यते न स कर्मणा। साध्यते न च केनापि योगी युक्तः समाधिना ॥90॥* (गोरक्ष पद्धति) योगी जब समाधि में एकत्व प्राप्त करता है तब उसकी तमाम इन्द्रियां मन में लय प्राप्त करती हैं और वह गंध, रस, रूप, स्पर्श, शब्द इन पांचों विषयों को जान नहीं सकता। अपना पराया का भेद जानता नहीं है जीवात्मा परमात्मा अलग नहीं मानता, लेकिन एकरूप ही समझता है और जब इस प्रकार योगी समाधि युक्त हो जाता है तब शस्त्रों से उसे काटा नहीं जा सकता; मनुष्य, सिंह, हाथी वगैरह से मारा नहीं जाता। मंत्र यंत्रादि मारण मोहन प्रयोग उस पर चल नहीं सकता और जरा मृत्यु से पीड़ित नहीं होता, उस पर काल, पाप, पुण्य, कर्म वगैरह किसी की सत्ता नहीं चलती।

समाधिस्थ माहात्माएं

समाधि दशा के समय साधक के शरीर व्यापार बिलकुल बंद हो जाते हैं। आंखें तो बंद पड़ी होती हैं अतः आंख से देख नहीं सकता, कान से सुन नहीं सकता, स्पर्श की भी खबर नहीं पड़ती और शरीर के तमाम व्यापार बंद हो गये होते हैं। श्वासोश्वास नाम मात्र भी चलता नहीं है, खून का घूमना, खून का धड़कना, पाचन क्रिया वगैरह तमाम बंद हो जाता है और ऐसी स्थिति में अर्थात् समाधि में बहुत से महात्मा लोग हजारों वर्ष तक रह सकते हैं तो भी वे मरते नहीं हैं। यह बात क्या आज भी शरीर और इन्द्रिय विज्ञान के मतानुसार सच्ची हो सकती है? यह प्रश्न उपस्थित होने की संभावना है और जिनको भी योग शास्त्र पर श्रद्धा नहीं है ऐसे यूरोपियन और दूसरे नास्तिकों को इस संबंध में प्रमाण पुरःसर उत्तर देकर सिद्ध कर देना आवश्यक है। हाल की शरीर शास्त्र की शोध में जो प्रमाण है वे तो इस बात को 'छट् नॉन्सेन्स' कह कर धिक्कार से उड़ा देगें। उसका कारण यह है कि मानसिक शास्त्र की तरफ वे जरा भी लक्ष नहीं देते और जो बातें मानसिक शास्त्र दृष्टया सच्ची होती है उन बातों को नहीं समझने से व्यर्थ अश्रद्धा उत्पन्न होती है, भाप से गाड़ी चलती है। तार से खबर भेजी जा सकती है ये बातें सच्ची हैं, परंतु पानी पर चलना, श्वासोश्वास बिलकुल बंद करके जिन्दा रहना, वर्षों तक अनाज पानी खाये-पीये वगैर शरीर जिन्दा रहे ये सब बातें बिलकुल झूठी दंभ या ढोंग है ऐसा वे कहते हैं। परंतु इस संबंध में उनको यकीन हो सके, वैसे सबूत प्रतिदिन बहुत मिल रहे हैं। स्वेच्छा से कान हिला सके ऐसे मनुष्य बहुत देखे गये हैं। और जमीन से ऊपर रह सके इस तरह आसन लगा कर बैठ सके, वैसे योगी देखे गये हैं। तब अब समाधि लगा कर बहुत वर्ष तक स्वेच्छा से जीया जा सकता है, यह बात असम्भव न लगे वैसे सबूत अभी-अभी प्रकट हुए हैं। इस तरह का समाधि साधन सिर्फ आर्य लोगों में ही था। उसमें तो आश्चर्य नहीं है, लेकिन दूसरे लोगों में भी था ऐसे उदाहरण बहुत मिल आये हैं। उस साधन को यद्यपि वे समाधि नहीं कहेंगे, लेकिन दूसरा कोई नाम देंगे यह बात निखालस है। उस संबंध में दो-तीन प्रत्यक्ष घटनाएं देते हैं—

1. लगभग 400 वर्ष पहले पोर्तुगीज सरकार के गोवा में सेंटजेवियर नाम का कोई महान् साधु हो गये। उन्होंने हजारों मनुष्यों के समक्ष अपनी गुफा तैयार करके उसमें समाधि ली और दरवाजा बंद करने के लिए सवसे कहा तब उनके शिष्यों ने उनसे विनती की कि, आपके दर्शन हमें पुनः-पुनः हो सकें ऐसी सुविधा कर देनी चाहिये। इस विनती पर उस साधु ने उनको आज्ञा की कि "हर एक तीस वर्ष पर मेरी गुफा खोलना, मेरे शरीर को बाहर निकालना, उस शरीर का सब दर्शन करना और उसे नहला-धुला कर साफ करके पुनः जहां था वहीं रख देना।" इसके अनुसार

आज तक व्यवस्था चलती है। यह तीस वर्ष का योग लगभग 9-10 वर्ष पूर्व आ गया। उस समय लाखों यात्री उस महात्मा के दर्शन करने के लिए इकट्ठा हुए थे। उस समय उनके शरीर की चमड़ी, बाल, नख, वगैरह जैसे के तैसे थे उतना ही नहीं, हर तीस वर्ष पर नये-नये समारोह के समय वह सब बढ़े हुए देखे जाते हैं और जिस समय उनका शरीर गुफा से बाहर निकालने में आता है, उस समय बढ़े हुए नाखून और बाल प्रथम काट कर स्नान करवाया जाता है। उनकी आंख की, और उसमें का तेज और पानी इतना अधिक तेजस्वी था कि वह मनुष्य मर गया है ऐसा किसी को लगा भी नहीं! यह घटना लाखों यात्रियों ने प्रत्यक्ष देखी है।

2. दक्षिण में **ज्ञानेश्वर** नामके महान् प्रसिद्ध साधु हो गये। उन्होंने अपने अंतकाल के समय संत पुरुषों को इकट्ठा करके उनके समक्ष समाधि लगवायी। यह बात बहुत प्रसिद्ध है। इस महान् साधु के समाधिस्थ होने के तीन सौ वर्ष बाद एकनाथ महाराज नाम के बहुत प्रसिद्ध महात्मा हो गये। उनके स्वप्न में एक समय ऐसा चमत्कार देखा कि 'मेरा समाधिस्थ शरीर जिस गुफा में रखा है उस स्थान पर पेड़ की जड़ अधिक बढ़ जाने से शरीर को बहुत तकलीफ होती है, अतः वह जड़ काट दी जाय तो बहुत अच्छा।' इस पर एकनाथ महाराज ने जहां ज्ञानेश्वर ने समाधि ली थी उस आलंदी नाम के गांव में जाकर उनकी गुफा खोद कर देखा तो उस समय श्री ज्ञानेश्वर महाराज योग मुद्रा का आसन लगा कर बैठे थे और उनके पास पीतल का दीया भरे पूरे तेल से जल रहा था, ज्ञानेश्वरी नाम के उन्होंने रचे हुए ग्रंथ के पन्ने मानो कोई पहले पढ़ रहा हो ऐसी स्थिति में पड़े थे। यही सारी हकीकत बहुत प्रसिद्ध है।

3. पंजाब में भूतपूर्व सिख सरदार रणजीत सिंह जी के अमल में कोई एक फकीर जिन्दा कैद कर रखा था और बहुत से महीनों बाद उसे बाहर निकाला गया था। इस संबंध में संपूर्ण हकीकत प्रमाण के साथ थोड़े महीने पहले **'पिक्चर मैग्जिन'** नाम के अंग्रेजी मासिक पुस्तक में आई थी। उस मासिक में उस फकीर की, उसने लगाई हुई समाधि की, उस समय की और वहां के साक्षियों की यथास्थित हकीकत दी है, उतना ही नहीं बल्कि उस फकीर की तस्वीर भी दी गई है। अब यह प्रयोग कहां, कब और किस तरह और किसके समक्ष किया गया था उसकी तमाम हकीकत नीचे दे रहे हैं।

पहले पंजाब में कोई एक फकीर था। वह महान् ओलिया था। वह किसी से किसी तरह की मांग नहीं करता था। रास्ते में अपनी इच्छानुसार इधर-उधर घूमे, एकांत में भी रहे और जो कोई जो कुछ मात्र प्रेम भक्ति से देते उतने पर ही अपना जीवन चलाता और ब्रह्मानंद में मस्त रहता। वह हमेशा मधुर और नम्र भाषण करता था, तो भी अतिशय बिना स्पृहा का था। राजा और रंक दोनों उसकी नजर में समान लगते थे

वह विरक्त फकीर कभी-कभी अपनी इच्छा से समाधि लेता और बहुत-बहुत दिनों तक वह मरण जैसी स्थिति में रहता था, और पुनः पहले की तरह जीवन स्थिति में आता था। इस तरह एक-दो बार तो क्या लेकिन अनेक बार अपने को बंद करवा कर बहुत महीनों के बाद पुनः-पुनः जिन्दा होकर बाहर निकलता था। उस फकीर को अद्‍भुत गुण की और अपूर्व अभ्यास संबंधी कीर्ति सिख सरदार रणजीत सिंह की जानकारी में आई। तो भी यह बात गलत होगी ऐसा उनको लगा। फिर महान् सद्‍गृहस्थों, अच्छे चिकित्सकों और अच्छे विद्वानों ने भी वह चमत्कार नजरों-नजर देखने के बारे में बारंबार कहा। तब वह चमत्कार एक बार हम अपनी नजर से देखें तो अच्छा ऐसी उत्कंठा उत्पन्न हुई। तो भी उन्हें यह शंका होती थी कि शायद उसमें कुछ भी गुप्त ढोंग हो। तथापि वह बात सच्ची है या नहीं, उसके बारे में पूर्ण शोध करने का आग्रह रखा। उस महाराणा ने उस फकीर को राजमहल में बहुत आदर सत्कार से बुलाकर, 'आप कृपा करके मेरी नजरों-नजर एक बार समाधि लगाएं तो बहुत उपकार होगा' ऐसी विनती की। वह उस फकीर ने बड़ी खुशी से कबूल रखी। उसने कहा कि मेरी तरफ से कोई हरकत नहीं है। समाधि के लिए जरूरी स्थान की तथा दूसरी जरूरतें तैयार रखने की व्यवस्था होने के बाद मुझे बुलाना, तब मैं आऊंगा। रणजीत सिंह ने पूछा कि उसके लिए क्या-क्या व्यवस्था करनी चाहिए, वह कृपा करके कहिये। तब फकीर ने कहा कि "मैं अच्छी तरह बैठ सकूं उस तरह की अच्छी पक्के फर्श की गुफा जमीन के अंदर अंदाजन अठारह फीट गहरा खोद कर तैयार करनी चाहिए। उसके उपरांत एक मजबूत बोरी, मोम का एक गोला, एक मजबूत पेटी, ताला कुंजी वाला, लाख और आपकी राजमुद्रा (मुहर) इतनी चीजें चाहिये। फिर मुझे कैसे बैठना, वह मैं उस समय वहां कहूंगा और उसके अनुसार मेरे गुफा में बैठने के बाद गुफा पर मिट्टी डालकर आपको अनुकूल हो वैसे पाट देना। उस संबंध में बाद में कुछ भी शंकायुक्त मालूम न पड़े इसलिए उस गुफा पर किसी भी तरह का अनाज बो देना। फिर आपकी मरजी हो तब वर्ष या छः महीने बाद गुफा खोदो, मुझे बाहर निकाल कर मेरे सिर पर पानी डालना, अतः मैं पुनः जाग्रत स्थिति में आ जाऊंगा।"

महाराजा रणजीत सिंह ने बहुत प्रसन्न मुख से उस फकीर से कहा कि आपके कहने के अनुसार सब सामग्री तैयार करने के बाद मैं आपको बुलाऊंगा। फिर फकीर ने इजाजत मांगी और वह मस्जिद में गया। इस तरफ रणजीत सिंह ने गुफा वगैरह बनवा कर और कही हुई सामग्री तैयार रखने के बारे में अपने कारोबारी को हुक्म दिया। उस समय **जनरल हेंचुरा** और **केपटन वेद** नाम के दो यूरोपियन ऑफिसर महाराज के मित्र थे। उस दोनों को दरबार में बुलाकर इस फकीर के बारे में सारी हकीकत बयान की। तब उन्होंने इस बात को 'बिलकुल असम्भव है' कह कर हंस कर उड़ा दी। तथापि

जब वह फकीर खुद ही जानबूझ कर अपने आपको जमीन में बंद करवाता है तो फिर वह खेल देखने में हमारा क्या जाता है? यह कहकर इस बात को सम्मति दी। परंतु उसी समय दरबार में बैठे दूसरे कुछ मशहूर गृहस्थ थे, वे यकीन से कहते थे कि यह प्रसंग उन्होंने बहुत बार प्रत्यक्ष देखा है। इस तरह वह बात अमल में लाने के बारे में बहुत उहापोह हुआ। आखिर उसे अंजाम देने के बारे में समय मुकर्रर किया गया और दरबार बरखास्त हुआ। यह बात ईसवी सन् 1838 के साल की है। उस वर्ष में कौन से महीने का कौन सा दिन था इतना मात्र जानकारी में नहीं है।

मुकर्रर दिन को यह अद्भुत चमत्कार देखने के लिए गुफा के आसपास हजारों मनुष्यों की भीड़ इकट्ठा हुई। वह गुफा रणजीत सिंह महाराज के कैम्प में ही तैयार की गई थी। महाराजा स्वयं जनरल ह्वेंचुरा और केपटन वेद वगैरह बड़े-बड़े अंग्रेज अधिकारियों के साथ वहां आकर हाजिर हुए। उस अवसर का लाभ लेने के लिए आसपास के राजा, संस्थानों ने अधिपति और बहुत से सिख सरदार उस समय आये थे। तमाम मंडल इकट्ठा होने के बाद उस फकीर को बुलाया गया और वह आकर हाजिर हुआ। महाराजा ने तथा तमाम मंडल ने जयघोष करके फकीर को सन्मान दिया। थोड़े समय तक क्षेमकुशल पूछने के बाद वह फकीर गुफा में प्रवेश करने के लिए जगह पर से उठा और उन्होंने बहुत प्रेम और विनय से सबकी एक बार पुनः इजाजत लेकर सबको सलाम की, बाद में वहां जो मोम लाया गया था सो लेकर उसने दोनों कानों में और दोनों नाक में भरकर चारों दरवाजे बंद कर दिये और अपने शरीर पर से तमाम कपड़े उतार दिये। फिर मजबूत और मोटी बोरी लाई गई थी उसे खोल कर वह उसमें बैठा और पास में खड़े आदमी से उसने कहा कि अब आप मेरी जबान मोड़ दो, उस आदमी ने जबान मोड़ी तो वह आसानी से मुड़ गई और उस जीभ से उसने अपने कंठ का द्वार बंद किया। यह सब व्यवस्था करने के बाद उस फकीर ने समाधि ली। समाधि अच्छी तरह लग जाने के बाद जिस बोरी में फकीर बैठा था वह बोरी मजबूत डोरी से सी दिया गया और उस पर महाराजा रणजीत सिंह ने लाख लगाकर मुहर लगाई। फिर उस फकीर वाली बोरी उठा कर एक मजबूत पेटी में डालकर उसे एक बड़ा ताला लगाया और उस पर भी पहले की तरह सील करके वह पेटी उस गुफा में रख दी गई और तुरंत उस गुफा में मिट्टी डालकर उसे बंद कर जमीन एक समान कर दी गई और खूब पीट-पीट कर पानी डाल कर वहां अनाज बोया गया। उस जगह पर नेक सिपाहियों का कड़ा पहरा रखा और सारा मंडल अपने-अपने घर जाने के लिए बिखर गया। इतना करने पर भी महाराजा को बीच-बीच में शंका होती। अतः वह रोज दो बार वहां जाकर पाटे हुए स्थल पर जांच कर आते। इस बात को दस महीने हो जाने पर वहां बोये अनाज की फसल तैयार

हो गई तब जमीन खोदकर फकीर को बाहर निकालने का दिन मुकर्रर किया गया। उस दिन वह अद्भुत चमत्कार देखने के लिए पुनः हजारों लोग इकट्ठा हुए। इस प्रसंग पर तो बहुत दूर प्रदेश के लोग भी आये थे। महाराजा स्वयं जनरल हेंचुरा, केपटन वेद वगैरह अंग्रेज और दूसरे देशी अधिकारी बहुत उत्कंठा से इकट्ठा हुए थे। अधिकतर अंग्रेज अधिकारियों का तो यही मत था कि बेचारा फकीर मर गया होगा और अब तो उसका शरीर मात्र हाथ लगेगा! और क्या?

तमाम लोगों के इकट्ठा होने के बाद जमीन खोदने की शुरुआत हुई और थोड़े ही समय में पेटी बाहर निकली। महाराज की नजरों-नजर जनरल हेंचुरा और केपटन वेद दोनों ने अपने हाथ से सील तोड़कर ताला खोला। फकीर को बाहर निकाला। उस समय उसकी नाड़ी चल रही थी। शरीर में जरा भी गरमी नहीं थी, अथवा जिन्दा होने के किसी प्रकार के चिह्न नहीं थे। उसको पुनः जागृत स्थिति में लाने के लिए किसी ने उसकी जबान आहिस्ते से पहले की तरह सीधी कर दी तब उसके माथे में थोड़ी उष्णता उत्पन्न हुई। फिर उसके सिर पर पानी छिड़का और थोड़े समय के बाद वह अच्छी तरह जिन्दा हो गया। उसका श्वासोश्वास चालू हुआ, आंखें खुली और हाथ-पांव चलने लगे। अंदाजन दो घंटे के बाद वह फकीर बहुत खुश मिजाज से वहाँ इकट्ठे मंडल के साथ बातचीत करने लगा, गप्पें भी मारने लगा और आनंद से हंसने लगा। परंतु आश्चर्य की बात यह थी कि उसके पेट में अनाज का जरा भी अंश नहीं था, फिर भी वह थका हो वैसा एक भी चिह्न मालूम नहीं हुआ।

निद्रा, मरण और समाधि के बारे में अर्वाचीन इन्द्रिय विज्ञान शास्त्र के द्वारा खुलासा

मन का स्थान तथा ऐच्छिक और अनैच्छिक शक्तियों के बारे में—मनुष्य के मन का और शरीर का संबंध इस प्रकार है। सिर की खोपड़ी में दो दिमाग स्थित हैं। 'एक अग्रिम दिमाग' और दूसरा 'पीछे का दिमाग'। अग्रिम दिमाग दो गोलार्द्ध वाला और छः पंखुड़ियों के साथ खोपड़ी के अग्रिम भाग में आया हुआ है और पीछे का दिमाग माथा की खोपड़ी के नीचे के भाग में रहा है। इन दोनों दिमागों में से ज्ञानरज्जु (सुषुम्णा, करोड रज्जू का दिमाग) निकल कर पीठ की थराड के मनकों में से ठेठ गुदा स्थान तक गई हुई है। उस ज्ञानरज्जू में से ज्ञान तंतु और चलन-गति तंतुओं के 31 युग्म बाहर निकलते हैं और उसकी भी दूसरी हजारों शाखा प्रति शाखाएं बाहर निकल कर ऊपर के दोनों दिमागों की शक्ति शरीर के हर एक आंतर बाह्य दिमागों पर बंट जाती हैं। इन दोनों दिमागों से मन के ऐच्छिक और अनैच्छिक ज्ञान तंतुएं निकल कर ज्ञान रज्जू में मिश्र हुई हैं। तो भी वे शरीर के ठेठ आखिरी विभागों तक अपना-अपना धर्म बिलकुल कायम रखते हैं और अपने-अपने स्थानों में ऐच्छिक

और अनैच्छिक शक्तियां उत्पन्न करके अपने-अपने कार्य करते हैं।

अग्रिम दिमाग ऐच्छिक ज्ञानतंतुओं का और उनमें स्थित प्रबल विद्युत् ज्ञान रस का महान् भंडार है। मन की ऐच्छिक शक्तियां ऐच्छिक ज्ञानतंतुओं की मारफत चालू रहती हैं; तमाम मन हमारे संकल्पों के मुताबिक अग्रिम दिमाग की मारफत शरीर में भी तमाम ऐच्छिक गतियां चलाता है। हमारी इच्छा के मुताबिक हाथ इधर-उधर हिलाना, लेना, रखना, मारना, चलाना वगैरह क्रियाएं अथवा तो देखना, सुनना, सूंघना, चबाना, स्वाद चखना ये सब क्रियाएं हमारी इच्छा पर आधारित होती हैं। अतः उन क्रियाओं को ऐच्छिक क्रियाएं कहा जाता है और वह ऐच्छिक क्रियाएं ऐच्छिक तंतुओं के चलन से बनती हैं।

पिछले दिमाग में निर्बल विद्युत्-ज्ञान रस भरा हुआ है। उस दिमाग से अनैच्छिक ज्ञान तंतु निकलते हैं। उसमें से हमेशा मन की अनैच्छिक शक्तियां चालू रहती हैं। हृदय का धड़कना, फेफड़ों का हिलना, खून का बहना, होजरी में अन्न का पाचन होना, मल-मूत्र होना, ये सब शारीरिक क्रियाएं हमारी इच्छा के अधीन नहीं होती, अतः वह अनैच्छिक क्रियाएं कहलाती हैं। क्योंकि ये सब व्यापार हमारी ऐच्छिक शक्ति से नहीं हो सकते। देखिये, नींद में जाग्रत दशा में, घर में, प्रवास में या हम चाहे जहां हो तो भी हृदय अपनी गति एक समान चालू रखता है और जीवन के सब कार्य चालू रहते हैं। उन व्यापारों को चलाने या बंद करने के संबंध में हमारी इच्छा हो या न हो तो भी चालू ही रहते हैं। ये सब कार्य पिछले दिमाग की मारफत मन की अनैच्छिक शक्तियों में से अपनी-अपनी शक्ति लेकर गतिमान होकर स्नायुओं के चलन से बने रहते हैं।

मन का स्थान ऐच्छिक और अनैच्छिक तंतुओं के भंडार के बीच में है, अतः दोनों दिमागों के बीच में मन रहता है, तो भी वह तमाम शरीर के हर एक भाग ऊपर भासमान होकर, दूसरे पर अपने अस्तित्त्व की छाप डालता है। मनुष्य का मन एक संदेह रूप है। वह सूक्ष्मदेह रूप होने के कारण स्थूल शरीर जैसे तमाम अवयवों से पूर्ण है। स्थूल शरीर का जो आकार और सौंदर्य है सो सब मन को भी होता है। अथवा दूसरे ढंग से कहें जो मनुष्य का स्थूल शरीर वह उसके मन का ही विस्तार अथवा परिणाम है। मन ऐच्छिक और अनैच्छिक शक्तियों का जोड़ है। यह नियम जिस तरह पिंड को लगता है वैसे ब्रह्मांडगत प्रकृति को लगता है। ब्रह्मांडगत ऐच्छिक शक्तियां एक महान् भंडाररूप होने के कारण उसमें अनंतबुद्धि की ऐच्छिक शक्तियों का संग्रह होता है। इस ब्रह्मांड की तमाम करामात, व्यवस्था एक सरीखी रीति से चलती हैं और पृथ्वी मंगलादि गोलों पर जो बस रहे हैं, उनमें भी दीखती हैं। वह सब ऐच्छिक शक्ति का कार्य है। ब्रह्मांडगत अनैच्छिक शक्तियों से तमाम ब्रह्मांडों और

उनमें बसनेवाले (उत्पन्न होने के बाद) कुदरत के अमुक नियम के अनुसार हुक्म में रह सकते हैं। अतः प्रथम शक्ति खुद अपने बुद्धितर्क से अमुक योजनाएं, तजवीजें और उत्पत्ति करती हैं और वही ब्रह्मांड के वस्तुसिद्ध नियम के तौर पर होकर रहते हैं। उस वस्तु स्वभाव के अमुक नियमों के द्वारा दूसरी शक्ति सारे जगत् पर, उसमें बसने वाले लोगों पर हुक्म चलाती है, उनको पोषती है और उनका सारा कारोबार जांचती है। प्रथम की ऐच्छिक शक्ति प्रबल (Positive) है और दूसरी अनैच्छिक शक्ति निर्बल (Negative) है अथवा दूसरे ढंग से कहें तो प्रथम शक्ति उत्पादक है और दूसरी रक्षक-पोषक है। ये दोनों शक्तियां ब्रह्मांड के हरेक भाग में दौड़मूदौड़ करके अखिल ब्रह्मांडों को एक सूत्र में रखती हैं।

मन अपनी ऐच्छिक शक्ति के काम अग्रिम दिमाग में से निकले हुए ऐच्छिक तंतुओं की मारफत करता है और अनैच्छिक शक्ति के काम पिछले दिमाग में से निकलने वाले अनैच्छिक तंतुओं की मारफत चलाता है। हमारी ऐच्छिक शक्तियां (जिसके कारण हम सोच सकते हैं, शरीर और दूसरे अवयव इच्छानुसार हिलाते चलाते हैं सो सब) हमारी जाग्रत अवस्था में प्रबल स्थिति में होती हैं, अतः वे थक जाती हैं और तुरंत ही फिर ताजी होने के लिए निद्रारूप विश्रांति की उसे जरूरत होती है। लेकिन अनैच्छिक शक्तियों की बात अलग है। उस शक्ति के बल से श्वासोश्वास का सतत् चलना, हृदय का सतत् धड़कना और जीवन कार्य चलाना, ये सब क्रियाएं प्राणियों के जन्म के प्रारंभ से जो चल रहा है, वह ठेठ उस प्राणी के मरने तक कायम रहती हैं। उस शक्तियों को सब प्राणियों की सारी जिन्दगी तक विश्रांति नहीं मिलती, परंतु वे भी आखिर थकती हैं और उनको भी निद्रारूप विश्रांति लेनी पड़ती है। तब अनैच्छिक शक्तिओं की जो निद्रा अथवा विश्रांति वह मृत्यु और ऐच्छिक शक्तियों की मात्र बेसुध स्थिति में मिलने वाली विश्रांति निद्रा है। निद्रा और मरण इन दो में महान् अंतर है। निद्रा तो मात्र मरणरूप शांत क्षेत्र की यात्रा की अर्ष मार्ग में करने के मुकाम की एक धर्मशाला है। दिन में किये जाते श्रम से नाश होने वाली ऐच्छिक शक्तियां रात को ली जाने वाली निद्रा से पुनः प्राप्त होकर हम होशियार होकर पुनः जाग्रत स्थिति में आ जाते हैं, हमारा थकान उतरता है और नया काम करने की होशियारी आती है और उसी समय हमारी निद्रा की बेहोश स्थिति के कारण एक उपयोगी परिणाम बन आता है वह यह कि ऐच्छिक शक्तियों की चालू रहने वाली तमाम क्रियाओं में से अनैच्छिक शक्तियों से मुक्तता होती रहने के कारण, उनका आहिस्ता-आहिस्ता होने के लिए कारणभूत बनकर, उनको उनकी सच्ची और आरोग्यदायक का समतुल्य पुनः प्राप्त होती है, हमारी नाड़ी की धड़कन सुबह की तुलना में शाम

को अधिक जल्दी चलती है, उसका कारण हमारी जागृत अवस्था के समय की शारीरिक और मानसिक क्रियाएं ही हैं। वे प्रबल शक्ति वाली होने के कारण निर्बल शक्ति वाली अनैच्छिक शक्तियों पर उनका दबाव पड़ता है। अतः निद्रा का मुख्य उद्देश्य यह है कि हृदय धड़कने की क्रिया प्राथमिक स्थिति पर लाकर नाड़ी की धड़कन पूर्ववत् मंद गति से चले। अनैच्छिक शक्तियां प्रबल शक्यात्मक होती हैं। अतः अनैच्छिक शक्तियां खूब थककर मरणरूप महानिद्रा की विश्रांति में निमज्जन हो जाय तब तक उन पर ऐच्छिक शक्तियों की सत्ता चालू रहती है। यह बात एक दृष्टांत देकर समझाते हैं। पूर्वकाल में कुछ तरह के अपराधों में निद्राभंग करके मार डालने की सजा देने का प्रस्ताव था। गुनहगार पर सतत् देख-रेख रखने के लिए रात-दिन खड़ा पहरा रखा जाता था। गुनहगार को खास जागृत रखने के लिए सख्त ताकीद दी जाती थी, अतः आरोपी जब-जब झपकी ले तब वे उसके शरीर को तीव्र शस्त्र भौंकते, अथवा तो दाग देते, तब उस अपराधी मनुष्य की हृदय का धड़कना आहिस्ता-आहिस्ता बढ़कर नाड़ी की धड़कन भी बढ़ जाती। तीसरे या चौथे दिन तो उसकी गति प्रतिदिन 120 तक बढ़कर उसके शरीर में तीव्र बुखार जैसी उष्णता उत्पन्न होती थी और वह भी बढ़ती जाकर सातवें या आठवें दिन नाड़ी की धड़कन त्वरा से बढ़कर सारा शरीर कांपने लगता था और आखिर वह मनुष्य मर जाता था। इस पर से मालूम होगा कि ऐच्छिक शक्तियाँ जागृत अवस्था में रह जाने से अनैच्छिक शक्तियों पर उनका इतना ज्यादा दबाव पड़ा कि उनको आखिर निद्रारूप विश्रांति लेनी पड़ी। परंतु उन अनैच्छिक शक्तियों की विश्रांति यानि मरण।

तब सिद्ध हुआ कि ऐच्छिक शक्तियां श्रमित होने के कारण जो विश्रांति लेती हैं वह निद्रा। और अनैच्छिक शक्तियों की परम विश्रांति वह मरण। और जब यही बात है सब अनैच्छिक शक्तियों को ऐसे प्रकार की विश्रांति दी जा सके कि, सारी जिन्दगी उनको जो भारी श्रम करना पड़ता है वह श्रम उतारने के लिए कुछ किया जाय कि जिससे अनैच्छिक शक्तियों को पूर्ववत् ताजी की जा सके। जैसे सारे दिन किये हुए श्रम से ऐच्छिक शक्तियां थक जाएं तब रात को वह निद्रा-विश्रांति लेती है; उसी तरह अनैच्छिक शक्तियों को अपना श्रम उतारने के लिए ऐसा कोई उपाय होना चाहिए कि मनुष्य पुनः नई जिन्दगी प्राप्त करे। वह उपाय सो योगनिद्रा है। जो हृदय के बिना धड़के, बिना खून के घूमे, बिना खाये-पीये और बिना श्वासोश्वास लिये प्राणी बहुत काल तक जी सकते हैं उस बारे में अर्वाचीन इन्द्रिय विज्ञान शास्त्र के आधार पर पहले पृष्ठ 118 में बताया गया ही है और अभी समाधिस्थ महात्माओं की हकीकत दी है। उस पर से भी यह

बात मालूम होगी। प्राणायाम के प्रकरण में पहले केवल कुंभक स्थिति के बारे में कहा था उस स्थिति से अनैच्छिक शक्तियों को विश्राम दिया जा सकता है। ऐसी स्थिति में किसी भी प्राणियों के हृदयकोश में का प्राणरन्ध्र बंधा हुआ नहीं होता। अतः उन प्राणियों के अनैच्छिक ज्ञानतंतु व्यापार शून्य स्थिति में आ जाते हैं तो भी हजारों वर्ष जी सकते हैं। फिर भी शरीरशास्त्रज्ञों में जो उदाहरण अधिक प्रचलित हैं सो देते हैं। कर्नल टाउन सेंड् नाम का एक यूरोपियन अजीब ढंग से अपनी वृत्ति शांत करके चाहे जब मरणावस्था में आ जाता था और पुनः जिन्दा हो जाता था। यह चमत्कार देखने के लिए एक दिन तीन विद्वान डॉक्टर इकट्ठे हुए और वह चमत्कार करने के लिए कर्नन टाउनसेंड् से विनती की तब वह चित्त लेट गया और आंतर बाह्य प्रयत्न शांत करने लगा और स्तब्ध बन गया। अतः डॉ. शेन उसका दाहिना हाथ पकड़कर नाड़ी की गति जांचने लगे। डॉक्टर बेनर्डे ने छाती पर हाथ रख कर हृदय धड़कने की गति जांचना शुरू किया और डॉ. स्काइन ने उसके मुख के सामने एक दर्पण पकड़ रखा। फिर डॉ. शेन को आहिस्ता आहिस्ता उसकी नाड़ी चलते-चलते बंद पड़ी मालूम होती। डॉ. बेनर्डे को हृदय की गति बिलकुल बंद हुई मालूम पड़ी। स्काइन को पकड़े हुए दर्पण पर उसके श्वासोश्वास की भाप बिलकुल देखने में नहीं आया। फिर उन तीनों विद्वानों ने परस्पर की परीक्षा की चौकसी की। नाड़ी का धड़कना, रक्ताशय, हृदय की गति, श्वासोश्वास वगैरह शारीरिक लक्षणों की परीक्षा करने के बाद उन तीनों ने यह तय किया कि वह मर गया है। पुनः आधा घंटा देखकर जांचा तो वह पूरा मर गया ऐसा सिद्ध किया और वे तीनों जाने लगे तब टाउनसेंड् जरा-सा हिला और नाड़ी, हृदय, श्वासोश्वास और खून की गति के व्यापार होने लगे। यह प्रयोग सुबह किया और शाम को वह मनुष्य किसी आगंतुक कारण से मर गया। उसका आपरेशन करके जांचा गया, तब पता चला कि उसे पहले मूत्राशय की बीमारी हुई थी। यह बात इतनी सारी सच्ची है कि बड़े-बड़े अंग्रेजी वैद्यक ग्रंथों में इसके बारे में विस्तार से दर्ज की गई है। प्राण विनमय का प्रयोग करते समय विधेय (जिस पर प्राण विनिमय का प्रयोग किया जाता है) जब विश्व दृष्टि (क्लेश वायन्स) की ऊंची अवस्था में जाता है। तब उसे प्रत्यग्दृष्टि (एक्सटसी, Ecstacy) प्राप्त होता है। उस समय विधेय संपूर्ण योगनिद्रा में होता है। तब इस पर से मालूम होगा कि अनैच्छिक शक्तियों का श्रम कम करने के लिए अर्थात् उनको विश्रांति देने के लिए योगनिद्रा का उपयोग महान् है। वह स्थिति जब जागृत अवस्था से चित्त वृत्ति निरोध करते-करते शास्त्रीय आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान इतने अंगोपूर्वक शारीरिक और मानसिक ऐच्छिक और अनैच्छिक शक्तियों को विश्रांति देने के लिए अनुक्रम से क्रमण किया जाय तब

उसे समाधि कहते हैं। योगनिद्रा अथवा समाधि से अनैच्छिक और ऐच्छिक दोनों शक्तियों को संपूर्ण विश्रांति मिलने के कारण कोई भी प्राणी नई जिन्दगी प्राप्त कर सकता है और इच्छानुसार वर्ष तक जी सकता है, यह बात इस सारे विवेचन से ध्यान में आ जाएगा।

ज्ञान के तीन प्रकार

1. अंगज्ञान, 2. तर्कशक्ति और 3. सर्वज्ञता

पहले प्राणायाम के प्रकरण के द्वितीय विभाग के पृष्ठ 145 में प्राण के मानसिक कार्य के बारे में विवेचन करते हुए बताया था कि, मनुष्य में तीन प्रकार का ज्ञान होता है। उसमें प्रथम अंगज्ञान, दूसरा तर्क शक्ति और तीसरा सर्वज्ञता। उन तीनों के बारे में यहां विस्तार से विवेचन करेंगे।

1. अंगज्ञान—ईश्वरदत्तबुद्धि—यह ज्ञान, हमारा जन्म होने के साथ परापूर्व से माता-पिता के गर्भबिन्दु में के संस्कारों में से वंश परंपरा उतरने वाली अनैच्छिक शक्तियों में से प्राप्त होता है, जैसे कि मक्खी काटती है तब वह जिस स्थान पर काटती है उसी जगह खुजाने के लिए हमारा हाथ अचूक जाता है, अथवा हमारा ध्यान न हो तब किसी समय यकायक आवाज होने से डर जाते हैं, अच्छा लेना और खराब फेंक देना, ये सब कर्म हो जाते हैं वह अनैच्छिक शक्तियों में से प्राप्त ईश्वरदत्त बुद्धि से अथवा अंगज्ञान से हो जाते हैं। इस तरह के काम करते समय हम उसके बारे में जरा भी विचार नहीं करते अतः उसे कुछ लोग साहसिक विचार भी कहते हैं। मनुष्य जाति को ही नहीं लेकिन प्राणीमात्र को प्राप्त बुद्धि का यह ठेठ हलका सोपान है। इस अंगज्ञान के बारे में अर्वाचीन शास्त्रकार कहते हैं कि हमारे पूर्वजों को पीढ़ी-दर-पीढ़ी से जो-जो अनुभव प्राप्त होता जाता है उसमें से मात्र उपयोगी अनुभव, वे पूर्वज अपनी संतान को गर्भ संभव के समय ही देते हैं। उस अनुभव को वे शास्त्रवेत्ता 'वंशपरंपरा का अनुभव (हेरिडीटी)' कहते हैं। इसके बारे में हमारे आर्यतत्त्ववेत्ता कहते हैं कि, यह अंगज्ञान हर एक जीव को पूर्व के जन्म में प्राप्त बुद्धि के अनुसार यानि कि, पूर्व संचित से उत्पन्न होता है। इस अंगज्ञान के बारे में आर्य और पश्चिम के शास्त्रवेत्ता कुछ भी कहते हैं तो भी उन दोनों का कहने का मुख्य अर्थ इतना ही है कि, कुछ काम हमारे हाथ से इस तरह बन जाते हैं कि उसमें जरा भी विचार किये बिना तुरंत और बिना भूल के हो जाते हैं।

2. तर्क शक्ति अथवा विचार शक्ति—अंगज्ञान से बढ़कर प्रताप का ज्ञान तर्कशक्ति अथवा विचार शक्ति है। उसे ही तारतम्य शक्ति, विवेकबुद्धि या सद्सत विवेक शक्ति भी कहते हैं। अमुक बात "इसी तरह क्यों? इस तरह क्यों नहीं?" ऐसा सोचें तो क्या होगा? ऐसा वाद-विवाद (उहापोह, तारतम्यभाव, कार्यकारण संबंध

स्थापन, सत्यनिर्णय) करके मन के अंदर ऐच्छिक शक्ति से शांति से जो निर्णय किया जाता है उसे ही तर्क शक्ति कहते हैं। इस ज्ञान में जो विचार किया जाता है वह बुद्धि पूर्वक होता है। उसके बारे में पहले पृष्ठ 145 में संक्षेप में बता दिया है। इन्द्रियां मन की सहायता से अपने अनुभवों की खबर बुद्धि को देती हैं और उतने पर ही बुद्धि की सत्ता का प्रदेश आधारभूत होता है, इसीलिए ही बुद्धिबल को 'स्वानुभव जन्य विचार' कहा जाता है और उसे ही व्यवहार में तर्कशक्ति के नाम से पहचाना जाता है।

3. सर्वज्ञत्व—इस विश्व में जितनी वस्तुएं हमें गोचर हैं, उतनी ही मात्र हैं और उनके बिना दूसरी है ही नहीं, ऐसा किसी भी विचारवान् मनुष्य से कहा नहीं जा सकता। हमें यदि इन पांच इन्द्रियों में से यदि एकाध कोई छठी इन्द्रिय अधिक होती तो भी वर्तमान में हम जान नहीं सकते हैं कि ऐसी कुछ बातें नई जानने में आयी होंगी लेकिन यह भी नहीं, यदि हमें हजारों इन्द्रियां होती तो भी हजारों इन्द्रियों से अगोचर ऐसी अनंत बातें इस विश्व में भरी-पूरी हैं सो सब मालूम होतीं, परंतु वह तो सब हमें वर्तमान में गोचर होती ही नहीं। तब पांचों इन्द्रियों द्वारा न समझी जा सके वैसी बातों का ज्ञान करवा देने की सत्ता बुद्धि में है। कांट नाम के तत्त्ववेत्ता के ग्रंथ पढ़ने से वह तत्त्ववेत्ता भी ऐसा ही कहते हैं, ऐसा स्पष्ट मालूम पड़ेगा। मात्र उस बुद्धि को योगविद्या कहते हैं, इस तरह के संस्कार देने चाहिये। यह देखें कि दीये पर हाथ रखने से हमारा हाथ जलता है ऐसा अनुभव एक दो बार होने पर 'अग्नि पर हाथ रखने से जल जाते हैं, यह सिद्धांत दो-तीन वर्ष के बालक द्वारा भी समझा जा सकता है और वही बालक अनुभव मिलने के बाद आगे बढ़ कर यकायक यही सिद्धांत करता है और दीये की तरफ हाथ नहीं ले जाता; ऐसा करना वह ईश्वर दत्त बुद्धि से यानि अनैच्छिक शक्ति से प्राप्त अंगज्ञान से होता है। बड़े लोग इस बालक से अधिक अनुभवी होते हैं अतः हाथ जलता है उसका कारण वे यह बताते हैं कि जलने वाली हवा के रजकण अत्यंत तीव्र गति से इधर-उधर दौड़ते हैं और वेग (गति) सहन करने की शक्ति (बल, धीरज) जिन्हें प्राप्त नहीं हुई है, उनका हाथ जलता है, ऐसा जो विचार हमने किया, वह हमने अपने अनुभव से किया। परंतु अग्नि के परमाणु तीव्र गति से क्यों दौड़ते हैं, अग्नि यानि क्या, वगैरह बातों का निश्चय हमारी बुद्धि से नहीं हो सकता, तो फिर उसका कारण ढूंढ़ निकालने की आशा ही कहां रही? यह तो मात्र एक ही बात के बारे में हुआ। यह विश्व कहां से आया? कहां जाएगा? इस विश्व को उत्पन्न करने में परमात्मा का क्या हेतु था? परम कृपालु परमेश्वर सर्व शक्तिमान, दीनदयाल और सर्वज्ञ होने पर भी इस हमारे जगत् में इतना सारा दुःख क्यों उत्पन्न किया? अच्छे रास्ते पर ही क्यों जाना? ऐसे-ऐसे हजारों प्रश्न ऐसे हैं कि मनुष्य बुद्धि चाहे उतने विचार करेगी तो भी उसका समाधान सब तरह से दे नहीं सकेगी। परंतु ऐसे गहन प्रश्नों के उत्तर दे सके वैसा बुद्धि बल परमेश्वर

ने मनुष्य जाति को दिया है। चित्त की एकाग्रता को **योगशास्त्र** कहते हैं। उस रास्ते जाया जाए और पूर्ण समाधि सुख अनुभव किया जाए, तो बुद्धि से भी जो विषय अगम्य है उसका ज्ञान आसानी से प्राप्त किया जा सकता है। वर्तमान काल में प्राणविनिमयादि शास्त्रों की शोध पर से भी इस बात की सत्यता सिद्ध होती जाती है। प्राणविनिमय का प्रयोग कर्ता सो विधायक और वह प्रयोग जिस पर होता है उसे **विधेय** कहते हैं। प्रयोग के प्रारंभ में विधेय को निद्रा आने लगती है और उससे आंखें फड़कने लग कर धीरे-धीरे बंद होती जाती हैं। उस स्थिति में आगे बढ़ कर पांच-दस मिनट के बाद निद्रा आ जाती है। फिर विधेय मूर्छामय स्थिति में आ जाता है, यह स्थिति गाढ़ सुषुप्ति निद्रावाली होती है और उसका मुख्य उपयोग डॉक्टर बहुत दफा आपरेशन के लिए करते हैं। ऐसे समय विधेय का शरीर जड़यंत्रवत् बन जाता है और उसका सारा मनोबल चला जाता है। इस अवस्था से आगे बढ़ने पर विधेय (अपना बल शून्य, अर्थात् केवल विधायक के प्राण के बल से ही अनुवर्तन करने की अपेक्षा और वृत्ति) अनुवृत्ति की अवस्था में आ जाता है। इस समय विधेय की आंखें तो केवल बंद ही होती हैं फिर भी उसके पीछे एकाध हाथ दूर खड़े रह कर कुछ अंशचेष्टा की जाए तो विधेय वैसी ही चेष्टा करने लगता है। उसके सामने रहकर उसे मानों खींच रहे हों वैसे हाथ से छुए बिना, आकर्षण करने पर वह थोड़ा बहुत खिंच जाता है। पानी का गिलास भर कर दें और विधेय से कहें कि 'लीजिये यह मीठा दूध, पी जाइये।' तो बहुत खुशी से दूध का स्वाद अनुभव करते हुए, वह पानी पीता है। कागज के टुकड़े लेकर उसे फूल कहकर दें तो सूंघकर आनंद मनाते हैं और उस समय विधायक के बिना दूसरे का शब्द फिर वह नगाड़े के जैसा हो तो भी, विधेय के कान पर गिर नहीं सकता। सामान्य नियम ऐसा है कि, प्राण विनिमय की क्रिया से निद्रावश होने के बाद जिस-जिस अवस्था का उदय होता है, उसमें किये हुए कर्मों का विधेय को जागृत होने के बाद स्मरण नहीं रहता। लेकिन यदि विधायक संकल्प बल से आज्ञा करे कि अमुक बात स्मरण में रखना, तो वह इस अनुवृत्ति के बल से रह सकती है। विधायक के प्राण, स्पर्श, रूप, रस वगैरह उसके मन में जो-जो उद्गार होते हैं उन सबका अनुभव विधेय को हो जाता है। विधायक के मन में भूत और वर्तमान काल की जो-जो कल्पनाएं चलती हों सो-सो कल्पनाएं विधेय कर देता है और विधायक भूतकाल की कुछ बातें भूल गया हो तो वह भी कह सकता है। अनुवृत्ति के बाद विधेय विश्वदृष्टि की स्थिति में आ जाता है और उस समय लिंगदेह की ऐच्छिक अनैच्छिक शक्तियां पूरी-पूरी आविर्भाव होने लगती हैं और इसीलिए विश्व यानि सर्व और दृष्टि यानि देखने का सामर्थ्य, सो बन जाता है। सारे विश्व में व्याप्त सूक्ष्म प्राणतत्त्व के साथ विधेय के प्राणतत्त्व का योग, स्थूल उपाधि का प्रतिबंध दूर होने से हो जाता है। देश, काल, किसी का विश्व दृष्टि वाले को प्रतिबंध बाधक नहीं होता। चाहे उतने दूर की या चाहे सो भूत या भविष्यकाल की बात

उसकी जानकारी में आ सकती है।* विश्व दृष्टि शब्द में दृष्टि मात्र का ही अर्थ निकलता है, लेकिन सब देखने की और सब सुनने की, सब सूंघने की, सब समझने की, इन सब इन्द्रियों की शक्ति का अर्थ दृष्टि शब्द से समझ लेना। इस समय विधेय में इन्द्रियों के स्थान भी बदल जाते हैं। जैसे कि कान में बात कहें तो वह विधेय के सुनने में नहीं आती। लेकिन उसके हाथ की ऊँगली का छोर हमारे मुंह के समक्ष लाकर बात करें अथवा उसके पेट के समक्ष बात करें तो वह तुरंत सुन सकता है। इस तरह श्रवणेन्द्रिय स्थान बदल जाता है, उतना ही नहीं देखने की इन्द्रिय बहुत चमत्कारिक ढंग से स्थान बदले बिना रहती ही नहीं है।

विश्व दृष्टि में से आगे बढ़ते विधेय प्रत्यग्दृष्टि की आनंदमय स्थिति में आता है। अभी तक विधेय विधायक की आज्ञा मान रहा था। वह उसे अब नहीं मानता। प्रत्येक यानि आंतर (अध्यात्म) और दृष्टि यानि देखना। इस स्थिति के पहले बाह्य विश्व देखने की प्रत्यग्दृष्टि-विश्वदृष्टि भी सो परिवर्तित होकर अब आंतर रचना देखने की प्रत्यग्दृष्टि हुई। इस दृष्टि के पहले विधेय का लिंगदेह बाहर का चमत्कार देखता था और विज्ञानमय कोश जागृत था। वहां से अब कारण देह में सबका लय होकर आनंदमय कोश में प्राण के साथ अंतःकरण की स्थिति होने का है और योगी जिसे समाधि (तूर्यावस्था) कही जाती है, वह स्थिति अनजानपन से आ जाते हैं।

अस्तु, प्राणविनिमय के प्रयोग सर्वविश्रुत है और उसके प्रयोग, यूरोप, अमेरिका में जगह-जगह होते हैं। उन पर से ऊपर की बातें सिद्ध की गई हैं और मनुष्य बुद्धि किसी अमुक संस्कार से सर्वज्ञता के प्रदेश में जा सकती है और स्थूल इन्द्रियों से जो ज्ञान प्राप्त नहीं होता, वह ज्ञान समाधि अवस्था में प्राप्त होता है उसकी सत्यता मालूम होगी। प्राणविनिमय से उत्पन्न होने वाली विधेय की प्रत्यग्दृष्टि की अवस्था ही समाधि, चित्तवृत्ति का निरोध यानि वृत्ति को उठने ही न देना और केवल सर्वमय आत्माकार करना, और उस प्रकार की या करवायी उस भान की वृत्ति का भी न रहना

---

* इस स्थिति में विधेय की आंखें बंद होती हैं, तो भी वह पीछे रखे पदार्थ का वर्णन करता है और कोई पदार्थ पेटी में रखा हो, दूसरे किसी के घर में रखा हो अथवा दूसरे देश में रखा हो तो उस पदार्थ का यथास्थित वर्णन करता है। उस मानसिकता से जिन अलग-अलग प्रदेशों में जाता है। वहां के निश्चित समय की और वहां के चलते व्यापार की खरी जानकारी देता है। उसे मरे हुए इन्सान पहचान में आते हैं। पहले के युग में कौन-कौन मनुष्य हो गये, उनका भी उसे ज्ञान होता है। हम मानो हवा में लेटते हैं, ऐसा उसे लगता है और थोड़े समय में वह कहता है कि 'मैं वहां पहुँचा हूँ।' जिस मनुष्य को विधेय जानता नहीं है ऐसे मनुष्य के मन की कल्पनाएं, उसके पहले किए कार्य और उसके मन में वर्तमान में क्या है, सो वह जानता है उतना ही नहीं, परंतु उस मनुष्य का नाम, उसकी दूसरी हकीकत वगैरह कह देता है। विधायक के शरीर की आंतर रचना भी दीखती है। कोई मनुष्य किस कारण से मर जाएगा उस बारे में निश्चित भविष्य कहता है।

अथवा ऐसा अनुभवमय हो जाना, यह योग अथवा समाधि है। संप्रज्ञात और असंप्रज्ञात समाधि के ऐसे दो प्रकार हैं। ध्यान परिपाक अवस्था से होने वाली समाधि में यानि अष्टांगयोग में गिनी जाने वाली समाधि में ध्येय के अंदर रहे हुए जितने अशेष-विशेष हों, उन सब का साक्षात्कार नहीं होता, लेकिन जब संप्रज्ञात योग की स्थिरता होती है तभी उनका (समाधि के विषय नहीं ऐसे जो ध्येयगत संपूर्ण विशेषों का) साक्षात्कार होता है। अष्टांग योगांतर्गत समाधि ध्यान रूप ही होती है, अतः उसका मुख्य विषय ध्येय होने से वह एक प्रकार कर चिंतन रूप है। अतः उसमें चिंतित विशेषों का ही सर्वांश से भान होता है, लेकिन ध्येयगत अचिंतित विशेषों का उसमें भान नहीं होता। जब अभ्यास के द्वारा वह समाधि परिपाक अवस्था को प्राप्त करती है तब उसका विषय ध्येय कोटि से मिटकर श्रेयकोटि में आ जाता है। अतः वह समाधि जब परिपाक स्थिरता को प्राप्त करती है तब ध्येय का साक्षात्कार होता है। उस साक्षात्कार से ध्येयगत संपूर्ण विशेषों का भान साधक को होता है। तब उसे **संप्रज्ञात योग** कहते हैं। यह सब विवेचन आगे समाधि योग में आएगा और उस मार्ग से मनुष्य बुद्धि सर्वज्ञता का प्रदेश प्राप्त कर सकती है। वर्तमान काल में इस तरह का ज्ञान प्राकृत मनुष्यों में देखने में नहीं आता। अतः उस ज्ञान को ईश्वरी प्रसाद से समाधि में प्राप्त हुआ ज्ञान अथवा **प्रसादजन्य ज्ञान** कहेंगे।

अस्तु! प्रथम तीन तरह के विचार (ज्ञान मार्ग) के बारे में कहा गया और उसका संक्षेप में निरूपण भी किया गया। ये सब ज्ञान मार्ग इस जगह पुनः कह रहे है--(1) अंगज्ञान अथवा आनुवंशिक संस्कार ज्ञान मार्ग (2) विवेक बुद्धि अथवा स्वानुभवजन्य ज्ञान मार्ग और (3) सर्वज्ञत्व अथवा प्रसादजन्य ज्ञान मार्ग। ये तीनों मार्ग बुद्धि में ही अंतर भूत होते हैं। वर्तमान समय में हमें प्रथम दो मार्ग साध्य हैं, तीसरा भी साध्य हो सकेगा। लेकिन समाधि के वगैर वह आखिरी मार्ग साध्य नहीं होगा।

उन तीनों प्रकार के ज्ञानों की तीन कोटियां और उनके तीन कर्म

ऊपर कहा गया है कि हमारा ज्ञान तीन प्रकार का है। जैसे कि--जन्म होने के साथ ही प्राप्त ज्ञान, उसे कोई अंग ज्ञान कहता है, कोई वंश परंपरा के संस्कार कहता है वह प्रथम प्रकार का ज्ञान है। यह ज्ञान पहले कहे अनुसार अनैच्छिक शक्तियों से प्राप्त होता है। हम बुद्धिपूर्वक जो कुछ काम करते हैं अथवा हमारे समक्ष जो-जो घटनाएं होती है वह सब हमारे अंतःकरण में बुद्धि अथवा विवेकशक्ति नाम से जो वृत्ति होती है उसकी उपस्थिति में बनती है। अतः हम कुछ काम जो खास ऐच्छिक शक्तियों से बुद्धि पूर्वक अथवा विचार पूर्वक करते हैं उनका कार्यकारण हमसे कहा जा सकता है, उसे दूसरे प्रकार का ज्ञान कहते हैं। लेकिन उसके सिवाय हमारे हाथों ऐसे कार्य हो जाते हैं अथवा हमारे शरीर में और विश्व में अनेक प्रकार

के कार्य ऐसे बनते हैं कि उनका हमें कुछ भी ज्ञान नहीं होता। जैसे कि हमारे शरीर के अन्तर्भाग में कुछ इन्द्रियां काम करती हैं सो हमारे दिमाग में रहे हुए अनेक ज्ञानतंतुओं के अलग-अलग विभागों की ओर से जो-जो काम होते हैं वे और खास हमारा दिमाग, उनमें किसी संबंध में किसी भी तरह का ज्ञान हमें नहीं होता। हमारा सच्चा कर्तव्य तो यही है कि यह ज्ञान संपादन करना। यह ज्ञान स्थूल इन्द्रियों के द्वारा प्राप्त नहीं होता। उसे अतीन्द्रिय ज्ञान कहते हैं। यह तीसरे प्रकार का ज्ञान है।

1. आनुवंशिक संस्कारपूर्वक ज्ञान और कर्म, अथवा बिना अहंकार का ज्ञान, अथवा अहंकारातीत ज्ञान और कर्म—देखिये कि, हम खुराक खाते हैं, तब उसके संबंधी ज्ञान हमें होता है। अतः इस तरह कि, खाने की क्रिया हमारे हाथ से बुद्धि पूर्वक होती है। लेकिन खुराक पेट में जाने के बाद उसका रस होता है फिर उसका खून, मांस, हड्डियां, धातु इत्यादि रूपांतर होते हैं। इन सब अनैच्छिक शक्ति के कार्यों के बारे में हमें तिल भर भी ज्ञान नहीं है कि यह सब कैसे होता होगा? उसके बारे में हम बिलकुल जान नहीं सकते। तो भी यह सब काम हमारी ही देह में रही हुई अनैच्छिक शक्तियों से होता है। "किस पर से? अन्न खाना, पानी पीना इतना ही मात्र हमारे काम होते हैं। लेकिन अन्न और पानी का रस तैयार करके उसमें से खून, मांस, अस्थि, तंतुए, धातुएं वगैरह पदार्थ उत्पन्न करना ये सब क्रियाएं हमारे लिए हमारे शरीर में रह कर दूसरा कोई नहीं करता होगा ऐसा किस पर से?" ऐसा यदि कोई पूछे तो उसका समाधान यह है कि—जो-जो कार्य हमारी ओर से आनुवंशिक संस्कारों में से उत्पन्न होने वाली पहले कही हुई अनैच्छिक शक्तियों के बल से सहज बन जाती हैं और वह कार्य करने के लिए हमारे अनुभवों की अथवा विचार शक्ति की प्रेरणा करनी नहीं पड़ती। लेकिन समय आने पर या तुरंत एक क्षण का भी विचार किये बगैर हमसे बिना भूले आचरण (बरताव) हो जाता है। ये सब अनैच्छिक कार्य हमसे हमारी इच्छा हो तो पुनः बुद्धि विचारपूर्वक किये जा सकेंगे, जैसे कि हमारा हृदय। यह हृदय हर एक क्षण जितनी बार धड़कता है उसका ज्ञान वर्तमान समय में किसी भी प्रज्ञा को नहीं है। खून को शुद्ध करना और बहना हृदय के कार्य हैं और वह कार्य हृदय शरीर में रही हुई मन की अनैच्छिक शक्ति के बल से इतनी सावधानी से करती है कि उस बारे में हमें जरा भी विचार करना नहीं पड़ता और हम खुद उसकी गति में कमी-बेशी कर नहीं सकते। नींद में हों, स्वप्न में हों, जागृत स्थिति में हों तो भी हृदय अपने आप अपनी इच्छा हो या न हो तो भी सतत् गतिमान होता है और हम यह सोचें कि अमुक समय तक हृदय की गति बंद रखनी है तो यह बात हम कह भी नहीं सकते। हमारी इच्छा हो या न हो तो भी हृदय हमारे जिन्दा रहने तक धड़कता ही रहेगा। इसी तरह शरीर के अंदर

के भाग में हृदय की तरह अनैच्छिक शक्तियों के अनेक कार्य सतत् चलते ही जाते हैं। फोड़े हुए और फिर मिट गये, जख्म हुआ हो फिर जख्म भर गया, निद्रा आना, भूख-प्यास लगना ये सब कार्य हमारी इच्छा के मुताबिक नहीं हो सकते। हमारी इच्छा शक्ति के बाहर होते हैं।

परंतु अपनी इच्छानुसार मानव देह में चलती अनेक अनैच्छिक और ऐच्छिक क्रियाओं को सतत् चलाना अथवा बंद रखना, यह बात अभ्यास से प्राप्त हो सके वैसी हैं और योगमार्ग के शास्त्रीय महामार्ग में अनुभव प्राप्त करके हृदय और दूसरी सब आंतर बाह्य अनैच्छिक शक्ति की क्रियाएं अपनी इच्छानुसार की जा सकती हैं। इतना ही नहीं लेकिन हृदय की गति में वृद्धि, कमी करना, इतना ही नहीं लेकिन उसकी गति बिलकुल बंद भी कर दी जा सकती है। अभ्यास महान् बात है। अभ्यास के बल से शरीर के अंदर की हर एक इन्द्रिय को और हर एक अवयव को अपनी इच्छानुसार चलाने का और ताबे में रखने का बल प्राप्त किया जा सकता है। इसके बारे में पहले कहा जा चुका है। पशु अपने कान इधर-उधर हिलाते हैं और शरीर पर की चमड़ी हिला सकते हैं उसी तरह जरूरत के समय और जरूरत हो उस तरह कान हिलाने वाले और चमड़ी हिलाने वाले बहुत से लोग 'स्वामी विवेकानन्द कहते हैं कि, मैंने देखे हैं, मतलब कि शरीर के अंदर जो एक महान राज्य का भार चलता है सो दूसरे किसी भी सहायता से नहीं चलता लेकिन मात्र हमारी अनैच्छिक शक्तियों के कारण हम ही इस कारभार को चलाने वाले हैं। मात्र उन अनैच्छिक शक्तियों को हमारी सत्ता में लाने के बारे में हमारा अभ्यास बिलकुल नहीं होने से उसका ज्ञान हमें नहीं होता।

2. बुद्धिपूर्वक ज्ञान और कर्म, अथवा साहंकार ज्ञान और कर्म—इस तरह प्रथम प्रकार का ज्ञान और उसके अनैच्छिक कर्मों के बारे में कहा गया। हमारे मन में बुद्धिपूर्वक जितने ऐच्छिक कार्य होते हैं उन सबका समावेश इस वर्ग में किया जाता है। इस तरह के ऐच्छिक कार्यों में हमारी ओर से जो-जो कार्य खास बुद्धिपूर्वक होते हैं उनका ज्ञान 'मुझे' होता है। अर्थात् उनमें 'मैं', 'मेरा' यह कार्य अहंकार पूर्वक होते हैं। लेकिन हृदय का धड़कना, खून का उत्पन्न होना ये सब कार्य बिना अहंकार के होते जाते हैं, अर्थात् उनमें अहंकार का अभाव होता है। वह क्रिया 'मैं करता हूँ' ऐसा हम साधारण व्यवहार में भी नहीं करते, अर्थात् उस विषय का ज्ञान 'हमें, (मुझे) नहीं होता।' इस तरह अहंकार पूर्वक के काम और बिना अहंकार के काम ऐसे दो प्रकार के काम हमारे हाथ से होते जाते हैं। खास बुद्धिपूर्वक 'मैं करता हूँ' ऐसी प्रतीति हमें हो आती है। ऐसे जितने-जितने काम ऐच्छिक शक्तियों के होते हैं, उनको हम अहंकार युक्त अथवा साहंकार कहें, और वंश परंपरा के आनुवंशिक संस्कार पूर्वक अनैच्छिक शक्ति के जितने-जितने काम होते हैं, उनको अहंकार

विमुक्त अथवा अनाहंकार कहें। इस बिना अहंकार के कामों को ही अतीन्द्रिय, और इसीलिए अंगज्ञान के कार्य कहलाते हैं। पशुओं में अंगज्ञान होता है यह हम पांचवी किताब में सीख गए हैं। जानवरों से भी जो बढ़िया जाति के जो प्राणी और उनसे भी बढ़िया जाति का प्राणी मनुष्य, जो साहंकार कार्य करे तो वह काम उसने बुद्धिपूर्वक किया है, ऐसा कहा जाता है।

३. अहंकारातीत ज्ञान और कर्म—मनुष्य जाति का बल प्रथम दो प्रकार के ऐच्छिक और अनैच्छिक शक्ति के कार्य करके ही मात्र रुकता नहीं है। अभ्यास किया जाय तो समाधि के द्वारा उससे भी ऊँची कोटि (दर्जे) का ज्ञान संपादन करने का सामर्थ्य उसे प्राप्त होता है। मनुष्य का मन अहंकार के उस पार जा सकता है। अतः अहंकार के उस तरफ जो आत्मा होती है उसके स्वरूप की स्थिति है वहां तक पहुंच कर वहां का ज्ञान संपादन करना और आत्मा की सहायता से काम करने का महान् बल मनुष्य के अंग में है। उदाहरण के लिए समाधि लगाकर जगत् में क्या-क्या हलचलें होती हैं और हो गई हैं, भूत और अतीत भूतकाल में भी यह पृथ्वी और समग्र विश्व में कौन-कौन सी बातें हो गई हैं, अथवा भविष्यकाल में क्या-क्या होने वाला है? ये सब ज्ञान मनुष्य जहां बैठता है वहां प्राप्त कर सकता है और विश्व का जो सर्वस्व है सो आसानी से जान सकता है। मनुष्य ज्ञान की 'सर्वज्ञता' इस स्थिति को प्राप्त होने के बाद ही कही जाती है, उसके बिना नहीं।

तीन प्रकार की ज्ञान कोटि की परस्पर समानता और भिन्नता

पूर्व गिनाये प्रथम प्रकार के अंगज्ञान और कर्म में अहंकार वृत्ति जागृत नहीं होती, दूसरे प्रकार के साहंकार ज्ञान और कर्म में अहंकार वृत्ति कायम होने के कारण बुद्धिपूर्वक और कर्म में अहंकार वृत्ति कायम होने के कारण बुद्धिपूर्वक ज्ञान संपादन किया जाता है और उसके बाद उसके अनुसार कार्य भी किया जाता है। तीसरे प्रकार के अहंकारातीत (अहंकार से परे) ज्ञान और कर्म में आत्मस्वरूप के ज्ञान की और उस स्थिति में बनने वाले कर्मों की गणना (गिनती) की जाती है। इन तीनों ज्ञानों में तीसरे प्रकार का ज्ञान अहंकार की उस तरफ का होता है, अतः इस अवस्था में प्राप्त होने वाला जितना-जितना ज्ञान और कर्म हो सो सब अहंकार वाला नहीं होगा। उस पर से मालूम होगा कि प्रथम और तीसरे प्रकार की ज्ञानकोटि में अहंकार की जागृति नहीं होती। ये दोनों कोटियां अहंकार से परे होती हैं। तो भी दोनों में भेद है। दोनों कोटियां 'अहंकारातीत' हैं। यह कहने में आए तो प्रथम कोटियां 'अहंकारातीत' उस शब्द में बहुव्रीहि समास समझ कर 'अहंकार है जिसके उस पार' ऐसा विग्रह करना, उसका अर्थ अंगज्ञान अथवा आनुवंशिक ज्ञान इस कोटि साहंकार ज्ञान-तर्कशक्ति-से कनिष्ठ है। तीसरी कोटि में 'अहंकारातीत' उस शब्द में तत्पुरुष

समास समझ कर 'अहंकार के उस पार का' ज्ञान ऐसा विग्रह करके, अहंकार कोटि में जो ज्ञान बन जाता है उसके उस तरफ का ज्ञान कि जो तीसरी कोटि में गिना जा सकता है। अब कोई शंका करेगा कि 'प्रथम और तीसरी कोटि में जब अहंकार नहीं है तब समाधि अवस्था में मनुष्य अपनी दूसरी जागृत अवस्था वाली साहंकार ज्ञान कोटि छोड़ कर प्रथम की कोटि (निद्रावस्था) में स्थित नहीं हुआ। यह किस आधार से जाना जा सकता है? प्रथम की और तीसरी कोटि में अहंकार नहीं होता। अतः दोनों कोटियां समान ही होनी चाहिये। परंतु वस्तुतः ऐसा होता नहीं है। उस बात की परीक्षा परिणामों पर से जानी जा सकती है, तो उस बारे में विचार करें।

सुषुप्ति—आप विचार करके देखेंगे तो स्पष्ट मालूम होगा कि, मनुष्य जब सो जाता है तब वह प्रथम की यानि ठेठ हलकी कोटि में प्रवेश करता है। उस समय उसका अहंकार जागृत नहीं होता। तो भी उसके शरीर में के अनैच्छिक शक्तियों के अंतरंग व्यापार, जैसे कि हृदय का धड़कना, खून का घूमना (दौरा), अन्न का रूपान्तर होना, ये सब व्यापार अनैच्छिक शक्तियों के बल से अपने आप चलते ही हैं और आखिर कुछ समय बाद वह जागृत अवस्था में आते हैं। तब सोने से पूर्व उसमें जो ज्ञान था उतना ही कायम रहा होता है। वह पुनः स्मरण रूप से स्फूरित हो आता है। जब तक मनुष्य सोता है तब तक शून्य अवस्था में जाता है और उस समय में उसे नये ज्ञान की प्राप्ति बिलकुल नहीं होती। कहा जाता है कि निद्रा यह छोटी से छोटी मृत्यु है, यह बात ज्ञान की दृष्टि से इस प्रकार तो सत्य ही है। अर्थात् इतने समय में मनुष्य शून्य अवस्था में होता है। नींद लेते समय हम प्रथम कोटि में जाते हैं और उस अवस्था में ज्ञान का अभाव होता है। यह प्रथम कोटि का लक्षण हुआ। इस कोटि को निद्रा या सुषुप्ति अवस्था कहा जाता है।

तुरीयावस्था—परंतु तीसरी कोटि (अहंकारातीत ज्ञान) की बात ऐसी नहीं है। मनुष्य जब तीसरी कोटि के ज्ञान में से पुनः जागृत अवस्था में आता है तब अवर्णनीय ऐसा अमोघ ज्ञान लेकर वापस आता है। उसका मन सुप्रकाशित और प्रसन्न होता है, उसका अंतःकरण उदार बनता है और तमाम विश्व उसे प्रकाशमय दीखने के कारण वह हमेशा प्रसन्न वृत्तिमय होता है। इस तीसरी अवस्था में हमारे ज्ञान में अनंतगुनी वृद्धि होती है। संस्कृत ग्रंथों में इस अवस्था को तुरीय अवस्था यानी (जागृत नहीं, स्वप्न नहीं, सुषुप्ति-भरनिद्रा नहीं ऐसी) चौथी अवस्था ऐसा नाम दिया गया है। इस अवस्था में प्रवेश करने का सामर्थ्य प्राप्त होता है। तब हमारा आयुष्य बढ़ा हो ऐसा लगता है। मानो कि हम तथा सारी दुनिया के तमाम लोग अनंतकाल तक जिन्दा रहें तो जितना बुद्धिपुर्वक साहंकार ज्ञान (शास्त्रीय शोध, कलाएं, अनेक गुप्त शक्तियों की शोध इत्यादि) प्राप्त कर सकें, उससे भी विशेष ज्ञान का साक्षात्कार इस तुरीय अवस्था रूप तीसरी कोटि में हम प्राप्त कर सकते हैं।

मतलब कि, प्रथम कोटि में ज्ञान का अभाव होना और तीसरी कोटि में अवर्णनीय अमोघज्ञान की प्राप्ति होना, यह इन दोनों अवस्थाओं में विशेष फर्क है और बुद्धि से मान्य हो सके ऐसे सिद्धातों पर ही ज्ञान की प्रथम बुनियाद चुनकर बुद्धि जो मार्ग बनाए उस मार्ग से ज्ञान रूपी इमारत बांधनी चाहिए। बुद्धि की गति जहां रुक जाती है ऐसे आत्मानुभव के ज्ञान रूपी इमारत के ठेठ आखिरी मंजिल पर चढ़ना हो, तो भी बुद्धि की सहायता से ही चढ़ना चाहिए। बुद्धि से और विवेक से अमान्य हो सके ऐसी कोई भी तत्त्व धर्म के ग्रंथों में हो तो वह हमेशा निरूपयोगी ही होना चाहिए और वह बात आर्य देश को पार करने के बाद बाकी के देशों के धर्मग्रन्थों के अवलोकन पर से अधिक स्पष्ट रीति से देखा जाता है। कारण स्पष्ट है। देखिये, परमकृपालु परमेश्वर ने मनुष्य जाति को तीन प्रकार से ज्ञान हो सके वैसी सुविधा पहले से ही कर रखी है। जैसे कि (1) अंगज्ञान अथवा आनुवंशिक संस्कार जन्य ज्ञान, (2) तर्कशक्ति अथवा अनुभव से विवेक उत्पन्न होकर प्राप्त ज्ञान और (3) आत्मा के स्वरूप की पहचान होकर प्राप्त ज्ञान यानि सर्वज्ञत्व। उन तीनों के बारे में संक्षेप में कहें तो उपेन्द्रियज्ञान, ऐन्द्रियज्ञान और अतीन्द्रियज्ञान इन तीन प्रकार के ज्ञान होते हैं, और ये परस्पर को संपूर्णता दे सके, इस तरह सृष्टि क्रम में व्यवस्थित है, और परस्पर में विरोध उत्पन्न करें वैसे नहीं है। उपेन्द्रिय ज्ञान की संपूर्णता अतिन्द्रिय ज्ञान में हो सकती है। मतलब कि ये तीनों ज्ञान एक-दूसरे को पुष्टी देने वाले होते हैं। अतः अतिन्द्रिय ज्ञान ईश्वरी कृपापूर्वक हो तो उसकी कृपा से हुआ ज्ञान मनुष्य के विवेक के साथ बहुत मिलता-जुलता-सुसंगत होता है। तब कोई भी धर्म संस्थापक अथवा पैगंबर, साधु, संत, महात्मा वगैरह को पूर्ण ज्ञान शास्त्रीय विधि से प्राप्त हो तो उन्होंने उपदेश किया हुआ धर्मतत्त्व और उसके बनाए उपासनादि अनेक मार्ग युक्ति से, प्रमाण से और अनुमान से विरोध उत्पन्न कर सके वैसे नहीं होने चाहिए, यह स्पष्ट है।



आठवीं कला–संयम कला

संयम और सिद्धियां

संयम के बारे में

अभी तक अष्टांगयोग के आठ साधनों के बारे में विस्तार से कहा। योग के दो प्रकार हैं। (1) संप्रज्ञात और (2) असंप्रज्ञात। उनमें प्रथम प्रकार का योग साध्य होने के बाद दूसरे प्रकार का योग साध्य होता है। यम, नियम, आसन, प्राणायाम और प्रत्याहार ये संप्रज्ञात के बहिरंग साधन हैं और धारणा, ध्यान, समाधि ये तीन अंतरंग साधन हैं। इन तीन साधनों का संयम ऐसा एकत्र नाम है। वह संयम अच्छी तरह साध्य हो जाए तब संप्रज्ञात योग साध्य होता हैं। संप्रज्ञात योग की सिद्ध होती है तब विवेकख्याति उदय होती है। अतः वह विवेकख्याति संयम के दृढ़ अभ्यास से साध्य होता है, अतः उस बारे में भगवान् पतंजलि क्या कहते हैं सो सोचें–

(84) एक ही विषय पर धारणा, ध्यान और समाधि ये तीन किये जाते हैं तव इन तीनों को एकत्र मिलाकर संयम कहा जाता है। (85) उस संयम का जय अथवा दृढ़ता होने से प्रज्ञा (ज्ञान) की दीप्ति होती है। (86) उस संयम का स्थूल सूक्ष्म भूमिका क्रम से अनुष्ठान करना। (87) इस प्रकार धारणा, ध्यान, समाधि ये तीन पहले के (यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार) इन पांच अंगों से उच्च हैं। अतः वे संप्रज्ञात योग के अंतरंग साधन हैं। (88) तो भी असंप्रज्ञात योग के ये तीन बहिरंग साधन हैं।

84. संयम का लक्षण–जब एक ही विषय पर धारणा, ध्यान और समाधि ये तीन अंग किये जाते हैं तब ये तीनों मिलकर संयम कहा जाता है। अतः जब जिस पदार्थ के बारे में संयम कहा हो तब उस पदार्थ के लिए ये तीन करने के हैं। यह समझना।

85. संयम का फल–उस संयम का जय होने से यानि धारणा, ध्यान समाधि, ये तीन स्थिर-सिद्ध होने के कारण, समाधि से उत्पन्न ज्ञान-प्रज्ञा निर्मल होती है। अतः उस ज्ञान में भ्रांति, संशय वगैरह जैसा कुछ भी रहते हुए ध्येय तत्त्व का अच्छी तरह स्फूरण होता है। मतलब कि, जैसे-जैसे संयम अधिकाधिक स्थिर होता जाता

---

84. त्रयमेकत्र संयमः 3,4. **85.** तज्जयात्प्रज्ञा लोकः 3,5. **86.** तस्यभूमिषु विनियोगः 3,6. **87.** त्रयमन्तरंगं पूर्वेभ्यः 3,7. **88.** तदपि बहिरंगंनिर्बीजस्य 3,8.

है। वैसे-वैसे ध्येयतत्त्व में रहे हुए संपूर्ण विशेष मुख्य गुण धर्म (अशेष विशेषों) का साक्षात्कार करने का बल चित्त में आता जाता है और जब क्रमशः अति सूक्ष्म विषय ऐसे जो प्रकृति और पुरुष इन दोनों को ध्येय रूप से लिये जाते हैं तथा उसमें संयम की दृढ़ स्थिरता होती है तब विवेक ख्याति का उदय होता है।

86. संयम का अनुष्ठान करने का क्रम—विवेकख्याति की उत्पत्ति के लिए भूमिका क्रम से इस संयम का अनुष्ठान करना। जैसे तीर तानने वाला प्रथम पेड़, पत्थर वगैरह स्थूल पदार्थों को बांधने के लिए लेता है। उनके बाद सूक्ष्म को और आखिर में उससे भी अति सूक्ष्म को लेता चलता है, तभी यथार्थ रीति से उसका निशाना मारने का बल प्राप्त होता जाता है, लेकिन बिना सामर्थ्य प्रथम से सूक्ष्म पदार्थों को लक्ष्य के तौर पर लेकर बींधने का प्रयत्न करे तो स्थूल पदार्थों को भी बींध नहीं सकता और निशाना ठीक से नहीं लगता। उसी प्रकार योगी भी प्रथम अपने सामर्थ्य के मुताबिक स्थूल को लक्ष्य लेकर और उस स्थूल में संयम सिद्ध करके फिर सूक्ष्म पदार्थ को लेता है। वैसा करने से ही उत्तरोत्तर बल की वृद्धि होती है और प्रकृति पुरुष जैसे अतिशय सूक्ष्म पदार्थ के साक्षात्कार को अंत में प्राप्त करता है। अतः साधक को इस संयम का प्रयोग प्रथम स्थूल फिर सूक्ष्म ऐसे क्रम से करना चाहिए। अतः एक भूमिका का जय हो तब उससे बढ़ती भूमिका लेकर उसमें प्रवेश किया जाए, ऐसा उत्तरोत्तर समझना।

अब यह शंका होने का अवकाश है कि भूमिकाएं अनेक हैं, वैसे-वैसे अधिकारी भी अनेक हैं, तब हमारी योग्यता के अनुसार यह अमुक भूमिका प्रथम की है और उसके बाद भी आगे की भूमिका यह अमुक ही है, इस प्रकार का ज्ञान कैसे हो सकेगा? उसके समाधान में भगवान् वेद व्यास अपने भाष्य में बताते हैं। अमुक भूमिका बाद में उससे बढ़ती दर्जे की दूसरी अमुक भूमिका है, ऐसा ज्ञान होने के लिए 'योग' ही मुख्य गुरु है अर्थात् दूसरे की कुछ भी जरूरत नहीं है, क्योंकि बाद में योगी अपने योगबल से ही सब जानता है। कहा है कि—

योगेन योगो ज्ञातव्यो-योगो योगात्प्रवर्तते।
योऽप्रमत्तस्तु योगेन संयोगे रमते चिरम् ॥

उत्तर भूमिकारूप योग, पूर्व भूमिका रूप योग से जानना। योग से योग प्रवर्तित होता है, जो योगी योग में प्रमाद रहित होता है वह योगी पूर्व-पूर्व भूमिका की जयपूर्वक उत्तरोत्तर भूमिका की प्राप्ति से चिरकाल तक अलौकिक सुखानुभव करता है।

87. संयम संप्रज्ञात योग का अंतरंग साधन है—यम नियमादि पांच अंगों को संप्रज्ञात के बहिरंग के तौर पर गिनते हैं, उसका कारण यह है कि धारणा, ध्यान, समाधि ये तीन योग प्राप्त करने के साक्षात् साधन होने से अंतरंग हैं, उससे सबके

लिए आवश्यक है और यमादि पांच बहिरंग हैं। धारणा की अतिशयता होने पर ध्यान के रूप में आना और ध्यान की अतिशयता से समाधि रूप स्थिति होना, तथा समाधि की अतिशयता हो तब संप्रज्ञात योग होना ऐसा परस्पर क्रम है और धारणा, ध्यान, समाधि इन तीन का विषय भी संप्रज्ञात के साथ एक ही होता है। अतः वह तीन संप्रज्ञात के अंतरंग साधन हैं और यमादि पांच तो मात्र अंतःकरण की शुद्धि, मन की गति की शिथिलता वगैरह फलवाले होने के कारण योग के प्रतिबंध की निवृत्ति करने वाले हैं और प्रतिबंध की निवृत्ति के द्वारा योग के उपकारक हैं। परंतु साक्षात् नहीं हैं, अतः यह पांच बहिरंग हैं। संयम में ध्येय पदार्थ के साथ वृत्ति का एकाकार प्रवाह चलाना यह मुख्य करना होता है और इसीलिए ही आखिर ध्येय में वृत्तिमात्र का निरोध होने के कारण ध्येय का साक्षात्कार होता है। अतः संयम में गिने जाने वाले तीन साधन तो संप्रज्ञात योग के साक्षात् उपकारक होने के कारण अंतरंग हैं। अतः प्राणायाम वगैरह साधन के बिना शायद साधक को चलेगा, लेकिन संयम की सिद्धि के बिना तो कभी नहीं चलेगा।

88. संयम असंप्रज्ञात योग का बहिरंग साधन है—संप्रज्ञात योग की सिद्धि होने से विवेकख्याति उत्पन्न होती है और विवेकख्याति के पुनः-पुनः अभ्यास से ज्ञान निर्मल होने के कारण समय जाने पर परवैराग्य उत्पन्न होता है तब पहले की वृत्ति का शमन होता है, जिससे सर्ववृत्तियों का निरोध होने से असंप्रज्ञात योग साध्य होता है। ऐसा होने से असंप्रज्ञात योग का साक्षात् साधन परवैराग्य है और संयम तो मात्र संप्रज्ञात योग सिद्धि करने वाला होने के कारण असंप्रज्ञात का साक्षात् साधन नहीं है लेकिन परंपरागत साधन है अतः वह योग का बहिरंग साधन है अथवा दूसरी रीति से कहें तो असंप्रज्ञात में तमाम वृत्तियों का निरोध होता है। अतः उसमें वृत्ति को किसी भी प्रकार का आलंबन नहीं होता है। अतः जो साधन प्राप्ति मात्र था तिरस्कार करने वाला हो वही उस योग का अंतरंग साधन हो सकता है और संयम जो वृत्ति को ध्येय की तरफ लगाने वाला होने के कारण उसमें वृत्तिमात्र का तिरस्कार नहीं होता, अतः संयम असंप्रज्ञात का बहिरंग साधन रूप है।

समाधि और योग के समय चित्त के होने वाले परिणाम

ऊपर के अनुसार हमने उत्तम, मध्यम और कनिष्ठ अधिकारी को योग प्राप्ति का विचार करते हुए कनिष्ठ अधिकारी के लिए अष्टांग योग की सिफारिश करके उसका विस्तार से विवेचन किया, लेकिन अब योग्य अधिकारी को इस प्रसंग पर शंका होने की संभावना रहती है कि पहले इस समाधि के संप्रज्ञात योग का अंतरंग साधन और असंप्रज्ञात योग का बहिरंग साधन कहा है। इस तरह **योग** वह **अंगी** और **समाधि वह अंग** हुआ। अब समाधि में भी चित्त की एकाग्रता होती है और योग में भी वही

फल प्राप्त होता है तो अंग और अंगी एक ही जैसे गिने जाते हैं उसका क्या? सच है कि ऊपर-ऊपर देखने से ऐसी स्थिति लगेगी, लेकिन हम उसके सूक्ष्म भेद जान जायें तो ऊपर की शंका का समाधान सहज हो जाना संभव हैं। उस सूक्ष्म भेद का स्पष्टीकरण होने के लिए भगवान् पतञ्जलि ने परिणाम सूत्र रचे हैं। परिणाम सूत्र कहने का कारण यही है कि, ऊपर की सर्व समाधि या योग के प्रकार चित्त के परिणाम के ही प्रकार हैं। हम पहले प्रतिपादन कर गये हैं कि *चित्त निरंतर परिणाम प्राप्त करता है, एक अवस्था छोड़कर दूसरी अवस्था को धारण करता है, एक विषय छोड़कर दूसरे को विषय करता है–विषयाकार होकर रहता है। आखिर विषयमय-विषयरूप* बन जाता है। विषय, विषयी और विषयता, प्रमेय, प्रमाता, प्रमाण, दृश्य, दृष्टा, दर्शन, ध्येय, ध्याता, ध्यानरूप त्रिपुटि मात्र का लय हो जाता है। इस तरह चित्त का क्रमशः परिणाम (अवस्थांतर) होता है, अतः उस अवस्थाओं का भेद जांचा जाए तो ऊपर के अंग और अंगी का भेद स्पष्ट होगा ही। अतः प्रथम समाधि के समय और उसके बाद योग समय पर चित्त के कैसे परिणाम होते हैं। उसके लिए भगवान् पतञ्जलि कहते हैं कि:– (89) जब कोई साधक चित्तवृत्ति का निरोध करके समाधि करने के लिए प्रयत्न करता है तब उस समाधि के समय उसके चित्त का जो परिणाम होता है उसे समाधि परिणाम कहते हैं। वह परिणाम होने के समय चित्त की सर्वार्थता (अनेक विषयों को ग्रहण करने के कारणरूप विक्षिप्तता) का क्षय होता हैं और एकाग्रता (अनेक विषयों को छोड़कर चित्त का एक विषय पर स्थिरता प्राप्त करना) का उदय होता है। (90) उसके अनुसार सर्वार्थता का केवल क्षय होने पर और एकाग्रता की परमवृद्धि होने पर शांत (अतीत, गई हुइ) और उदित (चालू, वर्तमान) ये दोनों वृत्तियां जब एक का ही विषय करने वाली होती है तब चित्त की उस स्थिति को एकाग्रता परिणाम कहते हैं। (91) समाधि समय इन सब परिणामों की पूर्णता होती है जब साधक को अनेक सिद्धियां प्राप्त होती हैं, उसमें यदि वह लुब्ध होता है तो उसे जो अवश्य प्राप्त करने योग्य असंप्रज्ञात योग प्राप्त नहीं होता। अतः उस योग की दृष्टि से देखते हुए समाधि की सिद्धियां व्युत्थान संस्कार रूप है, व्युत्थान संस्कारों का अभिभव (नाश) और निरोध संस्कारों का प्रादुर्भाव (वृद्धि) जिस समय होता है वह निरोध के समय चित्त का उन दोनों को साथ का संबंध निरोध परिणाम कहा जाता है। **92.** उस परिणाम के संस्कार से चित्त का प्रवाह प्रशांतता से बहता है।

89. समाधि के समय चित्त का होने वाला समाधि परिणाम–साधक का

---

89. सर्वार्थतैकाग्रतयोः क्षयोदयो चितस्य समाधि परिणामः 3,11. **90.** ततः पुनः शान्तोदितौ तुल्य प्रत्ययौ चित्तस्यैकाग्रतापरिणामः 3,12. **91.** व्युत्थान निरोध संस्कारयोरभिभव प्रादुर्भावौ निरोध क्षणचित्तान्वयोः निरोध परिणामः 3,9. **92.** तस्य प्रशान्तवाहिता संस्कारात् 3,10.

चित्त समाधि में प्रवेश करता है अतः वह कुछ तुरंत स्थिर नहीं हो जाता। लेकिन उसकी **सर्वार्थता** (अलग-अलग विषयों को ग्रहण करने का चित्त को विक्षिप्तता) का क्षय तिरोभाव-गुप्त होना-होता है और **एकाग्रता** (अलग विषय छोड़कर चित्त का एक ही विषयाकार होना) का उदय अनुक्रम से होता जाता है। अतः जैसे-जैसे एकाग्रता का बल बढ़ता है, वैसे-वैसे सर्वार्थता का बल घटता है। इस तरह विक्षिप्तता का ह्रास-क्षय और एकाग्रता की वृद्धि होना इन दोनों के साथ चित्त का संबंध रहता है। उस प्रकार का चित्त का संबंध वह उसका समाधि परिणाम कहा जाता है। इस तरह देखते हुए सर्वार्थता और एकाग्रता यह चित्त के धर्म हैं और उनके ह्रास-क्षय तथा उदय सर्वार्थता और एकाग्रता रूप धर्मों के परिणाम हैं लेकिन वे दोनों धर्म चित्त के साथ संबंध वाले होने के कारण धर्मों के परिणाम को धर्मों का (परिणाम) कहने में कोई बाधा नहीं है।

90. समाधि की सिद्धि के समय चित्त का होने वाला एकाग्रता परिणाम—जिस चित्त को समाधि नहीं हुई, लेकिन समाधि साध्य करने के प्रयत्न में चित्त का उस समय होने वाले समाधि परिणाम के बारे में कहा, अब समाधि की सिद्धि दशा में चित्त का कैसा परिणाम होता है? उसे बताने के लिए पतञ्जलि कहते हैं कि, सर्वार्थता का केवल क्षय होने के कारण और एकाग्रता की परम वृद्धि होने के कारण अतीत (गया हुआ, भूत) और उदित (हाल की, चालू, वर्तमान) ये दोनों वृत्तियां जिस समय एक को विषय करती हैं उसे चित्त का एकाग्रता परिणाम कहते हैं। अतः जब एकाग्रता की सिद्धि होती है तथा एक ही जात की सजातीय वृत्ति का अविच्छिन्न तेलधारा की तरह अखंड प्रवाह आता है, तब एक-एक वृत्ति अतीत होती है और दूसरे का उदय होता है। जैसी वृत्ति अतीतावस्था को प्राप्त होती है वैसी दूसरी उदय होती है। पहली वृत्ति ने जिसे विषय किया हो उसी को ही दूसरी वृत्ति विषय करती है। दोनों एक ही विषयाकार होकर रहती हैं। उसके अनुसार सतत् प्रवाह चलता रहता है। उस एकाग्रता के समय सब (अतीत और उदित ऐसी सजातीय) वृत्तियों के साथ चित्त का संबंध होता है उसे चित्त का एकाग्रता परिणाम कहते हैं।

समाधि परिणाम और एकाग्रता परिणाम का भेद— उतना ही है कि—समाधि परिणाम में विक्षिप्तता का तिरोभाव और एकाग्रता का उदय इस तरह दो भिन्न प्रकार की वृत्ति के साथ चित्त का संबंध होता है और इस एकाग्रता परिणाम में मात्र सजातीय वृत्ति का प्रवाह चलता रहता है।

91. योग के समय चित्त का होने वाला निरोध परिणाम—जब साधक समाधि अवस्था में से योग की अवस्था में प्रवेश करता है तब उसके व्युत्थान संस्कार का अभिभव और निरोध संस्कारों का प्रादुर्भाव होता है, उस निरोध के समय उन दोनों

के साथ का चित्त के संबंध को निरोध परिणाम कहा जाता है। व्युत्थान यानि चित्त की क्षिप्त, मूढ़ और विक्षिप्त तीन अवस्थाएं है। यद्यपि असंप्रज्ञात योग की अपेक्षा से एकाग्रतावस्था भी व्युत्थान ही है। परंतु यहां दोनों योग में साधारण व्युत्थान ही कहा है। निरोध यानि उत्तम सत्त्व की प्रधानता से वृत्ति के अभाव वाली चित्त की होने वाली अवस्था। उन दोनों से उत्पन्न हुआ संस्कार सो व्युत्थान संस्कार और निरोध संस्कार कहा जाता है। अभिभव यानि ह्रास अथवा क्षय और प्रार्दुभाव यानि वृद्धि।

यहां व्युत्थान यानी संप्रज्ञात समाधि और निरोध यानी (वह संप्रज्ञात जिसके द्वारा निरुद्ध किया जा सके) परवैराग्य समझने के है। जैसे-जैसे योग का अनुष्ठान किया जाता है, वैसे-वैसे व्युत्थान संस्कार की न्यूनता, यानी अपना कार्य करने की शक्ति कम होती है और निरोध संस्कार का बल बढ़ता जाता है, यानी कि संप्रज्ञात संयम पर उत्पन्न संस्कार जैसे-जैसे परवैराग्य से कम होते जाते हैं वैसे-वैसे निरोध कालीन (असंप्रज्ञात अवस्था के) संस्कार बढ़ते जाते हैं। उस निरोध के समय चित्तरूप धर्मी का उन दोनों अवस्थाओं के साथ संबंध होता है, व्युत्थान संस्कार रूप धर्म का अभिभव और निरोध संस्कार रूप धर्म का प्रादुर्भाव ये दोनों धर्म चित्त में एक ही समय प्राप्त होता है। अतः उस निरोध के समय चित्त का उन दोनों धर्मों के साथ का संबंध को निरोध परिणाम कहते हैं। इस तरह चित्त दोनों धर्मों के आश्रयरूप बनते हैं। वह चित्त का निरोध परिणाम कहलाता है। पर वैराग्य रूप वृत्ति से संप्रज्ञात वृत्ति का और परवैराग्य संस्कार से संप्रज्ञात संस्कार का पराभाव करते हुए और परवैराग्य संस्कार ही केवल स्पष्ट होने पर निर्वीज रूप परिणाम होता है यह इस सूत्र का सार है।

इस स्थान पर यह शंका होती है कि, "व्युत्थान संस्कार अंतःकरण के व्युत्थान प्रत्यय से (वृत्ति से) डले होते हैं, तो वृत्ति निरोध से संस्कार का नाश होना चाहिए। जैसे अविद्या से उत्पन्न हुए क्लेश, अवद्यिा के नष्ट होने पर अपने आप नष्ट होते हैं वैसे वृत्ति से डले संस्कार का निरोध वृत्ति से नाश अभिभव होना चाहिए।" उसका समाधान इस प्रकार हैः—नियम यह है कि, उपादान कारण का नाश हो तो उसके कार्य का नाश होता है, प्रत्यय यह कुछ संस्कारों का उपादान कारण* नहीं है, अतः व्युत्थान संस्कारों के नाश के लिए दूसरे उनका नाश करें वैसे कारण की अपेक्षा है। विरोध संस्कार व्युत्थान संस्कार के विरोधी होने के कारण उसकी सबलता से ही उनका नाश होता है, दूसरे प्रकार से हो नहीं सकता। वह स्पष्ट है जैसे कि, अविद्या

* यदभिन्नं कार्यमुत्पद्यते तत्तस्योपादानम् जिसका कार्य में प्रवेश का कारण हो वह उसका उपादान कारण कहा जाएगा। जिस तरह मिट्टी का घट घड़े में प्रवेश होने से मिट्टी घट का कारण है अतः मिट्टी घट का उपादान कारण कहा जाएगा।

क्लेशों का उपादान कारण है अतः क्लेशों का नाश होने से अविद्या का नाश नहीं होता, यह स्पष्ट ही है। इस तरह निरोध संस्कार की प्रबलता बढ़ने से चित्त के मात्र संस्कार ही बाकी रहते हैं। उसे निरोध परिणाम कहते हैं।

इस संबंध में उद्दालक नाम के किसी ब्राह्मण की हकीकत योगवासिष्ठ में इस तरह दी हुई मालूम पड़ती है—संकल्प विकल्प रहित परमपावन श्री परमात्मा के स्वरूप के बारे में जैसे मेरू की चोटी पर बादल स्थिर रहते हैं, वैसे ही मैं कब चिरकाल तक विश्रांति को प्राप्त करुंगा? इस प्रकार की चिंता के आधीन उद्दालक नाम का ब्राह्मण बारंबार बैठकर बलात्कार से ध्यान का अभ्यास करता था। मर्कट जैसे चपल चित्त को जब विषयों ने आकर्षित किया तब उसे सुखजनक समाधि के संबंध में स्थिरता प्राप्त नहीं हुई। किसी समय उसका चित्तरूप वानर, बाह्य विषय में थे संग को त्याग कर आंतर विषयों को छोड़कर बाह्यविषयों में जा बैठता और किसी समय आंतर विषयों को छोड़कर बाह्य विषयों में घुसकर बैठा रहता, जैसे परेशान पक्षी एक वृक्ष से दूसरे वृक्ष पर वहां से तीसरे वृक्ष पर भटकता है, उसी तरह उसका मन एक विषय को छोड़कर दूसरे विषय में, वहां से फिर तीसरे विषय में भटका करता था। वह ब्राह्मण ध्यान का अभ्यास करते समय अंतर में उदित सूर्य जैसे विस्तार वाले तेज का अनुभव करता है, कभी केवल आकाश को देखता है, कभी गाढ़ अधंकार को देखता है। जैसे शूरवीर पुरुष रण (युद्ध क्षेत्र) में खड़ग के द्वारा शत्रुओं को काटता चला जाता है। वैसे उद्दालक मुनि अंतर में अनुक्रम से जो-जो आभास प्रकटते हैं, उनको मन के द्वारा लय करते जाते हैं। जब सब विकल्पों का शमन कर लिया तब उन्होंने विवेकरूप सूर्य को आच्छादन करने वाले काजल जैसे अंधकार को अंतर में देखा। उसका यथार्थ ज्ञान रूप सूर्य के द्वारा शमन किया तब अंधकार दूर होने के बाद वे अपने अंतर में तेज पुंज देख रहे थे। उसे भी स्थल के कमल के वन को बालक हाथी काट डाले वैसे वृत्ति के द्वारा छेद डाला, तब तेज उपराम होने पर रात्रि के समय जैसे कमल निद्रा को वश होता है, वैसे उसका मन, निद्रा को वश हुआ। अतः उसे भी जल्द उड़ा देने के बाद उनके अंतर में आकाश का भान हुआ। उसका भी नाश होने पर उसका मन मोह युक्त हुआ। उस मोह को भी उन महाशय ने दूर किया अतः उस मुनि का मन, तेज, तम, निद्रा तथा मोह वगैरह को वश नहीं होते हुए किसी अनिवर्चनीय अवस्था को प्राप्त करके क्षणभर विश्रांति प्राप्त हुआ।

यह सर्व व्युत्थान संस्कार दिन व दिन तथा क्षण-क्षण निरोध के कारणरूप योगी के प्रयत्न के द्वारा तिरोभाव प्राप्त करते हैं तथा निरोध संस्कार प्रकट होते हैं, ऐसा होने से प्रत्येक क्षण चित्त निरोध के अनुकूल होता जाता है। इस प्रकार के चित्त के परिणाम को निरोध परिणाम कहते हैं।

निरोध परिणाम में और समाधि परिणाम में तफावत यह है कि, समाधि

परिणाम में चित्त की विक्षिप्तता (बहिर्मुखता, अनेक विषयाकारता) और एकाग्रता उन दोनों का ह्रास और वृद्धि होते हैं तथा उन दोनों के साथ चित्त संबंध वाला होकर रहता है, निरोध परिणाम में संस्कारों का ह्रास और वृद्धि होते हैं और चित्त उन दोनों धर्मी के साथ संबंध वाला रहता है।

92. निरोध परिणाम का फल—निरोध संस्कार से चित्त का प्रवाह बहुत ही शांत रीति से बहता है। अतः निरोध संस्कार की प्रबलता जैसे-जैसे बढ़ती जाती है वैसे-वैसे व्युत्थान संस्कार कमजोर होते जाते हैं और ऐसा अभ्यास पूर्ण रीति से होता है। तब चित्त में जरा भी विक्षेप नहीं उठता है और चित्त का निर्मल, शांत, सात्त्विक प्रवाह चलता रहता है। चित्त स्वभाव से ही परिणामी चंचल है, अतः उसका प्रवाह बंद नहीं होता, लेकिन केवल सात्त्विक प्रवाह रहता है। उतने ही निरोध संस्कार से चित्त की स्थिरता कहने का हेतु है।

यहां यह शंका होगी कि संप्रज्ञात योग अपनी उत्पन्न प्रज्ञा वृत्ति के द्वारा चित्त में संस्कार डाल सकती है, अतः उस दृष्टि से तो चित्त का निरोध संस्कार योग्य है, परंतु असंप्रज्ञात योग के समय किसी भी तरह की प्रज्ञा-वृत्ति नहीं होने से वह निरोध अपना संस्कार चित्त पर किस तरह डाल सकता है? इस शंका का समाधान इस सूत्र पर से दिया जा सकता है कि चित्त में निरोध संस्कार होने से चित्त का वहन शांत तरह से होता है, वही उसका निरोध संस्कार है। इस सूत्र का विवेचन करते हुए विद्यारण्य स्वामी अपने जीवन मुक्ति प्रकरण में लिखते हैं कि—जैसे अग्नि में समिधा, घी वगैरह डालने से उसकी ज्वालाएं उत्तरोत्तर वृद्धि प्राप्त करती हैं तथा वह सब जल जाने के बाद प्रथम क्षण को ज्वाला कुछ शांत होती है, दूसरे क्षण उससे अधिक शांत होती है, इस तरह उत्तरोत्तर क्षण पर अग्नि अधिक शांत होती जाती है। उसी समय निरोध प्राप्ति करवाया हुआ चित्त का उत्तरोत्तर अधिकाधिक शक्ति वाला प्रवाह बहता है। उसमें पहले-पहले शान्ति से उत्पन्न संस्कार ही उत्तरोत्तर शान्ति में कारणरूप है। उस बारे में भगवान् श्री कृष्ण गीता में कहते हैं कि जब अभ्यास के बल के द्वारा एकाग्रता को प्राप्त करवाया हुआ मन आत्मा के बारे में ही स्थिर होता है, तब सर्व शब्दादि विषयों से स्पृहा रहित हुआ योगी, योगारूढ़ कहा जाता है। जैसे वायु रहित स्थान में रखा दीया हिलता नहीं है, वही उपमा, आत्मसाक्षात्कार के लिए प्रवर्तित की हुई समाधि को साधने वाले तथा ब्रह्म के बारे में ही स्थिर चित्त वाले योगी के चित्त की कही है। सेवन (उपासना) के द्वारा ब्रह्म के बारे में योग में निरोध किया हुआ चित्त जहां उपराम को प्राप्त करता है और जहां ब्रह्मवित् योगी अपनी वृत्ति में आरूढ़ आत्मा को साक्षात् अनुभव करने पर भी आनंद प्राप्त करता है। इन्द्रियों के द्वारा ग्रहण नहीं हो सके ऐसे और मात्र बुद्धि के द्वारा ही अनुभव किया जा सके वैसे निरतिशय सुख को जिस स्थिति में जानना है

और जिस स्थिति में रहा हुआ पुरुष चैतन्य तत्त्व से क्वचित् भी चलायमान नहीं होगा, जिसे प्राप्त करके अन्य किसी भी लाभ को योगी पुरुष अधिक मानता नहीं है तथा जिसमें स्थित होने पर भी महा दुःख से भी चलायमान नहीं होता। वह इस दुःख के संसर्ग के अभाव वाली अंतःकरण की अवस्था को योग संज्ञा से जानना। वह योग निश्चयपूर्वक कायरता रहित चित्त के द्वारा सहने योग्य है।

धर्म, लक्षण और अवस्था परिणाम के बारे में

इस तरह अंगीरूप योग और अंगरूप समाधि का भेद स्पष्ट किया। परंतु वह समाधि कि जो हमारी संयम कला की परिपाक अवस्था है वह प्राप्त होने से क्या फल होगा सो जानना चाहिये। किसी भी कर्म के दो फल होते हैं। 1. दृष्ट और 2. अदृष्ट। उस हर एक के दो प्रकार हो सकते हैं। (क) **व्यावहारिक,** (ख) **पारमार्थिक**। उनमें पारमार्थिक अदृष्ट फल तो अंतः करण की एकाग्रता, ऋतंभरा प्रज्ञा, अपर वैराग्य, पर वैराग्य, धर्ममेध, जीवन मुक्ति और अंत में विवेक कैवल्य तक परिपाक दशा के प्रमाण में अनुक्रम से प्राप्त होता है, परंतु यह नियम है कि जो अदृष्ट फल है उस पर श्रद्धा सहज नहीं होती। अतः कार्य होते-होते ऐसा कुछ दृष्टफल होना चाहिये कि जिसके द्वारा आगामी फल निश्चित मिलेगा। ऐसी श्रद्धा उत्पन्न हो। वह दृष्टफल यद्यपि व्यावहारिक होता है और इससे मुमुक्षु के लिए उसका आदर करने जैसा नहीं है, तो भी मंद वैराग्य वाले अधिकारी को श्रद्धा उत्पन्न करने के लिए उसका वर्णन करने की जरूरत है। उस जरूरत को पतंजलि ने भी स्वीकारा है और उस तरह उन्होंने संयम से होने वाली सिद्धियों का निरूपण करके दृष्टफल का विवेचन भी किया है। लेकिन उस फल के विवेचन करने से पहले उसके साधन में प्रकृति के और उसके कार्यरूप पदार्थों के धर्म, लक्षण और अवस्था इन तीन प्रकार के परिणाम स्पष्ट समझने चाहिए और उनके पहले कहे हुए चित्त के निरोध, समाधि और एकाग्रता इन तीन परिणामों से भिन्न न होने के कारण, ये तीन परिणाम उनका ही प्रकारांतर है यह बताने के लिए भगवान् पतञ्जलि कहते हैं :–

(93) उनसे (पूर्वोक्त चित्त के तीन परिणामों से) भूत, इन्द्रियों के धर्म लक्षण और अवस्था परिणाम कहे हैं। (94) ये तीन परिणाम जिनके हैं वे धर्म कहलाते हैं। शान्त (भूत-अतीत) उदित (वर्तमान-चालू) और अव्यपदेश्य (भविष्य-अनागत) धर्मों में वर्तमान रूप से माला में रहे हुए धागे की तरह अनुस्यूत रहा पदार्थ धर्मी कहा जाता है। (95) उस धर्मी के अनेक परिणाम कहने में क्रम (अनुक्रम-दर्जा) का भेद वह हेतु है।

---

93. ऐतेन भूतेन्द्रियेषु धर्म लक्षणावस्था परिणामा व्याख्याताः 3,13. **94.** शान्तोदिताव्यपदेश्य धर्मानुपाती धर्मी 3,14. **95.** क्रमान्यत्व परिणामान्यत्वे हेतुः 3,15.

93. तीन परिणाम–निरोध परिणाम, समाधि परिणाम और एकाग्रता परिणाम कि जो धर्म, लक्षण और अवस्था परिणाम रूप हैं ऐसा जो पहले कहा; उसी के अनुसार स्थूल, सूक्ष्म, भूत, पांच ज्ञानेन्द्रियां, पांच कर्मेन्द्रियां और अंतःकरण वगैरह के भी होते हैं। अतः इस शास्त्र में और सांख्य शास्त्र में जो सोलह विकृतियां मानी हैं, उनके यह तीन परिणाम होते हैं। इनसे सोलह सिवाय कि जिन आठ प्रकृति के ये परिणाम नहीं होते ऐसा समझना नहीं है, लेकिन उन आठ का इनके उपरांत एक तत्त्वान्तर परिणाम होता है। अतः अष्ट प्रकृति का तत्त्वान्तर परिणाम के उपरांत ये तीन परिणाम होते हैं, और सोलह विकृति के मात्र ये तीन ही परिणाम होते हैं, जिनसे जिनके ये तीन ही परिणाम होते हैं, वैसे भूतेन्द्रियों का सूत्र में विधान किया है, लेकिन अतः उनके सिवाय के ये परिणाम नहीं होता, ऐसा मानना नहीं है।

अब इन परिणामों का क्या लक्षण, तथा वह ऊपर के चित्त के तीन परिणामों से किस तरह अभिन्न है, उसके बारे में विचार करें।

धर्म परिणाम का लक्षण–परिणाम यानि क्या इस बारे में हम पहले कह गये हैं कि एक स्थिति छोड़कर दूसरी स्थिति में आना, जैसे कि दूध का दही होना। इस तरह दूध रूप पदार्थ का दही हुआ है, लेकिन उस पदार्थ के कौन से अंश हैं जो परिवर्तन हुआ, वह हम जाचेंगे तो अधिक स्पष्ट होगा। दूध में द्रवत्वरूप एक धर्म रहा था उस द्रवत्व का स्थूलत्व हुआ, वह हम स्थित्यंतर-परिणाम देख सकते हैं। अब द्रवत्व यह धर्म है। धर्म जिससे रहा है वह धर्मी कहलाएगा। अतः दूध धर्मी है। तब इसमें परिणाम किसका हुआ, यह देखेंगे तो द्रवत्व का-धर्म का। किसका परिणाम? दूध का-धर्मी का। अतः दही यह दूधरूप धर्मी का धर्म परिणाम हुआ कहा जाएगा। इससे स्पष्ट होता है कि धर्मी का एक धर्म का लोप होकर दूसरे धर्म का प्रकट होना वह धर्म परिणाम कहा जाएगा और हम एक दूसरा उदाहरण लेकर अधिक स्पष्ट करें। यह लाल घड़ा है, उसे भट्टी में रखा तो काला (श्याम) हुआ। इसमें घड़ा धर्मी है, लाली-रक्तता और श्यामलता उसके धर्म हैं। एक ही धर्मी घड़ा की रक्तता का लोप (तिरोभाव) हुआ और श्यामलता का उदय (आविर्भाव) हुआ, सो घड़ा का धर्मपरिणाम हुआ कहा जाएगा।

लक्षण परिणाम का लक्षण–ऊपर हर एक पदार्थ में धर्म रहा है और वह परिणाम प्राप्त करता है, यह कहा। वह धर्म काल भेद के अनुसार तीन तरह से होता है। वह धर्म पदार्थ के कारण होता है। लेकिन दृश्यमान या दीखता नहीं होता, लेकिन दिखाई देने वाला होता है। तब यह अनागत (नहीं आया हुआ, स्पष्ट नहीं दिखा हुआ) कहलाता है, चालू काल में यदि वह पदार्थ को प्राप्त होता है, तो वह वर्तमान कहलाता है और यदि उसके रूपांतर या तिरोभाव हो गया हो तो वह अतीत (भूतपूर्व)

कहलाता है। जैसे कि हम एक रास्ते से जाते हों तो उस रास्ते के तीन भाग होते है। एक हमारा चलने का जो बाकी है वह, जहां चल रहे हैं—सो, और जितने भाग पर से हम चल चुके हैं सो। इन तीनों को अनुक्रम से अनागत, वर्तमान और अतीत कहा जाता है और ऊपर के घड़े के उदाहरण में जो श्यामलता उत्पन्न होने वाली थी उस समय वह अनागत, उत्पन्न होकर रहे तब तक वर्तमान और नष्ट हो तिरोधान (प्राप्त करे) तो अतीत कहा जाएगा। इस प्रकार अनागत, वर्तमान और अतीत यह धर्म का काल भेद, वह लक्षण परिणाम कहा जाएगा। इस पर से स्पष्ट हुआ कि धर्म स्वरूप में विद्यमान रह कर अतीतादि अवस्था प्राप्त करे वह धर्म का लक्षण परिणाम कहा जाएगा। जैसे कि ऊपर के उदाहरण में श्याम वर्ण का लिए तिरोभाव मात्र होता है। उसका नाश नहीं होता। अतः रक्त वर्ण के आविर्भाव समय स्वरूप से विद्यमान रह कर अतीतावस्था को प्राप्त हुआ है। इस तरह वह श्यामलता रूप धर्म स्वरूप में विद्यमान रहकर दोनों अवस्थाओं के साथ अनुगत रहा है। अतः उस स्थान पर धर्म का लक्षण परिणाम है। इस तरह लक्षण शब्द का अर्थ अनागत, वर्तमान और अतीत इस प्रकार का काल भेद अथवा एक दूसरे से व्यावृत्ति (भिन्नता) करने वाला हुआ। इन तीन अवस्थाओं के लिए इस शास्त्र में कुछ जगह अध्व शब्द इस्तेमाल करते हैं। उसमें अनागत अवस्था सो प्रथम अध्व, वर्तमानावस्था सो दूसरा अध्व और अतीतावस्था सो तीसरा अध्व कहा जाता है।

अवस्था परिणाम का लक्षण—जब एक अध्व में रहा हुआ द्रव्य उसी अध्व में रह कर दो अवस्था के साथ संबंध वाला होता है तब उस द्रव्य के लक्षण को **अवस्था परिणाम** कहते हैं। जैसे कि एक ही वर्तमान अध्व में रहा हुआ घड़ा उसी वर्तमान अध्व में रह कर नयापन, पुरानापन वगैरह अवस्था के साथ संबंध वाला होता है तब उसका वर्तमानरूप अध्व का अवस्था परिणाम हुआ कहा जाएगा।

चित्त के तीन परिणाम—ऊपर के नौंवे सूत्र में चित्त को निरोध परिणाम बताया है। उसमें कहा है कि व्युत्थान संस्कारों का अभिभव और निरोध संस्कारों का प्रादुर्भाव निरोध परिणाम कहलाता है। अब उसमें इन तीनों परिणामों का स्पष्टीकरण कैसे हो सो सोचें।

चित्त का धर्म परिणाम—इसमें चित्त धर्मी है। उसके व्युत्थान और निरोध दो धर्म हैं। यद्यपि सूत्र में व्युत्थान और निरोध संस्कार का अभिभव और प्रादुर्भाव कहा है। लेकिन उससे व्युत्थान और निरोध रूप धर्म का भी अभिभव और प्रादुर्भाव स्पष्ट होता है। हम पहले धर्म परिणाम का लक्षण बांधते हुए कह गये कि धर्मी के एक धर्म का तिरोभाव और दूसरे का प्रादुर्भाव हो सो धर्म परिणाम है। उसके अनुसार यहां चित्तरूप धर्मी के व्युत्थान रूप धर्म का तिरोभाव और निरोधरूप धर्म का प्रादुर्भाव होता है अतः वह चित्तरूप धर्मी का धर्म परिणाम हुआ।

चित्त का लक्षण परिणाम—अब चित्त का लक्षण परिणाम कैसे होता है सो सोचें। हम पहले कह गये कि धर्म स्वरूप से विद्यमान रह कर अतीतादि अवस्था को प्राप्त कर वह धर्म का लक्षण परिणाम कहा जाता है, तो अब चित्त के परिणामों में अतीतादि कालभेद किस तरह होता है सो देखें। हमने निरोध परिणाम के उदाहरण से चित्त का धर्मपरिणाम समझाया, वह उदाहरण लें। निरोध परिणाम में व्युत्थान संस्कार का अभिभव और निरोध संस्कार का प्रादुर्भाव हुआ है, यहां निरोध तीन अध्ववाला है। (1) अनागत, (2) वर्तमान और (3) अतीत। जिस समय व्युत्थान संस्कार (धर्म) वर्तमान अवस्था में थे अर्थात् बलवान थे, उस समय निरोध संस्कार (धर्म) मालूम नहीं थे, अर्थात् अनागत अवस्था में थे। वह व्युत्थान संस्कार (धर्म) के अभिभव के साथ बलवान होने से वर्तमान दशा में आये-स्पष्ट दीखने लगे। यदि वे पहले चित्त में नहीं होते तो आ नहीं सकते थे। क्योंकि यह नियम है कि, जो पहले किसी रूप में न हो सो कभी प्रतीत नहीं हो सकता। बड़ के बारीक बीज में बड़ जैसे बड़े वृक्ष के संस्कार (धर्म) न होते तो उस बीज में से बड़ हो नहीं सकता, जैसे सर्व अवयव बीज में सूक्ष्मरूप में रहे हुए हैं, वैसे निरोध संस्कार (धर्म) चित्त में थे वे ही बलवान होने से वर्तमान काल में दीखने लगे और व्युत्थान संस्कार (धर्म) बलवान हों तो निरोध संस्कार (धर्म) दीखना बंद होते हैं—अतीतावस्था को प्राप्त होते हैं। इस तरह निरोधरूप धर्म तीन अवस्था को प्राप्त होता है। लेकिन स्वरूप से विद्यमान ही रहते हैं, उनका नाश नहीं होता, विरुद्ध संस्कारों की सबलता या निर्बलता के प्रमाण में उनका नहीं दीखना या दीखना उतना ही मात्र होता है। इस तरह निरोधरूप धर्म तीन अवस्थाओं के साथ संबंध रख कर स्वरूप से विद्यमान रहता है और व्युत्थान संस्कारों का भी अध्वभेद होता है। अतः वह उनका लक्षण परिणाम हुआ। निरोध और व्युत्थान धर्म चित्त के ही हैं। अतः वह चित्त का लक्षण परिणाम हुआ ऐसा गिना जाएगा।

चित्त का अवस्था परिणाम—ऊपर का निरोध धर्म अनागत अवस्था छोड़कर वर्तमान अवस्था को प्राप्त करता है। उस वर्तमान अध्व में रहा हुआ धर्म दुर्बलता और सबलता उन दो अवस्था के साथ संबंध रखता है। अतः वह चित्त का अवस्था परिणाम हुआ। वह बात 92वीं कॉलम में पतंजलि ने स्वमुख से कही है। वहां कहा है कि निरोध संस्कार बलवान बनते हैं और व्युत्थान संस्कार दुर्बल बनते हैं, तब चित्त की प्रशान्तवादिता होती है, व्युत्थान संस्कार और निरोध संस्कार यह दो धर्म हैं, तथा सबलता और निर्बलता रूप दोनों अवस्था हैं। यहां निरोध संस्कार वर्तमान रूप अध्व में रहकर सबलता और निर्बलता रूप दोनों अवस्थाओं के साथ संबंध रखते हैं। अतः पीछे अवस्था

परिणाम में बनायी व्याख्या के मुताबिक चित्तरूप धर्मी के निरोध संस्कार रूप धर्म के वर्तमानरूप लक्षण का अवस्था परिणाम हुआ। धर्म और लक्षण चित्त का स्वरूप ही है। अतः चित्त का अवस्था परिणाम हुआ ऐसा भी कहा जाएगा।

प्रकृति के परिणामरूप सृष्टि स्थिति—जिस तरह चित्त के तीन परिणाम गिनाये उस तरह प्रकृति से शुरू करके सर्व पदार्थों को तीन परिणाम निरंतर हुआ करते हैं। पुरुष-कूटस्थ-चैतन्यमात्र अपरिणामी हैं। पुरुष के लिए प्रकृति निरंतर परिणाम प्राप्त करती रहती है। सत्व, रजस् और तमोगुण समान प्रमाण में होते हैं उसे प्रकृति कहते हैं। **चलं च गुणवृत्तम्** उस नियम से गुण निरंतर परिणाम प्राप्त करते रहते हैं। इस तरह से गुणों के परिणाम से सत्व गुण की वृद्धि जिसमें है वैसा प्रकृति का प्रथम कार्य महत्तत्त्व (निश्चयात्मक बुद्धि)* होता है। वह प्रकृति का धर्म परिणाम हुआ, क्योंकि तीनों गुणों की साम्यावस्था रूप धर्म का क्षय होकर सत्त्व गुण की अधिकतारूप धर्म का उदय हुआ और सत्वगुण की अधिकता रूप धर्म अनागत अध्व का त्याग करके वर्तमान अध्व में आया, अतः उस धर्म का लक्षण परिणाम हुआ और महत्तत्त्व का नयापन पुरानापन रूप अवस्था परिणाम हुआ।

इस तरह महत्तत्त्व (24 तत्त्वों में महान्-मुख्य तत्त्व होने के कारण जिसे महत्तत्त्व कहा जाता है। वह) से अहंकार** उत्पन्न होता है। अहंकार के सत्वांश से मन, रजोंश से पंचज्ञानेन्द्रियां, तथा पंच कर्मेन्द्रियां और तमोंश से पंचतन्मात्रा तथा पंचतन्मात्रा से स्थूलभूत उत्पन्न होता है। पंचप्राण अंतःकरण की सामान्यवृत्ति है। इसमें प्रकृति किसी का कार्य-विकार नहीं होने के कारण उसे अविकृति कहते हैं और महत्तत्त्व, अहंकार और पंचतन्मात्राएं; उस अनुक्रम से, प्रकृति, महत्तत्त्व और अहंकार के कार्य-विकार, तथा पंचज्ञानेन्द्रिय, पंचकर्मेन्द्रिय, पंचमहाभूतों के कारण प्रकृति होने से उन सात को **प्रकृति विकृति** कहते हैं और पांच ज्ञानेन्द्रिय, पांच कर्मेन्द्रिय, पांच स्थूल भूतों और मन कार्य-विकार मात्र हैं, लेकिन किसी के कारण नहीं हैं, अतः उन सोलहों को **विकृति** कहते हैं। इस प्रकार सांख्य शास्त्र की सृष्टि रचना संबंध से प्रक्रिया है। यह सब उत्पत्ति प्रकृति के क्रमशः परिणामरूप हैं। सो ऊपर गिनाये तीन परिणाम हैं। अतः उस प्रकृति के परिणाम पहले समझाये हैं उसके अनुसार योजना करने से समझे जा सकें, वैसे हैं।

भूतेन्द्रिय के तीन परिणाम—पीछे हमने तीनों परिणामों के लक्षण बताते

---

* अध्यवसायो बुद्धिः सां. सू. अ. 2, 13।

** महदादि क्रमेण पंचभूतानाम्, सांख्यसूत्र अ. 10-2। एकादशं पंचतन्मात्रं तत्कार्यम्, सात्विकमेकादशकं प्रवर्त्तते वैकृतादहंकारात्, सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः प्रकृतेर्महान् महतोऽहंकारोऽहंकारात्पंचतन्मात्राण्यु भयमिन्द्रियं, तन्मात्रेभ्यः स्थूलभूतानि पुरुषः इतिपंचविंशतिर्गणः॥ सां. सू. अ. 2-17,18 तथा अ. 1-61।

समय दूध और घड़े के उदाहरण से वे लक्षण समझाये हैं। उसके अनुसार सर्व भूतों के परिणाम होते हैं। तथापि अधिक स्पष्टीकरण के लिए पुनः एक उदाहरण लेकर समझे। इस जगत् में हम जितने आकार देखते हैं वे सब पंच भौतिक हैं लेकिन उनमें पृथ्वी का परिणाम अधिक स्पष्ट देखा जा सकता है। अतः उनको पार्थिव कहते हैं और पृथ्वी परमाणु उनके उपादान कारण हैं। उन परमाणुओं का मनुष्यादि आकार बनते हैं अतः उनके वह परिणामरूप हैं। यह परिणाम उनका धर्म परिणाम हुआ। क्योंकि परमाणु तो स्वरूप से वैसे के वैसे हैं, लेकिन पूर्व का धर्म (आकार) त्याग करके दूसरे मनुष्यादि आकाररूप धर्म के साथ संबंध वाले हुए हैं, अतः पहले कहे अनुसार मनुष्यादि उन परमाणुओं का धर्म परिणाम हुआ।

और पहले की आकृति और गुण जब परमाणुओं की परमाणुरूप स्थिति थी तब वर्तमान अध्व में थे, वे अब स्वरूप से विद्यमान रह कर अतीत अध्व के साथ संबंध वाले हुए हैं अतः उनके उस धर्म का लक्षण परिणाम है और मनुष्यादि आकृति वगैरह धर्म जो पहले अनागत अध्व में थे वे अब वर्तमान अध्व के साथ संबंध वाले होने से उन धर्मो का लक्षण परिणाम हुआ।

और मनुष्यादि आकृतियां जब उत्पन्न होती हैं तब उनमें बाल्यादि अवस्थाएं होती हैं। वह फिर कौमार, युवा, वृद्धादि अवस्थाओं के साथ संबंधवाली होती हैं। वह एक ही वर्तमान अध्व में रह कर दो अवस्थाओं के साथ संबंध हुआ होने से पहले कहे अनुसार मनुष्यादि पदार्थों तथा उनके वर्तमान अध्व का अवस्था परिणाम हुआ। इसी तरह सर्वभूतों का समझना।

इन्द्रियों के परिणाम ऊपर के मुताबिक ही निरंतर हुआ करते हैं। जैसे कोई मनुष्य एक रक्त पदार्थ का अवलोकन कर रहा है। थोड़े समय के बाद वहां से दृष्टि हटाकर श्याम पदार्थ पर ले जाता है। यह श्याम पदार्थावलोकन चक्षुरिन्द्रिय का धर्मपरिणाम हुआ, क्योंकि पहले रक्त पदार्थावलोकन रूप धर्म चक्षुरिन्द्रिय में था। फिर चक्षुरिन्द्रिय स्वरूप से विद्यमान रहते श्याम पदार्थावलोकन रूप धर्म के साथ संबंध वाली हुई सो हमने पीछे बताये अनुसार धर्म परिणाम में लक्षण के मुताबिक इस चक्षुरिन्द्रिय का धर्म परिणाम हुआ। रक्त पदार्थावलोकन रूप धर्म वर्तमान अध्व में था, वह अतीताध्व में आया, अतः वह धर्म का लक्षण परिणाम हुआ और श्याम पदार्थावलोकन रूप धर्म अनागत अध्व में था। वह वर्तमान अध्व में आया अतः उस धर्म का भी लक्षण परिणाम हुआ।

'श्याम पदार्थावलोकन रूप धर्म का वर्तमान अध्व में स्फुटत्व और अस्फुटत्व अथवा प्रथम क्षण पर नवीनता और दूसरे क्षण उसका पुरानापन इन दो अवस्थाओं के साथ संबंध है अतः वह चक्षुरिन्द्रिय के श्याम पदार्थावलोकन रूप धर्म का वर्तमान

अध्व में अवस्था परिणाम हुआ। उसके अनुसार सर्व इन्द्रियों के परिणाम होते हैं। यह समझा जा सकेगा।

जगत् का स्वरूप

धर्म परिणाम का प्रतिपादन—इस तरह प्रकृति से शुरू करके सर्व पदार्थ के परिणामरूप यह जगत् है। उसे शास्त्रों में परिणामवाद कहते हैं। उसके सिवाय भी दूसरे प्रसिद्ध वाद हैं और बौद्धादि नास्तिक तथा अनेक नास्तिक भी अनेक आक्षेप लगाते हैं। अतः उन सबकी योग्यता जांचना इस स्थान पर जरूरी है हमने धर्म, लक्षण और अवस्था यह जिस धर्मी के (मृतिकादि द्रव्य) तीन परिणाम कहे, यानि पहले किसी एक प्रकार का द्रव्य था और उसके परिणाम के बाद दूसरे प्रकार का द्रव्य हो जाता है, ऐसा नहीं है। लेकिन धर्मी के बारे में अनागत, अतीत और वर्तमान इन तीन अवस्थाओं में जो धर्म होते हैं उनमें से एक धर्म की जगह दूसरा आता है। जैसे सोने का एक बर्तन तोड़कर उसके हम अनेक प्रकार के गहने करने लगे तो उस समय सोने में 'बर्तन' प्रकार धर्म था वह नष्ट होकर 'गहने' प्रकार का धर्म आया। अतः सोने का सोनापन कुछ नष्ट नहीं होता। इस पर से एक बौद्धवादी यह शंका लाता है कि ''पहले के धर्म का जो धर्मी था वही बाद के धर्म का धर्मी है। अतः धर्म से भिन्न नहीं है। (धर्मी और धर्म एक ही है) ऐसा कहेंगे तब पूर्व अवस्था में का धर्म चैतन्य दूसरी अवस्था में का भी धर्मी होता है अतः वह नित्य कहलाता है, और मृत्तिका, सुवर्णादि धर्मी भी नित्य (सनातन) कहने पड़ेंगे और आपके सिद्धांत में तो वह सब अनित्य माने हैं। अतः आपका सिद्धांत गलत साबित होगा।'' उसका समाधान यह है कि—अनेक धर्मों में धर्मी एक ही होने के कारण धर्मी को आत्मा के अनुसार नित्यता आएगी, वह दोष हमारे सिद्धांत में आ नहीं सकता। क्योंकि मृत्तिकादि धर्मियों को हम आत्मा के अनुसार केवल नित्य नहीं मानते। लेकिन अनेक धर्मों से धर्मी लंबे समय तक रहने वाला होने के कारण धर्मी की अपेक्षा से धर्मी नित्य है और चैतन्य की अपेक्षा से अनित्य है। मात्र मृत्तिकादि द्रव्य ही अनित्य हैं उतना ही नहीं लेकिन चौबीस तत्त्वों से उत्पन्न हुआ सारा कार्यकारणात्मक जगत् अनित्य है, क्योंकि वह वर्तमान अवस्था को छोड़ देते हैं। अतः उनके वर्तमान स्वरूप का नाश होता है अतः अनित्य है। 'वर्तमान में जो दीखता है सो सृष्टि के प्रारंभ में कुछ नहीं था, वर्तमान में कार्यरूप दीखने वाला जगत् सृष्टि के प्रारंभ में अस्पष्ट केवल कारण रूप था' ब्रह्म सत्य है। जगत् मिथ्या है।' इत्यादि श्रुति स्मृतियों से जगत् को केवल अनित्य ही कहा है; अतः जगत् नित्य नहीं है। इस प्रकार जगत् नित्य नहीं है। अतः सृष्टि के आरंभ में और प्रलय के अंत में उसका केवल अभाव होता है ऐसा नहीं, लेकिन वृक्ष के बीज में जैसे सारा वृक्ष सूक्ष्म रूप से होता है और

जगत् प्रकृति रूप में सूक्ष्म रूप से होता है। क्योंकि **नासतो विद्यते भावो** (असत् से भाव की उत्पत्ति नहीं होती) वगैरह प्रमाणों से जगत् के अत्यंत अभाव का निषेध किया है। अतः जगत् का केवल नाश नहीं होता। इस पर से समझना कि कार्य रूपी जगत् अनित्य है और कारणरूपी नित्य है अतः जगत् नित्यानित्य है। चैतन्य की तरह केवल नित्य नहीं है। प्रकृति में लीन हुए होने के कारण उसे अत्यंत सूक्ष्मता आयी होती है और अतः वह होता है तो भी दीखता नहीं है।

यह दीखने वाला जगत् कैसे हुआ, उसके लिए सब वादों की उत्पत्ति है। यह जगत् स्थिर नहीं है, वस्तु के रूपांतर हुआ करते हैं। यह तो सिद्ध है, सब वादियों को मान्य है। लेकिन जो रूपांतर होते हैं सो क्या नये उत्पन्न होते हैं, अथवा वे ही अन्याकार से परिणाम प्राप्त करते हैं कि ज्ञानांतर मात्र दीखते हैं, उनकी खरी (सच्ची) सत्ता नहीं है, वगैरह भिन्न-भिन्न प्रश्न तथा तदनुकूल विचार उत्पन्न होते हैं। जैसे मिट्टी के ढेर में से एक घड़ा उत्पन्न हुआ, सो घड़ा क्या मिट्टी से नया ही उत्पन्न हुआ, अथवा मिट्टी ही उस आकार विशेष में परिणाम प्राप्त करके घड़ा कहलायी, या आकृति मान घड़ा जो दीखता है वह अधिष्ठान की दृष्टि से व्यावहारिक सत्ता वाला दीखता है, अतः भेद मिथ्या है? इस दृष्टांत पर से जगत् की रचना का भान होता है।

ऊपर के अनुसार चार प्रकार की विचारधारा के चार वाद शास्त्र में प्रसिद्ध है। उसे अनुक्रम से **आरंभवाद, परिणामवाद, विवर्त्तवाद और अजातवाद** कहते हैं।

आरंभवाद—यह जगत् ईश्वर के संकल्प से और देश काल पुरुषों के प्रारब्धानुसार परमाणुओं के संयोग से जिसका पहले अभाव था (जो पहले नहीं था) उत्पन्न हुआ। वह न्यायशास्त्राचार्य का मत है।

परिणामवाद—इसे सत्कार्यवाद भी कहते हैं। यह सांख्याचार्य का सिद्धांत है। वह सिद्धांत ऐसा है कि, मिट्टी में से जो घड़ा होता है जो पहले नहीं था उसमें से नहीं होता। क्योंकि वैसा मानने से अभाव से भाव की उत्पत्ति प्राप्त होती है। जो **नासतोविद्यते भावो** यह गीता वाक्य के विरुद्ध है और यदि वैसा ही हो (न था, उसमें से घट उत्पन्न हो) तो सिर्फ मिट्टी ही घटोत्पत्ति के लिए क्यों आवश्यक है। दही में यदि निमित्तकारण की सारी सामग्री लगाएं तो भी उसमें से घड़ा क्यों नहीं होता? अभाव तो सबमें रहा है। यदि यह कहा जाय कि उपादान कारण के बिना कार्य की उत्पत्ति संभव नहीं होती तो उपादान कारण ही सर्वत्र आवश्यक है। कोई भी सिद्धांत सहज समझा जाना हो फिर भी उसके लिए अनेक कल्पनाएं करना योग्य नहीं है। सहज समझ में आ जाए उसे मान्य करना उसे **लाघव** कहते हैं और थोड़े में समझ में आ जाने पर भी लंबा कहने को **गौरव** कहते हैं। ऊपर के अनुसार कार्य होने में उपादान कार्य की आवश्यकता है तो **उपादान कारण ही उपादेय** (कार्य) **रूप**

परिणाम प्राप्त करता है—बदले जाता है, ऐसा मानने में लाघव है तो उसे क्यों योग्य नहीं गिनना? अर्थात् मिट्टी में ही घड़ा अनागत अध्वयुक्त था—कारण रूप से स्थित था। जब निमित्त कारणों का व्यापार होता है तब धर्मी में से वह आविर्भूत होता है। जिसका प्रत्यक्ष-लौकिको-सामान्यलोग उदितावस्था में-वर्तमान दशा में कहते हैं और योगियों को तो शांत (भूत) और अव्यवदेश्य (भविष्य) का भी साक्षात्कार होता है। क्योंकि शांत, उदित, अव्यवदेश्य धर्मों में वर्तमान रूप से स्थित वह धर्मी है। अतः जैसे सोया हुआ, बैठा हुआ, खड़ा और चलता हुआ देवदत्त एक ही है, वैसे घड़ा भी मिट्टी का एक परिणाम विशेष ही है। अतः सर्व धर्मों का भेद व्यावहारिक है। परमार्थिक धर्मी और धर्म का अभेद ही है। अर्थात् परिणाम दशा में उपादेय का उपादान से भिन्न तरह से व्यवहार हो, लेकिन आदि में और अंत में तो उपादानरूप ही है। यह जगत् का महानियम है। इसीलिए ही सर्वधर्मों में मूल प्रकृति का अभेद है और महदादि आठ प्रकृतियां तथा आकाशादि सोलह विकार उनका सर्वदशा में (सृष्टि काल में) स्वस्थ प्रकृति के साथ अभेद, लेकिन व्यावहारिक भेद, इस तरह भेदाभेद ही परिणाम धारा अनादि चली आती है। इस प्रकार त्रिगुणात्मक मूल प्रकृति का अभेदान्वय (कार्य में परिणाम रहना), सर्व कार्यों में होने से और गुणों का स्वभाव चल होने से (चलंच गुणवृत्तम्) यह विश्व अनिवार्य रीति से चेतनाधिष्ठित प्रकृति में चलायमान और दृश्य है।

विवर्त्तवाद—यद्यपि प्रकृति का परिणाम यह जगत् है, लेकिन उसकी जो सत्ता दीखती है वह अधिष्ठान* की वश ही है, अतः भेद लौकिक-मिथ्या है और अभेद पारमार्थिक है। उसमें चेतनातिरिक्त अन्य तत्त्व नहीं है, तो दूसरी सद्वस्तु के अभाव से दृश्यमान कार्यकारणरूप जगत् ब्रह्म में विवर्तरूप है। अधिष्ठान से विपरीत स्वभाव वाला अन्यथा स्वरूप विवर्त्त कहा जाता है, अधिष्ठान ब्रह्म चैतन्य, सत् है और रज्जु में सर्व की तरह जगत् मिथ्या है अतः वह अधिष्ठान से विपरीत स्वभाव वाला अन्यथा स्वरूप है।

अजातवाद—इसमें मानना है कि जब आत्मातिरिक्त वस्तु ही नहीं है, तो जगत् उत्पन्न होता है, परिणाम प्राप्त करता है, विवर्तता है, यह काकदंत परीक्षा किस लिए? आत्मा सर्व देश काल में व्याप्त है, तो अन्य जगत् किसी समय हुआ ही नहीं है। क्योंकि अवकाश ही नहीं है। सर्व देशकाल में ब्रह्म, कूटस्थ विराजीत है। वह अद्वितीय और विभु-सर्वव्यापी होने से अन्य की स्थिति कैसे संभव होगी? अतः सर्व देश में और सर्व काल में कूटस्थ, अद्वितीय, ब्रह्म है, अतः कोई बद्ध ही नहीं है तो

---

* जिसमें जो रहा हो वह उसका अधिष्ठान कहा जाएगा। जैसे कि एक पात्र में पानी भरा हो तो पात्र पानी का अधिष्ठान कहा जाएगा। वैसे जगत् ब्रह्म में रहा है, ब्रह्म की सत्ता में सत्तावाला मालूम होता है, अतः ब्रह्म-चैतन्य जगत् का अधिष्ठान कहा जायेगा।

फिर भोग साधन जगत् की अपेक्षा ही क्या? अविवेकी को भोगवासना होती है, अतः उसकी सृष्टि के लिए त्रिगुणात्मक प्रपंच की कल्पना करनी पड़ती है, उसकी दृष्टि में ही सृष्टि है, भ्रम मात्र है। मुक्त भोग की इच्छा नहीं है, क्योंकि वह सर्व स्वरूप है। उनको तो पुरुषार्थ न होने से जगत् कुछ जानता ही नहीं है। आत्माराम, एक, अद्वितीय, ब्रह्म, कूटस्थ, सर्वत्र परिपूर्ण, विष्णु है, तो जगत् का अवकाश ही कहां से? यह हुआ ही नहीं है, फिर उसकी स्थिति लयादिक का विवेक काकदंत परीक्षावत् समय घुमाने जैसा है। अविवेकी को उसकी दृष्टि तक सृष्टि दीखती है अतः इसे **दृष्टि-सृष्टिवाद** कहते हैं।

इस तरह इस जगत् के संबंधों में चार प्रकार के वाद चलते हैं। वे चारों वाद शास्त्रकारों से उपदिष्ट हैं अतः उसके प्रमाण के लिए शंका नहीं है। वे (शास्त्रकार) आप्त हैं, आप्त सदा यथार्थ वक्ता ही होते हैं। परम सूक्ष्म तत्त्व समझने में एकदम प्रवेश होना मुश्किल है। अतः जिज्ञासु की बुद्धि को कसरत देने के लिए और क्रमशः उच्च उच्चतत्त्व समझाने के लिए वे प्रस्थान मुनिवरों ने स्थापित किये हैं, अतः अंगागीभाव से परस्पर वे संबद्ध ही हैं, अनुक्रम के अनुसार उत्तरोत्तर उत्तम स्थिति के बाधक है। अंतःकरण बुद्धि के अनुसार क्रम-क्रम से जैसे उत्तम अधिकार प्राप्त होते हैं वैसे स्वाभाविक चित्त की स्थिति उत्तम भूमिका में स्थिर होती है और पूर्व भूमिका का त्याग होता है। इस तरह क्रमशः तत्त्वमसि, अहंब्रह्मास्मि इन महावाक्यों के लक्ष का अनुभव होता है, परंतु आस्तिक मनुष्य को व्यवहार सिद्धि के लिए तो परिणामवाद की ही अपेक्षा है और इसलिए इस योग शास्त्र में सृष्टिवाद परिणामवाद की दृष्टि से समझाया है।

इस तरह परिणामवाद की दृष्टि से जगत् सर्व प्रकृति का परिणाम है। प्रकृति अनादि और नित्य मानी हुई है। उसमें से सारा जगत् उत्पन्न होता है और उसी में लय होता है। अतः प्रकृति कारणरूप जगत् नित्य और कार्यरूप अनित्य, इस तरह जगत् नित्यानित्य इस शास्त्र में माना हुआ है। चैतन्य की तरह केवल नित्य नहीं है। इस प्रकार सारा दृश्य प्रपंच प्रकृति का धर्मपरिणाम है और तीनों काल में उसका नाश न होते हुए कूटस्थ-चैतन्य जैसी उसकी नित्यता नहीं है, यह सिद्ध हुआ।

लक्षण परिणाम का प्रतिपादन—अब लक्षण परिणाम के संबंध में जो शंकाएं की जाती हैं सो बताकर उनका समाधान बताते हैं। लक्षण परिणाम में ऐसा है कि जो धर्म जिस मार्ग में वर्तमान यानि स्पष्ट होता है, उस समय वह दूसरे दो लक्षणों से विमुक्त (उनको छोड़कर) नहीं रहता। अतीत धर्म अतीत लक्षण युक्त होने के कारण अनागत और वर्तमान लक्षण से विमुक्त नहीं होता। सारांश, धर्म और लक्षण दोनों नित्य हैं अतः एक धर्म अथवा लक्षण जिस समय स्पष्टता से दीखता है, उस

समय अन्य धर्म अथवा लक्षण का केवल नाश हुआ नहीं होता और अभाव भी नहीं होता, लेकिन वह अत्यंत सूक्ष्म रूप में होता है। अतः हमें स्पष्ट नहीं दीखता। जैसे, कोई पुरुष किसी एक स्त्री पर अत्यंत आसक्त हुआ होता है तब बाकी की स्त्रियों से वह केवल विरक्त हुआ नहीं होता। क्योंकि थोड़े समय के बाद दूसरी स्त्री पर भी उसकी प्रीति उत्पन्न हुई दीखती है, अतः उस प्रीति का सर्वथा अभाव था ऐसा नहीं कहा जाएगा। अब इसके संबंध में कुछ यह दोष देते हैं कि 'यदि सब लक्षणों का एक-एक के साथ नित्य संबंध है—सब लक्षण एक समय पर सत्तारूप से होते हैं तब अनागत और अतीत लक्षण भी वर्तमान लक्षण हो सकेंगे।' इसका समाधान यह है कि, धर्म का धर्मपना पहले सिद्ध कर गये हैं अतः फिर से सिद्ध करने की जरूरत नहीं है, अब धर्म यदि सिद्ध है तो धर्म के अनेक लक्षण भी अवश्य मानने चाहिए। अब वर्तमान काल में ही धर्मों को धर्मपन है ऐसा नहीं है लेकिन अतीतादि काल में भी धर्मपन होता है। क्योंकि वर्तमान काल में यदि धर्मपन हो तो सब चित्त विरक्तता के व्यवहार के होने चाहिए। क्योंकि एकाध समय क्रोध हुआ अतः उस समय के बाद प्रीति होनी नहीं चाहिए। अतः निरंतर क्रोध, अप्रीतिवान रहा जाएगा। लेकिन ऐसा नहीं होता, यह सबको अनुभव है। दूसरा यह कि, अनागतादि तीनों लक्षणों की एक समय में और वस्तु में स्पष्टता नहीं होती। क्रमशः स्पष्टता होती है और उससे जैसे दंड, चक्र इत्यादि के योग से मृतिका में से घटादिक की उत्पत्ति होती है। उस तरह जिस-जिस (लक्षण) को प्रकट होने का कारण अनुकूल हो उस-उस लक्षण की प्रकटता होती है। इस संबंध में पंखशिखाचार्य ने कहा है कि—*रूपातिशयः वृत्यतिशयाश्च परस्परेण विरुध्यन्ते सामान्यानित्वतिशयैः सह प्रवर्तन्ते।* बुद्धि रूप से अधिकता और वृत्ति रूप से अधिकता सो एक दूसरे के साथ विरोध करते हैं, वृत्तों और वृत्तियों में कुछ हीनबल और कुछ बलिष्ठ होते हैं, उनमें जो दुर्बल हो वह प्रबल के साथ विरोध न करते हुए उसके साथ सुप्तरूप में रहता है। अतः अप्रकट रहने वाला अतीत और अनागत लक्षणों का प्रकट हुए वर्तमान लक्षणों के साथ कुछ भी विरोध न होने के कारण वह सब वर्तमान काल में यकायक प्रकट नहीं होते। जैसे किसी-किसी जगह प्रीति प्रकट होती है, और दूसरी जगह उस समय उसका केवल अभाव होता है ऐसा नहीं, लेकिन वह सामान्य रूप से बुद्धि के संबंध में रहा है। उसे उद्बोधक कारण प्राप्त होने पर वह वर्तमान लक्षणयुक्त होता है। इस तरह होने से लक्षण **की संघटना संभवरूप दोष** आएगा ऐसा जो कहा था उसका खंडन होता है, अतः कहा हुआ लक्षण परिणाम अदोष है। वह सिद्ध हुआ।

अवस्था परिणाम का प्रतिपादन—सच देखा जाय तो धर्मी तीन लक्षणयुक्त नहीं है, लेकिन धर्म तीन लक्षणयुक्त है। उस तीन लक्षणयुक्त धर्म के दो विभाग

पड़ते हैं। (1) **लक्षित** (वर्तमान), (2) **अलक्षित** (अनागत और अतीत) अतः बाल, यौवन, वार्धक्य, इत्यादि अवस्थाएं प्राप्त होने पर उस-उस अवस्थानुसार, 'यह बालक है, 'तरुण नहीं है' 'यह तरुण है', 'बालक नहीं है; वगैरह प्रकार से परस्पर का भेद व्यवहार होता है। यह सर्व व्यवहार अवस्था भेद के कारण होते हैं, द्रव्य भेद से नहीं होता। अतः पहले की अवस्था चली जाकर दूसरी अवस्था प्राप्त करने को ही अवस्था परिणाम कहते हैं। अब धर्मी एक होने के कारण निमित्त भेद से अनेक प्रकार के व्यवहार होते हैं। जैसा कि एक लिखकर उसके आगे दो शून्य रखें तो 'सौ' ऐसा व्यवहार होता है, 'एक' कहलाता नहीं है और उसके आगे से एक शून्य हटा लें तो 'दस' कहा जाता है। 'सौ' या 'एक' ऐसा व्यवहार नहीं होता और वह एक बिन्दु भी निकाल दें तो 'एक' ऐसा व्यवहार होता है अथवा कोई स्त्री एक ही होती है लेकिन किसी की माता, किसी की बहन, किसी की कन्या, किसी की पत्नी कहलाती है। इसे भी अवस्था भेद या अवस्था परिणाम ही कहा जाता है। इस पर बौद्ध यह शंका लाते हैं कि, ''अनेक अवस्थाओं में आने पर भी धर्मी वगैरह एक ही रहते हैं अतः वे कूटस्थ की तरह नित्य होंगे। क्योंकि व्यापार के कारण ही सर्व वस्तुओं में अनागतादि मार्गों के परस्पर विभाग माने हुए हैं। साक्षात् सत्तारूप के कारण माने हुए नहीं है। अतः धर्म और लक्षण की निरंतर सत्ता रहना इष्ट है। देखिये, जिस समय धर्म अपना व्यापार करता नहीं है उस समय उसे अनागत कहते हैं, जिस समय वह व्यापार करता होता है उस समय उसे वर्तमान और जिस समय व्यापार करके निवृत्त हुआ होता है उस समय उसे अतीत कहते हैं। इस तरह धर्म विभाग ही अध्वों के विभाग के कारण हुए और पूर्व का धर्म जाकर (मिटकर) दूसरा धर्म होना ऐसा परिणाम लक्षण होने से धर्म, धर्मी, लक्षण और अवस्था उन चारों को चैतन्य के अनुसार कौटस्थ्य-अपरिणामी नित्यता प्राप्त होगी।'' लेकिन यह दोष नहीं आता, क्योंकि धर्मों को शायद नित्यत्व आये लेकिन धर्मी का विलक्षण रीति से विनाश (परिणाम) होता है, अतः कूटस्थ के जैसी नित्यता आयेगी नहीं। अब धर्मी भी पहले प्रतिपादन कर गये वैसे ठेठ प्रकृति तक परिणामी ही है। अतः उनको कूटस्थ के जैसी अपरिणामी नित्यता नहीं आती, यह सिद्ध होता है।

इस तरह धर्म, लक्षण और अवस्था परिणाम धर्मी स्वरूप को छोड़कर जरा भी रहते नहीं है अतः धर्मी और धर्म एक हैं और ऊपर कहा हुआ धर्म परिणाम ऊपर कहे हुए सर्व परिणामों में रहा ही है अतः लक्षण और अवस्था का धर्म में अंतर्भाव करें तो हो सके वैसा है और धर्मी तथा धर्म का नित्यत्व भी सिद्ध होता है, इस तरह धर्मी और धर्म एक ही है। यदि धर्मी से धर्म को अलग लें तो धर्म का लक्षण परिणाम और लक्षण का अवस्था परिणाम कहना योग्य है, लेकिन सच में धर्मी से धर्म की

स्वतंत्र सत्ता है ही नहीं अतः यह तीनों परिणाम धर्मी के ही गिने जाएंगे अर्थात् एक ही परिणाम हुआ। सो धर्मी का धर्म को लेकर परिणाम सो धर्म परिणाम, लक्षण को लेकर परिणाम सो लक्षण परिणाम और अवस्था को लेकर परिणाम सो अवस्था परिणाम। यहां यह शंका होती है कि एक परिणाम अथवा तो उसके कारण भेद से तीन विभाग करें तो वह तीनों परिणाम तब होंगे कि जब धर्म कोई वस्तु हो तब, लेकिन वह तो विवादग्रस्त है। क्योंकि बौद्ध मत के अनुसार धर्म से अतिरिक्त कोई धर्मी है ही नहीं, अतः यह सिद्धांत योग्य नहीं है। उस बौद्ध मत में दोष बताकर तथा धर्मो का स्वरूप बताकर, तीनों परिणाम यथार्थ हैं वह प्रतिपादन करने के लिए पतञ्जलि क्या कहते हैं, उसका विवेचन नीचे करते हैं।

94. धर्मो का स्वरूप—पीछे सूत्रार्थ में शांत, उदित और अव्ययदेश्य धर्मों में अनुस्यूत रहा हुआ सो धर्मी ऐसा अर्थ किया है। अब धर्मो का स्वरूप पूर्णता से स्पष्ट हो इसलिए **धर्म** यानि क्या? यह समझना चाहिये। **योग्यता विशिष्ट** (युक्त) **शक्ति को धर्म** कहते हैं। अब यह समझना चाहिये कि योग्यता क्या है। प्रत्येक पदार्थ में एक शक्ति रहती है। वह शक्ति पदार्थ रहे तब तक रहती है, इसलिए उसे **पदार्थ भाविनी** भी कहते हैं। जैसे बीज में अंकुर उत्पन्न करने की शक्ति उसका धर्म है और अग्नि में जो दहक शक्ति रही है वह अग्नि का धर्म है, मृत्तिका में जो घटादि उत्पन्न करने की शक्ति है सो मृतिका का धर्म है, उसके अनुसार प्रत्येक धर्मी में जो-जो शक्तियां रही हुई हैं वह उनका धर्म है। इस शक्तिरूप धर्मों की सत्ता भिन्न-भिन्न फूलों की उत्पत्ति पर से अनुमान से जानी जा सकती है। क्योंकि मृतिकादि धर्मी एक होने के कारण उनके चूर्ण, पिंड, घट इत्यादि अनेक धर्म नजर आते हैं। वह धर्मी में होने के सिवाय कार्य में नहीं आ सकते। इसीलिए वह अनादि हैं।

धर्मों के प्रकार और उनका स्वरूप—धर्मों के तीन प्रकार हैं (1) अनागत, (2) वर्तमान, (3) अतीत। यद्यपि मूल सूत्र में अतीत, (शान्त) वर्तमान (उदित) और अनागत (अव्ययदेश्य) ऐसा क्रम रखा है। लेकिन अनागत धर्म को वर्तमानता प्राप्त होती है, और वर्तमान धर्म को शान्तता-अतीतता प्राप्त होती है, लेकिन अतीत धर्म पुनः अनागत या वर्तमान अवस्था में आते नहीं है। अतः अनागत, वर्तमान और अतीत ऐसा क्रम हुआ।

अनागत धर्म—अब अनागत शब्द का अर्थ करें तो, नहीं आये हुए (वर्तमान दशा में नहीं आये हुए) धर्म ऐसा होगा, लेकिन योगशास्त्र में ऐसी भी कुछ वस्तुएं मानी हुई हैं कि जो कभी वर्तमान अवस्था में नहीं आतीं, अतः उसमें लक्षण की अतिव्याप्ति हो, वह न हो इसलिए **धर्मी में सर्वविकार उत्पन्न करने की जो शक्ति रही है वह अनागत धर्म** है। पहले के आचार्यों ने कहा है कि *जलभूम्योः पारिणामिकं*

रसादि वैश्वरूप्यं स्थावरेषु दृष्टं तथा स्थावराणां जङ्गमेषु जंगमानां स्थावरेष्वित्येवं जात्यनुच्छेदेन सर्वं सर्वात्मकमिति। स्थावर यानि वनस्पति, लता, पत्रादि में जो मधु, खट्टा, वगैरह रसभेद से अनंतरूपत्व प्राप्त हुआ है, वह पानी और पृथ्वी इन दो के परिणाम से हुआ है। वह प्रत्यक्ष है और मनुष्यादि जंगम पदार्थो के धान्यादि स्थावर पदार्थों के परिणाम से रूपादि में अनेक प्रकार का परिवर्तन होता है वह भी दृष्ट है। और गायादि का गोबर, बीज इत्यादि जंगम पदार्थों के परिणाम से धान्य, चंपक इत्यादि स्थावर पदार्थों के अनेक प्रकार के रूप, रस इत्यादि हुए देखने में आते हैं। इस तरह अतीत कार्य व्यक्तियों का यद्यपि उच्छेद हो तो भी उस जाति की दूसरी वस्तुओं का उच्छेद नहीं होता, अतः सर्ववस्तु सर्वजाति की शक्ति युक्त है। अब शंका होती है कि जब सर्व पदार्थ में सर्वशक्ति है तब मोगरे पर गुलाब, दुःख में सुख, गाय के पेट से मनुष्य जन्मादि क्यों नहीं लेतें? तो उसका समाधान यह है कि यद्यपि सर्व में सर्वशक्ति हैं तथापि उनके निमित्त कारणों के वगैर उनका उदय नहीं है। उसके लिए भूलोकादिदेश, कलियुगादिकाल, मनुष्य इत्यादि आकार और धर्माधर्मादि निमित्त उनका प्रतिबंध होने से एक ही समय अनेक विरुद्ध कार्यो की अभिव्यक्ति (स्पष्टता) नहीं होती।

वर्तमान धर्म–जिसका व्यापार वर्तमान में शुरू हो रहा है उनको वर्तमान धर्म कहा जाता है। जो धर्म पहले अनागत हो वही वर्तमान बनता है। जिसमें जो धर्म पहले न हो सो उसमें आ नहीं सकता। जैसे कि खरगोश को चाहे जैसे पदार्थ का भक्षण करवाया जाए तथापि उसे सींग नहीं उगते और जिसमें जो नहीं है उसकी प्राप्ति होती हो तो अनेक तरह की अव्यवस्था और संकटता होगी। अतः अनागत अवस्था में रहे हुए धर्मों की वर्तमान दशा में प्रत्यक्ष होते हैं।

अतीत अथवा शांत धर्म–अपना व्यापार करके निवृत्त हुए धर्मों को अतीत धर्म कहा जाता है। वे अतीत धर्म पुनः अनागत या वर्तमान दशा में आते नहीं हैं, यदि अतीत धर्म अनागत या वर्तमान दशा में आए तो धर्मों का कभी पार नहीं आएगा और किसी का कभी मोक्ष होगा नहीं। कोई कहेगा यदि अतीत धर्म वर्तमान अवस्था में नहीं आते तो वे दग्धबीजवत् भी है ऐसा किस पर से? उसका समाधान इतना ही है कि वे योगियों को प्रत्यक्ष हो सकते हैं। क्योंकि योगी त्रिकालदर्शी होते हैं, तब उनको उन धर्मों का भान होता है, यदि वे (त्रिकालदर्शी) न हों तो (अतीत) उनका प्रत्यक्ष होगा नहीं और प्रत्यक्ष होगा नहीं तो भान भी नहीं होगा। लेकिन भान-अनुभव ज्ञान तो होता ही है। अतः वह उन्हें प्रत्यक्ष होता है। अतः उन धर्मों का केवल नाश नहीं होता, यह सिद्ध है। इस प्रकार तीन धर्मों का जिसका पहले (1) लक्षित (वर्तमान) और (2) अलक्षित (अनागत और अतीत) ऐसे दो भाग हुए थे उन्हीं को

(1) अभिव्यक्त—कार्य रूप में स्पष्ट दीखने वाला **(2) अनभिव्यक्त**—बीजरूप से अस्पष्ट रहनेवाला कहा जाता है। इस पर से भगवान् वेद व्यास भाष्य में धर्मी की व्याख्या बांधते हैं *'य एतेष्वभिव्यक्तानभिव्यक्तेषु धर्मेष्वनुपाती सामान्यविशेषात्मा सोऽन्वयी धर्मी'।* अभिव्यक्त और अनभिव्यक्त सर्वधर्मों में जो निरंतर संबंद्ध-युक्त रहने वाला और धर्म धर्मी उभयात्मक है। उसे **धर्मी** कहते हैं।

बौद्धों के आक्षेप का परिहार—बौद्ध जो धर्मी रहित केवल धर्म ही है ऐसा मानते हैं, उनके मत में धर्मी नहीं होने से क्षणिक विज्ञानवाद* प्राप्त होने से आत्मा को भोग बिलकुल प्राप्त नहीं होगा। क्योंकि एक विज्ञान ने किये कर्म का भोक्ता दूसरा विज्ञान हो नहीं सकता। पहले के कर्म का कर्ता अन्य होने के कारण बाद वाले को उसका स्मरण भी नहीं होगा। क्योंकि एक द्वारा देखे हुए का स्मरण दूसरे को नहीं होगा। लेकिन 'मैंने पूर्व देखी हुई वस्तु यही है' ऐसा निश्चयात्मक ज्ञान हमें होता है; अतः सर्व धर्मों के साथ संबद्ध रहने वाला ऐसा एक धर्मी अवश्य मानना चाहिए। क्योंकि यद्यपि वह दूसरे धर्म को प्राप्त हुआ होता है। तथापि उसे पूर्व धर्म संबंधी 'वही यह' ऐसी प्रत्यभिज्ञा (पूर्व की स्मृतिरूप ज्ञान) होता है। अतः जो कोई बौद्धादि इस दृश्य जगत् सर्व धर्ममात्र यानि धर्मरहित है ऐसा मानते हैं वह ठीक नहीं है।

अब एक ही धर्मी फिर भी उसके अनेक धर्म माने जाते हैं, उसमें क्या हेतु है वह स्पष्ट करने के लिए पतञ्जलि के सूत्र का व्याख्यान करते हैं।

95. एक ही धर्मी के भिन्न-भिन्न परिणाम मानने का कारण—एक धर्मी का एक ही परिणाम होना चाहिए ऐसा युक्ति से पीछे प्रतिपादन किया लेकिन अनेक परिणाम मानने रूप व्यवहार कैसे होता है? वह शंका खड़ी रहती है अतः उसका स्पष्टीकरण होना चाहिए। तो उसका कारण सूत्राकार इतना ही कहते हैं कि 'परिणामों का क्रम ही कारण है' वह क्रम नीचे के अनुसार दीखता है। पहले मृत्तिका की चूर्णावस्था होती है, फिर उसे पानी डालकर अच्छी तरह मसलने से पिंडावस्था प्राप्त होती है। उसके बाद दंडादि के व्यापार से घटावस्था प्राप्त होती है। घटावस्था प्राप्त होने के बाद घट फूट जाए तो संधी छूटी पड़ने से पहला **कपालावस्था**** उसके बाद **चूर्णावस्था** प्राप्त होकर पहले की तरह मिट्टी होता है। इस तरह परिणामों में क्रम स्पष्ट दीखता है। क्रम की व्याख्या भाष्यकार लिखते हैं कि यो यस्य धर्मस्य समनन्तरो धर्मः स तस्य क्रमः

---

* सारे पदार्थ बुद्धि से भिन्न नहीं है, बुद्धि की सर्व पदार्थकार-पदार्थरूप हो जाती है। वह बुद्धि क्षणिक विज्ञानरूप है। हर क्षण ज्ञान प्राप्त करती है और वह ज्ञान नया ही उत्पन्न होता है। इस तरह मानने वाले बौद्धों के वाद को क्षणिक विज्ञानवाद कहते हैं।

** दो कपाल मिलकर घट हुआ है ऐसा शास्त्रकार मानते हैं। कपाल यानि कवच, जैसे संपुट की डिब्बी को खोलें तो दो पट जुदा पड़ते हैं। सो दो उसके (पूरी डिब्बी के) कवच कहे जाएंगे। वैसे उसे अर्धपात्र भी कहते हैं।

जिस-जिस धर्म के बाद का धर्म है वह उसका क्रम है। अतः मृत्तिका ही पहले चूर्ण होकर फिर पिंड होती है, यह एक क्रम हुआ। फिर घट इत्यादि क्रम से धर्मी के ही अनेक क्रम होते हैं। यह सब धर्म परिणाम का क्रम समझाया।

लक्षण परिणाम का क्रम किस तरह दीखता है सो अब देखें। जैसे पिण्ड का घट हुआ तो पिंडावस्था में जो घट का अनागत धर्म था वह (अनागतता) जा कर घट को वर्तमानता प्राप्त हुई, और घट फूटा। अतः उसकी वर्तमानता जा कर अतीतावस्था प्राप्त हुई। अतीतावस्था का पुनः अनागत, या वर्तमानता प्राप्त नहीं होती सो हम पहले सिद्ध कर गये हैं। उस क्रम को लक्षण परिणाम का क्रम कहते हैं।

अवस्था परिणाम में भी उसी प्रकार क्रम स्पष्ट देखा जा सकता है। नवीन घट थोड़े समय के बाद पुराना लगता है। अतः घट का नयापन जाकर पुरानापन आता है। दीखने में धर्म परिणाम के अनुसार क्रम स्पष्ट दीखता नहीं है, लेकिन उसका नयापन जाकर पुरानापन प्राप्त हुआ सो यकायक कुछ प्राप्त नहीं हुआ, प्रत्येक क्षण परिणाम होते-होते नयापन जाते-जाते किसी समय पुरानेपन का भान होता है। अतः इस अवस्था परिणाम में भी क्रम है। यह क्रम कुछ धान्यों में हमें अधिक स्पष्ट दीखता है। सैकड़ों मन नया अनाज हम कोठार में भरते हैं। कुछ काल के बाद देखें तो कुछ अनाज को हाथ में लेने से पावडर हो जाता है। यह कुछ एक क्षण में अनाज का परिणाम नहीं हुआ। धर्म और लक्षण परिणाम से अवस्था परिणाम में यही विलक्षणता है कि पहले दोनों परिणामों में प्रत्येक क्षण नई उत्पत्ति नहीं होती और इस परिणाम में प्रत्येक क्षण नई उत्पत्ति होती है। यह अवस्था परिणाम का क्रम हुआ।

इस तरह सारे धर्मों का क्रम स्पष्ट होता है, लेकिन धर्म और धर्मी के भेद दृष्टि के समक्ष रखें तभी समझ में आता है। अतः धर्म और धर्मी संबंधी विचार करें तो प्रत्यक धर्म सो एक का धर्म और दूसरे का धर्मी होता है। जैसे कपाल यह घट की अपेक्षा से धर्म है और चूर्ण की अपेक्षा से धर्मी है। वैसे यह कपाल भी अपेक्षा से धर्मी है और इस तरह इस धर्म धर्मी की जंजीर ठेठ प्रकृति तक खींचकर ले जाए तो सर्वधर्म धर्मी रूप है ऐसा अभेदारोप होता है। उस समय इस क्रम का एकता से ही अनुभव होता है।

चित्त के दो प्रकार के धर्म—इस प्रकार धर्मों का क्रम तय करके चित्त के धर्मों के संबंध में कुछ विशेष जानने जैसा होने से भगवान् वेदव्यास भाष्य में उसका स्पष्टीकरण करते हैं कि चित्त के दो प्रकार के धर्म (परिणाम) हैं। (1) **परिदृष्ट** (प्रत्यक्ष) (2) **अपरिदृष्ट**। उनमें अनुभव रूप प्रमाण, विपर्यय, काम, सुखादिक परिदृष्ट (प्रत्यक्ष) है और केवल वस्तुमात्र यानि परमाणु के अनुसार अतिसूक्ष्म है सो अपरिदृष्ट है। उनकी केवल वस्तुमात्र करके सत्ता है ऐसा भान शब्द और अनुमान

प्रमाण से होता है। वह अपरिदृष्ट धर्म सात प्रकार के हैं *'निरोधः कर्म संस्कारः परिणामोऽथ जीवनं चेष्टा शक्तिश्च चित्तस्यधर्मा दर्शनवर्जिताः'* (1) वृत्ति का निरोध, (2) कर्म, (3) तज्जन्य पुण्यपापात्मक संस्कार, (4) चित्त का प्रतिक्षण होने वाला परिणाम, (5) जीवन और प्राण धारण, (6) चेष्टा (चित्त का व्यापार), (7) शक्ति (कार्य की कारण में अव्यक्तावस्था) ये अदृश्य धर्म हैं।

इस तरह हमने परिणामवाद का विस्तार से प्रतिपादन किया, प्रकृति से लेकर सर्व पदार्थ परिणामी हैं, और इससे वे कूटस्थ के जैसे केवल अपरिणामीनित्य नहीं है यह सिद्ध किया, वैशेषिक मत वाले के प्रागभाव और ध्वंस का सकारण निराकरण किया और चैतन्य सर्वव्यापी और ब्रह्म में प्रपंच विवर्त्त यानि कल्पित स्वरूप है ऐसा जो कहते हैं उन वेदान्तियों के साथ यद्यपि परिणामवाद से प्रक्रिया सिद्ध करने पर भी प्रपंचत्व और मिथ्यात्व अंश में बिलकुल विरोध नहीं है। कारण माया परिणाम प्रपंच, सो परमात्मा में तात्विक नहीं है वह इस शास्त्र को भी इष्ट है। *इंद्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते, मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरो।* इन्द्र-परमात्मा अपनी माया के कारण बहुरूप होते हैं, बहुरूप माया के कारण बहुरूपा जैसा दीखता है, माया प्रकृति है और उसका प्रकाशक चैतन्य मायी सो महेश्वर है। इत्यादि श्रुतियों से माया विकार ही परमात्मा में आरोपित होता है। अतः मुमुक्षु को चाहिए कि जगत् परिणामी और मिथ्या है सो इतने विवेचन से मन में दृढ़ करके उस पर से राग निकाल दें और परमात्मा में स्थित करने के लिए प्रयत्न करना, इष्ट है। आगे समय से होने वाली अनेक सिद्धियों का वर्णन किया जाएगा लेकिन वह मुमुक्षु को इष्ट नहीं है। मुमुक्षु को चाहिए कि वह दृढ़बाध के लिए परवैराग्य की प्राप्ति करे। जिस संयम से परवैराग्य के द्वारा ज्ञान होकर जिससे अन्य बड़ा श्रेय स्थान नहीं है वैसा निश्रेयः स्थान-परमपद-मोक्ष मिलेगा।

सिद्धियां

संयम से चित्त शक्ति (Nervous Force) के अपार संचित बल को उपयोग में लिया जा सकता है। अर्वाचीन सृष्टि शास्त्र के शक्ति संबंधी सिद्धांत।

सृष्टि शास्त्र का नियम यह है कि, शक्ति नित्य है, उसे किसी तरह उत्पन्न नहीं की जा सकती, और उसका नाश भी नहीं किया जा सकता; मात्र उसका रूपांतर और स्थानांतर हमसे हो सकता है। इस विश्व को चलाने वाली जो अनेक शक्तियां हैं, उन संबंधी मूलरूप कोई एक आदि प्राणशक्ति (Absolute Power) होनी चाहिए। उनको शास्त्रवेत्ताओं ने दो प्रकार माने हैं। प्रथम प्रकार को प्रकट (एक्स्टेन्सीस) और दूसरे प्रकार को गुप्त या आंतर (डेवोइन्टेन्सीस) शक्ति कहते हैं। आंतर या गुप्त

शक्ति का स्वरूपांतर हो नहीं सकता, परंतु उस शक्ति का मुख्य धर्म अवकाश को व्याप डालना है। प्रकट (बाह्य) शक्ति का स्वरूपांतर और स्थानांतर हो सकता है। उसे ही क्रिया शक्ति (Energy) कहा जाता है। उस शक्ति का नीचे मुताबिक दो स्वरूप हैं।

क्रियाशक्ति

1. क्रियमाण शक्ति	2. संचित शक्ति
अथवा प्रत्यक्ष क्रिया शक्ति	अथवा बीजरूप क्रिया शक्ति
(Actual Energy)	(Potential Energy)
दृश्यचापल्य = गति (Motion)	निरुद्धचापल्य = स्थिरता (Rest)

1. संयुक्त द्रव्यों की जो उष्णता, उसके द्वारा हमें ज्ञात होने वाली जिस-जिस द्रव्य की क्रियमाण शक्ति अथवा प्रत्यक्ष शक्ति, कि जिस शक्ति के बल से अणु सतत् क्रियमाणरूप में गतिमान होते हैं। उन्हें सक्रिय लेकिन परतंत्र (Active but Dependent) कहते हैं।

2. द्रव्य के रासायनिक संयुक्त अणुओं के बीजरूप रही हुई शक्ति संचित शक्ति कहलाती है। यह शक्ति प्रकृति द्रव्य के अणुओं को स्थिर करके उनको अस्तित्व देती है और उनमें निरुद्ध रूप से रहती है, अतः इस शक्ति को निष्क्रिय लेकिन स्वंतत्र (Passive but Independant) कहते हैं।

इस तरह क्रियाशक्ति के क्रियमाण और संचित ऐसे दो प्रकार हैं और उसके गति और स्थिरता यह दो मुख्य अनुक्रम से कार्य हैं। वही गति परिणाम प्राप्त करके अनेक रूप धारण करती है कि जो आकर्षण, प्रसारण, उष्णता, प्रकाश, लोह चुम्बकत्व, विद्युत वगैरह नामों से पहचाने जाते हैं। क्रियमाण शक्ति जब अपनी निरुद्धावस्था में आती है तब उसे स्थिरता कहते हैं। आकर्षण, उष्णता, विद्युतादि शक्तियों का कुल मिलाकर जितना संग्रह होता है उतने का संकलित मान स्थिर होता है। अथवा तो उनका परस्पर में रूपांतरण हो सकता है। जैसे कि गति में से उष्णता, उष्णता में से विद्युत, विद्युत में से प्रकाश, प्रकाश में से या विद्युत में से आकर्षण वगैरह एक शक्ति का दूसरी शक्ति में रूपांतर प्रयोगों के द्वारा किया जा सकता है। इस प्रकार गति का रूपांतर होता है और वह गति अणुओं में संग्रहित होकर निरुद्ध अवस्था में यानि स्थिरता के रूप में भी आते हैं। तब उन्हें संचित शक्ति कहते हैं। अब संचित शक्ति क्रियमाण शक्ति के रूप में किस तरह परिणाम प्राप्त करती है उस बारे में एक उदाहरण लेकर समझें। इंजन कोयले की उष्णता से चलता है, उसमें यह क्रम होता है कि प्रथम कोयले जलाए जाते हैं, जिससे कोयले के परमाणुओं में

(जो शक्ति उनके अणुओं को अस्तित्व देकर उनमें छिपी पड़ी थी अथवा पहले संचित हुई थी उसमें) रसायन व्यापार की क्रिया उत्पन्न होकर गति उत्पन्न होती है अर्थात् उनके अणुओं में रही हुई संचित शक्ति परिणाम प्राप्त करके गति के रूप में आती है। उस गति से उष्णता उत्पन्न होती है, उस उष्णता से पानी गरम होता है और भापरूप बनता है। इस भाप के द्वारा पुनः गति उत्पन्न होती है जिससे वह गति इंजन के चक्रों को आगे धकेलते हैं और उससे इंजन चलता है इस तरह मूल कोयला में जो गति निरुद्धावस्था में बीजरूप में होती है सो इस तरह महान् कार्य कर सकती है। अब कोयले वनस्पति से बनते हैं। वनस्पति में जो हरे रंग का 'क्लोरोफिल' नामक पदार्थ होता है। उस पर सूर्य के किरण गिरने से वह पदार्थ हवा के अंदर रहे हुए कार्बोनिक एसिड नाम के वायु का पृथक्करण करके उसमें के कार्बन का संग्रह करता है, वही कोयला है। इस तरह सूर्य में की उष्णता शक्ति का संग्रह वनस्पतियां करती हैं और वह शक्ति कोयले के परमाणुओं में निरुद्धावस्था में संचित रूप से पड़ी रहती हैं और फिर उन कोयलों की सहायता से जगत् में लाखों भाप यंत्र अपने महान् वल से चलते हैं।

थोड़े अधिक उदाहरण लेकर क्रियमाण शक्ति को संचित शक्ति का रूप कैसे दिया जा सकता है और संचित शक्ति क्रियमाण शक्ति के रूप में आने से कैसे महान् कार्य बनते हैं, यह सिद्धांत समझे। गंधक, सुरोखार (नौसादर) और कोयला अमुक प्रमाण में लेकर उसका बारूद बना कर एक तोप के अंदर वह बारूद भरकर तैयार करके उसे सुलगाते हैं तो भंयकर भड़ाका होता है और उसमें डाला हुआ गोला इतनी तेज गति से चला जाता है कि हजारों मनुष्यों के प्राण भी ले सकता है। गंधक, सुरोखार और कोयला इन तीन पदार्थों के परमाणुओं में जो शक्ति बंट गई थी, वह इन तीनों का अमुक प्रमाण में मिश्रण करने से अधिक निरुद्ध अथवा संचित अवस्था में आ गयी है और उसे तोप में भरकर अग्नि सुलगाने पर उनमें की संचित शक्ति ने इतने सारे प्रमाण में क्रियमाण शक्ति (गति) का रूप लिया कि जिससे एक महान् कार्यरूप परिणाम हुआ। इसी तरह भाप यंत्र में जो भाप की पेटी होती है उसमें जो भाप बंद रखी जाती है अथवा बिजली की बैटरी में जो शक्ति घेर ली जाती है, वह संचित क्रिया शक्ति (Potential energy) से बड़े और भयंकर कार्य बन सकते हैं इसी तरह फोटोग्राफ से तस्वीरें बनती हैं तथा वे तस्वीरें कायम रहती हैं। घड़ी को चाबी लगाकर कमान को खूब टाइट की जाती है, मिल के अंदर स्थित भाप यंत्र की कोठी में भाप खूब भरी जाती है। इन सब उदाहरणों से स्पष्ट मालूम पड़ेगा कि क्रियमाण शक्ति को संचित शक्ति के रूप में लाने से वह बहुत से महान् कार्य कर सकने की योग्यता रखती है। यह बात हमारे शरीर के संबंध में लगाएं। जिस शक्ति

से हमारे शरीर के स्नायु सभी अववयों को चलाते हैं वह शक्ति उन्हें खून में से प्राप्त होती है, खून में वह शक्ति ज्ञानतंतुओं में से आ मिलती है और ज्ञानतंतुओं में वह शक्ति दिमाग में से आ मिलती है और इस तरह इस शरीररूपी महान् सूक्ष्म मिल के सर्व देश में क्रिया का पोषण तथा उसकी प्रेरणा दिमाग करता है। मिल या भापयंत्र में तमाम क्रिया या गति का प्रेरक जैसे इंजन है वैसे शरीर में दिमाग है। जिस तरह इंजन में भी उसकी मुख्य संचित शक्ति या जो प्रेरक शक्ति का मूल बीजरूप भाप है और उसको चलाने वाला इंजन ड्राइवर है, वैसे दिमाग में भी मुख्य और बीजरूप भाप जैसी ही और प्रेरक शक्ति के कारण रूप ऐसी सूक्ष्म संचित क्रिया शक्ति होती है कि जिसे अंतःकरण कहते हैं और इंजन ड्राइवर का काम चलाने वाला जीव है। मतलब कि मिल में संचित क्रिया शक्ति का स्थान भापयंत्र है। जैसे शरीर में उसका स्थान दिमाग है। मिल में जैसे संचित शक्ति उष्णता है, वैसे शरीर में उष्णता की भी प्रेरक जो शक्ति है उसे मन, अंतःकरण, मानसिक शक्ति (Vitat Power), जीव शक्ति वगैरह अनेक नाम दिये जाते हैं।

सब शक्तियों में चित्तशक्ति सूक्ष्म और महान् है

मनुष्य के दिमाग में रह कर व्यापार करनेवाली जो कोई महान् शक्ति है वह उष्णता, विद्युत् वगैरह तमाम तरह की शक्तियों से महान् है। भाप अथवा विद्युत के सर्वोत्तम और बड़े से बड़े और छोटे से छोटे यंत्र में 'मैं हूँ' इस प्रकार की ज्ञानशक्ति की प्रतीति देखने में नहीं आती और यंत्रों की रचना में सुधार, वृद्धि इन यंत्रों से अलग रहकर मनुष्य ही करते हैं। वनस्पति और प्राणियों के शरीर में सुधार वृद्धि किसी अलग प्रकार से ही होती है। मनुष्य शरीर में 'मैं हूँ' इस प्रकार का ज्ञान प्रकट रूप से देखने में आता है। यह ज्ञान तो बहुत सादा है, परंतु सारे विश्व को मोह में डाले और दुनिया को हिला दे वैसा ज्ञान और वैसी शक्ति मनुष्य के दिमाग में ही रह सकती है। हाल में सब शास्त्रों के जो शोध हुए हैं, नवीन-नवीन यंत्र अंदर व्यवस्थित रचना करके बाहर अमल में रखे जाते हैं, बड़े-बड़े मकानों के नमूने तैयार होते हैं, विश्व को मोह में डाले ऐसे राग गाये जाते हैं, वे सब पहले प्रथम दिमाग में व्यवस्थित रचे जाते हैं और फिर वाणी के द्वारा बाहर आते हैं। इस पर से मालूम होता है कि, जो जड़यंत्र में मालूम होने वाली तमाम प्रकार की बीजरूप संचित शक्तियां कि जिसका मूल दिमाग में रही हुई सूक्ष्मशक्ति में है, उसे हम 'चित्त शक्ति' यह संज्ञा दें तो अधिक योग्य और शास्त्र सिद्ध होगा।

अब हम भापयंत्र में रही हुई उष्णता शक्ति, विद्युत शक्ति और चित्त शक्ति इन तीनों की तुलना करें। भापयंत्र में जो उष्णता घिरकर संचित कार्यशक्ति के रूप में रही हुई है वही क्रियमाण शक्ति (गति) की प्रेरक है। विद्युत् भी एक प्रकार की

उष्णता ही है। तो भी भापयंत्र जो महान् कार्य कर सकती है उनसे हजार गुना बड़े कार्य विद्युत् कर सकती है। लेकिन बिजली जो संदेश और शब्द पहुंचाने का नाजुक काम कर सकती है सो भापयंत्र नहीं कर सकेगा। मरे हुए अथवा क्लोरोफोर्म से बेसुध किए हुए प्राणी के शरीर के अवयवों की क्रिया विद्युत् दिमाग के द्वारा कर सकती है और उस पर से यह सिद्ध हुआ है कि दिमाग जिन्दा और मृत शरीर में ही है और जागृत और मूर्च्छावस्था में तो वही का वही है तो भी जीवंत और जागृत शरीर में वह दिमाग के साथ और उसके उपरांत उसमें क्रिया की प्रेरणा करने वाली जो शक्ति होती है सो भी मरण के बाद अदृश्य होती है। अदृश्य तो सर्वकाल होती ही है लेकिन दिमाग के साथ बिना संबंध की होकर रहती है। और क्लोरोफोर्म से बेहोश करने से वह शक्ति दिमाग में होने पर भी, जिस तरह से एक तार ऑफिस और बाहर के तार के वायर, अथवा तार का यंत्र और बैटरी का संबंध तोड़ डाला हो उस तरह इस चित्त को शक्ति और दिमाग का संबंध थोड़े समय के लिए तोड़ दिया जाता है इस संबंध को तोड़ने में यदि गफलत हो तो वह संबंध सदा के लिए टूट जा कर मृत्यु होती है। दिमाग तारऑफिस या तार का यंत्र है, दिमाग में रही हुई चित्तशक्ति बैटरी में से आने वाला विद्युत् का प्रवाह है और शरीर में फैले हुए ज्ञानतंतु सो बाहर के तार के वायर हैं। इस पर से मालूम होगा कि तार का यंत्र और विद्युत् ये दोनों जैसे अलग हैं वैसे दिमाग और चित्तशक्ति भी भिन्न हैं। यह सत्य भी हाल के जमाने में विद्युत् ने ढूंढ़ लिया है यानि कि विद्युत् कुछ अंश में चित्त शक्ति का काम कर सकती है। अब भाप की तुलना में विद्युत् सूक्ष्म और महान् कार्य कर सकती है। विद्युत् भाप के सब कार्य कर सकती है, परंतु भाप विद्युत् के सब कार्य कर सके वैसा नहीं है। इससे भी आगे बढ़ें, विद्युत् के उत्तम कार्यों की नकल भी चित्त शक्ति कर सकती है। जैसे मनुष्य का दिमाग शब्दों को सुनकर उन्हें संस्कार रूप में रखता है और पुनः प्रकट करता है उसी तरह फोटोग्राफ शब्द ग्रहण करके पुनः प्रकट करने का यत्न करता है। जिस तरह चित्तशक्ति दिमाग के द्वारा मनुष्य या जानवर के मुंह की हंसने की या रोने की मुद्रा कर सकती है। उसी तरह विद्युत् भी अंशतः करवा सकती है। मतलब कि चित्तशक्ति मनुष्य दिमाग के द्वारा जो-जो बाह्य क्रियाएं करता है सो सब बाह्यक्रियाओं की नकल विद्युत् कर सकती है। तो भी अभी तक विद्युत् चित्तशक्ति के सब कार्य कर नहीं सकती; और कर भी नहीं सकती। क्योंकि यद्यपि ये दोनों शक्तियां मूल एक ही प्रकृति के अंश हैं तो भी उनके संयोग का भेद इतना अधिक महान् है कि भापयंत्र में की उष्णता और विद्युत् के बीच जो भेद है उससे करोड़ों गुना भेद इन दोनों के बीच है। विद्युत् को प्रकट करने वाला यंत्र बैटरी है और चित्तशक्ति को प्रकट करने वाला यंत्र जीवत्व उपाधि तथा दिमाग है। अब बैटरी

और दिमाग के संयोग, उनकी रचना वगैरह में जो महान् भेद है, उतना ही भेद विद्युत् और चित्तशक्ति के प्रकारों में होना चाहिए और हम कल्पना करें उससे तो अधिक भेद है ही, जैसे सादी उष्णता विद्युत् के कार्य कभी-भी कर नहीं सकती और करे तो भी वह जब खुद विद्युत के संयोगों के द्वारा विद्युत् रूप से हो जाए, जैसे विद्युत् कभी भी चित्तशक्ति को सर्वकार्य कर नहीं सकती, तो भी हाल थोड़ी नकल कर सकती है सो दिमागरूपी यंत्र का उपयोग करके ही और भविष्य में कभी करे तो वह जब खुद ही दिमाग के द्वारा चित्त शक्तिरूप हो तभी कर सके। यह सत्य कुछ नया नहीं है, वस्तुतः सर्व शक्ति एक ही है और सर्वत्र व्यापक है। उनके भिन्न-भिन्न व्यापार पर से ही उनको पहचानने के लिए अलग-अलग नामों का आरोप किया गया है। उनके रूप भेद पर से नाम भेद करने की जरूर पड़ी है, नहीं तो वस्तुतः रूप और नाम दोनों आरोपित और प्रतीति मात्र हैं, स्वरूप तो एक ही है। अतः जिस काल में और जिस संयोगों में विद्युत चित्तशक्ति के तमाम कार्य कर सकेगी। उस काल में और उन संयोगों में फिर वह चित्तशक्ति प्राणशक्ति ही कहलाएगी। और चित्तशक्ति के रूप में विद्युत परिणाम प्राप्त किये बिना उसमें चित्त शक्ति के सर्वधर्म किस तरह प्रकट हो सकेंगे? उष्णता में कुछ आकर्षण शक्ति नहीं है, लेकिन जब उस शक्ति का विद्युत् में रूपांतर हो तब उसमें बिजली के सभी धर्म प्रकट होंगे और फिर उसका नाम भी 'उष्णता' मिट कर 'विद्युत्' होगा। उसी तरह विद्युत् में 'मैं हूँ'' ऐसा ज्ञान प्रकट करने की हाल शक्ति नहीं है अथवा उसमें रस का खून बनाने की शक्ति नहीं है, जिस काल में जिस संयोगों में विद्युत् का पूर्ण रूपांतर हो उस काल में विद्युत् में चित्तशक्ति के सर्व धर्म प्रकट हो और उस समय 'विद्युत्' नाम मिट कर, 'चित्तशक्ति' नाम प्राप्त करे। इस विश्व में के तमाम कार्य विद्युत् ही करती है तो भी वह जब तार ऑफिस में काम करेगी तब वह विद्युत् कहलाएगी और वह जब दिमाग में काम करेगी तब चित्तशक्ति कहलाएगी। पश्चिम के विद्वान उस चित्तशक्ति को अलग बताने के लिए व्हाइटल एनर्जी, व्हाइटल पावर, व्हाइटल फोर्स, लाइफ, कॉन्सीअसनेस वगैरह नाम देते हैं।

तब अब प्रथम शक्ति के विभागों के बारे में सूचित किया उसके अनुसार क्रियमाणशक्ति के गति (आंदोलन) ही सब ज्ञान होनेवाली दृश्यशक्तियों का मूल स्वरूप है। जैसे गति की क्रिया अधिक सूक्ष्म और अधिक तीव्र, वैसे उनकी शक्ति की प्रबलता भी अधिक। भाप से विद्युत् की शक्ति अधिक और उससे चित्तशक्ति अधिक। उसे ही विचार शक्ति कहते हैं। मात्र चित्तशक्ति उसका पूर्ण और सूक्ष्म रूप है और विचार शक्ति उत्तर और स्थूल रूप है, और वाणी तथा बाह्य क्रिया तो उससे भी उत्तर और अति सूक्ष्म रूप है। मतलब कि, सभी शक्तियों से चित्तशक्ति महान् और सूक्ष्म है।

चित्तशक्ति अतिशय सूक्ष्म और अतिशय प्रसरण धर्म वाली है, जो पदार्थ अतिशय प्रसरण धर्मवान हो उसके उस धर्म का वेग प्रयत्न से निरुद्ध किया जाय तो उसका बल (Pressure) अतिशय बढ़ता है, परंतु वह संचित शक्ति रूप में रहता है।

हर एक पदार्थ प्रसरण धर्म के आधीन है। पानी, तेल वगैरह प्रवाही पदार्थों में प्रसरण शक्ति होती है सो हम देखते हैं। ठोस पदार्थों में प्रसरण शक्ति नहीं होती ऐसा आज तक देखा गया था; परंतु सूक्ष्म शोधों पर से अभी यह मालूम पड़ा है कि ठोस पदार्थ भी सूक्ष्म रीति से प्रवाही हैं और दो धातुओं को बहुत पास-पास रखने से उनके रजकण, दूध के अंदर पानी डालने में वह मिल जाते हैं, वैसे प्रवाह रूप से परस्पर में मिल जाते हैं। यह प्रयोगों पर से सिद्ध किया गया है। धन और प्रवाही पदार्थों से वायु में प्रसरण शक्ति अतिशय है। उसके परमाणु हमेशा फैल जाने की शक्ति अतिशय रखते हैं। इन पदार्थों की आगे बढ़ने पर वह शक्ति उष्णता, विद्युत वगैरह शक्तियों में अनूहद है और ठेठ आखिर मन अथवा विचार में तो उस प्रसरण शक्ति का बल अनंत है, उस महाभारत शक्ति के कारण उनके उड़ जाने का, भाग जाने का, बदल जाने का धर्म सब से अधिक है। प्रकाश का वेग एक सेकेण्ड में 1,80,000 मील, विद्युत का वेग 2,88,000 मील, चित्त शक्ति (Nervous Force) का वेग उतने ही समय में 22,65,120 मील जितना होता है। इस पर से विश्व में के तमाम पदार्थ और तमाम शक्तियों से चित्त शक्ति का वेग कल्पना से परे है। यह तो मात्र ज्ञानतंतु के द्वारा दिमाग, इन्द्रिय और बाह्य पदार्थ के संबंध का वेग कहा। परंतु दिमाग में और दिमाग में विचारों का स्फुरन का, शमन होने का और बदलने का वेग उससे भी विशेष होना चाहिए। क्योंकि उसमें बीच में जरा भी रुकावट नहीं होती और हमारा मन एक क्षण में सारे विश्व में चक्कर मार कर आता है। अर्थात् चित्तशक्ति में या विचारशक्ति में प्रसरण शक्ति सबसे अत्यंत है। ऐसा अनुभव सिद्ध नियम है कि, जिसका प्रसरण धर्म सबसे अधिक बेगवान (गतिशील) होता है उसका वेग रोकने अथवा उस वेग को ग्रंथभूत करने, अथवा उस गति को निरुद्ध करने का प्रयत्न किया जाए तो वह अधिक वेग से बाहर भाग जाने के बहुत जोर करता है। जैसे कि भापयंत्र में चारों तरफ से भाप को अतिशय भर कर फिर उसे रोका जाए तो वह अतिशय जोर करती है। इस समय यदि बाइलर मजबूत न हो तो फट जाता है और भाप बाहर निकल जाती है। लेकिन यंत्र बहुत मजबूत हो तो भाप का जोर अतिशय बढ़ जाता है, लेकिन बेचारी भाप निरूपाय के कारण घिरी रहती है, उसे ही निरोध बल, ग्रंथीभूत बल, अद्भुत बल, संचित बल, या बीज रूप क्रिया शक्ति (Potential Energy) कहा जाता है। फिर उसे जिस यंत्र में काम कर लगाएं सो

यंत्र इस निरुद्ध बल का उपयोग करके चलाया जाता है, और उससे महान् कार्य हो सकते हैं। मतलब कि, असाधारण प्रसारण शक्ति वाले द्रव्यों की शक्ति का निरोध किया जाए और उस बल का योग्य युक्ति से यंत्र द्वारा संग्रह किया जाय तो उस द्रव्य की प्रसारण शक्ति का एक प्रकार का रूपांतर हो जाता है और उसका बल (Pressure) बहुत बढ़ता है, परंतु वह बीजरूप में रहता है, अतः उसे निरुद्ध बल कहते हैं। उस बल के बाद में योग्य युक्ति से काम कराएं तो बड़े-बड़े काम किये जा सकते हैं। उसी तरह विचारशक्ति का भी अष्टांग योग में कहे हुए साधनों से या आयंदा कहेंगे सो साधनों के द्वारा निरोध किया हो तो अनिरुद्ध गतिमान दशा में मन का, वृत्ति का अथवा विचार का जो बल बेकार बह या फैल जाता है सो सब घिर कर बीजभूत होता है उसका सामर्थ्य असाधारण अंश में बढ़ता है और उससे इस विश्व में असाधारण कार्य हो सकते हैं। जिस तरह भाप यह अमुक धर्म वाला द्रव्य है, उससे जो काम लेना हो सो लिया जा सकेगा, उसी तरह चित्त शक्ति, मन, विचार यह भी एक प्रकार का अमुक धर्म वाला द्रव्य ही है। उसे भी जिस काम में जोड़ेंगे वह काम उससे लिया जा सकेगा। विद्याभ्यास में विद्याकला के शोधों में, नये ग्रंथ लिखने में, काव्य करने में, राज्य चलाने में या धारणा ध्यान समाधि से परमात्मा का स्वरूप पहचानने और उसका योग करने में इस चित्त शक्ति का उपयोग किया जा सकेगा। यंत्र एक ही है, द्रव्य एक ही है, नियम भी एक है। परंतु उपयोग अनेक हैं। सारा योगशास्त्र इस शक्ति का निरोध करने के लिए उस बल का सूक्ष्म विश्व को संपूर्ण साक्षात्कार कर लेने के लिए रचा है। उस शक्ति से व्यवहार और परमार्थ इस तरह दोनों मार्गों में मनुष्य जाति संपूर्ण वैभव प्राप्त करके अपनी पराकाष्ठा तक आ पहुंचती है और इस अष्टांग योग में जो उत्तरोत्तर मार्ग उसके निरोध के लिए बनाये हैं उन मार्गों से जाने से वह शक्ति प्राप्त होती है। उन मार्गों से संबंधी सूचनाएं समय-समय पर उस-उस प्रसंग में पहले दी गई हैं।

विचार शक्ति को संयम से संचित शक्ति (Potential Energy) का रूप दिया जा सकता है और उसके द्वारा महान् सिद्धि रूप कार्य किये जा सकते हैं।

पहले कहा था कि, चित्तशक्ति के परिणाम से उत्पन्न होने वाली विचारशक्ति उसका स्थूल रूप है और वह दिमाग में होने वाली एक प्रकार की आंदोलन क्रिया गति है। अतः गति से रूपांतर होकर उत्पन्न होने वाली अनेक शक्तियों के दूसरे प्रकारों को जिस तरह संचित शक्ति का रूप दिया जा सकता है, उस तरह विचाररूप क्रियमाण शक्ति का भी योग्य युक्ति से निरुद्ध करके संचित शक्ति का रूप दिया जा सकता है और उसकी मारफत अनेक अद्भुत कार्य हो सकते हैं तथा हाल में

यह भी मालूम पड़ा है कि, उस प्रकार से संचित विचार शक्ति दूसरे मनुष्यों के दिमाग में अथवा अंतःकरण में वैसी प्रकार की आंदोलन क्रिया या गतिरूप विचार तरंगें उत्पन्न कर सकने का बल विद्युत् की तरह धारण कर सकती है। इस विषय के संबंध में एक पश्चिमात्य विद्वान कहते हैं कि, 'इसमें जो महान् सत्य समाया हुआ है उसकी घटनाओं का मूल कारण विचारों की निरुद्ध अवस्था ही मुख्य है, ऐसा सिद्ध कर देने का और उसे स्वीकार करने का समय अब बहुत दूर नहीं है। संक्षेप में संयम से एकाग्र हुई (संचित) विचार शक्ति जैसा लाभ अथवा हानि का बड़ा साधन दूसरा कोई नहीं है।'

इस विद्वान के विचारों की तुलना हम संक्षेप में इस तरह करें कि, एक विद्यार्थी खूब अध्ययन करता है, एक न्यायाधीश सारा केस सुनकर आखिरी न्याय देने का आकार मन में तैयार करता है, एक राजा दुनिया को हड़बड़ा दे, ऐसे विचारों की योजना करता है, एक कवि प्रजा को बहुत असर करे वैसा नाटक रचता है, एक विद्युतशास्त्री सारे लश्कर को पलभर में उड़ा देने के बारे में एक महाभयंकर विद्युत् का अस्त्र बनाने को योजना करता है। इन सब उदाहरणों में विचाररूप क्रियमाण शक्ति का अर्थात् आंदोलन शक्ति का संचित शक्ति में ग्रंथीभवन (रूपांतर) होता है, कि जो संचित शक्ति प्रत्यक्ष क्रियमाण शक्ति के रूप में परिणाम प्राप्त करके महान् कार्य कर सकने को शक्तिमान होती है।

उष्णता सर्व व्यापक है, परंतु दियासलाई में योग्य युक्ति से उसे निरुद्ध करके संचित शक्ति का रूप दिया जाए, अर्थात् ग्रंथिभवन किया जाए तो उसमें प्रकाशादि की शक्ति अद्भुत रूप से रह सकती है, भाप में से उष्णता लेकर उसे बंद रखने से उसके बाहर भाग जाने की प्रगति को रोकने से उसकी विस्तृत क्रिया करने की आदत का अमल न करने देने से उसमें की शक्ति निरुद्ध होती है और फिर उस शक्ति से गाड़ियां, स्टीमरें और मिलें चलती हैं। उसी तरह विद्युत सर्वत्र व्यापक है उसे बैटरी के द्वारा एक स्थान में विशेष अंश में रोक रखने से अथवा प्रकट करने से अनेक कार्य किये जा सकते हैं। इस सब में भी जो पुरुष विचार शक्ति को अथवा चित्तवृत्ति को एकाग्र करने की, उसका संयम करने की, उसका योग्य स्थान पर निरोध करने की शक्ति रखते हैं वे ही सिद्धिरूप स्थूल सूक्ष्म कार्य कर सकने को शक्तिमान होते हैं। हजारों ऐसे पुरुष अपनी विचार शक्ति को एक ही विषय पर निरोध करके वर्षों के वर्ष व्यतीत करते हैं और फिर उनकी संचित शक्ति के परिणाम रुप में से असामान्य शोध, विचार, इच्छाबल, वगैरह, क्रियमाण शक्ति से कार्य उत्पन्न हो जाते हैं। महापुरुषों के ऐसे कार्यों को साधारण मनुष्य अद्भुत, चमत्कारिक या सिद्धरूप गिनते हैं। इस प्रकार वृत्ति का संयम, एकीकरण, निरोध वगैरह से ही विचार शक्ति

रूप आंदोलन क्रिया (क्रियमाण शक्ति) का संचित शक्ति के रूप में परिणाम होता है और जिसके महान् संचित बल से कोई भी भौतिक या आध्यात्मिक सिद्धि प्राप्त हो सकती है तथा साधारण मनुष्यों की चित्तशक्ति, जो ज्ञान और ज्ञान का विषय अनुभव करती है उनसे निरुद्ध विचार शक्ति वाले मनुष्य अतिशय सूक्ष्म विषय और ज्ञान का अनुभव ले सकते हैं, उस विषय की कुछ प्रक्रियाएं हाल के जमाने में लगभग अनुभव सिद्ध है, उसका यहां संग्रह करते हैं।

विचार संक्रमण (Brain Telegraphy)—पहले कहा था कि विद्युत् और चित्त शक्ति के कुछ कार्य बहुत अंश से समान होते हैं। इटली के प्रसिद्ध सिनोर मारकोनी के शोध ने सारी दुनिया को सिद्ध कर दिया कि, उसके यंत्र के द्वारा बिना तार के, खाली माने जाने वाले आकाश में ही एक स्थान से दूसरे स्थान पर तीस मील से अधिक दूर के स्थान पर संदेश भेजा जा सकता है। इस यंत्र में दो छोटी सी बिजली के बैट्रियां तीस मील के अंतर से रख कर, एक स्थान के विद्युत् प्रवाह को अथवा उसके कंपन को (संदेश को) दूसरे स्थान तक, वातावरण में रहते हुए इथर नामके सूक्ष्म पदार्थ के द्वारा भेजा जा सकता है और उस प्रवाह अथवा कंप (संदेश) को सामने की तरफ रखा हुआ वैसे ही जड़यंत्र ग्रहण कर सकता है। ऐसा है तो मनुष्य का दिमाग भी एक विद्युत् यंत्र ही है, तो उससे एक दिमाग अपना संदेश दूसरे दिमाग तक अपने विचार तरंग के द्वारा भी भेज सके, यह स्पष्ट है। जब-जब दिमाग में कुछ विचार प्रक्रिया होती है तब-तब दिमाग के पदार्थों में रसायन क्रिया भी साथ-साथ होती ही है, अथवा दूसरे शब्दों में कहें तो अणुओं और परमाणुओं की क्रियाएं होती हैं। इस रसायन क्रिया होने में अनेक अलग-अलग असर होता है, उनमें का मुख्य असर यह होता है कि किसी भी रूप में थोड़ी बहुत बिजली प्रकट होती है। इन क्रियाओं से विश्व में सब जगह ('इथर' नाम का सूक्ष्मतर पदार्थ और दूसरे अनेक सूक्ष्म परमाणु बहुत भरे हैं उनमें) लहरें उत्पन्न होती हैं। अतः जब एक मनुष्य का दिमाग विचार का काम करता है तब उसमें से विचार की लहर अथवा विचार प्रवाह स्फुरता है। इस तरह अंतःकरण रूप मानसिक सृष्टि में विचारजन्य ऐसी अनेक अतींद्रिय क्रियाएं सतत् बनती रहती हैं। जिस तरह पदार्थों की किरणें चारों तरफ फैलती हैं और उन किरणों को कागज पर तस्वीर के रूप में फोटोग्राफ से लिया जाता है, उसी तरह एक दिमाग में से निकलने वाले विचाररूप विद्युत के आंदोलन दूसरे सामने के फोटोग्राफ कांच जैसे किरणग्राही दिमाग रूपयंत्र पर इन विचारों की तस्वीरें तथा संस्कार क्यों न उभार सके अर्थात् उभार सकें, और उस तरह कुदरती तौर पर उभारते ही हैं यह केवल अनुमान नहीं है, परंतु उसके सबूत के तौर पर अभी-अभी डॉ॰ ब्यारॉडक नाम के शोधक ने ऐसा शोध किया है कि, मनुष्य मन में जो प्रतिमा

अथवा मानसमूर्ति रचता है उसकी प्रतिमा तस्वीर ली जा सकती है। मानो कि अपने मन् में एक लकड़ी सोची है, और फिर आप अंधेरे कमरे में जाकर अपना हाथ फोटोग्राफ लेने के कांच पर रखेंगे तो उस पर लकड़ी का चित्र काले से भाग पर अंदर छप जाएगा।

विचारपठन (थोटरीडिंग)—ऊपर के अनुसार क्रिया करने वाला हर एक दिमाग एक-एक विचार के प्रवाह का मध्यबिन्दु है और उसकी दसों दिशाओं में अमुक त्रिज्या जितनी लंबाई तक अथवा तो सारे विश्व की लंबाई तक उसके आंदोलन फैलते हैं। इस आंदोलन का गुण तथा वेग का आधार जिस-जिस दिमाग की शक्ति और उस दिमाग में स्फुरित विचार के अथवा उस दिमाग में हुई रसायन और विद्युत् क्रिया के बल पर होती है। हर एक विचार क्रिया उत्पन्न होने के बाद उसके आंदोलन इस तरह तमाम मनुष्य मंडल के अंतःकरण के साथ इतना ही नहीं लेकिन सृष्टि के हर एक पदार्थों पर टकरातें हैं। ऐसा कहें तो चलेगा। हम कोई भी कार्य या गति करते हैं उसकी तुरंत लहरें उत्पन्न होकर इथर के अंदर क्षोभ उत्पन्न करती हैं, इस तरह दूसरे मनुष्यों की गतियों से हमारे अंतःकरण में उसके क्षोभ निरंतर होते रहते हैं। ऐसी सारी प्रक्रिया में से विचारपठन की बात समझी जा सकेगी। एक मनुष्य दूसरे को किसी तरह पटाकर उसे कुछ कल्पना करने को कहता है, और उस बात के बारे में बहुत ही तल्लीनता रखने को विनती करता है। खुद स्थिरता रख कर खूब सोचता है कि तुरंत ही अपने मन में बिजली की चमक की तरह सोची बात स्फुरित होने लगती है। जैसी जिसकी संचित या निरोध शक्ति, वैसे उसकी बारीकी से सब या थोड़ी बात समझने की शक्ति होती है। यह प्रयोग आजकल यूरोप अमेरिका में बहुत चलता है। कुछ वर्ष पहले मुंबई से कंवरलेन्ड नामक मनुष्य आया था। वह ऐसे प्रयोग करता था और कहा जाता है कि, मद्रास के पास थीओसोफिकल सोसायटी के मुख्य स्थान में, मि. बोल्टर ओल्ड नामक एक पुरुष है वह ऐसी निरुद्ध शक्ति से विचार पढ़ सकता है।

संस्कार संक्रमण (Psychometry)—अथवा आंतर परीक्षा के लिए भी ऊपर के अनुसार ही है। दिमाग में से जो विचार उत्पन्न होते हैं उनके तरंग अति वेग से इथर में से होकर तमाम मनुष्य मंडल के अंतःकरण में उसकी छाप डालते हैं और वह छाप भी जड़ या अजड़ सृष्टि में किसी अमुक काल तक न मिटे इस तरह पड़ी रहती है। इसके अनुसार हम जो कार्य शरीर से करते हैं उसकी छाप इस वातावरण में या जो एक बड़ी पुस्तकशाला रूप है उसके पन्ने पर छपती है। हर एक पल और हर एक क्षण पुरुष या स्त्री जो-जो बोलते हैं, लिखते हैं उसकी नोट बहुत काल के लिए पड़ी रहती है। प्रकाश के किरण पदार्थ पर गिरते हैं और वहां से निकल

कर चारों तरफ वातावरण में फैलते हैं, उनमें से जितने किरण हमारी आंख में आते हैं सो एकत्र होकर वे पदार्थ हमारी आंख में छपते हैं; वह छाप फिर हमेशा के लिए दिमाग में पड़ी रहती है और अनेक वर्षों के बीतने के बाद भी वह तस्वीरें, दृश्य प्रथम बार देखे थे वैसे ही स्पष्ट नजर समक्ष मालूम पड़ते हैं। इस तरह प्रकाश में रहे हुए पदार्थों में से निकलते प्रकाश के किरणों में से कुछ किरण जिस तरह नेत्र के परदे पर गिरते हैं उसी तरह उसी समय के फैले हुए बाकी के किरण दूसरे पदार्थों पर ही गिरे, यह स्वाभाविक है। इस संबंध में सर डेविड बुस्टर नाम के महान् शोधक लिखते हैं कि सर्व पदार्थ* अपने अंश रूप अणुओं को न्यूनाधिक परिमाण में और न्यूनाधिक वेग से चारों तरफ फेंकते हैं। वे अणु धन तथा प्रवाही पदार्थों के अणुओं के बीच रही हुई खाली जगह में प्रवेश करते हैं, कभी-कभी वे पदार्थों के पृष्ठ पर ही चिपके रहते हैं, और कभी-कभी तो वे पदार्थों के आंतर बाह्य सर्वत्र फैल जाते हैं, जैसे कि इत्र की सुगंध सब तरफ फैलती है, क्योंकि उसके अणु सब तरफ फैलते हैं। उनमें से कुछ हमारे नाक में आकर सुगंध का भान कराते हैं और विद्युत्, अग्नि वगैरह द्रव्यों के अंश तो जिस-जिस पदार्थ के अंदर बाहर सब जगह फैल जाते हैं।

इस तरह हर एक पदार्थ में से निकलने वाले सूक्ष्म अंशरूप अणुओं के प्रसरण (Emanations Radiations) इतने थोड़ी शक्ति वाले होते हैं कि वे मात्र दूसरे पदार्थ की सतह पर ही रहते हैं और अंदर प्रवेश नहीं कर सकते। तब तो मात्र मूल पदार्थ की प्रतिमा के रूप में होकर रहते हैं। जब अधिक शक्ति वाले हों तब रसायन क्रिया करते हैं, जब उनकी क्रिया उससे भी अधिक शक्तिशाली हो तब वह नाक (घ्राणेन्द्रिय) को असर कर सकते हैं और जब वे अंश बहुत बड़े समूह में और वेग से चले आते हैं तब (1) गरमी या उष्णता रूप से हमारी स्पर्शेन्द्रिय (चमड़ी) को असर करते हैं। (2) फोटोग्राफ की क्रिया होने में पदार्थ के अंश प्रथम विशीर्ण (प्रसरते/फैलते) हैं फिर पुनः संयुक्त होते हैं और (3) प्रकाश वाले प्रसरण नेत्र के परदे पर गिर कर पदार्थ को दिखाते हैं।

इस निर्विवाद सत्यों को हम सब तरफ लगाएंगे तो मालूम होगा कि इस दुनिया

---

* पानी जैसे प्रवाही पदार्थ और वायुरूप पदार्थ सृष्टि में की उष्णता से उनके परमाणु गरम होकर सतत फेंके जाते-प्रसरते हैं, यह तो हम देख सकते हैं, परंतु धन पदार्थ या अतिशय ठोस धातुओं के संबंध में भी यह मालूम पड़ा है कि, उनमें के बहुत से अणुओं के बारे में गति योग्यता होनी चाहिए। और इसलिए वे अणु अपनी गति शक्ति से जब अंदर से सतह पर आते हैं तब वे एक समान वातावरण में दौड़ते रहते हैं, अथवा तो सतह पर कोई पदार्थ हो तो उसमें जाकर मिल जाते हैं। इस पर से अब सिद्ध हुआ है कि वायुरूप और प्रवाही पदार्थों में के लक्षण ठोस पदार्थों में भी देखने में आते हैं।

में हमारी चारों तरफ सब पदार्थों में से प्रकाश के किरण अथवा पदार्थ के अंश के किरण निकल कर अपने आसपास के दूसरे सर्व पदार्थों पर फैलते हैं और हर एक क्षण, प्रत्येक पदार्थ की छवि अपने आसपास के हर एक पदार्थ पर छपती रहती है।

इस प्रकार छपी हुई छवियां (तस्वीरें) सर्व स्थल पर मात्र हर एक पदार्थ की सतह पर ही पड़ी नहीं रहतीं, परंतु जिस तिस पदार्थ के अंदर भी घुस जाती हैं, वहां उसके संस्कार इतने दीर्घकाल तक छिपकर पड़े रहते हैं कि, हमारी मान्यता में भी न आवें, लेकिन जब योग्य समय आता है तब योग्य क्रियाएं होने से देखने वाले को प्रकट भी होते हैं। कांच की खिड़की में फिट किये हुए कांच दीवारों में चिनी गई ईंटें, सड़क पर के पत्थर अपने सन्मुख से और अपने ऊपर से जाने आने वाले हर एक व्यक्ति की छवि अथवा संस्कार ग्रहण करते रहते हैं और वे संस्कार दीर्घ काल तक वैसे के वैसे रहते हैं। ऐसा एक भी पत्ता हिलता नहीं है, ऐसा एक भी जंतु घूमता नहीं है और पानी का ऐसी एक भी लहर चढ़ती नहीं है कि जिसकी प्रत्येक गति का आबहूब दृश्य (इकाई) सर्वत्र व्यापक हजारों लेखक अपने दफ्तरों में न रखता हो। वे दृश्य (संस्कार) बिना भूल के और सहज में नाश न हो ऐसे पड़े रहते हैं। यह बात भूतकाल के समय में हो चुके कार्य के लिए भी उतनी ही सच है। जब से यह पृथ्वी सूर्य माला से अलग होकर अस्तित्व में आयी और तब से आज तक यह आमने-सामने फोटोग्राफ खींचने की क्रिया एक सरीखी चली आती है। हमारे आसपास के असंख्य पदार्थों पर जो छवियां पड़ती हैं उन छवियों को अपनी आंखों से देख सकें वैसा कोई रसायन प्रयोग अभी तक जानने में आया नहीं हैं परंतु जिनकी विचार शक्ति अति प्रबल प्रमाण में निरुद्ध हुई होती है ऐसे कुछ मनुष्यों के दिमाग में ऐसी शक्ति हो सकती है कि जिससे पदार्थों पर की ये छवियां वे देख सकते हैं। प्रसिद्ध डॉ. बुकेनन एम.डी. अमेरिका में हाल हयात हैं, उनकी पत्नी में इस शक्ति का जबरदस्त आविर्भाव हुआ। सन् 1840 में उस डॉक्टर को उसके धर्म गुरु ने एक समय कहा था कि, 'मैं जब अंधेरे में भी अपने किवाड़ के पीतल के हेन्डल पर अनजानपने में हाथ रखता हूँ तब मेरे मुंह में पीतल का स्वाद आता है।' इस पर से बुकनेन का आगे शोध करने का मन हुआ और उसने 50-55 वर्ष में अपनी विचार क्रिया को निरुद्धकर के यह विद्या यथार्थ समझाकर अच्छे-अच्छे ग्रंथ लिखे हैं। डेन्टन नाम के शोधक ने इसी विषय के प्रयोगों का बड़ा ग्रंथ लिखा है और सिद्ध किया है कि, ऐसी शक्ति हर एक मनुष्य में है। लेकिन जबतक उस शक्ति का निरोध नहीं किया जाय तबतक वह मालूम नहीं पड़ती। जिसमें ऐसी दृष्टि अधिक स्वाभाविक हो ऐसे मनुष्य को अथवा प्राणविनिमय में विधेय के जो लक्षण कहे हैं वैसे लक्षण वाले मनुष्य को स्थिर बिठाना या लेटाना और कोई चीज, कोई एक वस्त्र या पत्थर का टुकड़ा कि

जिसका इतिहास या कुछ जानकारी उसको न हो, सो उसे देना, वह अपनी आंखें बंद करके, चित्त स्थिर रखकर उस वस्तु को भ्रकुटी के लगा के रखे। फिर कल्पना जरा भी नहीं करना, लेकिन स्वतंत्र रीति से मन में जो तरंग उठे, जो सृष्टि मालूम पड़े सो कहते जाना। सुनने वाला वह सब नोट करके उस वस्तु के इतिहास के साथ तुलना करते जाए। इस तरह शिक्षा लेने से यह शक्ति अच्छी तरह विकसित होती है और उस वस्तु का उपयोग करने वाले का सारा इतिहास भी कह देता है। किसी घर में जो-जो मनुष्य रह रहे हों वहाँ जो-जो आचार विचार बने हों, सो ऐसी शक्ति वाले मनुष्य उस घर में बैठ कर पहले की घटनाएं चित्र दीवारों पर सब जगह देख सकते हैं।

चित्त शक्ति के एक सामान्य निरोध से प्राप्त हुई संचित शक्ति के बल से यह सिद्धिरूप परिणाम हो आते हैं जो योगी अष्टांगयोग की पद्धति से चित्त शक्ति को ग्रंथिभूत करता है उसकी बात विलक्षण है। उनकी उस शक्ति का आविर्भाव मात्र प्राणायाम, प्रत्याहार और धारणा के अंग के अभ्यास से ही विकसित हो जाते हैं, और ध्यान समाधि इन दो अंगों के अभ्यास से उनकी ग्रंथिभूत चित्तशक्ति का निरोध बल असामान्य बढ़ता है और आयंदा कही जाने वाली सिद्धियां क्रमशः प्राप्त होती हैं। उनके अंतःकरण में विश्व के तमाम पदार्थों के आ पड़े चित्र, छपती रही छवियां उनके अतीत भूतकाल के संस्कार ऊपर के विषय के अनुसार स्वाभाविक रीति से प्रथम से ही जिस तिस समय पर (हर एक मनुष्य के अंतःकरण में भी) आ पड़े होते हैं, अतः वे जब देखने की अर्थात् इस विश्व में के किसी भी पदार्थ का इतिहास जानने की इच्छा करते हैं तब संकल्प मात्र से संयम के द्वारा उस पदार्थ के भूतकाल के चित्र (कि जो मिटे हुए नहीं होने से) एक नाटक की रचना के अनुसार क्रमशः देख कर उसका सारा इतिहास अथ से इति तक कह देते हैं। इस सारे विवेचन पर से और हिप्नोटिज या प्राणविनिमय में विधेय तंद्रा, निद्रा, मुर्च्छा, अनुवृत्ति, विश्वदृष्टि अवस्था होता है। तब वह अपनी निरुद्ध विचार शक्ति से सूक्ष्म विश्व के बारे में कैसा अतीन्द्रिय ज्ञान कह सकने का सामर्थ्य रखता है। (देखिये पृ. 224-226) उस पर से भी मालूम होगा कि विचार शक्ति या संचित बल कैसा अलौकिक कार्य कर सकता है।

अब यह बात आगे लिखी जाने वाली सिद्धियों के संबंध में लागू करके संक्षेप में पूरी करें। अभी तक हमने यह देखा कि क्रिया शक्ति दो रूपों में होती है, एक क्रियमाण रूप में और दूसरी संचित रूप में। कोई भी शक्ति जब अपने क्रियमाण रूप में होती है तब उसके व्यापार बहुत शिथिल होते हैं परंतु वही शक्ति संचित रूप में प्राप्त होती है तब और उसका बल एक ही कार्य करने की तरफ उपयोग में आता है तब अतिशय देखने में आता है। क्रियमाण अवस्था में वह शक्ति क्रियावाली परंतु

पराधीन होती है और संचित अवस्था में क्रिया रहित लेकिन स्वतंत्र होती है। अतः प्रथम शक्ति में का बल अपने प्रसरण धर्म के कारण पराधीन बनकर चारों तरफ फैल जाता है और संचित शक्ति में तो उसका वह बल फैल नहीं जाकर बीजरूप से रहता है और दूसरा यह भी देखा कि, सब शक्तियों में चित्तशक्ति महान् और सूक्ष्म है जैसे पदार्थ सूक्ष्म वैसे उसका प्रसरण अतिवेग में होता है। चित्त शक्ति अति सूक्ष्म है अतः उसका प्रसरण अतिशय वेग में हो यह स्पष्ट है परंतु उस धर्म को प्रयत्न से रोक रखकर उसे संचित किया हो तो उसका बल अतिशय बढ़ता है। इसके अनुसार चित्त शक्ति के अतिशय प्रयत्न से संचित रूप में लायी जाए तो उसका बल इतना बढ़ना चाहिए कि उसका नाप निकालने के लिए विश्व में कोई भी साधन मिल न सके। चित्तशक्ति अति सूक्ष्म है और विचार व्यापार उसका स्थूल रूप है। उसमें की विचार शक्ति को ही मात्र संयम से निरुद्ध करके संचित रूप में लाया गया है तो कैसे महान् कार्य कर सकती है, इस बारे में अभी-अभी कहा गया है। उस शक्ति से दूसरे मनुष्य के दिमाग के विचार जाने जा सकते हैं। विचार के प्रवाह एक दिमाग में से दूसरे दिमाग में बहाये जा सकते हैं। इस वातावरण में और इथर में हम जो-जो कार्य अति भूतकाल से करते आये हैं, उसके चित्र छपे हैं, उन्हें पढ़कर और दुनिया के अनेक पदार्थों का इतिहास जाना जा सकता है, उतना ही नहीं लेकिन प्राणविनिमय में विधेय आंतर विश्व के चमत्कार स्थूल इन्द्रियों के बिना भी देख सकता है। ये सब सिद्धि रूप चमत्कार विचार शक्ति का संयम मात्र करके उसकी बह रही शक्ति को संचित करके उसके बल के द्वारा जाना जा सकता है तो फिर उस शक्ति से भी जो शक्ति अतिशय सूक्ष्म और बलवान है उस शक्ति का यदि निरोध किया हो तो पूछना ही क्या? योगी उसी शक्ति का निरोध करके उसके द्वारा सिद्धरूप कार्य करते हैं और जो जानना हो सो जानते हैं। इस विश्व में जो भी कार्य होते हैं वे यथार्थ हैं, वे कार्य सृष्टि नियम से विरुद्ध होते ही नहीं हैं। जो हो सकता है वही बन आता है। जब तक हमें उनके कारणों संबंधी अज्ञान होता है तब तक चमत्कार रूप हो जाता है। कारण जानने के बाद मानने के लिए कठिन नहीं लगता।

योगी तो जब से धारणा करने लगते हैं तब से ही उनकी विचार शक्ति संचित रूप में आने लगती है। ध्यान के समय चित्त शक्ति स्वयं संचित होने को प्रारंभ में होती है। समाधि के समय तो अच्छी तरह संचित रूप में आ जाती है और फिर उसके देह के साथ के ज्ञानतंतुओं का संबंध टूट जाता है तथा वह विलक्षण स्थिति में आ जाता है। इस स्थिति में उसका ज्ञान स्वतंत्र होता है और बल अपरिमित होता है। आगे बतायी जाएंगी उन सिद्धियों को, जो वह योगी सहज प्राप्त कर सकता है। अतः उसके अपरिमित बल और ज्ञान का उपयोग जो

कार्य करने में और जो कुछ जानने की तरफ होता है उसे एक बार में प्राप्त कर सकता है। पानी पर और कांटे वगैरह पर अद्धर चलना, आकाश गमन करना, परकाया में प्रवेश करना, स्थूल शरीर को अंतर्ध्यान करना यह सब आसानी से कर सकता है। ऐसे समर्थ योगी को कुछ छिपा नहीं रहता। वे सब प्राणियों की भाषा जानते हैं, परायों के चित्त का ज्ञान होता है, अपने शरीर की रचना का अच्छी तरह ज्ञान रखते हैं, मरण का समय जान सकते हैं, तारों की रचना और उनकी अतियों के बारे में अच्छी तरह जानते हैं। इतना ही नहीं बल्कि इस स्थूल विश्व में तारागणादि भुवन हैं वैसे सूक्ष्म विश्व में जो मुख्य 14 भुवन हैं उनका ज्ञान रखते हैं और इस विश्व में जो गुप्त महात्माएं विचरते (घूमते) हैं उनको देख सकते हैं, और उनके साथ बातचीत कर सकते हैं। अपने पूर्वजन्मों का अच्छी तरह ज्ञान रखते हैं, अपनी चित्त शक्ति को अच्छी तरह जानते हैं, दिव्य शब्द, स्पर्श वगैरह स्वर्गीय विषयों का अनुभव करते हैं और आखिर अपने स्वरूप को जानते हैं। इस तरह अपनी अपार संचित चित्‌शक्ति को जहां फेंकते हैं वहां-वहां अद्‌भुत कार्य करती है और जिस स्थल में प्रवेश करना चाहते हैं वह स्थल रूप बनकर उसका अशेष-विशेष (बाकी न रहे उतना) ज्ञान संपादन करते हैं। संयम से संचित की हुई चित्तशक्ति कौन कौन से कार्य और ज्ञान प्राप्त कर सकती है, उस बारे में भगवान् पतञ्जलि क्या कहते हैं? सो विस्तार से सोचें (योग सूत्रों में यह सिद्धियां इस अनुक्रम में नहीं हैं। हमने उसका क्रियारूप और ज्ञानरूप ऐसे विभाग करके, स्थूल सूक्ष्म क्रिया और विषय पर से उसका अनुक्रम किया है।)

क्रियारूप सिद्धियां

(96) मित्रता, करुणा, मुदिता इन तीनों में संयम करने से मित्रता, करुणा और मुदिता का बल प्राप्त होता है। (97) हाथी, वायु वगैरह बलवान् पदार्थों के बल में संयम करने से उन-उन पदार्थों में रहे हुए बल की प्राप्ति होती है। (98) हृदय प्रदेश में कछुए के आकार के जैसी एक नाड़ी है, उसमें संयम करने से शरीर और चित्त की स्थिरता प्राप्त होती है। (99) जीभ के नीचे के कंठ के भाग में एक कूंआ है उसे कंकूप कहते हैं। उसमें संयम करने से भूख प्यास नहीं लगती। (100) समान वायु के जय से योगी का शरीर बहुत तेजस्वी (ज्वलन प्राप्त करने वाला) दीखता है। (101) अपने शरीर के रूप में संयम करने से दूसरे के नेत्र की जो रूप ग्रहण करने की (अपना शरीर देख सकने की शक्ति होती है) उसका स्तम्भ (रुकावट) होता है

96. मैत्र्यादिषुवलानि 3,22. **97.** बलेषु हस्तिवलादिनि 3,23. **98.** कूर्मनाड्यां स्थैर्यम् 3,30. **99.** कण्ठकूपे क्षुत्पिपासा निवृत्तिः 3,29. **100.** समान जयाज्वलनम् 3,39. **101.** कायरूप सयमात् तद् ग्राह्य शक्ति स्तंम्भे चक्षुः प्रकाशा संप्रयोगेऽन्तर्द्धानम् 3,20.

और योगी अपनी इच्छा के मुताबिक किसी के देखने में आता नहीं है अर्थात् अंतर्ध्यान प्राप्त करता है, (102) उदान वायु का संयम से जय करने से पानी गहरा कीचड़ और बड़े कांटों वाले जाल में योगी न फंसते हुए उस पर अद्धर (सतह से ऊपर) चल सकता है। (103) शरीर का और आकाश का जो संबंध है उस में, अथवा रूई जैसे हलके पदार्थों में संयम करके तदाकार होने से योगी का शरीर आकाश में गमन कर सकता है। (104) धर्म और अधर्म के कर्मों से डले संस्कारों के बंधन से चित्त स्थूल शरीर में बंध रहा है, अतः उस बंध का कारण पूर्व के धर्माधर्म रूप कर्म उनमें संयम करके उनको शिथिल कर डालने से, और जिन नाड़ी चक्रों में से शरीर से बाहर जा सकता है तथा अंदर आ सकता है सो प्रचार कहा जाता है अतः उस प्रचार का सत्य ज्ञान अर्थात् साक्षात्कार होने से चित्त दूसरे के शरीर में प्रवेश हो सकता है।

96. मैत्रीबल, करुणा बल और मुदिता बल की प्राप्ति—पहले **पृष्ठ 78** में कहे हुए मित्रता, करुणा और आनंद इन तीनों में से किसी एक की भावना करके, उस पर संयम करने से उसका साक्षात्कार होता है तब वह योगी उस-उस भावना के बल की प्राप्ति कर सकता है। जैसे कि, योगी मित्रता संबंधी भावना करके संयम करे तो अपार मैत्रीबल प्राप्त होता है। और वह योगी सारे विश्व को अपना मित्र रूप कर सकने को समर्थ बनता है, उसी तरह करुणा, आनंद (मुदिता) में संयम करके उसकी सिद्धि की जाती है। तब उसे अपार करुणा बल और मुदिता बल प्राप्त होता है। वह विश्व में सब ऐसे योगी को करुणा और आनंद की मूर्तिरूप देखते हैं।

97. अपार शारीरिक बल प्राप्त करने के बारे में—हाथी के बल में चित्त को एकाग्र करके ''ऐसा शरीर बल प्राप्त हो'' ऐसा संकल्प पूर्वक भावना करके संयम करने से, हाथी में जो बल होता है, सो योगी को प्राप्त होता है। उसी तरह गरुड़, वायु, पानी अथवा दूसरे किसी पदार्थ के बल में संयम किया जाए तो गरुड़, वायु वगैरह में जो अपार बल रहा हुआ है, सो योगी को प्राप्त होता है। बिच्छू का डंक अणुमात्र होता है, तो भी यह सारे शरीर को हिला देता है और बिजली कुछ दृश्य नहीं है, बहुत सूक्ष्म है, फिर भी पहाड़ को भी फाड़ देती है। नाद कैसा हलका है फिर भी उसका तीव्र आघात गर्भवतियों के गर्भ को गला डालता है; उसी तरह सूक्ष्म शरीर (लिंग) दृश्य नहीं है फिर भी उसमें इतना सामर्थ्य रहा है कि, हजारों मनुष्यों से जो काम नहीं हो सकता वह मात्र सूक्ष्म शरीर कर सकता है।

---

102. उदानजयाजल पंककंठकादिष्वसङ्ग उत्क्रान्तिश्च 3,38. **103.** काया काशयोः संबंधसंयमाल्लघुतुलसमापत्तेश्चाकाशगमनम् 3,41. **104.** बंधकारण शैथिल्यात् प्रचारसंवेदनाच्च चित्तस्य परशरीरावेशः 3,37.

अब जब वह सूक्ष्म शरीर संयम के बल से अपने में स्थित संचित शक्ति का आविर्भाव अधिक प्रकट करे तो संबंधित शक्ति उत्पन्न होकर उसका योग्य उपयोग होता है। इसके अनुसार सोचने से जब सूक्ष्म शरीर हाथी के बल में संयम करके उस बल जितनी शक्ति का आविर्भाव करता है तब ऐसा बल उसमें उत्पन्न होता है। क्योंकि सूक्ष्म शरीर के साथ इथर, विद्युत् शब्द-नाद इस तरह के प्रकार से संबंध रखता है कि उनमें के अमुक (संयम में जो पदार्थ लिया है और उसमें जो बल स्थित है सो) बल की शक्ति संयम से जब जरूरी हो तो तब खींच ली जाती है और फिर उस बल का उपयोग करते समय ऐसे कार्य किये जा सकते हैं कि जिन्हें देखकर दूसरों को अद्भुत बल की प्रतीति है।

98. शरीर और चित्त की स्थिरता करने के बारे में—जीभ के नीचे उसके मूल में एक शिरा है, नीचे कंठ में एक गड्ढा-कूप है उसे कंठकूप कहते हैं उसके नीचे हृदय है उस हृदय के पास कछुए के आकार की एक नाड़ी है उसे कूर्म नाड़ी कहते हैं उसमें संयम करने से चित्त उस नाड़ी में प्रवेश पाता है तब (जिस तरह सर्प अथवा गोह किसी पदार्थ को लिपट के रहता है अथवा चिपक के रहता है तो वह छूट नहीं सकता उसी तरह) योगी का शरीर तथा चित्त स्थिर होता है।

99. भूख प्यास न लगने के बारे में—ऊपर कहे कंठकूप में से प्राणादि वायुएं शरीर के बाहर जाते-आते हैं अतः वहां घर्षण होता है उसी घर्षण से भूख और प्यास लगती है। अतः इस कंठकूप में संयम करने में आता है तब उस भाग में प्राणादि वायुएं और चित्त की वृत्तियां स्थिर होती हैं, जिससे घर्षण के अभाव से उसके कार्य से उत्पन्न होने वाली भूख और प्यास नहीं लगती है। यह बात खेचरी मुद्रा में अच्छी तरह साध्य हो सकती है। इस संयम के कुछ साधक देखने में भी आते हैं।

100. अग्नि के समान तेजस्वी शरीर दीखने के बारे में—हृदय से नाभि तक स्थित, खाये हुए अन्न का जो रस होता है उस रस को योग्य प्रकार से नाड़ियों में भेजने वाले तथा जठर के अग्नि को दबा के रखने वाले वायु के समान कहते हैं। जब उस वायु को संयम करके उसे स्वाधीन किया जाता है तब योगी का शरीर जलते अग्नि की तरह तेजस्वी दीखता है। अथवा उस योगी के मूर्धास्थान, त्रिकुटिस्थान, मुंह और स्कंध में से मानों अग्नि की ज्वालाएं निकलती हों, वैसा दीखता है। उसका कारण यह है कि, जठर में का अग्नि समान वायु के दबाव से अपने स्थान में स्थित होता है और संयम से उस वायु को जय करके जठराग्नि पर का दबाव निकल जाने के कारण वह अग्नि शरीर के बाहर फैल जाता है अथवा दूसरे ढंग से कहें तो शरीर में स्थित विद्युत का आविर्भाव अधिक होने से ओजस् और वीर्य अपने तेजस् तत्त्वों के साथ अधिक स्पष्टता से चमकते हैं।

101. अंतर्ध्यान सिद्धि–हमारे शरीर के रूप में संयम करने से, दूसरों के नेत्र में जो, हमारे शरीर का रूप देख सकने की शक्ति रही हुई है, उसकी रुकावट स्तम्भ होता है अतः देखने वाले मनुष्य को नेत्र का और प्रकाश का संयोग योगी के शरीर के रूप के साथ नहीं होने से, उसका शरीर दूसरे किसी के देखने में नहीं आता। अर्थात् सामने वाले मनुष्य की रूप ग्राहक शक्ति का स्तंभन होता है। साधारण अवस्था में हम एक दूसरे के शरीर देख सकते हैं उसका कारण यह है कि दूसरे शरीर पर सत्व का प्रकाश होता है। उस प्रकाश का और हमारे नेत्र के प्रकाश के द्वारा रूप ग्रहण करने की शक्ति का संबंध होने पर उस सत्त्व प्रकाश पर से शरीर का रूप देखा जा सकता है। सत्त्व का प्रकाश हर एक पदार्थ में से निकलता रहता है। हर एक मनुष्य शरीर के आसपास ऐसा प्रकाश बहुत होता है और जो मनुष्य बहुत पवित्र तथा अष्टांग योग साधनों से समाधि की उच्च कक्षा को पहुंचे होते हैं उनमें वह प्रकाश बहुत शुद्ध और भव्य होता है। उसे ऑरा कहते हैं। वह ऑरा अथवा तेज बहुत सूक्ष्म और स्वच्छ होता है अतः स्थूल दृष्टि से उसे देखा नहीं जाता। मेस्मेरिजम करने वाले इस तेज से ही काम लेते हैं। चित्त की स्थिरता से अथवा त्राटक से उस प्रकाश की प्रतीति हो सकती है। अब जब योगी अपने रूप के बारे में संयम करता है तब उसके शरीर पर का सत्व का प्रकाश अंदर खिंच जाता है। अथवा तो वह प्रकाश आगे बढ़कर देखने वाले की दृष्टि के साथ संबंध नहीं बना सकने के कारण योगी के शरीर की आकृति दूसरों से देखी नहीं जा सकती। अतः वह योगी अंतर्ध्यान प्राप्त करता है।

यह तो मात्र रूप में संयम करने से रूपांतर्धान शक्ति प्राप्त होती है, उस बारे में कहा। उसी तरह योगी जब अपने शब्द के बारे में संयम करता है तब दूसरों की, उस योगी के शब्दों के ग्रहण करने की जो शक्ति होती है उसका स्तंभन होता है, जिससे योगी चाहे सो शब्द बोलता है लेकिन उनका शब्द दूसरों के सुनने में नहीं आता। मतलब कि, शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध उनमें से किसी एक में संयम किया जाय तो वह गुण ग्रहण करने की दूसरे मनुष्य की शब्द शक्ति, स्पर्श शक्ति, रूप शक्ति, रस शक्ति और गंध शक्ति का स्तंभ होता है और फिर योगी चाहे उसे स्पर्श करे, चाहे उसके पास जाए तो भी उनकी शारीरिक क्रियाएं दूसरों के देखने में नहीं आतीं।

102. काया–शरीर हलका करने के बारे में–प्राण, अपान वगैरह रूप जो तमाम इन्द्रियों की वृत्ति हैं उसे जीवन कहते हैं। उन इन्द्रियों की जीवन रूप वृत्ति-व्यापार दो प्रकार के होते हैं। उनमें से एक को ज्ञान अथवा कर्मरूप वृत्ति (व्यापार) और दूसरे को जीवनरूप वृत्ति (व्यापार) कहते हैं। इनमें का दूसरे प्रकार का व्यापार सब इन्द्रियों का सर्वसाधारण व्यापार है। वह व्यापार पांच प्रकार का होने से प्राण, अपान वगैरह संज्ञा से पहचाने जाते हैं। उसमें प्राण, अपानादि वायु के व्यापारों

के बारे में पहले कहा गया है। उन पांच वायुओं में का उदान वायु नासिका के अग्रभाग से ठेठ ब्रह्मरंध्र तक रहा है और वही वस्तुतः स्थूल शरीर तथा मरण के बाद लिंग शरीर की ऊँची गति करवाने के कारण रूप है। अतः उदान वायु में संयम करके उसका जय किया जाता है तो दूसरे प्राण, अपान, व्यान, समान इन चार वायुओं के व्यापारों का रोध होकर उदान वायु अति प्रबल होने से योगी का शरीर अतिशय हलका रूई की तरह हलका हो जाता है। अतः ऐसे योगी नदी के पानी पर से चल कर जाते हैं। अतिशय गहरे कीचड़ पर से चले जाते हैं, और बड़े कांटे के जालों पर भी चले जाते हैं। फिर भी उन पदार्थों से योगी के शरीर को कुछ स्पर्श नहीं होता और वैसे योगी अपनी मौत अपनी मरजी के अनुसार चाहे जब ला सकते हैं। उस समय उनके प्राण अर्चिरादि मार्ग (जो कि ब्रह्मलोक में जाने का मार्ग है सो) के द्वारा जा सकता है। इस पर से यह समझना कि मुख्यतः ऊर्ध्वगति उदान वायु से उत्पन्न होती है अतः उसका संयम से जय करने से योगी का शरीर हलके फूल की तरह हो जाता है, अतः किसी प्रवाही का या स्निग्ध पदार्थ का भावनाप्रद स्पर्श नहीं होता।

103. आकाश गमन—योगी जिस स्थान पर आसन वाली समाधि लगा कर बैठता है उस स्थान पर उसका जितना शरीर हो उसमें आंतर बाहर सब जगह आकाश होता है। अतः शरीर का आकाश के साथ जो व्याप्य व्यापक रूप संबंध है उस 'संबंध में' संयम करने से योगी उस संबंध को साक्षात्कार से अपनी सत्ता में लाता है और उस समय उसकी देह बिलकुल हलकी पवन जैसी हो जाती है अथवा तो कपास जैसे बिल्कुल हलके पदार्थों से वह परमाणु तक चित्त की तदाकार वृत्ति करके समाधि लेकर संयम से शरीर और आकाश का संबंध स्वाधीन हो सकता है और योगी की देह हलकी पवन जैसी हो जाती है। कारण कि, उन दोनों संयमों से योगी का शरीर जो आकाश की सत्ता के द्वारा जमीन पर दब रहा होता है वह दबाव करने वाली सत्ता स्वाधीन होने से आकाश में उड़ सकने का अद्‌भुत बल प्राप्त होता है। इसमें क्रम ऐसा है कि, शरीर जैसे-जैसे हलका होता जाता है वैसे-वैसे प्रथम पानी पर पांव से चल सकता है, फिर यह मकड़ी के जाल के तंतुओं पर बहुत आसानी से चल सकता है, फिर सूर्य की किरणों पर चल सकता है और आखिर में योगी का शरीर इतना अधिक हलका हो जाता है कि, आकाश में चाहे जहां जा सकता है।

104. परकाया प्रवेश—चित्त स्वयं अतिशय चंचल होने से वायु से भी अति वेगवान है और वह अति सूक्ष्म होने से तमाम प्रदेश में और सर्व शरीर में प्रवेश कर सके वैसा है। परंतु पूर्व के धर्माधर्म रूप कर्म के बल से वह चित्त केवल अपने शरीर में ही बंधा रहा है और उसी में वह नियमित व्यापार करके सुख-दुःखादि को भोगता है तब अब चित्त को बंद करने वाला कारण कौन सा? अर्थात् धर्माधर्म रूप कर्म और उनके संस्कार। उन संस्कारों को शिथिल-लूला किये जाते हैं तब चित्त को बंध करने

वाले कारण का नाश होता है, जिससे चित्त अपनी स्वाभाविक गति से शरीर के बाहर जा सकता है, तो भी चित्त के बंध कारण के शैथिल्य से ही मात्र उसका पर–शरीर में प्रवेश हो नहीं सकता; परंतु जिन नाड़ी चक्रों के द्वारा चित्त पर–शरीर में प्रवेश कर सकता हो या निकल सकता हो उन नाड़ी चक्रों को अच्छी तरह जान कर उनके द्वारा (बंध करने वाले कारण को शिथिल करके स्वतंत्र किये हुए) चित्त का प्रवेश किया जाए तभी चित्त सर्वथा परकाया प्रवेश कर सकने को शक्तिमान होता है। मतलब कि, जिस कर्म के महान् बंधन से चित्त शरीर में बेड़ी की तरह कैद हुआ है, वह बंध करने वाले कारण को शिथिल करने से, और जिन नाड़ियों के द्वारा चित्त शरीर में से बाहर जा सकता है, तथा जिन नाड़ियों के द्वारा अंदर चित्त (शरीर में) प्रवेश कर सकता है, उन सब नाड़ियों को प्रचार कहते हैं। अतः उन प्रचार रूप चित्त के जाने-आने की गति को मार्ग का यथार्थ ज्ञान होने से सूक्ष्म शरीर सहित चित्त पर शरीर में प्रवेश कर सकता है। इसीलिए भगवान् पतञ्जलि कहते हैं कि, चित्त को बंधन करने वाले जो कर्मरूप कारण, उसमें संयम करने से उस कारण की शिथिलता होती है और प्रचार में संयम करके उसका साक्षात्कार करने से उसका यथार्थ ज्ञान होता है और वह होने के बाद (जिस तरह हमारे अथवा दूसरे के घर में प्रवेश द्वार वगैरह की रुकावट होती है वह दूर होने से आसानी से प्रवेश किया जा सकता है उस तरह) हमारा चित्त मृत शरीर में अथवा तो जीवंत शरीर में आसानी से प्रवेश कर सकता है और बाद में भगवान् भाष्यकार लिखते हैं कि 'जैसे मधुमक्खी का राजा एक फूल पर से दूसरे फूल पर जाने के लिए उड़ने के बाद जिस तरह उसके पीछे सब मधुमक्खियां चली आती हैं और दूसरे फूल पर इकट्ठा होती हैं; उसी तरह चित्त के पीछे बाकी रही हुई इन्द्रियां, ज्ञानेन्द्रियां वगैरह मधुमक्खियां भी दूसरे के शरीर में प्रवेश करती हैं उसे ही परकाया प्रवेश कहते हैं।

ज्ञानरूप सिद्धियां

(105) शब्द, अर्थ और प्रत्यय (ज्ञान) ये तीन एक ही रूप हैं। ऐसा व्यवहार में लगता है, परंतु वे तीन परस्पर से अत्यंत भिन्न हैं, अतः शब्द, अर्थ और ज्ञान उनके परस्पर भेद के बारे में संयम करने से तमाम प्राणियों की भाषाओं का ज्ञान होता है। (106) दूसरे के मुख पर के चित्तवृत्ति के विकार अथवा प्रत्यय के संयम से परायों के चित्त का साधारण ज्ञान होता है। (107) नाभिचक्र में संयम करने से शरीर की रचना का ज्ञान होता है। (108) सोपक्रम और निरुपक्रम दो प्रकार के कर्म हैं, उनमें संयम करने से उनका जब साक्षात्कार होते है तब योगी को अपनी मृत्यु

---

105. शब्दार्थप्रत्ययानाभितरेतराध्यासात्संकरस्तत्प्रविभागसंयामात् सर्वभूतरुतज्ञानम् 3,17. **106.** प्रत्ययस्य परिचित्तज्ञानम् 3,19. **107.** नाभिचक्रे कायव्यूहज्ञानम् 3,28. **108.** सोपक्रमं निरुपक्रमं च कर्मतत्संयमादपरांतज्ञानमरिष्टेभ्यो वा 3,21.

का प्रत्यक्ष ज्ञान होता है, अथवा वह ज्ञान अरिष्टो (मरण सूचक चिह्नों) पर से भी होता है। (109) चंद्र में संयम करने से तारों की रचना का ज्ञान होता है। (110) और तारों की गति का ज्ञान ध्रुव में संयम करने से होता है। (111) सूक्ष्म पदार्थों, व्यवहित (जिन पदार्थों के आसपास दूसरे पदार्थों का ढक्कन पड़ा हो ऐसे पदार्थ विप्रकष्ट दूर देश में स्थित) पदार्थों का ज्ञान, ज्योतिष्मती प्रवृत्ति के सत्त्व प्रकाश या जिसे आलोक कहते हैं, उसमें संयम करने से होता है। (112) श्रोत्र और आकाश के (आधाराधेय ज्ञान) संबंध में संयम करने से दिव्य श्रोत्र होता है। (113) सूर्य में संयम करने से भुवनों का ज्ञान होता है। (114) दिमाग में की (ब्रह्मान्ध्र में की) ज्योति में संयम करने से सिद्ध पुरुषों का दर्शन होता है। (115(चित्त के अंदर चालू जन्म के और भूतपूर्व अनेक जन्मों के संस्कार पड़े होते हैं। उनमें संयम करने से उन संस्कारों के साक्षात्कार से पूर्व के अनेक जन्मों का संकल्प मात्र से प्रत्यक्ष ज्ञान होता है। (116) प्रकृति से स्थूल पदार्थ तक तमाम के धर्म लक्षण और अवस्था ये तीन प्रकार के परिणाम होते हैं। इन तीन परिणामों में संयम करने से भूत और भविष्य का ज्ञान होता है। (117) प्रतिभा शक्ति में संयम करने से भूत और भविष्य का ज्ञान होता है। (118) हृदय कमल में संयम करने से अपने और दूसरों के चित्त का वासना सह ज्ञान होता है। (119) शरीर के बाहर, चित्त की जो यथार्थ (अकल्पिता) स्थिति अथवा प्रकृति को महाविदेहा कहते हैं, उसमें संयम करने से चित्त के सत्त्व प्रकाश को ढकने वाले रजस् तमस् रूप के आवरण का क्षय होता है। (120) भोग दो प्रकार के हैं, स्वार्थ और परमार्थ उन दो में प्रथम के भोग में संयम करने से अथवा तो प्रतिभा में संयम करने से ज्ञान से प्रातिभश्रावण (दिव्यशब्द का ज्ञान), वेदन (दिव्य स्पर्श का ज्ञान), आदर्श (दिव्य रूप का ज्ञान), आस्वाद (दिव्य रस का ज्ञान) और वार्ता (दिव्य गंध का ज्ञान) उत्पन्न होता है, अर्थात् योगी की इन्द्रियों को स्वर्ग में के दिव्य शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गंध इन पांच विषयों को ग्रहण करने का सामर्थ्य-व्युत्थान अवस्था में भी प्राप्त होता है। (121) ये सब सिद्धियां संप्रज्ञात समाधि के प्रतिबंध विघ्न रूप हैं और व्युत्थान अवस्था में विभूति (सिद्धि) रूप हैं, अतः उसमें मोहित नहीं होगा। (122) सत्त्व-बुद्धि और आत्मा बिलकुल भिन्न हैं। बुद्धि के सुख दुःखादि परिणामों

109. चन्द्रे ताराव्यूहज्ञानम् 3,26. **110.** ध्रुवे, तद्गतिज्ञानम् 3,17. **111.** प्रवृत्यालोकन्यासात्सूक्ष्मव्यवहित विप्रकृष्टज्ञानम् 3,24. **112.** श्रोत्राकाशयोः संबंधसंयमाद्दिव्यं श्रोत्रम् 3,40. **113.** भुवनज्ञानं सूर्ये संयमात 3, 25. **114.** मूर्द्धज्योतिषि सिद्धदर्शनम् 3,31. **115.** संस्कारसाक्षात्करणात् पूर्वजातिज्ञानम् 3,18. **116.** परिणामत्रयसंयमात् अतीतानागतज्ञानम् 3,16. **117.** प्रतिभाद्वा सर्वम् 3,32. **118.** हृदये चित्तसंवित 3,33. **119.** बहिरकल्पितावृत्तिर्महाविदेहा ततः प्रकाशावरणक्षयः 3,42. **120.** ततः प्रातिभश्रावणवेदनादर्शास्वादवार्ता जायन्ते 3,35. **121.** तेसमाधावुपसर्गा व्युत्थाने सिद्धयः 3,36. **122.** सत्वपुरुषयारत्यन्तासंकीर्णयोः प्रत्ययाविशेषो भोगः परार्थात्स्वार्थसंयमात् पुरुषज्ञानम् 3,34.

का (प्रतिबिंब द्वारा भी) पुरुष में जो आरोप किया जाता है। उसे भोग कहते हैं और वह तो भोगरूप पुरुष के लिए है यानि पदार्थ है, तथा उससे अलग प्रकार का ऐसा जो दूसरा चित्प्रबिंव रूप भोग स्वार्थ कहा जाता है, उस स्वार्थ भोग में संयम करने से योगी को पुरुष-आत्मा का ज्ञान होता है।

105. सर्व प्राणियों की भाषाओं का ज्ञान—सब प्राणी अनेक तरह के शब्द अथवा ध्वनियां करते हैं, वह उनकी भाषा कही जाती है। आज तक साधारणतः यह माना जाता था कि प्राणियों में भाषा नहीं है, परंतु थोड़े समय पहले एक शास्त्रवेत्ता ने उस विषय पर फोटोग्राफ यंत्र की सहायता से यह सिद्ध कर दिया है कि उनमें भी भाषा है। (1) वागेन्द्रिय में से जो शब्द उत्पन्न होते हैं और फिर बाहर आते हैं। यह *अष्टौ स्थानानि वर्णानामुरः कण्ठः शिरस्तथा। जिह्वामूलं च दन्ताश्च नासिकौष्ठौ च तालु च।* अर्थात् छाती, कंठ, सिर, जीभ का मूल दंत, नासिका, होठ और तालु स्थान इन आठ स्थानों में से होकर उत्पन्न होते हैं। इन शब्दों को वर्णात्मक शब्द कहते हैं। (2) इस तरह उत्पन्न शब्दों को उदानवायु देह में से लेकर 'वीची तरंग न्याय' (तालाब में पत्थर डालने से वर्तुल पर वर्तुल होते हैं उस तरह) आंदोलन से एक सरीखे अनेक शब्द उत्पन्न करता-करता सुनने वाले के कान तक पहुंचाता है। यह शब्द उस ध्वनि के परिणामरूप नादात्मक कहे जाते हैं। वागेन्द्रिय, शंख, वाद्य वगैरह स्थान पर टकराये हुए (उदान) वायु के परिणाम को ध्वनि कहते हैं। ये नादात्मक शब्द भी वर्ण से उत्पन्न उनकी ही जाति के होने से उन्हें भी वर्ण ही कहते हैं। (3) इस तरह शब्द प्रथम तो बोलने वाले के मुख में से बाहर निकल कर, सुनने वाले के कान पर टकराने के बाद, वे शब्द अंतःकरण में जाते हैं और बुद्धि उसे ग्रहण करती है और बुद्धि में उसके संस्कार पड़ते हैं। इस प्रकार बुद्धि-अंतःकरण में पड़े यह हर एक वर्ण शब्द के संस्कार से बना हुआ वर्ण से अलग तरह का, और अखंड ऐसा झडप से एक प्रकार का शब्द उत्पन्न होता है। उसे स्फोट कहते हैं। अतः अंतःकरण से ग्रहण किया हुआ यह तीसरे प्रकार का शब्द है। इसे पद भी कहते हैं और वह एकदम उत्पन्न होने वाला है अतः वर्ण से भिन्न है, वर्णों के मिश्रण से पद बनता है। बहुत से पदों से वाक्य बनता है और उनकी अमुक संख्या से अर्थ का बोध होता है, अर्थात् अर्थ का बोध करने की शक्ति पद में और वाक्य में होती है।

अर्थ यानि जाति, गुण, क्रिया वगैरह। जैसे कि गाय, अश्व, वगैरह जाति, सफेद, काला, तीखा, कटु वगैरह गुण; जाना, आना, लेना वगैरह क्रियाएं।

प्रत्यय यानि ज्ञान। ज्ञान यानि विषयाकार या अर्थाकार बुद्धि की वृत्ति। अब इस प्रकार शब्द, अर्थ और ज्ञान ये तीनों परस्पर में अत्यंत भिन्न हैं, फिर भी व्यवहार

में वे एक हैं, ऐसा लगता है। यह बात एक उदाहरण देकर स्पष्ट करें। गाय यह एक पद (शब्द, स्फोट) है। यह पद जिसके गले गुदही और सींग होते हैं ऐसे किसी प्राणी के स्वरूप-जाति को सूचित करता है, अतः वह पदार्थ का अर्थ कहलाता है और बाद में वह गाय शब्द कान पर टकरा कर अंतःकरण में पहुंचने के बाद उस शब्द के अर्थ को आकार वाली अंतःकरण की जो वृत्ति बंधती है अर्थात् ज्ञान होता है उसे प्रत्यय कहते हैं। इस तरह गाय यह शब्द, गाय यह अर्थ, और गाय यह प्रत्यय के तीनों परस्पर में भिन्न हैं वैसे उनके आश्रय भी भिन्न-भिन्न हैं। जैसा कि शब्द का आश्रय बोलने वाले का कंठ वगैरह स्थान है, अर्थ का आश्रय अमुक जाति या लघुत्वादि धर्मवान कोई पदार्थ है और प्रत्यय का आश्रय सुनने वाले का अंतःकरण है। इस तरह ये तीन भिन्न फिर भी व्यवहार में एक होने से ऐसी संकरता (मिश्रण) दीखती है, जैसे कि हम अपने नौकर से कहें कि 'गाय ले आव' तो गाय का शब्द, अर्थ और उस संबंधी ज्ञान ये तीन अलग हैं ऐसा वह नहीं जानता, ये सब एक ही है ऐसा स्वाभाविक लगने से तुरंत गाय को ले आयेगा।* उसे हम अधिक यकीन करने के लिए पूछेंगे कि, मैंने तुझे 'गाय ले आव' कहा उसमें शब्द कौन सा, अर्थ कौन सा और ज्ञान कौन सा? तो इन तीनों के जवाब में 'गाय' उतना ही कहेगा। इस तरह व्यवहार में स्वाभाविक स्थिति है फिर भी शब्द अर्थ को बताता है, सूचित करता है। शब्द से जो बनाया जाता है वह अर्थ है, और उस अर्थ के द्वारा मन में जो बोध होता है वह प्रत्यय है। इस तरह अलग-अलग विभाग करके प्राणियों के शब्दों पर जो संयम करता है उसे पशु, पक्षी, जलचर प्राणी वगैरह के शब्दों का ज्ञान होता है। अतः अमुक प्राणी ने, अमुक शब्द ने, अमुक शब्द का उच्चार किया, उसका अर्थ अमुक है इस संबंध में वह जान सकता है।

106. दूसरे मनुष्य के चित्त का ज्ञान—सामने वाले मनुष्य की चित्तवृत्ति का सामान्य ज्ञान उसके मुंह के हर्षशोकादि विकार पर से साधारण रीति से हो सकता है,

* बहुत बार यह होता है कि शब्द तो सुनाई देता है, परंतु उसका अर्थ और प्रत्यय का भान श्रोता की वासना, स्मृति इत्यादि पर आधार रखते हैं। अतः वह वासना यदि शब्द बोलने वाले और सुनने वाले दोनों की एक सरीखी होती हो तो यह 'गाय' के उदाहरण में बताये अनुसार अभेद व्यवहार होता है, लेकिन जब एक सरीखी नहीं होती तब शब्द, अर्थ, प्रत्यय का भेद स्पष्ट मालूम होता है। जैसे कि, सैंधव शब्द क्षार को और घोड़े को दोनों को लागू होता है, एक नौकर इन दोनों शब्दों और अर्थों से वाकिफ है। रोज शाम को घूमने जाने का नियम होने के कारण उसका सेठ जब शाम को 'सैंधव ले आव' कहता है तब चाकर घोड़ा ले आता है। एक दिन शाम को सेठ के पेट में दर्द होने से (दवा के लिए) 'सैंधव ले आव' ऐसा अस्पष्ट कहा तब सेठ को घूमने जाना है इस तरह वासनादि भेद से अर्थ और प्रत्यय के भान में अलगता भी देखने में आती है। परंतु योगी इस संयम से प्राणी की भाषा को ज्ञान रखता है, वह सर्व प्राणियों की वासनानुसार रखता है, अतः उनके ज्ञान में गलती नहीं होती।

अतः उन विकारों को ग्रहण करके उन पर संयम करने से उन विकारों अथवा वृत्ति के आश्रय रूप चित्त का साक्षात्कार होता है। अतः 'उसका चित्त अमुक प्रकार का है।' ऐसा यकीन से कहा जा सकता है, अतः यह कि उसके चित्त में वैराग्य है या आसक्ति है वगैरह चित्त के सब सामान्य धर्म जानने में आ सकते हैं परंतु उस पर से सामने वाले मनुष्य के चित्त में ''अमुक विषय है, अमुक विचार चलता है वगैरह विशेष ज्ञान हो नहीं सकता। कारण कहा है कि नतत्सालंबनं तस्याविषयी भूतत्वात् अर्थात् योगी ने इस समय ''पराये के चित्त में क्या चलता है? उसका विषय क्या है?'' इस तरह उसके चित्त के मुख्य आलंबन (धर्म) को विषय के तौर पर लेकर उस पर धारणा करके संयम किया होता नहीं है। मात्र इतना ही कि, योगी ने, दूसरे के चित्त मात्र को उसके हर्षशोकादि परिणाम जो मुंह पर हो आते हैं उसके संबंधी चिह्न लेकर उस पर संयम किया होता है, अतः इस संयम की सिद्धि से पराये के चित्तमात्र का (वह वैराग्यवान् या आसक्तिवान् वगैरह) सामान्य ज्ञान होता है। जब 'अन्य के अंतःकरण में कौन-सा विषय चलता है उसका साक्षात्कार हो' ऐसी धारणापूर्वक संयम किया जाए तब उसके अंतःकरण के विशेष विषय का भी ज्ञान हो सकता है।

107. शरीर की रचना का ज्ञान—नाभिचक्र में संयम करने से शरीर के अंदर रहे हुए तमाम पदार्थ, जैसे कि, ज्ञानतंतुएं और उनके गुच्छे के रूप में बने चक्र, धमनियां, शिराएं अनेक तरह के रस, मल, धातुएं वगैरह प्रत्यक्ष ज्ञान होता है। हर एक शरीर में अनंत चक्र हैं, उनमें से कुछ स्थूल और कुछ सूक्ष्म होते हैं। स्थूल चक्रों में के कुछ निरी आंख से और सूक्ष्म दर्शक यंत्र की मदद से हाल भी देखे जा सकते हैं। परंतु जो सूक्ष्मचक्र हैं सो तो संयम की सिद्धि से ही अच्छी तरह मालूम होते हैं। मूलाधार स्वाधिष्ठान, मणिपूरकादि अनेक चक्र पीठ की करोड रज्जू में रहे हैं, उनमें का मणिपूरक नाम का चक्र नाभि स्थान के नीचे के प्रदेश में आया हुआ है। स्त्री-पुरुष संयोग से गर्भ धारण होने पर प्रारंभ में वीर्य का परिणाम होता है तब गर्भ में प्रथम यह मणिपूरक-नाभिचक्र सबसे पहले उत्पन्न होता है, क्योंकि सारे शरीर में हृदय वगैरह के पहले नाभि प्रदेश की रचना होती है। वह प्रदेश कदली के मूल की तरह प्रथम उत्पन्न होता है और उसके बाद ही विशेष आकार के परिणाम को प्राप्त करके हृदय, मस्तक वगैरह प्रदेश उत्पन्न होने लगते हैं, अतः नाभिचक्र तथा कंद सर्व के मूलरूप होने से उसमें वीर्य की पूर्ण उत्पत्ति काल पर होने वाले परिणामों के तमाम संस्कार होते हैं, अतः जब संयम से उस चक्र को अशेष विशेष का प्रत्यक्ष ज्ञान होता है तब वह जिसका मूलभूत है ऐसे शरीर के तमाम पदार्थों का ज्ञान हो वह योग्य ही है।

108. मरण जानने का ज्ञान—सामान्य लोग मरणसूचक कुछ चिह्नों (अरिष्टों) पर से मृत्यु का समय जान सकते हैं, ऐसे चिह्न अथवा अरिष्ट तीन प्रकार के हैं। जैसे कि दोनों कान बंद करने से जो आवाज सुनाई देती है, वह न सुनाई दे, अथवा

साधारण रीति से रोज जो आवाज सुनाई देती है उसकी बजाय कोई विशेष प्रकार का शब्द जलते अग्नि की तरह सुनाई दे तो वह **आध्यात्मिक अरिष्ट** कहा जाता है। यम के दूत मालूम होना, अथवा तो यकायक स्वर्ग वगैरह का दर्शन होना, वह **आधिदैविक अरिष्ट** कहा जाता है और यकायक विरूप पुरुष मालूम हो, अरूंधती या ध्रुव का तारा मालूम न हो वगैरह **आधिभौतिक अरिष्ट** है। सामान्य लोग ऐसे चिह्नों पर से मरण समय का कल्पना से अनुमान कर सकते हैं, परंतु उनका अनुमान संशयात्मक होता है, लेकिन योगी तो नीचे बताये कर्मों में संयम करने से यकीन से कह सकते हैं कि, अमुक समय पर, अमुक स्थान पर निश्चित मृत्यु होगी। क्योंकि उन कर्मों के साक्षात्कार से निश्चित ज्ञान होता ही है।

उन कर्मों के दो प्रकार हैं। **सोपक्रम** और **निरुपक्रम**। सोपक्रम यानि प्रारंभ वाला, अर्थात् जो कर्म पूर्वजन्म में किया गया है सो कर्म, जो कि आयंदा थोड़े ही समय में फल देने वाला है, अथवा फल देने को तैयार हुआ है सो और निरुपक्रम यानि पूर्वजन्म में किया हुआ कर्म जो कि आयंदा थोड़े समय में फल देने वाला न हो। इन दोनों कर्मों में संयम करने से ये दोनों कर्म किस समय तथा किस स्थान पर अपना-अपना संपूर्ण फल देंगे सो स्पष्ट मालूम पड़ता है और उससे हमारी देह की मृत्यु कौन से देश में और कब होगी सो पहले से जाना जा सकता है और निरुपक्रम कर्म में संयम करने से लंबे समय पर होने वाले मरण का ज्ञान होता है।

109. तारों की रचना का ज्ञान—चंद्र में संयम करने से तारों की रचना का ज्ञान होता है। शायद किसी को शंका होगी कि तारों का ज्ञान प्राप्त करने के लिए चंद्र में क्यों संयम करना चाहिए? तो उसका समाधान सर्व टीकाकार इतना ही देते हैं कि तारों का तेज बहुत कम है और इससे वे सूर्य के तेज से ढक जाते हैं, अतः सूर्य में संयम करने से तारों का ज्ञान नहीं होता, अतः वह ज्ञान हो इसलिए नक्षत्रवाचक चंद्र में ही संयम करना चाहिए। इस संयम के समय योगी को भौतिक पदार्थ संबंधी रहा हुआ विशेष प्रकाश (तेज, ऑरा) प्राप्त होता है और उसके कारण विश्व के अपार प्रदेश में फैले तारों की रचना को वह देख सकता है।

110. तारों की गति का ज्ञान—ध्रुव तारे में संयम करने से हर एक तारे की अमुक समय में कितनी गति है उस विषय का ज्ञान होता है। वर्तमान शोध पर से इतना मात्र मालूम हुआ है कि विश्व में के तमाम तारे और ग्रह और उपग्रह निरंतर गतिमान हैं। हमारा सूर्य एक सेकेंड में सारी ग्रहमाला के साथ किसी महान् सूर्य के आस-पास पांच मील की गति से घूमता है। ऐसा ही शोध दो-तीन तारों के संबंध में हुआ है और उनकी गति में फर्क पड़ा हुआ प्रत्यक्ष देखने में आया है परंतु अनंत तारागण जो आकाश गंगा में भीड़-भाड़ से भरे हुए हैं उनकी गतियों के बारे में हमें

किसी तरह का ज्ञान नहीं है लेकिन इन सब तारों की गति के बारे में अच्छी तरह जानकारी प्राप्त करनी हो तो ध्रुव में संयम करना।

111. सूक्ष्म, व्यवहित और विप्रकृष्ट पदार्थों का ज्ञान—हम किसी भी पदार्थ को देख नहीं सकते। उसके अनेक कारणों में से मुख्य तीन कारण होते हैं। एक तो, पदार्थ के अतिशय सूक्ष्मता के कारण उस पदार्थ का ज्ञान नहीं होता, जैसे कि सूक्ष्म रजकण, पदार्थ के परमाणु, वायु के परमाणु, इथर के परमाणु वगैरह अतिशय सूक्ष्म होते हैं अतः उनको हम देख नहीं सकते। अतः इन सबको सूक्ष्म पदार्थ कहा जाता है। दूसरा कोई पदार्थ ऐसा हो कि उस पदार्थ और हमारे बीच दूसरा कोई पदार्थ आड़े आने से प्रथम का पदार्थ हमारे देखने में न आये, जैसे कि पेटी में रखी हुई चीजें, भूमि में गड़ा हुआ धन वगैरह पदार्थ पर दूसरे पदार्थों का आवरण होने से हम देख नहीं सकते। ऐसे पदार्थों को व्यवहित कहते हैं। तीसरा पदार्थ अतिशय दूर देश में हो कि जहाँ हमारी नजर जाती न हो तो उसका ज्ञान हो नहीं सकता। जैसे कि अभी अहमदाबाद में रा॰ नर्मदाशंकर सुपुत्र त्रिभुवन ठाकुर नाम से कोई व्यक्ति क्या करते होंगे? अथवा वैद्यराज मल्लभाई सुपुत्र लक्ष्मी शंकर भावनगर में क्या करते होंगे? उस संबंध में हम उस-उस स्थान से दूर होने से जान नहीं सकते अतः इस तरह दूसरे देश में रहे हुए पदार्थ विप्रकृष्ट कहे जाते हैं।

पूर्व में पृष्ठ 80 पर विषयवती प्रवृत्ति और ज्योतिष्मती प्रवृत्ति के बारे में बताते समय कहा था कि ज्योतिष्मती प्रवृत्ति से चित्त में ज्ञानरूप सात्त्विक प्रकाश उत्पन्न होता है उसे आलोक कहते हैं। उस आलोक (सात्त्विक प्रकाश) में संयम करने से जब उसकी सिद्धि होती है तब योगी सत्त्वप्रकाश को जो-जो विप्रकृष्ट और व्यवहित पदार्थों में रखता है उस-उस पदार्थ के आस-पास जो आवरण होता है उसका भंग होकर वह कल्पित पदार्थ स्पष्ट मालूम होता है।

थोड़े समय पहले एक्स किरणों की खोज होने के बाद इस सिद्धि के संबंध में यकीन होता है। इन किरणों का हाल में इंग्लैण्ड, अमेरिका वगैरह स्थानों में कितना सारा उपयोग होता है कि पोस्ट और जकात विभाग की ऑफिसों में जाने-आने वाले पार्सल, पैकेट वगैरह में क्या-क्या पदार्थ हैं। वह इन किरणों की सहायता से स्पष्ट जांचने में आता है। शरीर के अंदर घुसे हुए बंदूक के छर्रे (कारतूस) अथवा सूई या पिन जैसे पदार्थ शरीर के कौन से गुप्त भाग में घुस गये हैं उस बारे में निर्णय हो नहीं सकता तब डॉक्टर इन किरणों की सहायता से शरीर के पूरे हिस्से का फोटोग्राफ लेकर जांचते हैं तो फोटोग्राफ में वह पदार्थ स्पष्ट मालूम पड़ता है, यह बात सर्वप्रसिद्ध है।

112. दिव्यश्रोत्र ज्ञान—शब्द को अथवा अनेक तरह के सूक्ष्म और बड़े

ध्वनियों को ग्रहण करने वाले हमारे कान में रही हुई इन्द्रिय है, उसे श्रोत्रेन्द्रिय कहते हैं, शब्द या ध्वनि जो आकाश में होते हैं उसके होने के बाद वह शब्द या ध्वनि आकाश (इथर वगैरह) की लहरों से हमारे कान पर टकराता है तब हमें उसका ज्ञान होता है इस तरह आकाश और श्रवणेन्द्रिय उन दोनों का भाव या आधाराधेय भाव संबंध है अतः कान के अंदर का श्रवण ज्ञानतंतु का परदा देशी है और जिस स्थान में ध्वनि उत्पन्न हुआ है उस स्थान से कान के परदे तक का सारा आकाश वाला भाग देश है। इस तरह इन दोनों का संबंध है, उस संबंध में संयम किया जाता है तब योगी को एक ही समय में सूक्ष्म, व्यवहित और विप्रकृष्ट शब्द ध्वनियां सुन सकने का अपार बल प्राप्त होता है, उसे ही दिव्यश्रोत्र कहते हैं।

श्रोत्रेन्द्रिय अहंकार का कार्य है और त्वचा, चक्षु, रसना, प्राण ये सब इन्द्रियां कुछ भौतिक नहीं है, अतः वह कुछ आकाश, तेज, वायु वगैरह पंचभूतों के परिणाम रूप नहीं हैं तो भी वह सब इन्द्रियां उन-उन भूतों के साथ संसर्ग वाली होने से उनकी स्पष्टता (अभिव्यक्ति, प्रकाशिता) उस-उस भूत में से होती है, अतः श्रोत्रेन्द्रिय आकाश के अणुओं के साथ संबंध वाली होने से जब-जब उसकी अभिव्यक्ति होती है तब-तब वह आकाश के अणु में से ही होती है, उसी तरह त्वक् की वायु में से, चक्षु की तेज में से, रसना की पानी में से और घ्राण की अभिव्यक्ति पृथ्वी में से होती है। इस तरह श्रोत्राद्रि पांचों इन्द्रियों का आकाशादि पांचों भूतों के साथ परस्पर आधाराधेय भाव देश-देशी भाव संबंध है। अतः इस पर से यह सिद्ध हुआ है कि, चक्षु और तेज को इस तरह आधाराधेय संबंध में संयम करने से दिव्यचक्षु, त्वक् और वायु के संबंध में संयम करने से दिव्यत्वक्, रस और जल के संबंध में संयम करने से दिव्य रसना, घ्राण और पृथ्वी को आधाराधेय भाव संबंध में संयम करने से दिव्य घ्राण का और श्रोत्र और आकाश के संबंध में संयम करने से दिव्यश्रोत्र का ज्ञान एक बारगी एक समय में होता है।

113. भुवन ज्ञान—सूर्य मंडल में चित्त को एकाग्र करके संयम करने से जब उस संयम की सिद्धि होती है तब, यह घड़ा, यह घट, यह अमुक पदार्थ वगैरह हम जिस तरह प्रत्यक्ष देख सकते हैं उसी तरह हमें भुवनों का प्रत्यक्ष ज्ञान होता है। हमारे सूर्य मंडल में बुध, शुक्र, मंगल, बृहस्पति, शनि वगैरह ग्रह हैं, ये सब एक तरह से स्थूल भुवन हैं और उनका साधारण ज्ञान हाल में दूरबीनों से हो सकता है। जैसा कि शुक्र पर वातावरण है, मंगल पर आबादी होने के कारण उस पर के मनुष्य बहुत बुद्धिमान और कलावान् तथा दीर्घायुषी हैं, शनि और बृहस्पति के गोले अभी ठंडे नहीं पड़े हैं। उनके उपग्रहों पर आबादी होगी इत्यादि मालूम हो सका है। परंतु वहां की तमाम वस्तुस्थिति देखनी हो तो सूर्य में संयम करने से देखी जा सकती है। यह तो

मात्र स्थूल भुवनों के बारे में कहा, परंतु इसके बारे में व्यास भगवान् अपने भाष्य में लिखते हैं कि इस संयम से स्थूल ऐसे चौदह भुवनों का ज्ञान होता है। ये चौदह भुवनों की व्यवस्था नीचे लिखे अनुसार है :–

भूः–भूर् लोक यानी मनुष्य लोक, भुवर्लोक यानी द्यौ–तारा लोक और **स्वर्लोक** इन मुख्य लोकों के अंदर चौदह भुवन स्थित हैं। इन चौदह में से सात भुवन नीचे हैं, और सात ऊपर हैं। उनमें सबसे नीचे **महातल** उसके ऊपर **रसातल**, उसके ऊपर अनुक्रम से **अतल, वितल, तलातल, सुतल, पाताल** ये सात भुवन रहे हैं और उन सबके ऊपर **भूलोक** (भूर्लोक, भूगोल, मनुष्यलोक) स्थित हैं। उनमें भूलोक में सबसे नीचे **अवीचि, महाकाल, अंबरीष, रौरव, महारौरव, कालसूत्र** और सबसे ऊपर **अंधतामिस्र** नाम की महान्-महान् नरक भूमियां हैं और उन महानरकों के अंदर दूसरे कुंभिपाकादि अनंत उपनरक हैं। अपने-अपने कर्म के नियम से दुःख भोगने वाले प्राणी महान् कष्टकारक ऐसा दीर्घ आयुष्य धारण करके इन नरकों में आते हैं। भूलोक-मनुष्य लोक में **जंबु, शाक, कुश, क्रौंच, शाल्मस, गोमेध** और **पुष्कर** नाम के सात द्वीप हैं, और इन हर एक के आस-पास एक-एक समुद्र आ रहा है। उसमें **पाताल, समुद्र** और **पर्वत** पर देव समूह तथा असुर (दैत्य), गंधर्व, किन्नर, किंपुरुष, यक्ष, राक्षस, भूत, प्रेत, पिशाच, अपस्मारक, अप्सरा, ब्रह्मराक्षस, कूष्मांड और विनायक सब बसते हैं और सातों द्वीपों में पुण्यवान ऐसे **देव** तथा **मनुष्य** बसते हैं। सुमेरू पर्वत पर सब देवों को विहार करने की जगह बहुत हैं। अतः उस पर्वत पर सब देवों के बगीचे अधिक हैं। उसमें **मिश्रवन, चैत्ररथ, नंदन, सुमानस** ये चार उत्तम बाड़ियां हैं। उसके उपरांत **सुधर्मा** नाम की देवसभा, **सुदर्शन** नाम का मुख्य शहर (राजधानी) तथा **वैजयंत** नाम का महल भी है और इस तरह इस मनुष्य लोक (भूलोक) की रचना है।

भूलोक (मनुष्य लोक) के ऊपर **तारालोक,** (भुवर्, द्यौः लोक) नाम का भुवन है। उसमें सूर्य, चन्द्र, बुध, शुक्र, मंगल, छोटे ग्रह, बृहस्पति, शनि, वरुण (यूरेनस) और प्रजापति (नेपचुन) वगैरह ग्रहों तथा उपग्रहों और अश्विनी, भरणी वगैरह 27 नक्षत्र और दूसरे असंख्य तारें आकर रहे हैं। इन सबके ऊपर ध्रुव रहा है। ग्रह, उपग्रह, नक्षत्र और तारे वायुरूपी रज्जु से ध्रुव के साथ बंधे होने के कारण नियमित घूमते रहते हैं।

इस तरह सबसे नीचे–(1) महातल भुवन और उसके ऊपर उत्तरोत्तर अनुक्रम से, (2) रसातल, (3) अतल, (4) वितल, (5) तलातल, (6) सुतल, (7) पाताल, (8) भूगोल, (9) तारालोक नाम के भुवन रहे हैं। तारालोक के ऊपर मुख्य स्वरलोक है।

उसमें इन्द्रलोक, प्रजापतिलोक और ब्रह्मलोक ये तीन उपलोक रहे हुए हैं, उनमें ये इन्द्रलोक में, (10) महेन्द्र भुवन हैं, प्रजापति लोक में, (11) महर्भुवन हैं और ब्रह्मलोक में (12) जन, (13) तप और (14) सत्य ये तीन भुवन समाविष्ट हैं। अतः तारालोक के ऊपर अनुक्रम से महेन्द्र, महर्, जन, जप और सत्य ये पांच भुवन आये हुए हैं और उनमें नीचे लिखे अनुसार व्यवस्था है—

(10) महेन्द्र लोक की व्यवस्था— इस लोक भुवन के अंदर (1) त्रिदश, (2) अग्निष्वात्त, (3) याम्य, (4) तुषित, (5) अपरिनिर्मित वशवर्ती और (6) परिनिर्मित वशवर्ती, इस तरह 6 तरह के देव समूह अर्थात् देवों की 6 जातियां हैं। उनके शरीर दिव्य होने के उपरांत सबको संकल्पसिद्धि, अणिमादि अष्टसिद्धियां, एक कल्प तक आयुष्य, इच्छित भोग, माता-पिता के संयोग के बिना उस लोक की नीति-रीति के अनुसार परमाणुओं से अदृष्टवशात्-अकस्मात् उत्पन्न होते दिव्य शरीर, उत्तम अप्सराओं के साथ यथेच्छ भोग प्राप्ति वगैरह व्यवस्था होती है। इसे इन्द्रलोक भी कहते हैं।

(11) महर्लोक की व्यवस्था— महेन्द्रलोक के ऊपर यह लोक है। उसमें (1) कुमुद, (2) ऋभव, (3) प्रतर्दन, (4) अंजनाभ, (5) प्रचिताभ ऐसे पांच प्रकार के देवसमूह हैं। वे पंचमहाभूतों को स्वाधीन रख सकते हैं, यानी कि महाभूतों के परिणामों को करने के बारे में स्वतंत्र होते हैं और ध्यान से ही हमेशा तृप्त-पुष्ट रहते हैं, अतः खाये-पीये बगैर ध्यान से ही संतृप्त होते हैं। उनका आयुष्य 1000 कल्प जितना होता है। इस लोक को प्रजापतिलोक कहते हैं।

(12) जनलोक की व्यवस्था—यह लोक महर्लोक के ऊपर है और उसमें (1) ब्रह्म पुरोहित, (2) ब्रह्मकायिक, (3) ब्रह्म महाकायिक, (4) अमर इन चार तरह के देव समूह हैं। वे सब देव स्थूल भूतों तथा इन्द्रियों को वश में रख सकते हैं। अर्थात् उनके किसी भी तत्त्व का परिणाम इच्छामात्र से कर सकने को समर्थ होते हैं। ब्रह्मपुरोहित देवों का आयुष्य 1000 कल्प तक, ब्रह्म कायिक देवों का आयुष्य 2000 कल्प तक, ब्रह्ममहाकायिक देवों का आयुष्य 4000 कल्प तक और अमर देवों का आयुष्य 8000 कल्प तक होता है।

(13) तपलोक की व्यवस्था—जनलोक के ऊपर तपलोक है उसमें (1) अभास्वर, (2) महाभास्वर, (3) सत्यमहाभास्वर इस तरह तीन तरह का देव समूह है, वे सब भूत, तन्मात्राएं (सूक्ष्मभूत), इन्द्रियां इन तीन तत्त्वों का किसी भी तरह के परिणाम करने के बारे में स्वतंत्र होने के कारण उनका आयुष्य पहले कहे अमर देवों के आयुष्य से उत्तरोत्तर दो गुना, दो गुना होता है और केवल ध्यान मात्र करके तृप्त-पुष्ट हो सकते हैं, उसके उपरांत ऊर्ध्वरेता (प्राणायाम से जिसका वीर्य सूक्ष्म

होकर उच्च हो वैसे) होने के कारण उनको चौदह भुवनों का संपूर्ण ज्ञान होता है। अतः इस तरह कि उनके ज्ञान की गति कहीं भी रुकती नहीं है, अर्थात् सार्वदेशी होती है।

(14) सत्यलोक की व्यवस्था—चौदह भुवनों में सबसे ऊंचा सत्य लोक है। उसमें (1) अच्युत, (2) शुद्ध निवास, (3) सत्याभ, (4) संज्ञासंज्ञी। इन चार तरह के देव समूह एक दूसरे पर रहे हुए हैं। वे सब, अपने रहने को कई प्रकार का घर या इतना परिवार नहीं रखते लेकिन मात्र आत्मा में रमकर रहने वाले होते हैं और सारी प्रकृति को अपने स्वाधीन रखकर चाहे जैसी सृष्टि रच सकते हैं। ये सब देव सब सर्ग संपूर्ण हो जाय तब तक जी सकते हैं। तपलोक के देवलोक जिस तरह ध्यान मात्र से ही तृप्त होते हैं, उसी तरह **अच्युत** नाम के **देव सवित के योग से, शुद्ध निवास देव सविचार योग से, सत्याभ देव, सानंदयोग** से और **संज्ञासंज्ञी देव सास्मित योग** करके ही मात्र सुखी-तृप्त होते हैं। ये सब देव इतनी महान् योग्यता वाले होते हैं तो भी भूर्, भुवर्, स्वर् ये तीन लोक (अर्थात् उन्हीं में ऊपर के 14 भुवन स्थित हैं अतः उस) में ही रहते हैं और कुल मिलाकर यह ब्रह्मांड 14 भुवन वाला, अनंत देवों, मनुष्यों वगैरह से भरा-पूरा है। जन-तप और सत्य इन तीनों को 'ब्रह्मलोक' की संज्ञा है, उसका कारण यह है कि ब्रह्मा जो हिरण्यगर्भ कहा जाता है उसके लिंगदेह से यह तीन लोक व्याप रहे हैं। जो **विदेह** और **प्रकृतिलय** होते हैं सो अधिकतर मोक्ष पदवी तक पहुंचे होते हैं। अतः वे इस ब्रह्मांड में नहीं होते। ब्रह्मांड के बाहर होते हैं।

इस तरह चौदह भुवनों का विस्तार है, ये सब भुवनों को योगी सूर्यद्वार (सुष्षुम्णा नाड़ी) में चित्त का संयम करके प्रत्यक्ष कर सकते हैं।

114. सिद्ध पुरुषों का दर्शन—दिमाग के अंदर एक छिद्र है, उसे ब्रह्मरन्ध्र कहते हैं। वह बहुत प्रकाशमान होने के कारण उसे ज्योति कहते हैं। जिस तरह हीरे का अथवा दूसरे किसी मणि का प्रकाश सब जगह फैलता है वैसे हृदय के अंदर रहे हुए अंतःकरण रूपमणि का प्रकाश सारे शरीर में फैलता है। परंतु वह सारा प्रकाश ब्रह्मरन्ध्र रूपी केन्द्र में खींचा जाकर इकट्ठा होता है। अतः उस स्थान पर चित्त एकाग्र करके संयम करने से योगी को *(ये द्यावापृथिव्योरंतरालवर्तिनः सिद्धाः दिव्याः पुरुषाः तेषामितर प्राण्यदश्यानां दर्शनं भवति तान्सपश्यति तैश्च संभाष्यते)* पृथ्वी और आकाश में विचरने वाले गुप्त महात्माएं-सिद्ध पुरुष या जो दूसरे मनुष्यों को देखते हैं और उनके साथ बातचीत भी कर सकते हैं।

115. पूर्वजन्म का ज्ञान—जिन-जिन पदार्थों, मनुष्यों, प्राणियों को हम देखते हैं और जिनका अनुभव और उपयोग लेते हैं। उन सबको संस्कार चित्त के अंदर

संग्रहित होते हैं और उनके अनुसार चित्त परिणाम प्राप्त करता रहता है। यह बात जैसे चालू जन्म के लिए है वैसे भूतपूर्व हजारों जन्मों के लिए भी लागू है। पूर्व पूर्व के जन्म के संस्कारों के अनुसार उत्तर-उत्तर जन्म होते हैं, अथवा दूसरी तरह कहें तो चित्त संस्कारों के संग्रह और बल के प्रमाण में परिणाम प्राप्त करता रहता है, अतः जन्म-मरण, रूप-चक्र चला जाता है। अतः चित्त संस्कारों का बीज रूप है। उन संस्कारों में संयम किया जाय तो योगी को उन संस्कारों का साक्षात्कार होता है और इसलिए उसे पूर्ण जन्मादि का (अथवा भूतपूर्व चित्त के अनेक परिणामों का) आसानी से प्रत्यक्ष ज्ञान होता है। चित्त में पड़े संस्कार दो प्रकार के होते हैं–(1) ज्ञान संस्कार, (2) वासना संस्कार। उनमें अनुभव से उत्पन्न और स्मरण मात्र को उत्पन्न करने वाले संस्कार ज्ञान संस्कार कहलाते हैं तथा अनेक जन्मादि जाति, आयुष्य और उपभोग इन परिणामों को उत्पन्न करने वाले और धर्माधर्मरूप संस्कार वासना संस्कार कहलाते हैं। ये दोनों संस्कार चित्त के धर्मरूप हैं, उनका ज्ञान प्राकृत मनुष्यों को नहीं होता, परंतु योगी जब, मैंने इन सब पदार्थों का पूर्व अनुभव लिया है अथवा पहले मैंने अमुक प्रकार से क्रियाएं की हैं। उस प्रकार के भूतपूर्व सब बातों पर अनुसंधान से लक्ष रख कर उन पर संयम करता है, तब उसके संस्कार को किसी प्रकार का उत्तेजन देनेवाला कोई भी होता नहीं है फिर भी ऐसा अनुसंधान मन में लाने के साथ संस्कार प्रकट होने के बाद भूतपूर्व सब बातों का अनुक्रम से स्मरण होता है। वे संस्कार बुद्धि में प्रकट होने से पूर्व जन्म में अनुभव किये हुए मनुष्यादि जाति, आयुष्य, भोग सब प्रत्यक्ष देखा जाता है। जिससे हम गत जन्म में कौन से स्थान पर, कौन सी देह धारण करके, किस वर्ष में (आज से कितने वर्ष पहले) किस-किस के संग में आये थे यह आसानी से कहा जा सकता है। इस तरह संस्कारों का साक्षात्कार जैगीषव्य नाथ के महात्मा को हुआ था और उनको 10 महाकल्प तक के पूर्व जन्मों का अपरोक्ष ज्ञान हुआ था, ऐसा व्यास भाष्य में लिखा है।

116. भूत और भविष्य का ज्ञान–प्रकृति से हर एक स्थूल पदार्थ तक यह सब जगत् परिणामी हैं, कुछ स्थिर नहीं है। हमेशा परिणाम हुआ करता है। ये परिणाम मुख्यतः तीन हैं। (1) धर्म, (2) लक्षण और (3) अवस्था। इन तीनों के बारे में पहले विस्तार से कहा गया है। इन तीनों परिणामों में संयम करने से उन परिणामों संबंधी भूत और भविष्य काल की अवस्थाओं का ज्ञान होता है। अतः इस तरह कि, हमारे समक्ष अमुक मिट्टी पड़ी है। यह मिट्टी धर्मी है। उसके संबंधी परिणामी धर्म हैं। उसी तरह अमुक धर्मी का अमुक धर्म परिणाम, या अमुक लक्षण परिणाम या अमुक अवस्था परिणाम है। उस धर्मी के अमुक धर्म भविष्य में क्या-क्या परिणाम प्राप्त करेंगे अथवा वह धर्मी पूर्व में कौन-कौन सी परिणामी अवस्थाओं में प्राप्त हुआ

था ऐसे संकल्पपूर्वक उन परिणामों में संयम किया जाता है तो उस धर्मी की भूत और भविष्य काल की स्थिति का संपूर्ण ज्ञान होता है। चित्त स्वयं शुद्ध सत्त्वगामी होने के कारण वह प्रकाशरूप है अतः वह सब पदार्थों को जान सकने की शक्ति रखता है। परंतु प्रकृति में के दूसरे रजस्, तमस् गुणोरूपी आवरण के कारण उसकी शक्ति की रुकावट होती है। उस आवरण का भंग संयम से होता हो तब अपार योग बल के द्वारा ध्येय विषय से दूसरे धर्मियों के धर्म, लक्षण, अवस्था इन तीन परिणामों में जो भूत और भविष्यगत परिणाम होते हैं उनका ज्ञान होता है।

117. प्रतिभा का ज्ञान—किसी के उपदेश के बिना, किसी भी प्रकार की अपेक्षा के बिना तथा निश्चयात्मक ऐसा केवल मन में से ही उत्पन्न होने वाले बिजली की चमक की तरह शीघ्र ज्ञान को प्रतिभा कहते हैं। यह बुद्धि के एक प्रकार की विशेष शक्ति (Inspiration) है। जब योगी बुद्धि सत्त्व पर संयम करके उसका साक्षात्कार करता है तब उसे प्रतिभा शक्ति प्राप्त होती है। यह शक्ति प्राप्त होने पर इसके पहले कही सब सिद्धियां बिना संयम किये प्राप्त हो सकती हैं। जिस तरह प्रातःकाल का तेज सूर्योदय को सूचित करता है उसी तरह यह प्रतिभा ज्ञान विवेक ख्याति रूप सूर्य के उदय को सूचित करता है। अतः प्रथम प्रतिभा ज्ञान उदित होने के बाद तुरंत विवेक ख्याति उत्पन्न होने लगती है। अतः भाष्यकार व्यास भगवान कहते हैं, यह प्रतिभा ज्ञान संसार तारक है।

118. चित्त का ज्ञान—छाती की गुफा में हृदय है। वह कमलरूप है। वह अधोमुख रहा हुआ है। अतः उस हृदय कमल के अंदर संयम करने से समष्टि चित्त अथवा बुद्धि सत्त्व का साक्षात्कार होता है। ऐसा होता है तब अपने और सब मनुष्यों के चित्त में रहे हुए रागादि का ज्ञान होता है। इस सिद्धि से विवेक ख्याति के एक अंश को प्राप्त किया जा सकता है।

119. महाविदेहा सिद्धि—शरीर के बाहर चित्त की पदार्थरूप यथार्थ स्थिति दो प्रकार की होती है—(1) चित्त जब बाहर के विषयों में जा घुसता है, अथवा स्थिति करता है और बाह्य विषयाकार होकर रहता है, उस समय चित्त में शरीर संबंधी अभिमान होता है। उस प्रकार की उसकी देहाभिमान के साथ की बाह्य वृत्ति को कल्पिता (कल्पना वाली) विदेहा कहते हैं। विदेहा यानी देह से बाहर के पदार्थ को विषय करने वाली। (2) उस कल्पिता विदेहा की सिद्धि के दृढ़ अभ्यास से जब चित्त की बाह्य (शरीर के बाहर के) विषयरूप स्थिति हो जाती है, तब उसे अकल्पिता (बिना कल्पना की) ऐसी महाविदेहा कहते हैं। अतः प्रथम प्रकार में चित्त की वृत्ति कल्पना वाली होती है और दूसरे प्रकार में बिना कल्पना की होती है। अतः प्रथम प्रकार की चित्त की शरीर की बाहर की स्थिति से विदेहा, और दूसरे प्रकार की स्थिति

ऊंचे प्रकार की होने से वह महाविदेहा कहलाती है। उस बारे में भाष्यकार व्यास भगवान् लिखते हैं कि, प्रथम कल्पिता विदेहा की धारणा करके फिर अकल्पिता महाविदेहा की धारणा करना । फिर उस धारणा में चित्त का संयम करने से चित्त में प्रकाश ढक देने वाला क्लेश, कर्म और विषयरूप रजस् तमस्रूप मल का नाश होता है और चित्त के सात्त्विक अणुओं के अतिशयत्व के कारण अतीत अनागत (भूत, भविष्य) सब विषयों का ज्ञान होता है और योगी सब जगह गमन कर सकता है तथा परकाया प्रवेश भी कर सकता है।

120. प्रातिभश्रावण वेदनादि ज्ञान—जब योगी (आनेवाली कलम धारा (पैरा) 122 में बताया जाएगा वह) स्वार्थ में संयम करने को प्रवृत्त हुआ है तब उस संयम की कुछ अवस्था को पहुंचने के बाद तथा पुरुष साक्षात्कार रूप महासिद्धि यानी विवेक ख्याति प्राप्त करने के पहले उसे नीचे अनुसार सिद्धियां प्राप्त होती हैं।

प्रातिभश्रावण—योग से उत्पन्न हुए शुद्ध-शुक्ल धर्मवाले मन में, दूसरे किसी की भी सहायता के बिना उत्पन्न होने वाला सर्व विषयक यथार्थ निश्चयात्मक ज्ञान सो प्रतिभा; और श्रावण यानी दिव्य शब्द को ग्रहण करने वाला श्रोत्र अथवा श्रोत्र से ग्रहण होने वाले दिव्य शब्द की ज्ञान, दिव्य शब्द का यथार्थ ज्ञान सो प्रातिभश्रावण ज्ञान। इसी तरह स्पर्शेन्द्रिय रूप त्वचा से ग्रहण होने वाले दिव्य स्पर्श का ज्ञान; दिव्य रूप को जानने वाले चक्षु से होने वाला दिव्य रूप का ज्ञान; दिव्य रस को जानने वाली रसना से होने वाले दिव्य रस का ज्ञान; दिव्य गंध को ग्रहण करने वाले घ्राण से दिव्य गंध; (वार्ता) का ज्ञान होता है, अर्थात् ऐसे योगी का मन भूत, भविष्य, सूक्ष्म तथा व्यवहित सर्व विषयों को जान सकता है तथा उसकी पांचों इन्द्रियां दिव्य विषयों को जानने को समर्थ बनती हैं। हर एक साधक को महासिद्धि होने के पूर्व इस प्रकार की माया की विभूतियां प्राप्त होती हैं लेकिन उनमें जब उनका अंतःकरण मोहित नहीं होता तभी उसे विवेक ख्याति रूप महासिद्धि प्राप्त होती है।

121. उन सिद्धियों में न लुभाने के बारे में—पहले कही सो सब सिद्धियां संप्रज्ञात समाधि में बहुत विनाशकारक हैं, अर्थात् वह समाधि में विघ्न रूप हैं। सिद्धियां प्राप्त होने से योगी को आनंद होता है, आश्चर्य लगता है। उन सिद्धियों का उपयोग करने को विषय भोग के द्वारा अंतःकरण विह्वल होता है। इतना ही नहीं बल्कि क्रमशः रजोगुण और तमोगुण की वृद्धि होने से अंतःकरण को प्राप्त बल क्षीण हो जाता है तथा उससे अंतःकरण की शुद्ध सात्त्विक अवस्था भी क्रमशः नष्ट होने से चंचलता बढ़ती जाती है और स्थिरता नाश होती जाती है। आखिर वह योगी योग के आखिरी फल को अनुभव किये बिना मरण प्राप्त करने योग भ्रष्ट होता है। अतः योगियों को चाहिए कि वे इन सिद्धियों में लुभाये नहीं। इस प्रकार ये सिद्धियां

समाहित अवस्था को दुःख रूप ही है तथापि व्युत्थान अवस्था के लिए सर्वथा सुखरूप और व्यवहार दशा में विशिष्ट फल देने वाली है।

122. पुरुष (आत्मा) का ज्ञान—सत्व और पुरुष ये दोनों अत्यन्त भिन्न हैं। अतः इस तरह सत्व यानी बुद्धि सत्व और वह जड़ प्रकृति का कार्य है। पुरुष चेतन, अजर अपरिणामी हैं। अतः दोनों भिन्न हैं। सत्व अतिशय स्वच्छ, निर्मल, स्फटिक जैसा द्रव्य है, तो भी वह जड़ और ज्ञान शक्ति से रहित है। दृश्य है, पदार्थ (दूसरे को भोग के लिए) है। परिणाम धर्मवाला है और चैतन्य शक्ति वाला पुरुष भी अति स्वच्छ तथा स्वयं प्रकाश है। अतः सत्व और पुरुष की कुछ अंश में समानता है और परस्पर से अभिन्नता मालूम पड़े ऐसी योग्यता वाले हैं। उसमें जब सत्व बुद्धि-विवेक ख्याति के रूप में परिणाम प्राप्त करती है तब तो दोनों बहुत अंश में एक जैसे हो रहे हों, इस तरह दीखते हैं। तो भी सत्व परिणाम धर्मवाला होने के कारण अत्यंत भिन्न दीखता है। अतः इस तरह की बुद्धि सत्व भोग्य है, दृश्य है, परिणामी है, परार्थ है, जड़ है और पुरुष तो भोक्तृत्व की योग्यता वाला है, दृढ़ शक्ति है, अपरिणामी है, कूटस्थनित्य है, किसी को भी अंगभूत नहीं और चैतन्य स्वभाव वाला है, तो भी पुरुष का प्रतिबिंब बुद्धिसत्त्व (कि जो अति सूक्ष्म तथा मुख्यतः सत्त्व का कार्य है सो) में गिरता है। अतः जड़ अचेतन बुद्धि भी चेतनवत् हुई प्रतीत होती है; ऐसा होने से पुरुष प्रतिबिंब वाला बुद्धि सत्त्व मानो पुरुष ही हो ऐसा भ्रम होता है। अतः सुख, दुःख, मोह ये सब कि जो बुद्धि सत्त्व की वृत्ति रूप है, वह वृत्तियां मानो पुरुष की ही हों, ऐसा मालूम पड़ता है और ऐसा मालूम पड़ने से बुद्धि सत्त्व में रहा हुआ जो वृत्ति रूप भोग का पुरुष में आरोप होता है। वह आरोप होने से मैं सुखी, मैं दुःखी, मैं मूढ़, ऐसा अनुभव होता है। उस अनुभव का नाम ही भोग है। अतः स्पष्ट दीखता है कि बुद्धि सत्त्व तथा पुरुष का अभेद है ऐसा जो अविवेक ही भोग है। वह भोग पदार्थ है, अतः दूसरे तो अंगभूत हैं। मैं सुखी हूँ, मैं दुःखी वगैरह भोग भी बुद्धि सत्त्व की वृत्तिमात्र जड़ है और वृत्ति होने से वह भी बुद्धि सत्त्व की तरह जड़ परतंत्र तथा दूसरे के अंगभूत हो यह स्पष्ट है। अतः मैं सुखी, मैं दुःखी वगैरह वृत्ति रूप भोग भी दृश्य होने से पदार्थ है, अर्थात् भोगतृत्व की योग्यता वाले पुरुष के अंगभूत हैं।

परंतु पौरुषेयप्रत्ययरूप पुरुष का बुद्धि सत्व में पड़ा हुआ प्रतिबिंब पुरुष भोग से भिन्न और विलक्षणता वाला है और वह किसी का अंगभूत नहीं होने से स्वार्थ है, तब ऊपर कहे पदार्थ भोग से बुद्धि सत्व में गिरे प्रतिबिंब रूप पौरुष प्रत्यय भिन्न है, ऐसे विवेकपूर्वक यदि उस बुद्धि में गयी हुई चित्त छाया में संयम की सिद्धि की जाती है तो उससे पुरुष का साक्षात्कार होता है, अर्थात् विवेक ख्याति का उदय है।

तृतीय प्रभा

हठयोग, मंत्रयोग, लययोग, तारक राजयोग

उपोद्घात

'योग' शब्द का पारिभाषिक अर्थ साधन, एकाग्रता, आत्मप्रयत्न, ऐसा होता है। परमात्मा के साथ ऐक्य यह उसका मूल अर्थ है, यह विचार बहुत समय से छोड़ दिया गया है। परंतु बाद में यह 'योग' का एक कृत्रिम पद्धति रूप में विस्तार किया गया और यद्यपि वह तत्त्वज्ञान में सहाय कारक माने जाने पर मात्र साधन की ही आपूर्ति करता है तो भी उसमें से एक पूरे तत्त्व दर्शन के तौर पर उसका विस्तार हुआ है। यह तत्त्व दर्शन पतञ्जलि ने किया है। ऐसा कहा जाता है और वह कपिल मुनि के सांख्य दर्शन का एक प्रकार गिना जाता है। यह योग वर्तमान में आचार में लाया जाता है, उसके अनुसार वह चार प्रकार का है।—हठ, **मंत्र, लय और राज**। हठयोग को शरीर के सामान्य आरोग्य के साथ संबंध है। श्वास का निरोध करने से मन का भी निरोध अपने आप होता है। यह मालूम हुआ कि जब किसी भी नवीन वस्तु पर हमारा ध्यान एकाएक स्थिर होता है तब हमारी श्वास का निरोध होता है और उससे यह सोचा गया कि प्राणायाम में मन की एकाग्रता अवश्य होगी। (यह सारा विचार हठयोग में कहा है)। मंत्रयोग यह अमुक शब्द (खास करके ईश्वर वाचक शब्द) पुनः-पुनः बोलने में और सारा विचार उसके ऊपर ही एकाग्र करने में रहा है। लययोग यह हमारे सब विचार की एक वस्तु पर अगर एक वस्तु के विचार पर एकाग्रता है, जिससे उस वस्तु के साथ हम लगभग एक हो जाते हैं और उसमें ईश्वर की कल्पनामयमूर्ति अथवा ईश्वरवाचक नाम उनमें लय उत्पन्न करने वाले साधन के तौर पर सर्वोत्तम है। राजयोग के संबंध में यह माना जाता है कि शरीर के अमुक भाग के द्वारा, एक बिन्दु पर उसमें खास करके नाक के अग्रभाग पर दृष्टि स्थिर करने से और ऐसी (सादी और बहुत सरल) युक्ति के द्वारा एकाग्रता होती है।*

सचमुच प्राचीन योगियों के बारे में जो-जो माना जाता है वह सब मानना मुश्किल है और आधुनिक योगियों के पराक्रम भी बहुत वार बहुत आश्चर्य में डालने

---

* मेक्सम्यूलर के मूल लेख में हठ और राजयोग संबंधी व्याख्याएं गलत समझ के कारण गलत लिखी हुई हैं, सो मैंने उनके ही वाक्यों में परिवर्तन करके ब्रेकेट में योग्य शब्द रखकर सुधारी है।

वाले होते हैं। मैं कबूल करता हूँ कि उनको मानना न मानना मुझे समान तरह से कठिन लगता है। प्रत्यक्ष और विश्वास पात्र साक्षियों से हमें कहा गया है कि ये योगी सप्ताहों और महीनों तक बिना अन्न के रहते हैं, चाहे इतने समय तक हिले डुले बिना बैठे रहते हैं, उनको दुःख मालूम नहीं होता, वे नेत्रों के द्वारा प्राणविनिमय कर सकते हैं और अन्य मनुष्य के विचार जान सकते हैं। यह सब मैं मान सकता हूँ। लेकिन यदि यही साक्षी हमें यह कहे कि योगी देवों और देवियों के स्वरूप आकाश में घूमते देख सकते हैं या अमूर्त ईश्वर उनकी दृष्टि के समक्ष उपस्थित होता है या वे आकाशवाणी सुनते हैं, या दिव्य सुगंध का अनुभव करते हैं या (आखिर) कुछ भी आधार के बिना वे हवा में अद्धर (बिना सहारे) बैठे देखने में आये हैं तो मुझे सेन्ट थामस का हक धारण करना चाहिए, यद्यपि मुझे कहना चाहिए कि आखिरी पराक्रम के आधार में जो सबूत मेरे पास आया है वह बहुत चकित (आश्चर्य में डालने वाला) कर दे वैसा है। (देखिये एच. वोल्टर हठयोग प्रदीपिका 1893)

जिसे समाधि अवस्था कहते हैं, वह अवस्था हिन्दुस्तान के योगी जिस साधन के द्वारा उत्पन्न कर सकते हैं, वही साधन हैं। सोचता हूँ कि शरीर और मानस रोग के वैद्यक शास्त्र में प्रमाण भूत विद्वानों ने स्वीकारा है और यद्यपि हिन्दुस्तान के योगियों में कुछ धूर्त हैं लेकिन उससे ये सब धातु मात्र को धूर्त के तौर पर न मानने की सम्हाल रखना चाहिए। x x x जिनको महात्माओं के तौर पर बयान किया जाता है वे अपनी आत्मा की ज्वलंत वक्तृत्त्व रूप से और गगनचुंबी कविता रूप से बाहर प्रवाहित कर सकते हैं और वे तत्त्वज्ञान के महान् प्रश्नों के सूक्ष्मवाद में उतरने तथा उन्होंने किये हुए किसी भी प्रश्नों के उत्तर देने को शक्तिमान होते हैं। अमुक मर्यादा तक योग वह उत्तम तालीम मालूम होता है और उस अर्थ में तो हमें सबको योगी होना चाहिए। (प्रोफेसर मेक्सम्यूलर कृत रामकृष्ण की जीवनी)

योग शब्द की व्याख्या

'योग' शब्द के अनेक अर्थ होते हैं। जैसे कि (1) दो वस्तुओं का मिलन होना, (2) दो वस्तुओं का मिश्रण करना, (3) अनेक कारणों पर से जो किसी भी एक तरह का कार्य बन आता है उन सब कारणों का मेल बिठाना, (4) किसी भी बात का रहस्य (सार) निकालने के लिए जो विचार किया जाता है वह, (5) सच बात छिपा कर झूठी बात बाहर लाना, (6) मिलाप अथवा एकीकरण, (7) अपने पास जो कुछ है उसका रक्षण करना सो, (8) विचार पर से अद्‌भुत बातें संपादन करना, (9) किसी भी वस्तु का रूपांतर करना, (10) विचारशक्ति का प्रवाह एक ही विषय पर रोकना, (11) विचार की लहरें अपनी सत्ता में लाना वगैरह। बहुत से लोग यूं सोचते हैं कि योग धारणा की शक्ति सब मनुष्यों में नहीं होती बल्कि अमुक मनुष्यों में ही होती

है और उसके द्वारा जो अपने अद्भुत बल से कोई चमत्कार बना सके वही 'योगी' है; परंतु ऐसा सोचना बहुत भूलभरा है। इस जगत् में तमाम लोग अपने-अपने कार्य के लिए योगी हैं। कारण योग यानि, चित्त की वृत्ति का निरोध, ऐसा सोचते हुए तो कोई भी मनुष्य के द्वारा वृत्ति निरोध किये बिना अपना कोई भी कार्य हो नहीं सकता, कोई लड़का अमुक अध्ययन करता है तो वह जब अपनी वृत्ति (अपना ध्यान) दूसरी तरफ न जाने देकर लक्षपूर्वक पढ़ेगा तभी उससे अध्ययन हो सकेगा। उसी तरह कोई भी कारीगर, धनुष मारने वाला, ज्योतिषी, गायक, तत्त्वज्ञानी अथवा तो किसी भी धंधे का प्रवीण मनुष्य यह हर एक जब योगी ही हैं। क्योंकि वे जब अपने-अपने प्रिय विषय पर संपूर्ण ध्यान खींचते हैं तब वे दूसरी बातों पर लक्ष देते नहीं हैं; कई बार यह भी देखने में आता है कि कोई मनुष्य अपने काम में इतना अधिक तल्लीन हो गया होता है कि उस समय उसके पास आकर खड़ा रहे तो भी उसे मालूम नहीं पड़ता और ऐसी एकाग्र स्थिति में वह अपना कार्य बहुत ही उत्तम कर सकता है, यह भी एक प्रकार का योग ही कहा जायेगा। आज तक जगत् में किसी भी प्रकार के ज्ञान की उन्नति हुई देखने में आती है वह 'योग' के कारण ही और मनुष्य जाति का सच्चा सुख, उसका अवर्ण्य आनन्द, उसकी परम शांति, ये सब योग में समाविष्ट हैं। सच्चा सुख, अवर्ण्य आनंद और परमशांति स्वतंत्रता में रही हुई है और जैसे स्वतंत्रता अधिक वैसे सुख भी अधिक। पराधीन मनुष्य को सपने में सुख नहीं है और सच्ची स्वतंत्रता यही है कि हर एक मनुष्य विषयों और इन्द्रियों की सत्ता से मुक्त हो सके और उतने अंश में जब स्वतंत्र होगा तभी उसके सुख का, आनंद का और परम शांति का प्रारंभ होगा तथा वह योगी बनेगा। मनुष्य इस प्रकार का अभ्यास जैसे-जैसे बढ़ाता आगे चला जाता है वैसे-वैसे उसके बारे में उसे सर्वज्ञता प्राप्त होती जाती है, उसके आयुष्य की वृद्धि होती और खाये पिये बिना बहुत दिन तक रह सकता है और आखिर वह अच्छी तरह स्वतंत्र हो सकता है। परंतु उस स्वतंत्रता में योगी असामान्य बल धारण कर सकता है। यह बात क्या सच होगी? ऐसी शंका होने का अवकाश बहुतों का है। जरा सोचकर देखेंगे तो मालूम पड़ेगा कि योगी के पास विलक्षण शक्ति होती है। उस बारे में तो मना नहीं की जा सकती। इस विश्व में से उस विषय के बहुत प्रमाण दिये जा सकेंगे। जगत् में भिन्न-भिन्न शास्त्रों का शोध अनुभव पर से ही हुआ है। अतः मनुष्यों ने जो ज्ञान प्राप्त किया है। सो कुछ ग्रंथ पर से ही मात्र प्राप्त नहीं किया है। परंतु यह दृश्य विश्व कि जो एक महान् कुदरती ग्रंथ है उसके अवलोकन पर से ही प्राप्त किया है। अतः मानुषी ज्ञान प्रत्यक्ष अनुभव पर से ही रचा गया है और वे अनुभव परंपरा से आज तक प्राप्त होते रहे हैं। सृष्टि ही मनुष्य जाति का शिक्षक है। **जेम्सवॉट** ने उबलते पानी भरी केतली पर से भाप में शक्ति होती है यह

जाना और उस पर से भाप यंत्र का जो प्रसार हुआ है उससे आज जगत् में अतिशय सुख मिलता जाता है। **बेंजामिन फ्रेंकलिन** ने आकाश में पतंग उड़ाते समय बादलों में बिजली का अस्तित्व होता है, यह बात ढूंढ़ निकाली। जो बिजली पहले आकाश में चमक-चमक करती थी वह अब मनुष्य की दासी बन गई है और उससे हजारों प्रकार के कार्य करवाये जा सकते हैं। उसी तरह **जॉर्ज स्टीफन्स** नामक शोधक ने सृष्टि के अवलोकन पर जो भापयंत्र ढूंढ़ निकाला, इस पर से स्पष्ट मालूम पड़ेगा कि इस सृष्टि रूप महानू ग्रंथ में से अनेक बातें प्राप्त होती है, उसी सृष्टि रूपी ग्रंथ का भारत वर्ष के योगियों ने अतिसूक्ष्म अभ्यास किया और आखिर इस स्थूल सृष्टि की मर्यादा में से पार निकल जाने के अनेक मार्ग ढूंढ़ निकाले। सृष्टि का आंतरज्ञान संपादन करके वे सर्वज्ञ हुए। उन्होंने यह सोचा कि पृथ्वी की सतह पर सूर्य की जो किरणें फैल रही हैं उनको अंतर्वक्र नासिका में से लेकर एक बिन्दु में इकट्ठा करने से अग्नि उत्पन्न होती है; उस पर से बाद में उन्होंने यह अनुमान किया कि, सूर्य के फैले किरण एक बिन्दु में लेने से जिस तरह अग्नि उत्पन्न होती है उस तरह हमारा मन पांच ज्ञानेन्द्रियों में से खींचकर एकाग्र करने से उसकी शक्ति बहुत बढ़नी चाहिए और उसे (मन को) कुदरती तौर पर सृष्टि में के विषयों का जो थोड़ा बहिरंग ज्ञान प्राप्त होता है उससे विशेष ज्ञान (पांच ज्ञानेन्द्रियों को) एकाग्र करने से प्राप्त होना चाहिए। इस बारे में उन्होंने प्रयोग करके देखा और उसमें संपूर्ण यश मिला। पानी के बहते प्रवाह को रोककर उसे बंद कर दिया जाय और छोटे छिद्र के द्वारा पानी को बाहर निकाला जाय तो उससे बहुत बल उत्पन्न होता है, उस पर से चित्त की अनेक वृत्तियों का चलना प्रवाह बंद करके एक ही विषय पर उसे रोका जाय तो उससे इतना सारा बल प्राप्त होता है कि उस विषय में रहा हुआ तमाम गुण धर्मों का आंतरज्ञान हो सकता है, यह बात मालूम हुई। योगी ने मेंढक, सांप, कछुआ, वगैरह प्राणियों में कौन-कौन सी स्वाभाविक शक्तियां होती हैं इस बारे में भी अवलोकन किया, तब उनको यह मालूम पड़ा कि मेंढक गरमी के मौसम में कुछ भी खाते-पीते नहीं हैं, बहुत से सांप वायु भक्षण करके जी सकते है, कछुए अपने रक्षण के लिए अपने अवयव खींच करके खाये-पिये बिना बहुत दिन तक जी सकते हैं। उस पर से भूख से पीड़ा न हो इसलिए मेंढक का अनुकरण किया, अपना मन और शरीर शांत करके तमाम विषयों पर से खींच लेकर बहुत दिनों तक अन्न-जल बिना रहा जा सके, इसलिए उन्होंने कछुए का अनुकरण किया। कछुए और सांप श्वास और उच्छ्वास बहुत धीरे-धीरे और बहुत घंटों के अंतर से लेते हैं तथा निकालते हैं। उस पर से उन्होंने श्वास का निरोध करने की अर्थात् प्राणायाम करने की युक्ति ढूंढ़ निकाली। उन्होंने यह सोचा कि ये प्राणी बहुत कम खाते हैं और श्वासोश्वास भी

बहुत कम करते हैं फिर भी वे बहुत काल तक जी सकते हैं अतः उनका अनुकरण उन्होंने किया। इस प्रकार भारत वर्ष में योग विद्या का जो ज्ञान कुदरत के अध्ययन से प्राप्त होता गया उसके संग्रह से **योगशास्त्र** उत्पन्न हुआ और चित्तवृत्ति का निरोध करने की अनेक युक्तियां मिलती गईं, वैसे-वैसे उसके अनेक मार्ग भी बनते गये। जगत् के प्रारंभ से आज तक मनुष्य मात्र में ज्ञान की जो उन्नति हुई है सो सब चित्त के एकाग्र करने से हुई है। प्राचीन काल में हमारे पूर्वज की जो सर्व प्रजा के अग्रणी थे वे सब योगी थे। उन्होंने समाधि का अनुभव लिया था और संपूर्ण सुख, आनंद और शांति का अनुभव किया था। इस दृश्य जगत् के अंदर अदृश्य जगत् है उसकी स्वानन्द साम्राज्य रूप विस्तीर्ण भूमि देखकर उस भूमि में प्रवेश करने के अनेक मार्ग उन्होंने बना दिये। हठयोग, मंत्रयोग, लययोग, राजयोग, कर्मयोग, भक्तियोग, ज्ञानयोग वगैरह अनेक योगमार्ग बना देकर उस अवर्ण्य भूमि में अधिकार के तौर पर प्रवेश करने की युक्तियां आज से 5-6 हजार वर्ष पहले ढूंढ़ निकाली गई थीं। इन सब मार्गों में पतञ्जलि ने जो मार्ग बनाया है उस बारे में गत दो प्रथाओं में विस्तार से निरूपण किया गया ही है। अब इस प्रथा में हठ, मंत्र, लय और तारक राजयोग के बारे में निरूपण करते हैं।

हठयोग संबंधी थोड़ा इतिहास

हठयोग के मूल प्रवर्तक **शंकर** (आदिनाथ) कहे जाते हैं। किसी समय शंकर किसी एक द्वीप में बैठे थे, वहां निर्जन देश देखकर अपनी पत्नी **पार्वती** को योगशास्त्र का उपदेश करने लगे। उस समय वहां पास में पानी में कोई मत्स्य वह उपदेश सुनकर एकाग्रचित्त होकर निश्चय देह करके स्थिर होकर बैठा। ऐसे में श्री शंकर प्रभु ने उस मत्स्य को देखकर तथा योगशास्त्र का उपदेश श्रवण किया मान कर खुद परम कृपालु होने से उस पर जल का सिंचन करके उसे सिद्ध पुरुष बनाया, उसे ही **मत्स्येन्द्रनाथ** कहा जाता है। उसके बाद **शाबर, आनंद भैरव, चौरंगी** सिद्ध वगैरह बहुत सिद्ध हो गये। चौरंगी सिद्ध को मत्स्येन्द्रनाथ ने अनुग्रह किया था ऐसा कहा जाता है और भीननाथ, गोरक्षनाथ, पिरुपाक्षनाथ, बिलेशय नाथ भी हठयोग विद्या के प्रवर्तक हो गये। मन्थान, भैरव, सिद्धि, बुद्ध, कन्थडि, कोरंटक, सुरानंद, सिद्धपाद, चर्पटी, कानेरी, पूज्यपाद, नित्यनाथ, निरंजन, कपाली, बिन्दुनाथ, काकचंडीश्वर, अल्लाम, प्रभुदेव, घोड़ा, चोली, टिंटिणि, भानुकी, नारदेव, खंड, कापालिक, तारानाथ, वगैरह महान् सिद्धि हठयोग की प्रबल सत्ता से काल को भी दंड कर सके, इस तरह अपनी देह और प्राण को स्वाधीन करके स्वतंत्र होकर, अपनी इच्छानुसार ब्रह्मांड के अंदर चाहे, वहां घूमते हैं।

योगी याज्ञवल्क्य अपनी स्मृति में लिखते हैं कि *हिरण्यगर्भो योगस्य वक्ता*

नान्यः पुरातनः सबसे प्राचीन योग के वक्ता हिरण्यगर्भ हैं। श्रीकृष्ण भगवान ने भी यह विद्या ऊधव आदि को कही है। वैसे **ब्रह्मा, विष्णु, शिव** ने भी इस हठयोग विद्या का सेवन किया है। श्री **शुकदेवादि** महात्माओं ने भी योगविद्या फैलायी है और सब भक्तों में श्रेष्ठ ऐसे श्री **नारदादि** मुनियों ने और याज्ञवल्क्यादिकों ने इस हठयोग का परम प्रीति से सेवन किया था। जालंधरनाथ, भर्तृहरि, गोपीचंद वगैरह इस विद्या को अच्छी तरह जानते थे। श्री शंकराचार्य ने भी इस शास्त्र पर लेख लिखे हैं। स्वात्माराम योगी ने हठयोग प्रदीपिका नाम से ग्रंथ लिखा है, वह भी प्रसिद्ध है और गोरक्ष संहिता, षड्चक्र निरूपणादि बहुत से ग्रंथ हाल प्रसिद्ध हुए हैं। इन सब पर से इस स्थान पर हठयोग विद्या की सब प्रक्रियाओं का निरूपण करते हैं।

हठयोग और राजयोग का परस्पर संबंध

सिद्ध सिद्धांत पद्धति में कहा है कि, *हकारः कीर्तितः सूर्यष्ठकारश्चन्द्र उच्यते। सूर्याचन्द्रमसोर्योगाद्धठयोगो निगद्यते ॥* ह् यानी सूर्य ठ् यानी चन्द्र, इन दोनों का समागम था, एकता होने से जो योग होता है वह हठयोग कहलाता है। अर्थात् सूर्यरूप प्राण और चन्द्ररूप अपान इन दोनों की एकता से जो प्राणायाम होता है, उससे होने वाले वृत्तिनिरोध को **हठयोग** कहते हैं। हठयोग में मात्र प्राणायाम से ही समाधि साधन का सारा प्रकार है। इस पर से किसी को यह शंका होने की संभावना है कि क्या प्राणायाम में इतना सारा सामर्थ्य है? इस शंका का समाधान पहले प्राणायाम प्रकरण में विस्तार से दिया है, तो भी पुनः एक बार कहते हैं कि मानसिक विचार का और स्थूल श्वास का बहुत ही नजदीक का संबंध है, आप अपने विचारों की तरफ ध्यान देंगे तो आपको मालूम पड़ेगा कि जब आप लंबा विचार ग्रहण करते हैं तब आपका श्वास दीर्घ चलता है, जब जल्दी विचार करते हैं तब जल्दी श्वास चलता है। जब क्रोध के तूफान से आपका मन क्षुभित होता है, तब आपका श्वास क्षुभित होता है और जब आपका अंतःकरण शांत और गंभीर होता है तब श्वास बहुत सूक्ष्म हुआ दीखता है और फतह से जब आप फूल जाते हैं तब आपके फेफड़े भी आपकी तरंगों की माफिक प्रफुल्ल रहते हैं। इससे विशेष व्यवस्था चलती है तब क्या होता है, उसका विचार करें, अव्यवस्थित श्वास लेते-लेते लंबे विचार करने का प्रयत्न करके देखेंगे तो आपको मालूम पड़ेगा कि ऐसा होना अशक्य है। अंतःकरण जाग्रत दशा में दिमाग में बसता है, स्वप्नावस्था में कंठ कूप (मेडयुलाओब्लोंगेटा के नीचे का प्रदेश) में बसता है। निद्रावस्था में हृदय में बसता है। अतः जाग्रत में श्वास का असर दिमाग पर होता है, स्वप्न में कंठकूप में होता है और निद्रा के समय हृदय प्रदेश पर होता है उस समय श्वास भी सूक्ष्म हो जाता है और विचार अंतःकरण में से जब बाहर आते हैं तब दिमाग को भी प्रश्वास बाहर निकालना पड़ता है और तभी वह

पुनः शुरू होता है। परंतु प्रश्वास जब हवा को इस तरह बाहर लाता है तब मन को वह नीचे आकर्षित करता है। मनुष्य जाति में स्थूलता और सूक्ष्मता के योग का अर्थात् दीर्घ सूक्ष्म विचारों के प्रमाण में श्वास-प्रश्वास का भी दीर्घ सूक्ष्मत्व ही मुख्य कारण है, मनुष्य में विचार का और श्वास का ऐसा संबंध है, यह विचार करके आर्य योग विद्या के महात्माओं में मात्र श्वास-प्रश्वास का आयाम करके समाधि साध्य करने का जो मार्ग ढूंढ़ निकाला, उसी में से **हठयोग** की पद्धति का जन्म हुआ है। दुनिया में जो-जो सूक्ष्म दृष्टा हो गये उनमें हमारे योगियों की माफिक अमुक मुद्दत तक आंतर श्वास लेने की शक्ति अप्रत्यक्ष रही हुई थी। इस शक्ति का आविर्भाव परदेश के अधिकतर महात्माओं को मालूम पड़ा था, उनमें के यूरोप खंड के स्वीडन बोर्ग में कुछ अंश में था, इस संबंध में मि. मणिशंकर भट्ट लग्नस्नेह में लिखते हैं कि, 'स्वीडन बोर्ग ने श्वास और विचार के ऐसे संबंध का गंभीर अध्ययन किया है, ऐसा उनके शरीर विषयक ग्रंथ जांचने से मालूम पड़ता है। उदाहरण के तौर पर, एक स्थान पर लिखते हैं कि, "हम गंभीर विचारों की तरफ सम्हाल से लक्ष दें, तो हमें मालूम पड़ेगा कि जब हम श्वास लेते हैं तब मानो खुले हुए द्वार में घूस रहे हों उस तरह अनेक विचार नीचे से ऊपर आते हैं, लेकिन जब हम उन्हें टिकाये रखते हैं और धीरे से बाहर निकालते हैं, तब विचार क्रम सोच सकते हैं। इसका मुझे खुद को बहुत दफा अनुभव हुआ है। श्वास धारण करके रखना (हमारी आर्य परिभाषा के अनुसार केवल कुंभक प्राणायाम करके रखना) यह माला के साथ व्यवहार करने के समान है। श्वास खींचना अथवा लेना यह शरीर के साथ व्यवहार करने के समान है।" अस्तु बुद्धि को एक तरफ रखें और शारीरिक कार्यों की सूक्ष्मता संबंधी विचार करेंगें तो मालूम पड़ेगा कि कलाओं में जो कुछ सूक्ष्मता है सो श्वास धारण करने से ही प्राप्त होती है। उदाहरण के तौर पर, जब दूर से संगीत के या ऐसे कई सूक्ष्म शब्द सुनता हो तब इतनी सारी शान्ति चाहिए कि उसमें श्वास-प्रश्वास की आवाज भी अड़चन रूप लगती है और सूक्ष्म वस्तुओं को देखने में और स्पर्श करने में भी वैसा ही अनुभव होता है। इन सबका तात्पर्य तो यही है कि, हर एक मनुष्य में ऐसा कोई विलक्षण शक्ति गुप्त रही हुई है कि वह श्वासोश्वास का शोध करने से खिल जाती है। हम सबको मरण के बाद जो अनुभव प्राप्त होने वाला है, वह इस कुदरत के जीवन में या समाधि में, संयम अवस्था में भी प्राप्त किया जा सकता है। सूक्ष्म शरीर स्थूल शरीर में से थोड़े समय के लिए अलग किया जा सकता है; आंतर दृष्टि, श्रुति और फेफड़े, अनुक्रम से सूक्ष्म सृष्टि के दृश्य, शब्द और हवा का पान कर सकते हैं; और पुनः स्थूल अवयवों में प्रवेश करके अपना-अपना काम शुरू कर सकते हैं। प्राण, स्थूल शरीर, मन और इन्द्रियों का ऐसा परस्पर संबंध सोच करके प्रख्यात

हठयोग प्रणेता स्वात्माराम योगी कहते हैं कि—*ज्ञानं कुतो मनसि संभवतीह तावत्प्राणोऽपि जीवति मनो म्रियते न यावत्। प्राणो मनो द्वयमिदं विलयं नयेद्यो मोक्षं सगच्छति नरो न कथं चिदन्यः ॥ 4,15॥* अर्थात् जिनके चित्त अतिशय व्युत्थान अवस्था में फंसे हुए होते हैं उनके लिए तो हठाभ्यास के **ज्ञान** और **मोक्ष** की सिद्धि में ही नहीं, उस हेतु से कहा है कि जब तक प्राण जीता है और मन मरा नहीं है तब तक मनरूप अंतःकरण में अपरोक्षानुभव रूप ज्ञान किस तरह हो सकता है? क्यों कि प्राण और मन दोनों की वृत्तियों का उत्पन्न होना, यह ज्ञान का प्रतिबंध रूप है। अतः जो योगी प्राण और मन दोनों का लय कर सकता है वह योगी ही मोक्ष प्राप्त कर सकता है।

तब अब प्राणायाम मात्र से समाधि साध्य करने का सारा प्रकार जिसमें बताया है वह हठयोग विद्या कही जाती है, यह सिद्ध हुआ। योग के मुख्य दो प्रकार हैं। (1) संप्रज्ञात योग और (2) असंप्रज्ञात योग अथवा राजयोग। संप्रज्ञात योग साध्य करने के बाद असंप्रज्ञात योग साधा जाता है। संप्रज्ञात योग साध्य करने के लिए पतञ्जलि के विचारानुसार प्रथम प्रभा में और दूसरी प्रभा में जो अष्टांग योगादि उपाय बताया है वह उत्तम, मध्यम और कनिष्ठ इन तीन प्रकार के अधिकारियों के लिए उनकी योग्यता के प्रमाण में बनाये हैं; परंतु जिनके मन अतिशय अधम हैं, जिनके चित्त अतिशय चंचल हैं, जिनमें अनेक जड़मतों का गाढ़ अंधकार छाया हुआ है, जो राजयोग कैसे प्राप्त करना? यह जानते नहीं हैं, उनके लिए स्वात्माराम कहते हैं कि *भ्रान्त्या बहुमतध्वांते राजयोगमजानताम्। केवलं राजयोगाय हठ विद्योपदिश्यते ॥2॥* केवल राजयोग (असंप्रज्ञात योग) साध्य करने के लिए हठविद्या का उपदेश करता हूँ। अतः हठयोग प्राप्त करने के बाद राजयोग साधा जाता है और राजयोग में मोक्ष प्राप्त होता है। अतः हठयोग की परिपाक अवस्थाओं में साधक संप्रज्ञात समाधि तक जा पहुंचता है। यानी कि राजयोग का और हठयोग का परस्पर उपकार्योपकारक भाव संबंध है।

हठयोग के अंग

(1) यम, (2) नियम, (3) अनेक प्रकार के आसन, (4) अनेक तरह के कुंभक प्राणायाम और 5. विचित्र मुद्राएं ये पांच हठयोग साधने के प्रधान अंग हैं। हठयोग यानी कुदरत के विरुद्ध होकर शरीर को हठ से स्वाधीन करके, सूर्य, चंद्र प्राण को अनेक कुंभकों से नियम में लाकर उस प्राण को सुषुम्णावाही करना और उसके द्वारा वृत्ति निरोध करना। इस तरह दोनों प्रकारों को लेकर हठयोग में शारीरिक श्रम और कसरत अत्यंत करने पर विशेष कदम रखकर आसनों की अनेक रीतियां खोजी गई हैं। इस प्रकार के आसन से शरीर स्थिर तथा सुख कारक होने पर विचित्र कुंभक करके प्राण को नियम में लाकर उसे सुषुम्णा मार्गवाही करके षड्चक्रों का भेद करके ब्रह्मरन्ध्र में ले जाकर वही प्राण का लय करना। इस तरह प्राण का लय होने से मन

अपने आप लय हो जाता है। मलतब कि हठयोग के आसन और कुंभक तथा मुद्राओं का मुख्य उद्देश्य यह है कि शरीर को वज्र की तरह दृढ़ करना और उसके बाद प्राणायाम करके प्राण का वहन सुषुम्णा द्वार से करके मूलाधार चक्र में रही हुई कुंडलिनी को जगाकर षड्चक्र को भेदकर ब्रह्मरन्ध्र में ले जाना। इतना करने के लिए हठाभ्यासी को (1) दस नाड़ियां, (2) षड्चक्र, (3) सोलह आधार, (4) द्विलक्ष्य, (5) व्योम पंचक, (6) एक स्तंभ, (7) नवद्वार, (8) पांच अधिदैवत, यह सब जानकर हठयोग साधना। इसके बारे में गोरक्ष पद्धति में कहा है कि *षड्चक्रं षोडशाधारं द्विलक्ष्यं व्योम चक्रम् ॥ एकस्तम्भ नवद्वारं गृहं पञ्चाधिदैवतम् ॥ स्वदेहे ये न जानन्ति कथं सिद्धयति योगिनः* ॥1, 14 ॥ अर्थात् छः चक्र, सोलह आधार (वगैरह ऊपर गिनाये अपनी देह के बारे में है) उनको जो योगाभ्यासी जानता नहीं है, वह कैसे योग की सिद्धि प्राप्त कर सकता है? इस तरह यह हठयोग साध्य होने के बाद लययोग की भूमिका में प्रवेश करना पड़ता है और उसमें प्रवेश करते समय **नादानुसंधान** नाम से अंग और शांभविमुद्रादि करना पड़ता है। नादानुसंधान में प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि इन पांच अंगों का समावेश होता है, यह सारा विवेक आगे विस्तार से आएगा।

मंत्रयोग

ईश्वर अथवा किसी पवित्र भावना के लिए शब्द चिह्न मुकर्रर किया गया है, उस शब्द के नाम के स्मरण मात्र से ही चित्त की वृत्ति का निरोध करने को मंत्रयोग कहते हैं। जैसे कि ईश्वर के लिए ॐ यह शब्द चिह्न मुकर्रर किया गया है तो उसका मानस जप करके उसके अर्थ का ध्यान करने से समय आने पर जीवात्मा को अपने स्वरूप का भान होता है और इससे वृत्ति का निरोध हो सकता है। ॐ यह एक ही पवित्र शब्द क्यों और दूसरे क्यों नहीं, और हर एक मंत्राक्षर ईश्वर के अंशभूत उन-उन देवों के वाचक क्यों, इस बारे में समाधान आगे भक्तियोग में पवित्र आधार ॐ इस विषय पर लिखते समय किया जाएगा। जो योगी हठाभ्यास से आसन, प्राणायाम और मुद्राएं करके षड्चक्र भेदन करते हैं, वे हर एक चक्र के अमुक दल में कहे हुए उस-उस बीज मंत्रों का नाम स्मरण और ध्यान करते हैं और क्रमशः चित्त वृत्ति का निरोध करने लगते हैं। अतः हठयोग के षड्चक्र भेदन के साथ मंत्रयोग का निकट संबंध हैं ऐसा सोचकर हठयोग के साथ इस मंत्रयोग का विवेचन किया है।

लययोग के बारे में

योग यानी चित्त वृत्ति का निरोध करना। चित्त का निरोध अनेक प्रकार से हो सकता है। सौम्य उपायों से चित्त-मन का निरोध करने के जो उपाय हैं सो अष्टांगयोग

में पहले बताये ही हैं और सख्त उपायों से मात्र केवल हठ से महा मुश्किल से चित्त (मन) का निरोध करने के लिए जो उपाय हठयोग विद्या के महात्माओं ने बताये हैं उनका वर्णन आगे आयेगा ही। ऐसे दूसरे भी अनेक उपाय हैं। चित्त को विलय करने के श्री आदिनाथ ने (शंकर ने) ही सवा करोड़ उपाय बताये हैं उनमें यह लययोग के साधनों, स्वरूप भी समझाया है। वह इस प्रकार है; *लयोलय इति प्राहुः कीदृशं लयलक्षणम्। अपुनर्वासनोत्थानाल्लयो विषय विस्मृतिः ॥34॥ इन्द्रियाणां मनो नाथो मनोनाथस्तु मारुतः। मारुतस्य लयो नाथः स लयो नादमाश्रितः ॥29॥* (हठ. उपदेश 4) बहुत लोग 'लय' ऐसा कहते हैं, परंतु लय का लक्षण (स्वरूप) क्या है, ऐसा कोई पूछे तो, शब्दादि संपूर्ण विषयों की, अथवा तो ध्यान करने योग्य विषय की केवल विस्मृति होने को ही लय कहते हैं, क्योंकि उस मन में पुनः वासनाएं उठती नहीं हैं अथवा तो वासनाओं के स्थान रूप वह मन ही नहीं रहता। पांच कर्मेन्द्रियों का और पांच ज्ञानेन्द्रियों का नाथ (प्रवर्तक) मन है। मन का नाथ प्राण है, और प्राण का नाथ लय है, और मूल मन का लय नाद को आश्रित है अर्थात् नाद में मन का लय हो जाता है। वही लय मोक्षरूप है। शायद कहेंगे कि चित्त अथवा मन का लय सुषुप्ति में भी होता है तो वह सच नहीं है, क्योंकि वह लय केवल लय नहीं है कारण में लय है। लेकिन मन और प्राण का केवल लय होने से कोई अवर्णनीय आनंद प्रकट होता है और उस आनंद से जीवन मुक्ति रूप सुख अवश्य अनुभव किया जाता है। लययोग के मुख्य साधन के लिए नादानुसंधान की सिफारिश कही है और प्राण और मन इन दोनों को निर्व्यापार करते हैं इसीलिए हठयोगी आसन, प्राणायाम और मुद्राएं साध्य करके नादानुसंधान करने के लिए तैयारी करता है उसके लिए लययोग कहा है। अतः अतिशय चंचल चित्त वाले को लययोग साधन के लिए हठयोग को साधनों का ही अनुष्ठान करना चाहिए। बाकी उत्तम, मध्यम इन दोनों अधिकारियों को तो इतना सारा सख्त साधनों का अनुष्ठान करने की विशेष जरूरत नहीं है। क्योंकि नादानुसंधान करके उसके द्वारा अंतःकरण का लय करने को कहा है। नाद स्वयं वस्तु ही ऐसी है कि उसे सुनते ही मन लीन होने लगता है और दूसरे विषयों पर जा नहीं सकता, जैसे कि कोई गायक तंबूरा बजाता है। उसमें से षड्ज और पंचम इन दो प्रकार की ध्वनियां उत्पन्न होती हैं वह हम सुनते हैं। इस तरह सुनने में हम एकतार हो जाने के बाद तुरंत ही गांधार स्वर का ध्वनि सुनाया जाता है, और इस तरह दूसरे ऋषभ, धैवत, मध्यम, निषाद इन चार को मिला कर कुल सात स्वर सुनाये जाते हैं। परंतु इस तरह हर एक स्वर सुनने में मन को इतना सारा शांत कर देना पड़ता है (और स्वरज्ञान भी बहुत सूक्ष्म होना चाहिए) कि जरा भी विक्षेप हो, मन में कोई दूसरा विषय भर जाय तो, स्वर सुनाई ही नहीं देते। मात्र तंबूरे में बजने वाले षड्ज और पंचम ये दो स्वर ही स्थूलतः सुनाई देते हैं। इसी तरह यह शरीर रूपी एक महान् वाद्य है, उसमें ज्ञान तंतु तार हैं,

तंतुग्रंथियां गुटके हैं। खून की नाड़ियां मानो उस वाद्य के नीचे एक बारीक 'तरफ' बंधी हुई है, पाचन क्रिया और दूसरे शारीरिक अनैच्छिक तथा ऐच्छिक व्यापार जो अनैच्छिक इच्छा से और ऐच्छिक इच्छा से चलते हैं उससे यह शरीरवाद्य सतत बजता रहता है; और उसमें से स्थान भेद के अनुसार हर एक सूक्ष्म चक्र में भिन्न-भिन्न राग निकलते रहते हैं। आसन, प्राणायाम और मुद्राओं के साधन से शांत होकर कान में उंगलियां डालकर उन रागों को सुनने का प्रयत्न करते हैं, प्रथम धू धू धू धू यह आवाज सुनते हैं वह संपूर्ण सुनाई देने के बाद कुछ अभ्यास से उससे दूसरे प्रकार की आवाज सुन सकते हो, ऐसे अलग-अलग 10 प्रकार की आवाजें योगियों ने ढूंढ़ निकाली है, उन सबका आपको अनुभव होता है और ठेठ आखिर में आपको अनादि शब्द स्फटिक ध्वनि यानी शब्द ब्रह्म नाद ब्रह्म का भान होता है। वह नाद ब्रह्म सुनने की ओर आपका चित्त-मन एकतान (तल्लीन) हो रहा है, ऐसे समय आपको मन में किसी भी प्रकार की वासनाएं नहीं है, किसी भी तरह का विषय घुस बैठा नहीं है, आखिर मन भी नहीं है, ऐसे प्रकार की स्थिति का नाम लय। उस लय से चित्तवृत्ति का निरोध (इस तरह नादानुसंधान से) हो, उसका नाम लय योग।

लययोग के अंग

शरीररूपी वाद्य में से उत्पन्न होने वाले सूक्ष्म अनहद नाद कान, आंख, नाक, मुंह बंद करके इन्द्रियों का निरोध करके, हठयोग साधनों से प्राणायाम के द्वारा मलरहित हुए सुषुम्णा मार्ग में से स्फुट (प्रत्यक्ष) और अमल (स्पष्ट) सुनाई देता है। *(शुद्ध सुषुम्णा सरणौ स्फुटममलः श्रूयतेनादः 4, 64)* ऐसा हठयोग प्रदीपिका में कहा है। जो हठयोगी सुषुम्णा में रहे हुए षड्चक्रों को भेदकर अपने लिंगदेह के अणुओं के संस्कारों को ठेठ ब्रह्मरंध्र तक ले जा कर उनका साक्षात्कार करते हैं, उनको उन-उन चक्रों को भेदते समय उनमें से उत्पन्न होने वाले नादों का अनुभव होता है। इस बारे में आगे कहा जाएगा। यह लययोग अधिकतर हठयोग के एक अंतिम प्रधान रूप में है। अतः इस तरह की अनेक तरह के कष्टमय आसनों विचित्र कुंभकों तथा अनेक मुद्राओं की सिद्धि होने के बाद वह हठयोगी धारणा, ध्यान, समाधि इन तीन राजयोग के बहिरंग साधनों के लिए लायक बनते हैं और वे अंग तो नादानुसंधान में ही समा जाते हैं और नादानुसंधान से लययोग साधा जाता है अर्थात् आसन, कुंभक, मुद्रा ये हठयोग के उपाय हैं और नादानुसंधान, शांभवी वगैरह मुद्राएं लययोग साध्य करने के (हठयोग के अंतिम) उपाय हैं। यानी लययोग हठयोग की संयम कला है। अतः उसका वर्णन इस तीसरी प्रभा में ही किया गया है। अंतःकरण के अनेक परिणामों (वृत्तियों) का लय करने के लिए स्वात्माराम योगी ने और गोरक्षनाथ ने केवल नादानुसंधान यह एक ही मुख्य साधन प्रशस्त माना है।

लययोग का सामान्य स्वरूप ऊपर लिखे अनुसार कहा, उस बारे में विद्यारण्य स्वामी लिखते हैं कि, यावद्विलीनं न मनो न *तावद्वासना क्षयः। नक्षीणा वासना यावच्चित्तंतावन्नशाम्यति ॥1॥* जब तक मन का विलय हुआ नहीं है तब तक वासनाओं का क्षय नहीं होता, और जब तक वासनाएं क्षय नहीं होतीं तब तक चित्त भी शांत नहीं होता। दीये की शिखा मानो उसकी संतान रूप है वैसे अंतःकरण का वृत्तिपरिणाम उसकी संतान की तरह है। उस संतान के रूप में परिणाम प्राप्त अंतःकरण नाम का द्रव्य मनन रूप में होने से मन कहलाता है। उस मन का नाश यानी वृत्ति परिणाम का लय (नाश) होकर उसका संयम से निरोध परिणाम होना आवश्यक है, और वह उस लययोग के नादानुसंधान से होता है। नादानुसंधान में धारणा, ध्यान और समाधि इन तीनों को गिना जाता है। पहले अष्टांगयोग की संयम कला (कालम 91) में कहा था कि साधक समाधि अवस्था में से गुजर करके जब उसकी अंगीरूप योग की अवस्था में प्रवेश करता है तब उसके चित्त का निरोध परिणाम होता है, और उसके होने से चित्त की प्रशांतवाहिता स्थिति होती है। ऐसी ही स्थिति लययोग के समय भी होती है और उसे ही मनोलय (मनोनाश) कहते हैं। पूर्व पर विचार किये बिना अंतःकरण में अकस्मात् उठने वाली क्रोधादि अनेक वृत्तियों के हेतु रूप तो चित्तगत संस्कार हैं, उनकी वासना ऐसी संज्ञा है। पहले के अभ्यास से चित्त में संस्कार स्थित होते हैं अतः ऐसे स्थित हुए दृढ़ संस्कार वासना कहलाते हैं। उन वासनाओं का क्षय लययोग से मन का नाश करने से हो सकता है।

इस पर से लययोग के साधनों के तौर पर कुछ ऐसा उपाय बताते हैं कि चित्त का स्वभाव ही जब परिणाम प्राप्त करने का है और वे परिणाम दृढ़ होने से वासनाएं स्थित होती हैं। चित्त के ऐसे परिणामी स्वभाव के कारण उसके समक्ष जो पदार्थ आवे सो पदार्थाकार तुरंत हो जाता है। उस स्वभाव का लाभ लेकर यह कहते हैं कि सोचो कि हम चित्त मन में शिवलिंग की या विष्णु की मूर्ति खड़ी करते हैं, और उसका ध्यान करते हैं, तो मन में जो मानस मूर्ति उत्पन्न होती है वह कुछ सचमुच पत्थर भी ऐसी वजनदार वस्तु नहीं है। परंतु हमारा अंतःकरण वैसे आकार वाला हो जाता है। अतः वह एक मानस आकार होता है। इस पर से स्पष्ट होता है कि हम जब किसी भी वस्तु के बारे में विचार करते हैं तब हम उस वस्तु रूप हो जाते हैं। उसी तरह हम ईश्वर के बारे में सोचते हैं तब हम ईश्वराकार हो जाते हैं। अब हम खुद ईश्वर रूप हुए बिना हमसे ईश्वर के बारे में विचार किया नहीं जा सकता, यह स्पष्ट है। अतः जो मनुष्य अपना सारा समय हमेशा ईश्वर के बारे में विचार करने में बीताता है तो वह ईश्वर रूप ही बन जाता है और उसके अंतःकरण का लय उसमें ही हो जाता है। इस तरह विचार करने वाले साधकों को ही लययोग का फल मिलता

है, दूसरों को नहीं मिलता।

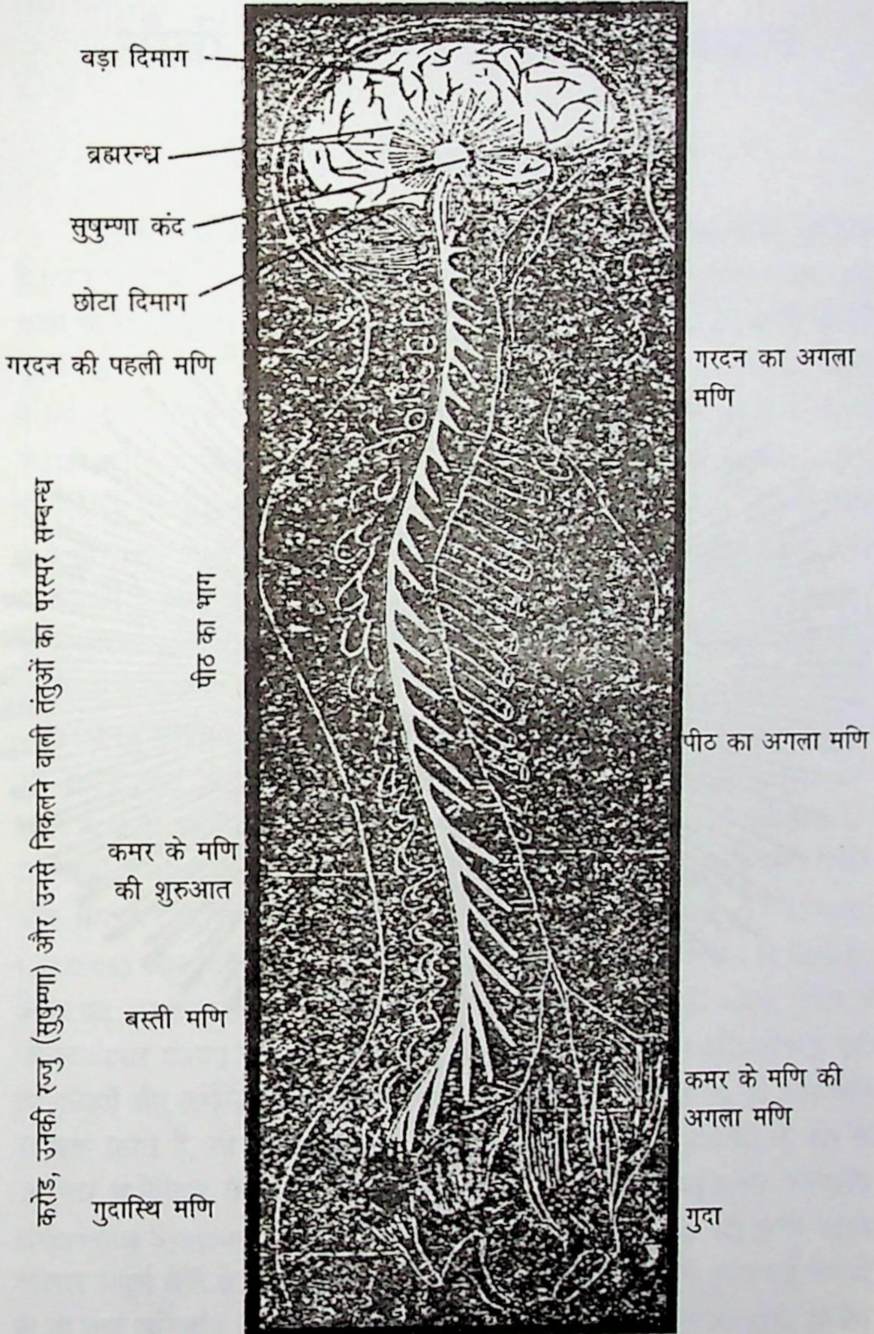
तारक राजयोग

हठ प्रदीपिका में कहा है कि, *सर्वे हठलयोपाया राजयोगस्य सिध्धये। राजयोग समारूढ़ः पुरुषः कालवंचकः 4, 103* उस पर की टीका में यह विवरण है। *हठोपाया आसन कुंभक मुद्रारूपा, लयोपाया नादानुसंधान शांभवी मुद्रादयः, राजयोगस्य मनसः सर्ववृत्ति निरोध लक्षणस्य सिद्धये निष्पत्तये प्रोक्ता इति ॥* अर्थात् हठयोग के आसन, कुंभक मुद्रादि सर्व उपाय हैं, नादानुसंधान, शांभवीमुद्रादि सर्व लययोग के उपाय हैं, ये सब राजयोग या मन की सब संपूर्ण वृत्तियों के निरोध रूप हैं उसकी सिद्धि के लिए कहते हैं और उस राजयोग में जो पुरुष अच्छी तरह आरूढ़ (प्राप्त) होता है, वह मृत्यु को जीतने वाला हो सकता है, इस पर से मालूम होगा कि राजयोग को ही असंप्रज्ञातयोग कह सकते हैं। यह राजयोग सर्व संसार समुद्र को तारने वाला है अतः उसे तारक राजयोग कहते हैं। उसके पूर्व और उत्तर ऐसे दो विभाग हैं। पूर्व सो तारक और उत्तर सो राजयोग कहलाता है। राजयोग में मन का बिलकुल नाश होता है अतः उसे अमनस्क योग भी कहते हैं। उस योग के बारे में आगे विवेचन आयेगा ही।

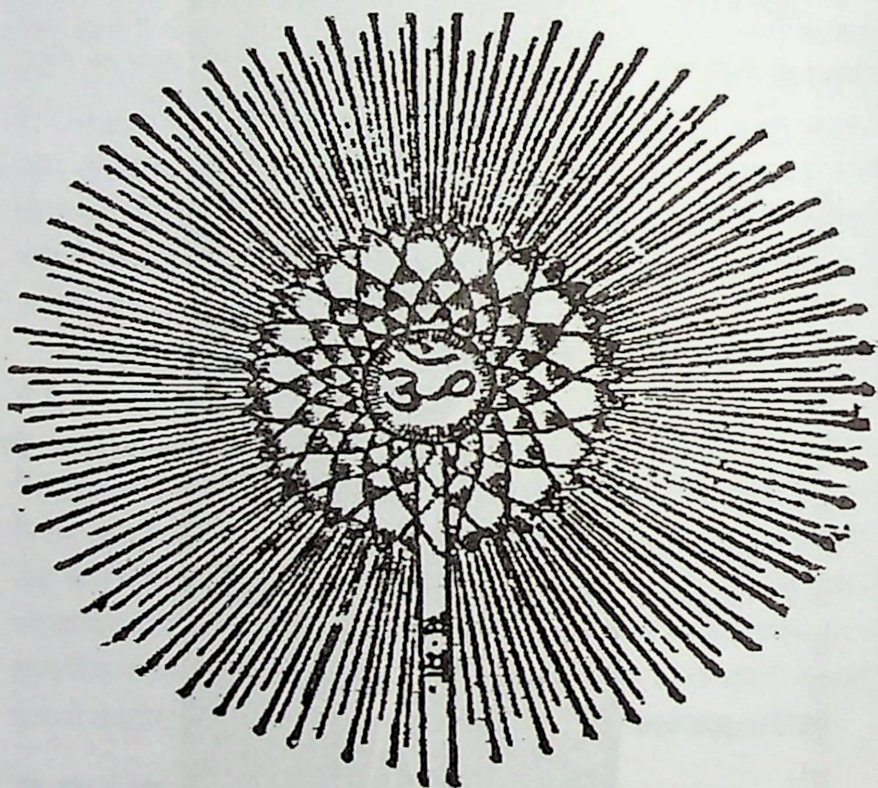
हठयोग, मंत्रयोग, लययोग, इन तीनों के लिए षड्चक्र भेदन और नादानुसंधान ये दो उपाय ही श्रेष्ठ हैं।

इस प्रकार हठ, मंत्र, लय और तारक राजयोग के बारे में संक्षेप में कहा। इन सब में षड्चक्रभेदन और नादानुसंधान ये दो उपाय ही हठ लय के लिए मुख्य हैं। यम, नियम, आसन और प्राणायाम के बारे में विस्तार से पिछली प्रभा में कहा जा चुका है। अब आगे नौवी कला में षड्चक्र निरूपण तथा दसवीं कला में लिंगदेह और उसका गमनागमन का विवेचन किया जायेगा। शेष ग्यारहवीं कला तथा बारहवीं कला अगले खण्ड में कहा जायेगा जिसमें ग्यारहवीं कला में षड्चक्रभेदन और अतीन्द्रियता, बारहवीं कला में लययोग (नादानुसंधान) और तारक राजयोग का विवेचन किया जायेगा।

चेतनायंत्र


बड़ा दिमाग
ब्रह्मरन्ध्र
सुषुम्णा कंद
छोटा दिमाग
गरदन की पहली मणि
गरदन का अगला मणि
करोड, उनकी रज्जु (सुषुम्णा) और उनसे निकलने वाली तंतुओं का परस्पर सम्बन्ध
पीठ का भाग
पीठ का अगला मणि
कमर के मणि की शुरुआत
बस्ती मणि
कमर के मणि की अगला मणि
गुदास्थि मणि
गुदा

(आकृति-1)



सहस्रदल पद्‌म

(आकृति-2)

नौवीं कला–षड्चक्र निरूपण

लिंगदेह और स्थूलदेह का संबंध

मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूरक, अनाहत, विशुद्ध और सहस्रार ये छः मुख्य चक्र हैं। उन चक्रों में प्राण की शक्ति का जत्था संग्रहीत होने के कारण, उसके द्वारा स्थूल शरीर के सब व्यापार चलते हैं। अंतःकरण, प्राण, पांच ज्ञानेन्द्रियों, पांच कर्मेन्द्रिय और सूक्ष्मभूतों के अणुओं के समूह को लिंगदेह कहते हैं। अतः यह जो स्थूल शरीर दीखता है वह तो मात्र उस लिंगदेह ने धारण किया हुआ केवल एक सेन्द्रिय यंत्र ही है, वह जड़यंत्र की तरह निरंतर शरीर के जीवन व्यापार और अंतःकरण के मानसिक व्यापार चलाता है। उसमें **ज्ञानशक्ति,** (Cognition) **क्रियाशक्ति** (Action) और **इच्छाशक्ति** (Desire) इन तीनों के मूल कारणरूप अंतःकरण यानी प्राण की सहायता से अपनी शक्ति का व्यापार चलाते हैं। ज्ञानशक्ति के व्यापार प्राण की सहायता से अंतःकरण और अंतःकरण में ही चलते रहते हैं और क्रिया तथा इच्छाशक्ति के व्यापार प्राण की सहायता से ज्ञान कर्मेन्द्रियों तक परिणाम प्राप्त करते हैं। अतः अंतःकरण की इन तीन शक्तियों के परिणाम प्राण की सहायता से ही सूक्ष्म और स्थूल देह तक दृश्यमान होते हैं। अंतःकरण के साथ ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों के अणु जुड़े हुए हैं, और वे इस स्थूल शरीर में चेतना चक्रों में व्यवस्थित रखे गये हैं, और जीव मर्यादा सब चेतना चक्रों और उन चक्रों के साथ संबंध रखने वाली नाड़ियों के अधीन रहकर वर्ताव करती है। दिमाग और पीठ की करोड रज्जु में रही हुई मायारूप दोरडी में असंख्य चक्र (Nerve Centres) और नाड़ियों का असंख्य मूल हैं। उनमें रही हुई प्राणशक्ति से खाये हुए अन्न का रस होना, उसका खून बनना, वीर्य, ओजस, अस्थि, मांस वगैरह शरीर के जीवनव्यापार यंत्रवत् चलते हैं। ये सब चेतनाचक्र और नाड़ियों में से कौन-कौन से चक्र ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों का काम करते हैं और उन दोनों के आधारभूत का काम कौन से चक्र करते हैं, सो अवश्य जानना चाहिए। पश्चिम और आर्यशास्त्रों के मत के अनुसार ज्ञानेन्द्रिय, कर्मेन्द्रिय और अंतःकरण इन तीनों का साक्षात् संबंध चेतनायंत्र (Nervous System) के साथ है। यह चेतनातंत्र है इसीलिए ही अंतःकरण अपने व्यापार संपूर्ण रीति से प्राण की सहायता से चला सकता है और जैसे आगगाड़ी चलती हो तो वहां अग्नियंत्र (इंजन) जैसे गाड़ी के चलने या रोकने की क्रिया का मुख्य प्रवर्तक होता है वैसे स्थूल शरीररूपी गाड़ी के तमाम व्यापारों का चेतनायंत्र रूपी इंजन प्रवर्तक

है। इंजन के साथ जुड़ने में आये हुए उसके परस्पर संबंध वाले चक्रों की प्रवृत्ति के हेतुओं को जानने वाला और उनको चलाने वाला इंजीनियर जैसे गाड़ी को अपनी इच्छानुसार चला या रोक सकता है, उसी तरह इस स्थूल शरीर रूपी गाड़ी में रहे हुए चेतनायंत्र रूपी इंजन को तथा उसके साथ जुड़े हुए चक्रों की प्रवृत्ति निवृत्ति के हेतुओं को जानने वाला पुरुष और शरीर रूपी गाड़ी में मुख्य काम करती प्राणशक्ति को अपनी इच्छा के अनुसार चला या रोक कर स्थूल शरीर के व्यापारों को रोक सकता है। अतः चेतनायंत्र के अंगों और उनके उपांगों को मुख्यतः जानना चाहिए।

चेतना चक्रों और नाड़ियों के स्थान चेतना यंत्र में नीचे लिखे अनुसार है–

चेतना यंत्र (Nervous System)

षड्चक्र		इड़ा पिंगला
(Cerebro Spinal System) इस हिस्से के मुख्य अवयव दो हैं		**(Sympathetic System)** दिमाग के अगले भाग से गुदा तक, मेरुदंड के बाहर आगे की दोनों तरफ तंतु ग्रंथियों (Ganglia) की जो पंक्तियां बायीं दायीं हैं सो प्रदेश
अ ब्रह्मरन्ध्र का सारा प्रदेश अथवा Brain (1) सहस्रदल पद्मचक्र	ब सुषुम्णा (Spinal cord) का सारा प्रदेश, जिसमें मूलाधारादि (5) चक्र रहे हुए हैं।	

इस तरह चेतना यंत्र के हिस्से हैं और उसका गठन सचेतन द्रव्य के तंतुओं (Nerves) तथा अणुओं (Cells) पर रचा हुआ है। हर एक तंतु सूक्ष्म सफेद पदार्थ के रजकण का बना हुआ होने से वह चेतना चक्र (Nerve Centres) के साथ अच्छी तरह सब तरफ से जुड़ा हुआ होता है। चेतना चक्र दिमाग, सुषुम्णा और इड़ा-पिंगला में असंख्य हैं। सूर्य बिंब के आसपास जिस तरह किरणावलि होती है वैसे इस चेतनाचक्रों के आसपास ऊपर कहे हुए तंतु चिपके होते हैं। तमाम प्रकार की क्रिया और ज्ञान के बीज इन चेतना चक्रों में रहे हुए होते हैं। इन चक्रों के मुख्य छः जत्थे बनाये गये हैं, उस हर एक जत्थे को एक-एक चक्र अथवा पद्म कहते हैं। उन पद्मों के अंदर अंतःकरण का द्रव व्याप रहा है। वह अंतःकरण प्राणशक्ति के बल से मानसिक और शारीरिक व्यापार कर सकने के लिए शक्तिमान होते हैं। उस प्राणशक्ति का आयाम अथवा निरोध, प्राणायाम से कर दिया जाय तो शारीरिक और मानसिक तमाम क्रियाओं का निरोध (रुकावट) होने के उपरांत अंतःकरण का भी निरोध हो, यह स्पष्ट है। अतः शरीर के अंदर स्थित षड्चक्रों और उस संबंधी शरीर तथा इन्द्रिय विज्ञान शास्त्र के बारे में प्रथम विचार करें।

सहस्रदल कमल (Brain)

सहस्रदल कमल को ही वर्तमान में दिमाग कहा जाता है। वह दिमाग सिर की खोपड़ी की पोल में बराबर बैठ जाय इस तरह स्थित है। उसके मुख्य तीन विभाग हैं (1) बड़ा दिमाग (सेरिब्रम), (2) छोटा दिमाग (सेरिबेलम) और (3) वेरोली सेतु (पोन्सवेरोली)। आकृति 1 में तीनों विभाग सिर की मजबूत खोपड़ी में किस तरह व्यवस्थित रखे हैं, सो बताया है।

1. बड़ा दिमाग—इसे मेन्दु, मस्तिष्क गर्भ अथवा 'भेजा' (Cere brum) कहते हैं। उसके समान अर्धगोल ऐसे दो हिस्से हैं। इन दोनों भागों के बीच बाह्यस्तर का परदा होने के कारण उसके ऊपर भी सतह पर झुर्रिया पड़ी होती हैं। हर एक अर्धगोला के बीच में एक पोल होता है। उसके अंदर अत्यन्त उपयोगी विभाग रहे हुए हैं। आर्यशास्त्र में इस भाग को ब्रह्मरंध्र कहते हैं। ब्रह्मरंध्र के नीचे वेरोली का सेतु है। सुषुम्णा के आये हुए संदेश विभाग को पहुंचाना और दिमाग के आदेशों को सुषुम्णा में ले जाने का मुख्य काम वेरोली का सेतु ही करता है। आकृति 1 में इस पोल का यानी ब्रह्मरंध्र का भाग बनाया गया है। ब्रह्मरंध्र वाले दिमाग का जो अंदर का खास भाग है, उसमें से 12 तंतुएं निकलते हैं। वे नाक, आंख, कान, जीभ, चेहरा वगैरह भागों पर बंट जाते हैं। मनुष्य की बुद्धि का आधार इस बड़े दिमाग पर है उसमें भी उसकी सतह पर पड़ी हुई झुर्रियों पर विशेष होता है, जो अधिक बुद्धिमान होते हैं, उसके दिमाग की झुर्रियां बड़ी गहरी और गुच्छेदार होती हैं। बालक जन्म लेता है तब ये झुर्रियां मात्र असर रूप में बहुत ही थोड़ी होती हैं। इस तरह यह दिमाग दूसरे सब अवयवों को ढक दे, इतना बड़ा है और उसके बीच में मुख्य दो गोला में पड़ते हैं तथा इन दोनों गोलार्धों के अंदर जो पोल है उसे ब्रह्मरंध्र कहते हैं। इस बड़े दिमाग में नीचे के अनुसार मुख्य चार धर्म मालूम पड़े हैं।

(1) बाह्य विषयों का ज्ञान धारण करके अथवा स्पष्ट विज्ञान के संस्कार धारण करके तथा उस संबंध में निर्णय करके शुद्ध प्रमीति (यथार्थ ज्ञान) को उत्पन्न करने के साधन इस दिमाग के दो गोलार्ध के ब्रह्मरंध्र में रहे हुए हैं; (2) शरीर में रहने वाला जीव अथवा अभिमानी, उसके प्रयत्न, इच्छा और दूसरे ऐच्छिक व्यापार प्रकट करने का मुख्य साधन यह दिमाग है; (3) दृश्य पदार्थों की भावनाओं—संस्कारों का संग्रह करके, प्रमाता (जीव) को अंतःस्थ प्रत्ययों और वृत्तियों को उसी संस्कारों के जैसे प्रकट करके स्मृति, प्रत्यभिज्ञा ('वह यह' ऐसा पूर्व की स्मृति रूप ज्ञान) वगैरह मानवधर्मी को स्पष्ट करने वाला यही अवयव है; (4) ऊंचे प्रकार के अहसास और भावनाएं समझने की, स्मरण करने की, विचार करने की, अनुमान करने की, कल्पना अथवा मनोराज्य बांधने की और उसके ही जैसी अगणित ऐच्छिक शक्तियों का भौतिक

आधार वाला यंत्र वह बड़ा दिमाग है। मतलब कि शरीर का किसी भाग का संदेश इस भाग को पहुंचे बिना अंतःकरण को उसका ज्ञान नहीं होता और ज्ञान होने के बाद यही भाग उसका योग्य निवारण करता है। जो कार्य सोचा हो वह इस बड़े दिमाग के कारण ही हो सकता है। यदि उस दिमाग को भारी इजा पहुंचे तो भान और ज्ञान नहीं रहता। विचार शक्ति, न्याय शक्ति, कल्पना शक्ति, स्मरण शक्ति वगैरह जो उत्तम गुण मनुष्य स्वभाव में रहे हैं, उन गुणों का आधार इस दिमाग पर ही है। इस दिमाग का गोला दो तरह के रंगवाले द्रव्य का है। सतह पर जो द्रव्य हैं उसका रंग लाल-भूरा होता है और अंदर के भाग में जो द्रव्य हैं उसका रंग सफेद होता है।

2. छोटा दिमाग—सिर के पिछले भाग की हड्डी के नीचे के भाग में यह छोटा भेजा (Cerebellum) आया हुआ है। वह छोटे सतह जितना होता है। उसके भी दो भाग हैं। उसे ठीक बीच में काटने पर अंदर पेड़ जैसा दृश्य नजर आता है। उसका आकार मुट्ठी जितना होने से बड़े दिमाग के पीछे के भाग के नीचे फिट है। उसमें कौन-कौन से धर्म प्रकट करने के गुण हैं यह जानने के लिए कुछ प्रयोग किये गये हैं। उस पर से यह मालूम हुआ है कि यदि इसे काट दिया जाय तो प्राणी को दुःख की निशानी मालूम नहीं पड़ती और बुद्धि अथवा दृष्टि वगैरह इन्द्रियजन्य ज्ञान में कुछ भी फर्क मालूम नहीं पड़ता तथा शब्द, स्पर्श, रूप, गंध ये सब ज्ञान कायम रहते हैं और इच्छा, इन्द्रियज्ञान, स्मृति का भी नाश नहीं होता। इस पर से यह सिद्ध किया गया कि ऐन्द्रिय ज्ञान और मनोविचारों की उत्पत्ति के साथ छोटे दिमाग का किसी भी प्रकार का संबंध नहीं है, अर्थात् वह ज्ञान संबंधी इन्द्रिय नहीं है। मात्र वह ऐच्छिक गतियों को योग्य प्रकार से शरीर के संबंधित भाग में ले जाता है। इस दिमाग को काट डालने से पक्षियों में उड़ने की शक्ति नहीं रहती है, पंख फड़फड़ाते है और एक तरह से दूसरी तरफ गुलांट खाते है। चक्कर-चक्कर घूम कर नीचे पड़ते हैं। इस पर से यह कल्पना की गई हैं, योग्य रीति से और समधात रीति से गति उत्पन्न करना इतना ही इस दिमाग का काम है। शरीर के सब स्नायुओं पर बहुत करके वह अंकुश रखता है अतः उसे स्नायुयोजक इन्द्रिय भी कह सकते हैं। अमुक क्रिया करने में स्नायु की कितनी गति अगति की जरूरत है उसका मानस प्रत्यय इस अवयव के द्वारा जीव को होता होगा, ऐसा दूसरे अनेक प्रयोगों पर से सिद्ध हुआ है।

3. वेरोली सेतु—यह भाग बड़े दिमाग के नीचे (ब्रह्मरंध्र) के भाग की मध्य जगह है। ब्रह्मरंध्र के मध्य प्रदेश में चौकोर आकार वाला द्रव्य का एक चौड़ा पट हो सो यही है। अगले भाग की तरफ पट्टे के रूप में वह लम्बित है और बाद में सुषुम्णा कन्द (मंडयुलाओबलोंगेटा) के साथ जुड़ता है। वेरोली सेतु मुख्यतः सफेद चेतना तंतुओं का बना है। ये तंतु बड़े दिमाग के दो गोलार्धों का परस्पर संबंध करवाता

है। सुषुम्णा कंद को तथा करोड रज्जु में की दोरड़ी की जिसे सुषुम्णा कहते हैं, उसे दिमाग के ब्रह्मरंध्र वाले भाग के साथ जोड़ता है। फिर भी विशेष अवयव में भूरा द्रव्य के भाग रहे हुए हैं और उनमें चेतनाचक्र (नर्वसेटर्स) भी आये हुए हैं। दिमाग के तल से जो 9 चेतनातंतु निकलते हैं वे तंतु इस सेतु के साथ संबंध रखते हैं।

बड़ा और छोटा दोनों दिमागों को काट दिया जाय तो इस सेतु में इच्छा की शक्ति चालू रहती है और ज्ञानजनक चेतनाओं का मन को आभास होता है। खरगोश और कुत्ते के दिमाग में से हम दोनों दिमागों को काटकर उनके पूंछ को नोंचें तो जोर से चिल्लाते हैं, नाक को एमोनिया सुंघाएं तो पंजे उठाते हैं और चाहे जैसे टेढ़े-मेढ़े श्वाच्छोश्वास के बाद स्वाभाविक स्थिति में आ जाते हैं। परंतु यदि यह वेरोली सेतु काट दिया जाय तो ये सब चलन क्रियाएं बंद पड़ जाती हैं। इस पर से दो प्रकार का अनुमान किया गया है। (1) मन की जो चेतनाएं बाहर जाती हैं सो इस सेतु में से ही जाती हैं और उसमें से ही बाहर की चेतना पुनः मन में आ मिलती हैं; (2) सुषुम्णा भेद और सुषुम्णा (करोड रज्जु) उन दोनों से यह भाग श्रेष्ठ है और अंतःकरण में से शरीर के बाहर के भाग तक जो प्रत्याघात क्रिया होती है उसकी यह मुख्य इन्द्रिय है।

दिमाग में से निकलने वाले तंतुएं—इस तरह खोपड़ी में स्थित दिमाग के मुख्य तीन विभागों के मुख्य तीन कार्यों के बारे में कहा। वेरोली सेतु के नीचे सुषुम्णा कंद आया हुआ है। यह कन्द बहुत ही सुकोमल है। शरीर के तमाम जीवन का आधार इस भाग पर है। उसे यदि एक राई के दाने जितनी भी हिल गया तो प्राण गये ही समझना। अतः ईश्वर ने इस भाग को दिमाग के नीचे इस तरह फिट किया है कि उसे किसी तरह का धक्का न लगे। दिमाग के तले में जो ब्रह्मरंध्र नाम की पोल है उसमें से 12 तंतुएं निकलते हैं। ये वेरोली सेतु के साथ संबंध रखकर खोपड़ी को अलग-अलग छिद्रों में से बाहर निकल कर बंट जाते हैं। वस्तुतः दिमाग के मूल में से 24 तंतुएं ही निकल कर उनमें के 12 एक तरफ से और 12 दूसरी तरफ से खोपड़ी के अलग-अलग छिद्रों में जो बाहर इकट्ठे होते हैं, चेहरे तथा उसके ऊपर की इन्द्रियों को खास अमुक प्रकार का ज्ञान करवाते हैं। अतः एक-एक चेतना तंतु को मूल तंतुओं की जोड़ अथवा युग्मरूप है, उसमें की पहली जोड़ी नाक में उतर कर अच्छी-बुरी गंध का ज्ञान करा देती है। दूसरी जोड़ी आंख के पीछे रह कर आंख को प्रतिबिंब ग्रहण करने वाले पटल पर जाले की तरह फैल रहा है और वह दृष्टिज्ञान को दिमाग की तरफ प्रवाहित करता है। तीसरी जोड़ी आंखों को मात्र गति देती है और आंख की पुतली का संकोच करती है। इस जोड़ी को कुछ इजा होती है तो आंख की ऊपर की पलक बंद हो जाती है और उसकी खुलने की शक्ति रहती नहीं है। चौथी तथा छठी जोड़ का भी वही कार्य है। आंख की पुतली के नीचे और आस-पास

देखने की शक्ति इन तीन तंतुओं पर आधार रखती है। पांचवीं जोड़ी अपने मूल दो तंतुओं की है। उनमें का एक मूल तंतु ज्ञान और दूसरा मूल तंतु क्रिया का काम करता है। यह दोनों तंतुएं एकत्र होकर उनकी अनंत शाखाएं चेहरे और सिर के भागों को ज्ञानशक्ति देती हैं और अन्न चबाने की शक्ति को गति देती है, वह अपनी एक शाखा से जीभ रस चखने की शक्ति रखती है। सातवीं जोड़ी दो विभागों में अलग होकर उनमें का एक विभाग कान में जाकर 'श्रवण' का ज्ञान दिमाग को देता है और आठवीं जोड़ी तथा सातवीं जोड़ी का दूसरा विभाग चेहरे के स्नायुओं को व्याप जाता है। यह गति तंतु है। चेहरे की वृत्ति के अनुसार दृश्य धारण करने की शक्ति अर्थात् दया, करुणा, हर्ष, शोक, गुस्सा वगैरह मुंह पर जो असर देखने में आता है सो इस स्नायु के कारण होता है। इस तंतु को काट देने से अथवा उसे कुछ रोग होने से मुंह खींच जाकर टेढ़ा हो जाता है, और सुनने की, चखने की, और देखने की शक्ति जो ज्ञानतंतुओं को होती है, उसे धक्का पहुंचता है। नौवीं जोड़ी दो विभागों में बंट जाती है, उसमें एक विभाग गले के भाग को ज्ञान शक्ति देता है और दूसरा विभाग जीभ के पीछे रही हुई स्वाद समझने की शक्ति देता है। जीभ के ऊपर के तथा बाजू के भागों को उसी तरह की शक्ति पांचवीं जोड़ी वाले तंतु की एक शाखा से प्राप्त होती है। इस तरह विभाग को मूल में से निकलते तंतुओं में से 1, 2, 5, 7, 9 इन तंतुओं से गति का वहन होता है। 10, 11 और 12 इन तीन तंतुओं की जोड़ी के बारे में सुषुम्णा कन्द के वर्णन में आगे आएगा।

दिमाग के अंदर के सहस्र दल के बारे में—दिमाग के हर एक विभाग का गठन छोटे-छोटे तंतुओं, गांठों अथवा अणुओं (Cells) पर रचा हुआ है। ये तंतु सूक्ष्म सफेद पदार्थों के अंशुओं (Fibres) के बने हुए होते हैं। ये तंतु जो एक-एक मूल में से निकलते हैं, उसे चेतना चक्र कहते हैं। उसके साथ अच्छी तरह सब तरफ से जुड़े होते हैं। जिस तरह सूर्य बिंब के आसपास किरणावलि होती है, वैसे ऐसे चेतना चक्रों के आसपास तंतु लगे हुए होते हैं। सब तरह के ज्ञान और क्रिया के बीज चेतना चक्रों में रहे हुए होते हैं और वह सूक्ष्म अणुओं और अंशुओं से रची हुई होती हैं। ऐसे चक्र दिमाग में, सुषुम्णा में और ज्ञानेन्द्रियों के कुछ गोलकों में फैल रहे हैं। ऐसे चक्र दिमाग में हजारों हैं। और वे सब किसी भी तरह के नियमित ज्ञान और क्रिया का जमा खर्च रख कर तंतुओं के द्वारा अमल करते हैं। आर्यशास्त्रकारों ने इस पर से ही दिमाग मानो एक कमल रूप है, और उसके अंदर रहे हुए हजारों चेतना चक्र उस कमल के दल (पंखुड़ी) रूप में हैं, ऐसा वर्णन किया है। संगीत रत्नाकर और दूसरे ग्रंथों में यह कहा है कि दिमाग के नीचे पोल के, जिसे ब्रह्मरंध्र कहते हैं, उसमें जो 1000 अमुक प्रकार के चेतना चक्र हैं, वे ही मुख्य हैं और इन हजार चक्रों

के दलों से बना हुआ ब्रह्मरंध्र का जो प्रदेश है, वही सहस्रचक्र, सहस्रारचक्र या सहस्रदल पद्म इन नामें से व्यवहार होता है। उसका रंग सफेद है, नीचा मुख है, उसके तंतु लाल रंगवाले हैं। यह कमल अमृत को धारण करता है और उसकी अमृत की धारा से सारा शरीर वृद्धि प्राप्त करता है। इसमें की हर एक चक्ररूप पंखुड़ी (Nerve Centres) में अमुक मंत्र बीज वाला एक-एक अक्षर माना है। अतः ॐ से ॐ तक के 50 अक्षरों की ऐसी-ऐसी 20 आवृत्ति से (50×20)1000 चक्रों को एक-एक बीज मंत्राक्षर समझने में आता है। आकृति 2 देखने से उस बारे में कुछ अधिक ख्याल आयेगा।

इस सारे सहस्रदल पद्म का वजन अंदाजन तीन सेर (साढ़े सात पाउण्ड) होता है। जितना दिमाग बड़ा और ऊपर की झुर्रियां (सलवटें) अधिक, उतना मनुष्य अधिक बुद्धिमान होता है। 20 वर्ष तक दिमाग का पूरा-पूरा गठन हो जाता है और 40 वर्ष तक भी मनुष्य की आरोग्यता और प्रवृत्ति के प्रमाण में, उसके कद और वजन में वृद्धि होती रहती है। 50 वर्ष के बाद वह दिमाग क्षय होने लगता है।

मेरुदंड (करोड, Spine)

खोपड़ी के अंदर जैसे दिमाग है और उसके नीचे सुषुम्णा कंद रहा हुआ है, वैसे पीठ की करोड के पोल में सुषुम्णा भेद का रज्जु ठेठ गुदास्थि तक गया हुआ है। पीठ की करोड को संस्कृत ग्रंथों में मेरुदंड या पृष्ठ वंश कहते हैं और उसमें रहे रज्जु को सुषुम्णा कहते हैं। उस सुषुम्णा की रक्षा के लिए मेरुदंड का महान् उपयोग है, और उसकी रचना आकृति 3 में दी है। मेरुदंड लगभग अंगूठी के आकार वाली हड्डियां मन के एक पर एक व्यवस्थित रख कर बना है। शरीर के सारे कंकाल का दह मुख्य भाग है और वह बीच में है, उस पर ही सारे शरीर का आधार है। गर्भ में भी करोड का भाग सबसे प्रथम बनता है और उसके बनने के बाद सिर, हाथ, पांव फेफड़े वगैरह अवयव उसका अवलोकन करके व्यवस्थित बनते हैं। आकृति 4 में गर्भ की रचना दी है उस पर से मालूम पड़ेगा कि दिमाग और सुषुम्णा का आविर्भाव प्रथम होने के बाद उसकी रक्षा के लिए उसके आसपास मेरुदंड का तुरंत ही आविर्भाव होता है। आकृति 3 में करोड का पूरा भाग दिया है उस पर से मालूम पड़ेगा कि (1) गरदन के मनके 7 हैं; (2) उसके नीचे पीठ यानी पीठ के मनके 12 हैं; (3) उसके नीचे कमर के मनके 5 हैं; (4) कमर के नीचे त्रिकास्थि के मनके 5 है और (5) उसके नीचे गुदास्थि के बारीक मनके 4 आये हुए हैं। सब मिलाकर पूरा मेरुदंड 33 मनकों का बना है और उसके अनुसार पांच विभाग किये गये हैं। मेरु के मनकों का आगे का भाग मोटा और चपटा होता है, वह कूर्चे के साधन से परस्पर जुड़ा हुआ रहता है, उसका पीछे का भाग कमान के आकार का होता है। पिछले भाग में जो कमान होती है उसके हर एक

मनके की चोटी होती है। पीठ पर हाथ घुमाएं तब हर एक मनके की चोटी पंक्तिबद्ध लगती है। जब सब मनके जुड़ कर मेरुदंड बनता है तब मनकों को सुराखों का रास्ता, सुषुम्णा को रहने का पोल अथवा पोले बांस की तरह हो जाता है। मेरु की दोनों तरफ मनकों के बीच मार्ग रहने के छिद्र होने से उसमें से सुषुम्णा के तंतु बाहर आते हैं। गुदास्थि वाले चार मनके गर्भाशय में उत्पन्न होने के बाद बालक जनमता है तब उन चारों मनकों का अस्थिभवन चालू होता है। बीसवें वर्ष पर उस अस्थिभवन (हड्डियों का बनना) पूरा होकर 4 मनके जुड़ जाते हैं। स्त्रियों में ये मनके अस्थिभवन में नहीं जुड़ते हैं, क्योंकि प्रसव के समय बस्ती प्रदेश का भाग चौड़ा होने के लिए अवकाश रहे। अतः उनकी स्वाभाविक योजना कायम रहती है। इन सब का आकार त्रिभुज जैसा है। पूंछ वाले प्राणियों में इस भाग के साथ दूसरे अनेक मनके जुड़ कर पूंछ तैयार होती है। गुदास्थि वाले 4 छोटे त्रिभुजमय मनकों का जो भाग है सो मूलाधार मेरु कहलाता है। उसके अंदर सुषुम्णा समाप्त होती है, और आखिर के मनके में कुंडलिनी नाम से महाशक्ति रही हुई है। वह सब मनके सूक्ष्म पोल में चार सूक्ष्म चेतना चक्र हैं, वह चारों मिलकर मूलाधार चक्र कहलाता है।

मूलाधार प्रदेश के ऊपर जो त्रिकास्थि के पांच मनके हैं, उनके पोल में सुषुम्णा का जो भाग है, उसमें भी सूक्ष्म चेतना चक्र छः हैं और उन सबसे मिलकर स्वाधिष्ठान चक्र बनता है। यह त्रिकास्थि वाला भाग स्वाधिष्ठान मेरु कहलाता है। वह प्रदेश भी त्रिकोणाकार है। गर्भावस्था में इस भाग के पांचों मनके परस्पर से अलग होते हैं, और बाद में अस्थिभवन होने से वे मिल गये हों, वैसे हो जाते हैं।

स्वाधिष्ठान प्रदेश के ऊपर कमर के पांच मनके हैं, उनके पोल में सुषुम्णा का जो भाग है उसमें रहे अनेक सूक्ष्म चेतना चक्रों में से मुख्य 10 चक्र बहुत उपयोगी मालूम पड़े हैं, उनके समूह को मणिपूरकचक्र कहते हैं। मेरुदंड का यह मणिपुरवाला भाग नाभि के पीछे पीठ की ओर के भाग में रहा है। मेरु के तमाम भाग की तुलना में इस भाग के मनके बहुत मजबूत, बड़े और बड़े पोल वाले होने से अंडाकार हैं। उनमें भी पांचवां मणि बहुत पोला तथा बड़ा है। उस मणि में तथा उस मणि के नीचे रहा हुआ त्रिकास्थि का पहला बड़ा और विशेष पोला मणि है। उसमें सुषुम्णा का दूसरे सब भागों की तुलना में विशेष मोटा भाग रहा हुआ है। गर्भाशय में सबसे पहले यह स्वाधिष्ठान चक्र अर्थात् नाभिचक्र का प्रदेश बनता है। (देखिये आकृति 4) जिससे इस चक्र के प्रदेश में जो सुषुम्णा का बहुत मोटा (कंद जैसा) भाग है उसे आर्यशास्त्रों ने ब्रह्मग्रंथि नाम दिया है। संगीत रत्नाकर में उसके बारे में कहा है कि गुदा और लिंग के बीच के मेरु में मूलाधार चक्र है। उस चक्र से दो अंगुल ऊंचे और लिंग से दो अंगुल नीचे एक देहमध्य नाम से चक्र है; और उस चक्र से 9 अंगुल ऊंचे

कंद हैं। उसके बीच में 12 आरी वाला नाभिचक्र है। सुषुम्णा नाड़ी और दूसरी सब नाड़ियां इस ब्रह्मग्रंथि में से निकलती हैं। यह सुषुम्णा नाड़ी मेरुदंड में है, यह प्रसिद्ध है, अतः मेरुदंड के स्वाधिष्ठान प्रदेश के मजबूत और बहुत पोले मनके में सुषुम्णा का जो बहुत मोटा भाग, जो कि गर्भ में भी सर्वप्रथम कंद-ग्रंथिरूप से बनता है, उसे ही आर्यग्रंथों में ब्रह्मग्रंथि कहते हैं।

स्वाधिष्ठान प्रदेश के ऊपर के पीठ के 12 मनके हैं और उनके पोल में सुषुम्णा का जितना भाग है उसमें जो अनेक सूक्ष्म चेतना चक्र हैं उनमें के 12 चेतना चक्रों में से पीठ के 12 तंतुएं निकलते हैं, उस चेतना चक्र के समूह को अनाहत चक्र कहते हैं। इस प्रदेश के ऊपर गरदन के 4 मनके आये हुए हैं और उनके पोल में सुषुम्णा का जो भाग आया हुआ है, उसमें तथा मेरुदंड के ऊपर जो सुषुम्णा कंद है, उसमें जो अनेक चेतनाचक्र हैं उनमें के 16 चक्रों के समूह को कंठचक्र या विशुद्धि चक्र कहते हैं। इस तरह मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूर, अनाहत और विशुद्धि ये पांच चक्र मेरुदंड में रही हुई सुषुम्णा के सूक्ष्म चेतना चक्रों के समूहों से बने हुए हैं और वे सुषुम्णा में होने के कारण उनका रक्षण मेरुदंड से होता है।

सुषुम्णा-ब्रह्मनाड़ी (Spinal eorb)

मेरुदंड के पोल में जो खोया भरा हुआ है और जिसे करोड रज्जु कहा जाता है, उसे योग के ग्रंथों में सुषुम्णा ऐसा नाम दिया गया है। षट्चक्र निरूपणादि ग्रंथों में कहा है कि, मेरुमध्ये स्थिता या तु मूलादाब्रह्मरन्ध्रगता x x x। मूलाधार दण्डान्तर विवरगता x x x। षट्पद्मानां मेरुमध्यरन्ध्रस्थत्वकथनेन तदाधार भूतायाः सुषुम्णाया मेरुमध्यरन्ध्र स्थरवम्। सुषुम्णा त्रितयगुणमयी। त्रितयं गुणं सुषुम्णां वज्राचित्रिणीति रूपभेदेन त्रिसूत्ररूपं तदात्मिकेत्यर्थः x x x। यद्वा त्रितयगुणाः सत्त्वरजस्तमोगुणा यस्यां तन्मयीत्यर्थः। ततश्च चित्रिणी सत्त्वगुणमयी, वज्रा रजोगुण-मयी, सुषुम्णा तमोगुणमयीति। x x x चित्रिणी चन्द्ररूपा तेन शुक्लवर्णा, वज्रिणी सूर्य्यरूपा तेन दाडिमी केशरप्रभा, सुषुम्णा वन्हिरूपिणी तेनं रक्तवर्णा इति। षट्चक्र निरूपण **पृष्ठ 3-4,** मेरुदंड के अंदर के छिद्र में जो नाड़ी मूलाधार (गुदास्थि) ब्रह्मरंध्र तक गई है, उसे सुषुम्णा कहते हैं। वह छः पद्मों के आधारभूत है। वह तिकोणाकार है, उसकी तीन रेखाओं को अनुक्रम से सुषुम्णा, वज्रा, चित्रिणी नाम दिये जाते हैं। इस तरह वह तीन सूत्र (गुण) वाली होने से उसे त्रितय गुणमयी कहते हैं अथवा तीन गुणों वाली यानी सत्व, रज, तम गुणवाली भी कह सकते हैं। उनमें चित्रिणी सत्वगुणवाली, चन्द्र के जैसी शुक्लवर्ण वाली है; वज्रा रजोगुण वाली और अग्नि रूपा होने से लाल रंग की है। यह वर्णन अर्वाचीन शरीरशास्त्र के साथ मिलता आता है, अतः इस बारे में शरीरशास्त्र क्या कहता है, वह देखें।

दिमाग के नीचे रहा दिमाग का रज्जुरूप अवयव जिसे कि हम सुषुम्णा कंद नाम दिया है, उसका ही रस्सी जैसा भाग मेरुदंड के पोल (खाली) प्रदेश में होकर गुदास्थि तक गया है, उस रस्सी रूप खाद्य वाले भाग को करोड रज्जु या सुषुम्णा कहते हैं। उस सुषुम्णा का अगला, पिछला और बाजू ऊपर का स्तंभ होने से उसकी लंबाई बड़ी उम्र में 15 से 18 इंच तथा वजन में अंदाजन 4 तोला होता है। पूरी सुषुम्णा के आगे और जहाँ एक चीरा होता है, इनसे उसके दो विभाग होते हैं। एक आगे और एक पीछे ऐसे दो तंतु निकल कर मेरु के पोल में से बाहर निकल कर दोनों तंतु जुड़कर इकट्ठे होते हैं। इस तरह सुषुम्णा में से तंतुओं की 31 जोड़ियां निकलती हैं। सुषम्णा के अंदर तंतु तथा चैतन्य परमाणु बहुत हैं। रज्जु में से निकलते-निकलते तंतु इन चेतना चक्रों में से निकल कर मेरु के बाहर आते हैं। पूरी सुषुम्णा श्वेत और लाल भूरे रंग वाली है, उसमें 7/8 भाग सफेद रंगवाली और 1/8 भाग लाल भूरे रंग वाली होती है। लाल भूरे रंग वाले द्रव्य में अंशुओं (फाइबर) के उपरांत अनगिनत चेतना चक्र होते हैं। श्वेत द्रव्य में तो बिलकुल नहीं होते हैं। इन दोनों तरह के रंगवाले द्रव्य के स्वरूप तथा गुणधर्मों में फर्क होता है। सुषुम्णा का पिछला स्तंभ सफेद द्रव्य के रंगवाला होता है, उसी स्तंभ को ही श्वेत रंग तथा सत्त्वगुण वाली चित्रिणी नाड़ी योगग्रंथों में कही है। अगला तथा बाजू पर का स्तंभ बहुत करके लाल भूरा रंग वाला होता है और उसे सुषुम्णा तथा वज्रा ये साधारण रूप से लाल रंग वाली तमोगुण तथा रजोगुण वाली कही है। सुषुम्णा का आड़ा छेद करके देखने से मालूम पड़ता है कि उसमें सफेद रंगवाली चित्रिणी का भाग विशेष है और उसके बीच में हर एक आधे भाग में एक-एक ऐसे लाल-भूरे द्रव्य की अर्ध चन्द्राकार गोलियां हैं, उनमें की अगले भाग की, सो सुषुम्णा और बाजू ऊपर के भाग की गोली सो वज्रा समझना। विशुद्ध प्रदेश में के मेरु में भूरे रंग वाली नाड़ियां थोड़ी पतली नाड़ी परंतु लंबी होती हैं; अनाहत प्रदेश में ये नाड़ियां छोटी और जरा चौड़ी होती हैं और नाभि प्रदेश-मणिपूर प्रदेश में के मेरु में ये नाड़ियाँ छोटी और बहुत चौड़ी होती हैं, परंतु उनका प्रमाण दूसरे भागों से विशेष होता है। स्वाधिष्ठान प्रदेश में सफेद रंग वाला द्रव्य नहीं जैसा, और मूलाधार प्रदेश के मनकों में तो केवल भूरा रंग (सुषुम्णा) की ही गोलियां होती हैं। अभी यह कहा कि भूरा रंग वाला द्रव्य बहुत ही उपयोगी होता है क्योंकि सब चेतना चक्र उसी में होता है। और उनका बहुत बड़ा भाग नाभि प्रदेश के मेरु में देखने में आता है। उस विशेष भाग का ही आर्यग्रंथों में ब्रह्मग्रंथि कहा है और वही सब 72000 नाड़ियों की मूलरूप है। वहीं से सुषुम्णा नीचे तथा ऊपर बढ़ कर ब्रह्मरंध्र तक

गई है। और लाल भूरे द्रव्य से बनी हुई सुषुम्णा और वज्रा नाड़ियों के रंग लाल तथा दाड़िम् के रंग जैसा कहा है, उसका कारण उन द्रव्यों में रक्त वाहिनियां फैली हैं। अतः उनके रंगों की छाया से ही वह लाल रंग वाली दीखती है।

सुषुम्णा का अगला (पूर्व) और पिछला (पश्चिम) भाग थोड़ा चीरा हुआ होता है और उन दोनों बाजुओं की फाड़ें मध्य बिन्दु के आगे थोड़ी दूर रुकती है। इस पर से स्पष्ट समझ में आता है कि रज्जु के मध्य बिन्दु के आगे का भाग अति सूक्ष्म नलिका जैसा होता है। उस सूक्ष्म नलिका रूप पोल को ही आर्यग्रंथों में ब्रह्मनाड़ी कहा है। मूलाधार चक्र में रही हुई कुंडलिनी उस पोल जैसे ब्रह्मरंध्र में चली जाती है। उस संबंध में कहा है कि यह पोलापन जो चित्रिणी नाड़ी के अंदर है और जो छः चक्रों के बीच में से ब्रह्मरंध्र तक जाता है, उस ब्रह्मरंध्र तक जाने के मार्गरूप पोलेपन को ब्रह्मनाड़ी कहते हैं। जिस तरह माला के मनके एक डोरी में पिरोए होते हैं, उसी तरह उस नाड़ी में सब चक्र पिरोये हुए हैं, इतना ही नहीं, लेकिन छः चक्रों में पोल में उसका तेज व्याप रहा है। ब्रह्मनाड़ी यानी ब्रह्मरंध्र तक अथवा ब्रह्मस्वरूप जहां स्थित है ऐसे सहस्रार चक्र तक पहुंचाने वाली नाड़ी के बारे में षट्चक्र निरूपण में कहा है कि, **तन्मध्ये ब्रह्मनाडी हरमुख कुहरादादिदेवान्त संस्था** उसी (चित्रिणी नाड़ी) के मध्य में मूलाधार चक्र में रहे हुए स्वयं भुलिंग से सहस्रदल कमल में रहते हुए परंबिन्दु (परब्रह्म) तक का छिद्र ब्रह्मनाड़ी है। इस तरह त्रितयगुणरूपी सुषुम्णा के मध्य का पोला छिद्र ही ब्रह्मनाड़ी कही जाती है। वह टीकाकार अधिक स्पष्ट करता है। *(नड्गताविति धातेर्नड्यते गम्यतेऽनयापदव्या इति नाडी पदवी, ब्रह्मणो नाडीति व्युत्पत्या ब्रह्मनाडी ब्रह्मपदवी शुद्धब्रह्मरूपायाः कुण्डलिन्याः परमशिवसन्निधिगमनपथरूप चित्रिणीनाड्यन्तर्गत शून्यभागः 2, (षड्चक्र. श्लोक. 2 टीका)* इस तरह मेरुदंड में रही हुई तिकोणाकार दृश्यनाड़ी को स्थूलदृष्टि से सुषुम्णा ऐसा सामान्य नाम दिया गया है। उसके ही गुण-भेद के कारण चित्रिणी वज्रा और सुषम्णा ऐसे तीन नाम पड़े हैं और उसके अंदर जो सूक्ष्म खालीपन है उसे ब्रह्मनाड़ी कहते हैं।

सुषुम्णा के कुल मिलाकर अवयव इस प्रकार होते हैं :– (1) सूक्ष्म नलिका अथवा ब्रह्मनाड़ी, जिसे कि सामान्यतः सुषुम्णा का भार्ग कह सकते हैं वह, (2) अगली और पिछली फाड से होने वाले उत्तर और दक्षिण गोलार्ध, (3) मेरु के मनकों में से निकलने वाले तंतुओं के अगले और पिछले मूल, (4) तंतुओं के मूल और हर एक गोलार्ध के अर्धचन्द्र जैसे भाग की सींगों जैसी नोकों का प्रदेश जो कि वज्रा और सुषुम्णा हैं, सो दो नाड़ियां, (5) दो गोलार्धो को जोड़ने वाले बारीक तंतुएँ और (6) हर एक तंतु के दो मूल मेरु के मनकों के बीच की ज्गहों में से निकल कर ग्रंथ रूप से बन कर अपनी शाखाओं को फैलाते हैं वह प्रदेश।

सुषुम्णा कंद (मेडयुला ऑब्लॉगेटा)—मूलाधार में से मेरुदंड के पोल में होकर ऊपर गई हुई सुषुम्णा दिमाग तले जा कर मिलती है, वहां उसका भाग छोटे गोल कुंद के जैसा रहा है वह वेरोली के सेतु के साथ बहुत ही जुड़ा हुआ है। वह अंदाजन 1 इंच लंबा होता है। सुषुम्णा और उसका यह कंद दोनों बहुत ही कोमल हैं, अतः दिमाग में उसे ईश्वर ने ऐसी स्थिति में व्यवस्थित रखा है कि माथे की खोपड़ी पर यदि कोई मार लगे तो उसका धक्का दिमाग में ही समा जाय और उस कंद तक जाने न पाये। सुषुम्णा और उसका कंद ये कुछ अलग भाग नहीं हैं, बल्कि एक ही है। मात्र सुषुम्णा मेरु के पोल (बखोल) में रहती है और कंद मेरु के ऊपर दिमाग के नीचे रहता है। मनुष्य की जिन्दगी का सब आधार इस कंद पर ही है, क्योंकि सारा ऊपर का दिमाग काट दिया जाय तो भी प्राणीमात्र इस एक ही भाग के आधार पर कुछ समय जी सकता है, और श्वासोश्वास चला सकता है। लेकिन यदि इस भाग को जरा भी नुकसान पहुंची कि तत्काल प्राण गये ही समझो। श्वासोश्वास को प्रेरणा इसके जिस भाग में से ल्यूमोग्यासट्रिक नामक तंतु निकलता है उस भाग पर आधार रखती है। यानी कि वह क्रिया सुषुम्णा कंद की परावर्तन शक्ति से बनती है। श्वासोश्वास इच्छाधन और अनिच्छाधन चलन इस भाग से ही बन सकते हैं। छींकें आना, वमन होना, मल-मूत्र अथवा गर्भ का विसर्जन होना ये सब श्वासोश्वास के अंगभूत प्रकार माने गये हैं, और वे सब प्रकार इस भाग की शक्ति से बन आते हैं और निगले जाने की क्रिया (ग्रसन क्रिया) की मुख्य इन्द्रिय सुषुम्णा कंद ही है। बड़ा तथा छोटा दिमाग काट डालने पर भी यह क्रिया चालू रहती है। परंतु उस कंद को यदि काट दिया जाय तो वह सब क्रियाएं बंद पड़ जाती हैं। मतलब कि श्वासोश्वास की क्रिया निगलने की तथा बोलने की क्रिया इस सुषुम्णा कंद के आधार से चलती है, अतः सारे शरीर का सच्चा प्राणाधार उस पर है।

सुषुम्णा में से निकलने वाले तंतुएं (Spinal Nerves)—प्रथम तो सुषुम्णा कंद में से 3 तंतुएँ उत्पन्न होते हैं उनमें का प्रथम न्यूमोगॅस्ट्रिक नाम का तंतु सिर में से और सुषुम्णा में से निकलते तमाम तंतुओं से बड़ा और बहुत विस्तार वाला है। वह ज्ञान और क्रिया का काम करता है। उसमें से कंठध्वनि और श्वासोश्वास की इन्द्रियों की शाखाओं में ज्ञान और क्रिया तंतु बढ़ जाते हैं। इससे गले का स्वर उत्पत्ति अवयव और अन्नमार्ग की नली, होजरी और फेफड़े, यकृत और हृदय इन सब अवयवों में उसकी शाखाएं बंट जाने से उनकी क्रियाएं चलती हैं। इस तंतु के नीचे के भाग में सुषुम्णा में से एक तंतु निकलता है, वह ऊंचे बढ़ कर अनेक तंतुओं के साथ संयुक्त होकर सुषुम्णा कंद में आता है और वहां से खोपड़ी के छिद्र में से बाहर निकलता है, वह मात्र गति तंतु है और विशुद्ध पद्म प्रदेश के स्नायुओं को गति देता है। इस तंतु के नीचे भी

एक तंतु निकलता है, वह जीभ और विशुद्ध प्रदेश के स्नायुओं के लिए पर्याप्त होता है। ये तीनों तंतु सुषुम्णा के जिस भाग में से निकलता है वह भाग मेरु के बाहर यानी दिमाग के नीचे होता है, अब जो सुषुम्णा मेरु के अंदर रही है, उसमें से जो 31 तंतुएं निकलते हैं उसके बारे में संक्षेप में बताते हैं।

जिस तरह मेरुदंड के मनकों के पहले पांच भाग किये थे (गरदन के मनके, पीठ के मनके, वगैरह) वैसे सुषुम्णा तंतुओं के भी पांच भाग किये जाते हैं। (1) गरदन के भाग (विशुद्ध प्रदेश) में से निकलते तंतु (सर्वेकलनव्स) के 8 जोड़ी हैं सो। ये तंतु दोनों हाथ, गरदन और सिर में पूरे होते हैं। (2) पीठ के भाग (अनाहत प्रदेश) में से निकलने (डार्सनलनव्स) के 12 जोडियां हैं, वे छाती, पीठ और पसलियों के बीच में पूरे होते हैं। (3) कमर का भाग (मणिपूर प्रदेश) में से निकलने वाले तंतु (लेबरनव्स) की 5 जोड़ियां है, वे पेट और पांव के आगे के भाग से अंगुलियों तक फैले हैं। (4) त्रिक के भाग (स्वाधिष्ठान प्रदेश) में से निकलने वाले तंतु (सेक्रलनव्स) की 5 जोड़ियां हैं, सो मसूढ़े के अंदर के अवयव, नितंब, आंतें, मूत्राशय, स्त्रियों में योनि के भाग में और दोनों पांवों के पीछे के भाग में और ठेठ अंगुलियों तक फैले हैं। (5) गुदास्थि के भाग (मूलाधार प्रदेश) में से निकलने वाले तंतु (काक्सिजीयलनवी) की एक जोड़ी है, वह गुदा के स्नायुओं और चमड़ी में बंट जाते हैं।

इस तरह तंतुओं के जत्थे सुषुम्णा में से मेरु के मनके के बीच की जगह में से बाहर पड़ते हैं। ऊपर से नीचे तक हर एक तंतुओं के दो मूल होते हैं। एक भाग आगे का और एक पीछे का। बाहर पड़ते समय दोनों मूल इकट्ठे हो जाते हैं। पीछे से चित्रिणी नाड़ी में से जो पिछले बाजू से मेरु के छिद्र में से बाहर पड़ कर दोनों मूल गांठ की तरह बन जाते हैं और फिर उसकी शाखाएं आगे के भाग में फैल जाती हैं। आगे के गति तंतु हैं। आगे के तंतुओं को काट डालें तो वे तंतु जिस-जिस भाग में जाते हैं उसकी शक्ति नष्ट हो जाती है और पीछे के तंतु के मूलों का नाश करें तो उस भाग की ज्ञान शक्ति नष्ट होती है। प्रयोगों से यह मालूम पड़ा है कि दिमाग में से जो संदेश नीचे आते हैं वह अगला स्तंभ और उसके पास का लाल पदार्थ (वज्रा और सुषुष्णा की) मार्फत उतर आते हैं। अर्थात् वज्रा और सुषुम्णा का भाग गति अथवा क्रिया वाहक हैं। ज्ञान होने की भावनाएं अथवा स्पर्श पिछले तंतुओं में होकर रज्जु के पिछले स्तंभ (चित्रिणी) में दाखिल होते हैं, लेकिन उसके द्वारा ऊपर नहीं चढ़ते। उस स्तंभ में से अंदर के लाल (वज्रा, सुषुम्णा के) भाग में प्रवेश करते हैं और उसकी मार्फत सुषुम्णा कंद में होकर दिमाग तक पहुंचते हैं।

और दूसरा इतना ध्यान में रखना चाहिए कि करोड (मेरु) में की सारी रज्जु का बीच का भाग लाल भूरे रंग का होता है। उसके दो विभाग होते हैं, उनमें के एक

विभाग को हम वज्रा और दूसरे को सुषुम्णा नाड़ी ऐसे नाम दिये हैं। बाहर का ज्ञान अथवा स्पर्श की भावना (अहसास) जिस बाजू से आती है उसी भाग की लाल नाड़ी की तरफ से वह ऊपर नहीं चढ़ती लेकिन सामने वाली नाड़ी में जाकर उसकी मार्फत वह भावना दिमाग की तरफ जाती है। इस तरह सोचो कि करोड रज्जु की बायीं बाजू के अर्धभाग का विभाग काट डालें तो उसके सामने की बाजू के अंग में ज्ञानशक्ति बिलकुल मालूम नहीं पड़ती, इस तरह ज्ञानतंतु के तंतु (अर्थात् पीठ की ओर से चित्रिणी के मूल के तंतु) अगले भाग के क्रिया तंतु के साथ मिल जाने से ही एक दूसरे के आमने-सामने दो भाग कर दूसरी तरफ जाते हों, यह सिद्ध है। गरमी, शीतलता, स्पर्श वगैरह प्रकार का ज्ञान अलग-अलग तंतुओं से होता है। रज्जू का बीच-बीच का भूरा अथवा लाल भाग मुख्यतः चेतना परमाणुओं का बना हुआ है तथा बाहर का चित्रिणी का सफेद भाग अनेक तंतुओं का बना हुआ है। इन सब भागों के अंदर अवयवों की रचना इतनी बारीक है कि उनका शोध सूक्ष्म दर्शक यंत्र से भी ठीक नहीं हो सकता।

इन सबसे मालूम पड़ेगा कि बाहर के पदार्थों के स्पर्श की भावना का ज्ञान दिमाग में ले जाने की तथा वहां से जो क्रिया हो वह नीचे लाने की शक्ति मेरु की रज्जु में है। शरीर के ऊपर जो उष्ण, शीत वगैरह स्पर्श ज्ञान होता है वह ज्ञान चित्रिणी में से निकलते तंतुओं की मार्फत रज्जु में पहुंचता है और फिर रज्जु उस ज्ञान को दिमाग में पहुंचाता है। दिमाग में वह ज्ञान-भावना जाने के बाद अंतःकरण में उसका भान होता है। उसी तरह दिमाग के संदेश सुषुम्णा और वज्रा की मार्फत नीचे उतर कर उसके तंतुओं के द्वारा अवयव पर आते हैं।

करोड रज्जु में से जो तंतु निकलते हैं उनके मूल हरएक चेतना चक्र के अंदर होते हैं, उन चेतना चक्रों का समूह विशुद्ध, अनाहत, मणिपूर, स्वाधिष्ठान, और मूलाधार प्रदेश में कितनी संख्या से फिट हुआ है उस बारे में मेरुदंड के वर्णन में पहले कहा जा चुका है। सूर्य बिंब के आसपास जिस तरह किरणावली होती है वैसे चेतनाचक्र के अंदर से तंतुएं निकल कर शरीर के अंदर और बाहर के प्रदेश में बंट जाते हैं। ज्ञान और गति के आघात और प्रत्याघात से शरीर के बाहर और दिमाग में आता है, उनका संग्रह इन चेतना चक्रों में होने के बाद उनकी मार्फत उनके व्यापार तंतुओं में होते हैं। ऐसे चेतना चक्र सुषुम्णा, दिमाग तथा दूसरे विभागों में असंख्य हैं।

ईडा, पिंगला (Sympathetic System)

इस तरह ऊपर के अनुसार सहस्रदल पद्म, मेरुदंड और सुषुम्णा का संपूर्ण वर्णन किया। अब मेरुदंड के बाहर आगे की बाजू पर सुषुम्णा की दोनों तरफ उत्तर-दक्षिण बाजुओं में जो दो ग्रंथियों की मात्राएं देखने में आती हैं, उसके बारे में विचार करें।

सहस्रदल पद्म और सुषुम्णा में से तंतुएँ निकल कर के शरीर के बाह्य प्रदेश में फैलकर ज्ञान और गति का कार्य करते रहते हैं। उन कार्यों का जमा खर्च (हिसाब) उन तंतुओं में जो चेतना चक्रों में से निकलते हैं, होता रहता है। तंतु और चक्रों के बिना एक तरह की तंतुओं की गांठ ऐसी है कि वह शरीर के अंदर के नियमित व्यापार चलाती है। उसे चेतना तंतुओं की ग्रंथिमाला ऐसा नाम दिया जाता है। किसी पदार्थ का हमें स्पर्श होना, आवाज कान पर सुनाई देना, अर्थात् पदार्थ नजर से मालूम होना, तो उनकी खबर तंतुओं के द्वारा दिमाग को पहुंचती है तब उसका ज्ञान होता है और एक किताब हाथ में लेने का मन हुआ और उसे लेने के लिए हाथ को दिमाग की तरफ से प्रेरणा हुई अतः हाथ तंतु के द्वारा लंबा होकर वह किताब लेता है। मन और बाहर का व्यापार अधिकतर दिमाग और सुषुम्णा के द्वारा चलता है, लेकिन कुछ शरीर-जीवन चलाने का व्यापार, जैसा कि, हृदय की गति, आंतों की हलचल, हाजमा (पाचन तंत्र) वगैरह की अनैच्छिक क्रियाएं चलाने में तो सब सत्ता ग्रंथिमाला ही भोगती है और उसके अनुसार सहस्रार चक्र, सुषुम्णा और ग्रंथिमाला (ईड़ा, पिंगला) ये तीन विभाग हो तभी सारे शरीर का जीवन-व्यापार चलता है। अतः इन तीनों की चेतना तंत्र ऐसा मिला-जुला नाम दिया जाता है।

ये ग्रंथियां दिमाग के नीचे के अग्रिम भाग से मेरुदंड के बाहर की आगे की बाजू पर बायीं-दाहिनी तरफ ठेठ गुदास्थि तक एक दूसरे के साथ देणी बंधन क्रम से गूंथी रहकर दो फलियों के रूप में रही हैं और उनके दिमाग के भाग में 4, विशुद्ध (गरदन के) स्थान में 3, अनाहत (पीठ के अग्रिम) स्थान में 12, मणिपूर (कमर) के स्थान में 4, स्वाधिष्ठान (सेक्रल) देश में 5, और मूलाधार (कािक्सजीयल) स्थान में 1 मिल कर 31 जोड़ी हैं; और उनकी दो पंक्तियां सहस्रदल से मूलाधार तक गई हुई हैं। उन सब तंतुओं से परस्पर जुड़े हुए हैं। हर एक ग्रंथि (गेंग्लीयन) चेतना चक्र रूप में होने से उसे सब तरफ से सुषुम्णा तंतु की शाखाएं आ मिलती हैं और उसमें से बाहर फैलती हैं। ऐसी ग्रंथियां दूसरे भागों में अनेक हैं। परंतु शरीर का जीवन व्यापार चलाने में ये ग्रंथियां ही कारणभूत हैं। इन ग्रंथियों में से तंतुओं की हजारों शाखाएं निकल कर पास की खून की नसों में संयोग पाती हैं, उसी तरह दूसरी शाखाएं होजरी में, हृदय प्रदेश में, आंतों में फैलती हैं। इन सब शाखाओं में सफेद और लाल रंग वाला दृश्य होता है। जितनी-जितनी अनैच्छिक गतियां, पृथक्करण, पोषण, वगैरह शरीर-जीवन चलाने वाले तमाम व्यापार में काम में आती हैं, अनैच्छिक शक्तियां हैं, वे सब इन ग्रंथियों में से साधारणतः स्वतंत्र उत्पन्न होती हैं। जिन्दा मनुष्य का हृदय बाहर निकाल कर देखेंगे तो लगभग दो मिनट तक धड़कता रहता मालूम पड़ेगा। जो जल-स्थल चर प्राणी हैं, उनका हृदय इस तरह एक घंटे तक

धड़कता रहता है। इसी तरह आंतों की गति भी एक प्रयोग करने से चालू रही हुई दिखती है। उस पर से स्पष्ट होता है कि सहस्रार और सुषुम्णा में की शक्ति का संबंध इन ग्रंथियों के साथ बहुत ही कम है और उनके तंतु जिस भाग में जाते हैं, उस भाग की गति अनियमित और त्वरा वाली होती है, परंतु ग्रंथि के तंतु जिस-जिस भाग में फैले हैं उस-उस भाग की गति ताल बंध, आहिस्ता-आहिस्ता और नियमित होती है। इन ग्रंथियों के तंतुओं की हजारों शाखाएं रक्तवाहिनी, हृदय छाती का पोल, बस्तिप्रदेश, आंतें, मूत्राशय, मूत्रपिंड, यकृत वगैरह सब अवयवों में लिपटे रह कर शरीर के सब अवयवों को किस समय कितने खून की जरूरत है, वह ध्यान में रखकर खून की नलियों को समतोल संकोच विकास करती हैं। मन को ग्लानि होने पर शरीर का शिथिल होना, मन को ज़बरदस्त धक्का लगाने से मूर्च्छा आना, लज्जा से मुंह फीका पड़ना, मन की स्थिति में परिवर्तन होने से लार, आंसू, दूध वगैरह पदार्थों का वहन प्रमाण से अधिक होना और जिन ग्ल्यांद में से ये पदार्थ आते हैं, उनकी धमनियों का प्रसारण करना, ऐसे-ऐसे भय, शोक, हर्ष वगैरह मानसिक दुःख (इमोशन्स) से उत्पन्न होने वाले अनुभवों का शारीरिक निमित्त इस ग्रंथि के तथा सुषुम्णा के कुछ चेतनातंतुओं के संबंध से ही होता है और इस स्थूल शरीर को जठरादि अवयवों को किसकी जरूरत है सो इन तंतुओं से ही जाना जाता है और उन अवयवों की स्थिति की अनुकूल भाव उसमें प्रकट होता है। ये तंतुएँ न हों तो शरीर का जीवन नहीं चलता है। मनोविकार और अनुभवों का असर सेन्द्रियक्रियाओं पर होता है, सो इस ग्रंथि तंतु में रही हुई शक्ति के कारण होता है।

प्राचीन संस्कृत योग विषय के ग्रंथों में जो ईड़ा-पिंगला नाड़ियों का वर्णन किया है, सो इन ग्रंथियों की दो पंक्तियां दिमाग से गुदास्थि तक चली जाती हैं वही हैं। मेरोर्बाह्य प्रदेशे शशिमिहिरशिरे सव्यदक्षे निषण्णे (ष. नि.) मेरुदंड के बाहर बायीं तरफ ईड़ा नाड़ी और दाहिनी तरफ की पिंगला नाड़ी कही जाती है और वे अनुक्रम से चंद्र-सूर्य रूप से स्थित हैं। भूत शुद्धि तंत्र में कहा है कि, मेरोर्वाम इडा दक्षे पिंगला च स्थिते उभे। और षट्चक्रनिरूपण (पृ. 2) की टीका में लिखा है कि, इमेनाडयौ मूला दृज्जुरूपेणाज्ञाचक्रान्ते प्राप्य नासारन्ध्रगते तदुक्तं यामले, इडाच पिंगला चैव तस्य वामे व दक्षिणे ऋज्चीभूते शिरे तेच वामद क्षिण भेदतः सर्व पद्मानि संवेष्ट्य नासारन्ध्रगते शुभे ॥ x x x तेन सर्वपद्मानि संवेष्ट्य वाम दक्षिण भेदतः वामदक्षिण भेदेन वेणी बन्ध क्रमेण सर्वपद्मानि संवेष्ट्य। अर्थात् ये दोनों नाड़ियां मूलाधार के भेद से रज्जु रूप से आज्ञाचक्र (दिमाग) तक जा कर नाक के छिद्रों में गई हुई हैं। यामल में कहा है कि मेरु की बायीं और दाहिनी बाजुओं से जाने वाली ईडा-पिंगला नाम की रज्जु जैसी शिराएं बायीं-दाहिनी बाजुओं से सब

कमलों के वेणी बंधन चक्र से लिपट कर नाक के छिद्र में गई हैं और कहा है कि *वामदक्षिण मुष्कोत्थिते ते भ्रूमध्यपर्य्यन्तं प्राप्य तत्र इडा पिंगला सुषुम्णा नाड़ी त्रयाणां त्रिवेणी रूपेण ग्रन्थि भावमापन्ना नासारन्ध्र मिलितेत्यर्थः* अर्थात् बायें अंडकोष से उत्पन्न होकर मेरु की बायीं बाजू से बायें नासारन्ध्र के आगे और दाहिने अंडकोष से उत्पन्न होकर मेरु की दाहिनी बाजू से दाहिने नासारन्ध्र के आगे इस तरह दोनों नाड़ियों, दोनों भौंहों के बीच में भ्रूमध्य देश तक जाकर वहां सुषुम्णा के साथ मिलकर ये तीनों नाड़ियां त्रिवेणी रूप से ग्रंथिभाव को पाकर नासारंध्र में जाती हैं। इस तरह अनेक आधारों से सिद्ध होता है कि मेरु के आगे बायीं-दायीं तरफ जो तंतु ग्रंथियों की दो पंक्तियां हैं उन्हें ही ईड़ा-पिंगला कह सकते हैं। सुषुम्णा के चक्रों में से जो तंतु उत्पन्न होते हैं ये तंतुग्रंथि के तंतुओं के साथ परस्पर गुच्छे के रूप में मिल गये हैं, उसे ही वेणी बन्धन क्रम से उनका लिपटा जाना कहा है। इड़ा को चंद्ररूपा (नेगेटिव) और पिंगला को सूर्यरूपा (पोजेटिव) कहा है। पुरुषों के बायें अंग में मुख्यतः माया और दाहिने अंग में मुख्यतः ईश्वर है, अतः बायां अंग दाहिने की तुलना में थोड़ा मोटा होता है। स्त्रियों में उससे उलटा होता है और उसके अनुसार वैद्य पुरुष की दाहिनी नाड़ी और स्त्रियों की बायीं नाड़ी रोग परीक्षा के समय जांचते हैं। उस पर से सूर्य रूप पिंगला के प्रबल और चंद्ररूप इड़ा को निर्बल माना गया है।

अस्तु, इस तरह सहस्रारचक्र, सुषुम्णा और इड़ा-पिंगला इन तीनों (ब्रेइन, स्पायनल कॉर्ड, सिंपथेटीक गंग्लिया) के जो श्वास गुण हैं, सो उनके अंदर रहे हुए चेतना चक्रों पर श्वास आधार रखते हैं। उन तीनों की हुक्म चलाने की शक्ति अलग-अलग और अलग प्रमाण में होती है। तो भी उनकी जाति एक ही होती है, अतः उनके कुछ गुण सबको साधारण है। अन्न हजम होना, हृदय का धड़कना, श्वासोश्वास चलना, वगैरह जो कार्य हमारी इच्छा न हो तो भी केवल शरीर को जिन्दा रखने के लिए बिना भूले बनते रहते हैं, उसमें अपनी इच्छा की जरूरत नहीं रहती है, इस सब कार्यों का संबंध सुषुम्णा और इड़ा-पिंगला इन दोनों के साथ है, अतः उनको उपइन्द्रियां कह सकते हैं। जो कार्य अपनी इच्छा के अधीन होते हैं उनका संबंध सहस्रदल पद्म के साथ है अतः इन कार्यों को करने वाले अवयव को इन्द्रिय कह सकते हैं। इस पर से हमारे ज्ञान साधारणतः दो प्रकार के हैं—उपेन्द्रियों से जो ज्ञान शरीर के अंदर के भाग में होता है और जो व्यापार हमारी इच्छा पर आधार नहीं रखते, उनको ही अंगज्ञान (Instinct) प्रेरणा शक्ति, सहजबुद्धि, शरीर निर्वाहक भावना अथवा बीज भूत वासना वगैरह कहते हैं और शब्द, स्पर्श रूप, रस, गंध इन पांचों इन्द्रियों से जो ज्ञान होता है तथा उनसे होने वाले जो मनोव्यापार (कल्पना, इच्छा,

भावना, बुद्धि वगैरह) अपनी इच्छानुसार हम करके अनुभव करते हैं, उसे ही साधारणतः तर्कशक्ति कहते हैं—मतलब कि विचारशक्ति का स्थान सहस्रदल पद्म में है और अंगज्ञान शक्ति (Instinct, Impulse) का स्थान सुषुम्णा और इड़ा पिंगला में है। अर्थात् उन-उन के द्वारा अंतःकरण के परिणाम व्यक्त होते हैं।

तंतुओं के वर्ग

दिमाग के, सुषुम्ना और इड़ा पिंगला के तंतु ज्ञान और गति के व्यापारों का काम करते हैं अतः उसके बारे में स्वरूप में विचार करें। तंतुएँ तो मात्र बाहर की दुनिया के संदेश दिमाग में ले जाने वाले तथा लाने वाले एक नौकर की तरह हैं। (1) एक तरफ से बाह्य विश्व का व्यापार किसी भी इन्द्रिय पर असर करे उसकी खबर दिमाग को देना और चित्त शक्ति को सावधान करना, वैसे (2) दूसरी तरफ से चित्त शक्ति का हुक्म दिमाग की मारफत लेकर शरीर के किसी भी भाग को पहुंचा कर दो प्रकार की क्रियाएं उत्पन्न करना। उसमें प्रथम प्रकार की क्रिया-गति से स्नायुओं का संकोच विकास होना और दूसरे प्रकार की क्रिया गति से रसोत्पादक क्रिया (सीक्रीशन), पाचनक्रिया, शोषण क्रिया (ॲबसोर्पशन) वगैरह शरीर निर्वाहक क्रियाएं होती हैं।

इस तरह दोनों तरह के व्यापार चलाने वाले तंतुएं दिमाग, सुषुम्ना और इड़ा पिंगला में हैं। बाह्य विश्व के आघात शरीर के अलग-अलग भाग से चेतना चक्र में ले जाने वाले तंतुओं को ज्ञानतंतु कहते हैं। उन्हीं को कोई अंतर्वाहक, केन्द्राभिवाहक, ज्ञानजनक, ज्ञानवाहक (सेन्सटीवनर्व्स) वगैरह नाम देते हैं। जिन तंतुओं की मारफत् चेतना चक्रों में से स्नायुओं में चेतना, अर्थात् गति या प्रत्याघात आते हैं उनको गति-क्रियातंतु कहते हैं, उन्हीं को कोई बहिर्वाहक, केन्द्रोंद्वाहक, गति वाहक (मोटर नर्व्स), गत्युत्पादक, चालक वगैरह नाम देते हैं। इन दो तरह के तंतु अपने-अपने व्यापार चेतना चक्रों की मार्फत चलाते हैं। एक तरह का तंतु दूसरे तंतु का काम नहीं करता, लेकिन एक ही प्रकार के संदेश को धारण करते हैं। जैसे कि गति तंतु से गति ही पैदा होती है। ज्ञान तंतु से ज्ञान ही पैदा होता है और दृष्टि और श्रवण तंतुओं से प्रकाश और ध्वनि का ज्ञान होता है। उनको किसी साधारण पदार्थ का स्पर्श है तो भी प्रकाश अथवा ध्वनि ही मालूम होते हैं। तंतुओं की संदेश चलाने की गति का वेग अतिशय है। ज्ञान का वहन ज्ञानतंतु की मार्फत दिमाग में होता है उसका वेग एक सेकेण्ड में 140 फुट और गति का वहन गतितंतु की मारफत दिमाग में से होता है। उसका वेग एक सेकेण्ड में 111 फुट होता है और दिमाग में रही हुई चित्त शक्ति (Nervous Force) का यानी कि तंतु के द्वारा इन्द्रियार्थ संनिकर्षजन्य ज्ञानक्रिया का वेग एक सेकेण्ड में 2265120 मील है।

चेतनाचक्र (Nerve Centres)

बाह्य विश्व के आघात और अंतःकरण में से आने वाले प्रत्याघात ज्ञानतंतु तथा गति तंतु ग्रहण करते हैं, उनको वे तंतु स्वयं जिन चेतनाचक्रों में से निकलते हैं उन चेतनाचक्रों को देते हैं अर्थात् ज्ञानतंतु जो ज्ञान ग्रहण करते हैं वह आघात अपने मूल चेतना चक्र को देते हैं और गति ज्ञान तंतु अपने चेतनाचक्र द्वारा ग्रहण प्रत्याघात करते हैं, वह उन चेतनाचक्रों का आकार विचित्र होता है। जैसे कि गोल, लंब गोल, बहुकोण वगैरह। कुछ के लंबे-लंबे छोर दीखते हैं। चक्र के परमाणुओं के अंदर एक नरम प्रकार का पदार्थ रहता है, सूर्य के आसपास जैसे किरणों का चक्र होता है और उसमें से जैसे सब तरफ किरणों के आरे निकले होते हैं। वैसे इन चक्रों के आसपास ज्ञान और गति तंतु चिपके होते हैं। सब प्रकार के ज्ञान और क्रिया गति के संस्कार (बीज) इस चेतना चक्र में संग्रहीत हैं। इन चक्रों के मुख्य दो धर्म होते हैं। (1) ज्ञानतंतुओं के आघातों को धारण करके तत्काल गतितंतुओं को अपना प्रत्याघात देकर गति प्रकट करने की चेतना शक्ति छोड़ना। (2) ज्ञानतंतु के आघात की अर्थात् बाहर के विषयों से उत्पन्न होने वाले ज्ञान की अपेक्षा के बिना अंतःस्थ संस्कार के अनुसार गतितंतुओं के क्षोभ को जन्म देना। ये सब क्रियाएँ यंत्र की तरह चलती हैं, क्योंकि जीवात्मा के भान की उनके लिए जरूरत नहीं रहती है। जैसे कि उंगली के छोर पर सूई की नोक लगायें तो ज्ञानतंतु उस आघात को अपने चेतनाचक्र की तरफ ले जाएगा। वही चेतनाचक्रों के मध्य भाग में रहे हुए द्रव्य में जो गरम पानी जैसा पदार्थ होता है, उसमें वह आघात टकराने से अमुक अटकाव (संस्कार) होगा और बाद में वह वहां से प्रत्याघात पाकर गति तंतुओं में लौटेगा और हाथ के स्नायुओं में वेग से अटकेगा (रुकेगा), जिससे स्नायु संकोच पाकर हाथ पीछे खींचा जाएगा। इस प्रकार होने वाली क्रिया को प्रत्यावर्तन अथवा पुनः परावर्तन (Reflexaction) कहते हैं। इस क्रिया की उत्पत्ति होने में इतने कारणों की जरूरत होती है–(1) एक अथवा अधिक अंतर्वाहक ज्ञानतंतु बाहर के पदार्थों के साथ संबंध प्राप्त करके उत्पन्न होने वाले संस्कार को वहन करे, वैसे होने चाहिए। (2) उन संस्कारों के वेग के आघात को धारण करे वैसा तथा उससे होने वाले प्रत्याघात को उत्पन्न कर सके वैसा चेतना चक्र होना चाहिए। (3) एक अथवा अधिक वहिर्वाहक (गति-क्रिया) तंतुएँ अंदर से संस्कार से उत्पन्न होने वाले प्रत्याघात रूप वेग को स्नायु की तरफ अथवा दूसरे अवयव की तरफ अपने योग्य परिणाम को प्रकट करने के लिए वहन करने वाले होने चाहिए।

इस तरह अंतर्वाहक तंतु, चेतनाचक्र, बहिर्वाहक तंतु और स्नायु (अथवा प्रत्याघात के वेग का परिणाम जहां प्रकट होता है, शरीर का अवयव) इतनी सामग्री में से एक भी अंश कम हो तो प्रत्यावर्तन क्रिया नहीं होती।

चेतनाचक्रों के समूहों से होने वाले छः पद्म

दिमाग और सुषुम्णा और इड़ा पिंगला में ऐसे चेतना चक्र असंख्य हैं। दिमाग के चेतना चक्र के बारे में पहले कहा ही है। मात्र सुषुम्णा में तथा इड़ा पिंगला की तंतुग्रंथि में के जो हजारों चेतना चक्र हैं, उनमें के मुख्य विभागों से होने वाले चक्रों के समूहों के बारे में अब कहना है। जैसे मेरुदंड के हमने पांच भाग किये, वैसे उसके अंदर रही हुई सुषुम्णा के भी पांच भाग किये थे और उसके बाहर रही हुई इड़ा पिंगला की तंतुग्रंथियों के भी उसी तरह पांच भाग करके इस मनुष्य शरीर में इन सब विभागों में रहे हुए चेतना चक्रों के समूहों से होने वाले पांच कमलों से इस स्थूल शरीर का सारा जीवन व्यापार चलता है। अतः उन पांच मुख्य कमलों के बारे में कहते हैं।

1. मूलाधार पद्म--गुदास्थान (मूलाधार) के मेरु के मनके, उस हर एक मनके के पोल में रही हुई सुषुम्णा में के 4 चेतना चक्र, उसमें से निकलता एक ज्ञान तंतु और उसके बाहर रही हुई ईडा पिंगला की तंतुग्रंथि (काक्सिजीयल गँग्लीयन) की 1 जोड़ी, इतने सारे विभाग में से जो सूक्ष्म तंतु (काक्सिजियल प्लेक्सस) फैलते हैं उसका जाला गुदा के स्नायुओं में और चमड़ी में फैलकर उस स्थान में ज्ञान, गति और अनैच्छिक जीवन व्यापार चलाता है, अतः उस तमाम भाग का हम **'मूलाधार पद्म की मर्यादा'** ऐसा नाम दें। उसे ही आर्य शास्त्रों में **भूलाधार पद्म** कहा है। अथवा कोई रूपक में वर्णन करके कहें तो मूलाधार मेरु के मनके मानो पद्म का कवच है, उस बाह्य कवच के अंदर सुषुम्णा के भाग में रहे हुए 4 चेतना चक्र मानों उस पद्म की चार पंखुडियां हैं, उन चेतना चक्रों के बीच में होकर ब्रह्मरन्ध्र तक जाने वाली सूक्ष्म नलिका मानों पद्म की नाल है, चेतना चक्रों में से निकलने वाले तंतु के जाल मानों उस पद्म के केसर हैं। इसके बारे में आर्यग्रंथों में कहा है कि गुदा के ऊपर और लिंग के नीचे रही हुई सुषुम्णा के अंदर 4 दल वाला लाल रंग का आधार पद्म आया हुआ है। उसके ईशान कोण की तरफ से आरंभ की जाने वाली हरएक पंखुड़ी में जब जीवात्मा की स्थिति होती है तब प्रथम पंखुड़ी (यानी ईशान कोण में रहे हुए चेतन चक्र) में परमानंद, दूसरी पंखुड़ी में सहजानंद, तीसरी में वीरानंद और चौथी में योगानंद पुरुष से प्राप्त होता है। अतः जीवात्मा प्राणारूढ़ होकर आधारपद्म की प्रथम की ईशान कोण की पंखुड़ी में स्थित हो तब उसे परमानंद की प्राप्ति होती है। अग्नि कोण में की दूसरी पंखुड़ी पर सहजानंद नैऋत्य कोण की तीसरी पंखुडी पर वीरानंद और वायव्य कोण की चौथी पंखुडी पर स्थिति होती है, तब जीवात्मा को योगानंद की प्राप्ति होती है। इस चक्र की कर्णिका त्रिकोणाकार की है और उसके बीच में सुषुम्णा का (ब्रह्मनाड़ी का) मार्ग है वह आकृति 5 पर से ध्यान में आएगा।

2. स्वाधिष्ठान पद्म—मूलाधार मेरु के ऊपर त्रिकास्थि के मेरु के 5 मनके, उस हर एक मनके के पोल में रही हुई सुषुम्णा में जो अनेक चेतनाचक्र हैं उनमें के पांच चेतनाचक्र की जिनमें से उस भाग में के पांच तंतु उत्पन्न होते हैं और उस भाग में रहे हुए दूसरे अनेक चक्रों में से किसी एक चेतनाचक्र, मिलकर 6 चेतनाचक्र, उनमें से निकलते पांच चेतना तंतु और उनके बाहर रही हुई इडा पिंगला की तंतु ग्रंथिया की पांच जोड़ी तथा इन पांचों तंतु और ग्रंथि की पांच जोड़ की अनेक शाखाएं छोटी आंतों के गुच्छे, पेडू नितंब के अंदर के अवयव तथा दोनों पांवों के पीछे के भाग में फैलकर तमाम भागों में ज्ञान, गति और शरीर जीवन व्यापार चलाते हैं, उन सब जाले वाले प्रदेश को **'स्वाधिष्ठान पद्म की मर्यादा'** नाम दें। इस सारे भाग को आर्यशास्त्र में **स्वाधिष्ठान पद्म** कहते हैं। अतः त्रिकास्थि वाले मेरु के पांच मनके मानों उस पद्म का बाह्यचक्र हैं। उसके अंदर रही हुई सुषुम्णा में के ऊपर कहे वे 6 चेतनाचक्र मानों इस पद्म की 6 पंखुड़ियां हैं; इन 6 चक्रों के बीच में होकर ब्रह्मरन्ध्र तक जाने वाली सूक्ष्म नलिका मानों इस पद्म की नाल है। चेतनाचक्रों में से निकलने वाले तंतुओं के तथा उनके बाहर के भाग में रही हुई इडा पिंगला की ग्रंथि के तंतुओं के जाल मानों पद्म के केसर हैं। इस बारे में आर्यग्रन्थों में कहा है कि सिंदूर को लाल रंग में मिश्र करने से जो मनोहर रंग होता है, वैसे रंग वाला, सुषुम्णा के अंदर, लिंग के मूल के भाग में **स्वाधिष्ठान पद्म** आया हुआ है। उसकी पूर्व दिशा की 6 पंखुड़ियों में जीवात्मा प्रकट होकर स्थित होता है तब प्रथम की पंखुड़ी में **प्रश्रय** (विषय), दूसरी में **क्रूरता**, तीसरी में **गर्वनाश**, चौथी में **मूर्छा**, पांचवी में **अवज्ञा** और छठी पंखुड़ी में **अविश्वास**, इतने का ज्ञान होता है; ये सब उनके हाथ में आ जाते हैं। यह पद्म **कामोत्पादिकाशक्ति** का मूल स्थान हैं और उसकी कर्णिका का त्रिकोणाकार से होने के कारण उसी के बीच में सुषुम्णा का मार्ग है, यह आकृति 6 पर से ध्यान में आएगा।

3. मणिपूरक पद्म—स्वाधिष्ठान (त्रिक) मेरु के ऊपर कमर के पांच मनके हैं वह स्वाधिष्ठान है। उस हर एक मनके के पोल में रहे हुए सुषुम्णा में के अनेक चेतनाचक्रों से जिन चेतनाचक्रों में से कमर के पांच तंतुएं निकलते हैं वे पांच चेतनाचक्र और उनके पास के कोई अमुक दूसरे पांच चेतनाचक्र मिलकर के 10 चेतनाचक्र; उनमें से निकलते पांच तंतुएं (लंबरनर्व्स) और उनसे बाहर रही इडा पिंगला तंतु ग्रंथियाँ (लंवरगॅग्लीयन्स) की 4 जोड़ियां तथा वे पांच तंतुएं और तंतु ग्रंथ में से निकलती हजारों शाखाएं जो कि पक्वाशय के अंदर के भाग में, यकृत के बायें भाग में, रक्तवाहिनी में, पेंक्रियाज़, पेट और पांव के अग्रिम भाग में जाले (सोलर अथवा लेवर प्लेकसस) रूप में विस्तार पाकर इन तमाम भागों में ज्ञान, गति, और

शरीर जीवन व्यापार चलाती हैं। उस सारे प्रदेश को **मणिपुर पद्म का प्रदेश** नाम दें। इस सारे भाग को आर्यशास्त्र में मणिपुर चक्र कहते हैं। यानी कमर के मेरु के जो पाँच मनके मानों इस पद्म का बाह्याच्छादन है, अंदर रही हुई सुषुम्णा को अभी कहे सो 10 चेतनाचक्र मानों इस पद्म की 10 पंखुडियां हैं। इन 10 चक्रों के बीच में होकर ब्रह्मरन्ध्र तक जाने वाली सूक्ष्मनलिका मानों पद्म की नाल (नाली) है; चेतनाचक्रों में से निकलते तंतुओं के तथा उनके बाहर के भाग में रही हुई ईडा पिंगला की ग्रंथियों के तथा उनके बाहर के भाग में रहीं हुई ईडा पिंगला की ग्रन्थियों के तंतुओं के जाले मानों उस पद्म केसर (पराग) हैं। उसके बारे में आर्यग्रथों में कहा है कि नाभि के पीछे सुषुम्णा के भाग में मेघवर्ण वाला 10 पंखुड़ियों का मणिपुर पद्म आया हुआ है। उसकी पूर्वदिशा से लेकर अनुक्रम से प्रथम की पंखुडी में **सुषुप्ति** तथा दूसरी वगैरह में अनुक्रम से **तृष्णा, ईर्ष्या, पिशुनता** (दूसरे में दोष हो या न हो तो भी उसे सूचित करना), **लज्जा, भय, घृणा** (दूसरे के दुःख को दूर करने की इच्छा) **मोह** (जागृत अवस्था में भी विषय का अज्ञान) **कषाय** (मलीनता), **विषाद** (चिंतासहित दुःख), ये 10 विषय रहा हुआ है। प्राणायाम करके जीवात्मा जब प्राणारूढ़ होकर मणिपुर पद्म की हर एक पंखुड़ी में घूम जाता है तब उसे उन 10 विषयों का ज्ञान होता है। यह चक्र सूर्य का भवन (स्थान) है। इस पद्म की कर्णिका गोल है और उसके बीच में सुषुम्णा का मार्ग है वह आकृति 7 पर से ध्यान में आएगा।

4. अनाहत पद्म—मणिपुर (लंबर) मेरु के ऊपर पीठ के मेरु (डार्सनल वर्टिब्री) के 12 मनके हैं सो, उस हर एक मनके के पोल में रही हुई सुषुम्णा में के 12 चेतनाचक्र कि जिनमें से 12 तंतुएं (डार्सनल नर्व्स) निकलती हैं उन चेतनाचक्र और उनमें के निकलते ये 12 तंतुएं और इस भाग के मेरु के बाहर रही हुई इडा पिंगला की तंतुग्रंथियां (डार्सनलगँग्लीयन्स) की 12 जोड़ियां तथा वे बार तंतुओं तथा ग्रंथियों में से निकलने वाली हजारों शाखाएं कि जो हृदय को चलाती हैं, फेफड़े में, छाती में, पसलियों के बीच में और पीठ में जाले (डार्सनलप्लेक्सस) के रूप से विस्तार पाकर इन सारे भागों में ज्ञान, गति और शरीर जीवन व्यापार चलाती हैं। इस सारे प्रदेश को **अनाहत पद्म का प्रदेश** नाम दें। इस सारे भाग को आर्यशास्त्र में **अनाहत पद्म** कहते हैं। अतः पीठ के मेरु के 12 मनके मानों इस पद्म का बाह्याच्छादन हैं उसके अंदर रही हुई सुषुम्णा में के 12 चेतनाचक्र मानों इस पद्म की 12 पंखुडियां हैं और उन 12 चक्रों के बीच में होकर ब्रह्मरन्ध्र तक जानेवाली सूक्ष्म नलिका मानों उस पद्म की नाल (नाली) है; उन 12 चेतनाचंक्रों में से निकलने वाले 12 तंतुएं (डार्सनलनर्व्स) तथा उनके बाहर के भाग में रही हुई इडा पिंगला की ग्रंथियों की 12

जोड़ियों में से उत्पन्न होने वाले जाले, मानों उस पद्म के केसर (पराग) हैं इसके बारे में आर्यग्रंथों में कहा गया है कि यह पद्म हृदय के भाग में जहां सुषुम्णा मेरु के अंदर है, उसमें रहा हुआ है। वह ओंकार रूप शिव का पूजा स्थान है। वह सिंदूर वर्णवाला होने से उसके आसपास 12 पंखुड़ियां हैं। वह पूर्व दिशा से शुरू करने से बार पंखुड़ियों में नीचे बनाये अनुसार अनुक्रम से **लौल्य प्रणाश** (लौलुपता का नाश, अर्थात् उसका अस्फुरण) **प्रकट वितर्क** (प्रकट ऐसा वितर्क = संकल्प विकल्प), **अनुतापिता** (ताप से थक जाना, पश्चात्ताप करना) **आशा, प्रकाश** (किसी भी चित्तवृत्ति का आकार मन में छिपा नहीं रखना वह) **चिंता, समीहा** (अनिष्ट को निवृत्त करने की इच्छा), **समता** (उत्कर्ष और अपकर्ष शून्य भावना), **दंभ** (लोगों को अपनी तरफ खींच लेने के लिए अंतःकरण में श्रद्धा रखे बिना कार्य करना), **वैकल्य** (पागल हो जाना), **विवेक** (विचार कर कार्य करना) और **अहंकृति** (खुद से अशक्य ऐसे कार्य करने की इच्छा से आग्रह करना) ये 12 वृत्तियां रही हैं। उस हर एक में जीवात्मा प्राणारूढ़ होकर व्याप्त हो जाता है। तब वह सारी वृत्तियों को जीत लेता है। यह पद्म (देखिये आकृति 8) शिव की पूजा के स्थान रूप हैं अतः उसमें रहे हुए उस परमेश्वर का ध्यान करके मानस पूजा करना। आर्यशास्त्र में यह चक्र तथा वह जिसमें रहा है वह हृदय इन दोनों को बहुत महत्त्व दिया हुआ है। जीव का स्थान हृदय में है। इस संबंध में सब उपनिषदों में स्पष्ट कहा है। संगीत रत्नाकर में उस बारे में संक्षेप में नीचे के अनुसार जानकारी दी है–

जागृत–हृदय ही चेतना का स्थान है। जब कि वह तमस् से आवृत्त होता है तब चिदात्मा निमीलित होकर सो जाता है और वही हृदय जब विकारु प्राप्त करता है, तब चिदात्मा जागृत होता है, सोने के बाद की दो स्थिति है। (1) स्वप्न और (2) सुषुप्ति।

स्वप्न–जब बाह्येन्द्रियां हृदय में लीन होती हैं तब चित्तमात्र जागता है, उस अवस्था को स्वप्नावस्था कहते हैं। यह समय चित्त, जागृत अवस्था के समय मन में रहे हुए पदार्थों को देखता है।

सुषुप्ति–जब मन प्राण में लीन हो जाता है तब जीव को गाढ़ निद्रा होती है वह सुषुप्ति है और उसके कारण परमात्मा भी सोता है ऐसा एहसास होता है।

5. विशुद्ध पद्म–पीठ के मनके के ऊपर मेरु का जो भाग गरदन के भाग में आया हुआ है वही उसके सात मनके हैं। वह उस हर एक मनके के पोल में रही हुई सुषुम्णा में अनेक चेतनाचक्रों में के, जो चेतनाचक्रों में थे, गरदन के 8 तंतुएं निकलते हैं, वे 8 चेतनाचक्रों तथा उसके आस-पास के दूसरे आठ चेतनाचक्र मिलकर 16 चेतनाचक्र, उस भाग से निकलने वाले 8 तंतुएं; उसी भाग से मेरु के

बाहर रही हुई इडा पिंगला के तंतुग्रंथियों की 3 जोड़ियां; तथा वे 8 तंतु और तंतुग्रंथि में से निकलने वाली अनेक शाखाएं जो कि गरदन में, मस्तक में और हाथ में जाले रूप से विस्तार पाकर इन सब भागों में ज्ञान, गति और शरीर जीवन व्यापार चलाते हैं उस सारे देश को **विशुद्ध पद्म प्रदेश** नाम दें। इस सारे भाग को आर्यशास्त्र में **विशुद्ध पद्म** कहा है। अतः गरदन के मेरु के 7 मनके मानों पद्म का बाह्याच्छादन है, उसके अंदर रही हुई सुषुम्णा में के 16 चेतना चक्र मानो इस पद्म की 16 पंखुड़ियां हैं और उन 16 चक्रों के बीच में होकर ब्रह्मरन्ध्र तक जाने वाली सूक्ष्म नलिका मानों उस कमल की नाल (नाली) है; इस चेतनाचक्रों में से निकलने वाले गरदन के आठ तंतुओं तथा उनके बाहर रही हुई इड़ापिंगला की ग्रंथियां की 3 जोड़ियों में से उत्पन्न होने वाले जाले मानों उस पद्म के केसर (पराग) हैं। इस बारे में आर्यशास्त्र में कहा है कि विशुद्ध पद्म कंठस्थान में है। उसमें भारती (सरस्वती) का स्थान है। उसमें भावना करने से भारती देवी (वाग्देवी) वाणी के वैभवों को देती है। उस पद्म का रंग धुएं जैसा होने के कारण 16 पंखुड़ियां हैं और उनके अंदर के केसर (पराग) लाल रंग के हैं। उसके पूर्वादि दिशाओं में रहे हुए दलों में जीवात्मा प्राणारूढ़ होता है, तब उसे इस प्रकार फल प्राप्त होता है। (1) प्रथम दल में **प्रणव** का स्थान है। प्रणव यानी ॐ। अतः ओंकार का अनुसंधान करने से आत्मा के आश्रय को पा सकते हैं। यह दल पूर्व दिशा में रहा है। (2) दूसरे दल में **उद्‌गीथ** का स्थान है। सामवेद के प्रणव, उद्‌गीथ, प्रतिहार, उपद्रव और निधन ऐसे पांच भाग हैं, उसमें उद्‌गीथ दूसरा भाग है। अतः सामवेद के उस भाग में कही हुई उपासना करने में उसका चिंतन किया जाता है। (3) तीसरे में **हुंफट** और (4) चौथे में **वषट्** है। यज्ञ में हव्य देने के लिए यह दो अव्यय बोले जाते हैं। (5) पांचवें में **स्वधा** और (6) छठे में **स्वाहा** है। ये दो अव्यय यज्ञ में अनुक्रम से पितृओं को तथा देवताओं को हव्य देने के लिए बोले जाते हैं। (7) सातवें में **तमस्** और (8) आठवें में **अमृत** है, उस दल में जीवात्मा जाता है तब जीवात्मा अमृतमय (मग्न) होकर रहता है। 9-10-11-12-13-14-15 इन सातों दलों में अनुक्रम से षड्‌ज, ऋषभ, गांधार, मध्यम, पंचम, धैवत और निषाद ये सात स्वर रहे हैं, अतः उस-उस दल में उपासना करना चाहिए। 16 वें दल में **विष** रहा है। उस स्थान में रही आत्मा दुःख का अनुभव करती है। आकृति 9 में देखने से इस पद्म की रचना ध्यान में आएगी।

इस प्रकार **मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूर, अनाहत** और **विशुद्ध** ये पांच चक्र तथा ठेठ ऊपर का **सहस्रदल पद्म** (दिमाग) ये 6 पद्म अथवा चक्र के बारे में विस्तार से प्राचीन, अर्वाचीन दोनों शास्त्रों की रीति से एकता कर बनायी। इनके बिना दूसरे आर्यशास्त्रों में दूसरे बहुत से चक्र कहे हैं, उनमें से जो अति आवश्यक है, उस बारे में कहते हैं—

1. ललना चक्र—यह चक्र घंटिका (जीभ के मूल के) स्थान में है। घंटिका यानी उपजिह्वा, जो तालु के नीचे कील जैसी दिखाई देती है सो उसकी पूर्वादि दिशाओं से 12 पंखुड़ियों में अनुक्रम से **मद, मान, स्नेह, शोक, खेद, लब्धता, अरति, संभ्रम, उर्मि,** (भूख, तृषा, शोक, मोह, वृद्धावस्था, मरण), **श्रद्धा, संतोष, उपरोध,** (दाक्षिण्य) ये बारह रहे हुए हैं।

2. आज्ञा चक्र—यह चक्र दोनों भौंहों के बीच में है। यह तीन दल होने के कारण सफेद है। जीवात्मा प्रथम के दल में प्राणारूढ़ होकर प्रवेश करते हैं। तब **सत्वगुण** का आविर्भाव होता है; दूसरे दल में **रजोगुण** का और तीसरे दल में तमोगुण का आविर्भाव देखते है। अधिकतर ग्रंथों में इस चक्र के दो दल कहे हैं, परंतु **संगीत रत्नाकर** की कोलकाता वाली प्रति में 3 दल लिखे हैं और उस पर **सिंहभूपाल** की टीका है। उसमें भी तीन दलों के बारे में ऊपर के अनुसार लिखा है।

3. मनश्चक्र—यह छः दलों वाला होने के कारण आज्ञाचक्र के ऊपर ललाट में है। उसके हर एक दल में अनुक्रम से **स्वप्न, रसोपयोग** (अन्न रस का उपयोग), **घ्राण** (गंध के बारे में ज्ञान), **रूप की स्फूर्ति, स्पर्शन, शब्द बोध** (श्रवण) इन छः का स्थान है। उसमें प्राण सह जीवात्मा विचरता है तब वह उन सबका ज्ञानरूप फल प्राप्त करता है। मनश्चक्र माथे के अग्रिम भाग में आया है। यह बात तथा उसमें दिमाग में से आने वाले ज्ञानतंतुओं की जोड़ियां और उनसे होने वाले स्पर्श, शब्द, रूप, रस, गंध इन पांच प्रकार के ज्ञान, ये सब हाल के शारीर और इन्द्रिय विज्ञान शास्त्र के साथ बिलकुल भिन्नता आता है।*

4. सोमचक्र—मनश्चक्र के ऊपर बालों के मूल में सोमचक्र है। उसका 16 पंखुड़ियां हैं। उसको पूर्व दिशा से लेकर अनुक्रम से सोलह दलों में 16 कलाएं रही हुई हैं। उस हर एक कला में जीवात्मा प्राणारूढ़ होकर घूमता है, तब अनुक्रम से कृपा, क्षमा, सरलता (आर्जव), धैर्य, वैराग्य, धृति, संमद (हर्ष), हास्य, रोमांच, ध्यान से उत्पन्न होने वाले अश्रु स्थिरता, गांभीर्य, उद्यम, निर्मलता, औदार्य, एकाग्रता ये 16 बाबत फल रूप से उसे प्राप्त होती है।

पश्चिम मार्ग और पूर्व मार्ग—इस तरह दो प्रकारों के चक्रों के—पद्मों के मार्ग है। प्रथम प्रकार के परम सुषुम्णा में है और दूसरे प्रकार के पद्म जीभ के मूल से मुख के अग्रिम भाग की तरफ दो भौहों के बीच कपाल के ऊपर और बाद में ठेठ बालों के मूल में रहे हुए हैं। यदि हम पूर्व दिशा की तरफ मुंह करके बैठें तो छाती, नाभि,

---

* यह सारा विषय बहुत मनोरंजक है। उसका विस्तार से प्रतिपादन पाश्चात्य और आर्यशास्त्र दृष्टि से करने बैठे तो बहुत विस्तार होगा। तो भी कोई मानसशास्त्री उस विषय पर स्वतंत्र ग्रंथ लिखना चाहे तो कोई नया प्रकाश जरूर पड़ेगा।

लिंग वगैरह भाग पूर्व की तरफ आयेंगे और पीठ की करोड–मेरुदंड, पीठ, कमर, गुदा वगैरह भाग पश्चिम दिशा की तरफ आयेंगे। यानी **मूलाधार** के **ब्रह्मरंध्र** तक के 6 चक्र पश्चिम की तरफ आएंगे। और ललनाचक्र, आज्ञाचक्र, मनश्चक्र, सोमचक्र ये चार चक्र पूर्व की तरफ आएंगे उन पर से योगियों ने **पूर्व** और **पश्चिम** ऐसे दो प्रकार के मार्ग कहे हैं। योगी अपने प्राण प्राणायाम के द्वारा तथा मुद्दों के अभ्यास से जब ब्रह्मरन्ध्र में ले जाते हैं, तब वहां लीन होता है। अतः वह प्राण ब्रह्मरन्ध्र में ले जाने के लिए आकृति 10 में बताये हुए छः पद्मों को बींध कर उनके बीच के पोल में से ब्रह्मरन्ध्र में ले जाते हैं, अथवा तो उन षड्चक्रों को नहीं बींधते हुए पूर्व दिशा में रहे हुए मात्र ललना चक्रों में से अनुक्रम से सोमचक्र में से ले जाकर ब्रह्मरन्ध्र में ले जाते हैं। उस पर से प्राण को ब्रह्मरन्ध्र में ले जाने को **पश्चिम मार्ग** और **पूर्वमार्ग** ऐसे दो मार्ग कहे हैं। वह आकृति 11 पर से मालूम होगा।

अंतःकरण के तमाम मनोव्यापार और भावनाएं ये सब चेतनाचक्रों के समूहों में से परिणाम प्राप्त करते हैं। जाग्रत अवस्था में हम ऊपर कहे हुए मनोव्यापार चलाते हैं उनकी उत्पत्ति उस-उस स्थान (चक्रों के दलों) में से होती है और उसका आघात दिमाग तक जाता है और वहां के संस्कार प्रकट करने वाले चेतनाचक्रों में ये आघात पहुंचने के बाद अमुक तरह के रसायन मिश्रण के रसायन व्यापार चलता है और ठेठ आखिर में उन संस्कारों की प्रतीति, वासनाओं वगैरह के रूप में जीवात्मा को ही आती है। योगशास्त्र में कही हुई रीति के अनुसार प्राणायाम करके उस प्राण के साथ जीवात्मा उन-उन पंखुड़ियों और चक्रों में प्रवेश कर सकती है, तब उन-उन चक्रों में पूर्व के संग्रहीत संस्कारों का उसे साक्षात्कार होता है और उसी तरह उत्तरोत्तर ऊपर-ऊपर के चक्रों को भेदती हुई ठेठ ब्रह्मरन्ध्र तक जाती है तब उसे सर्व संस्कारों का ज्ञान होता है।

सब नाड़ियों (तंतुएं, धमनी और शिराएँ) की संख्या

प्रख्यात विद्युन्मानस शास्त्री डॉ. डॉडस् कहते हैं कि, जो व्यापार हमारी इच्छा के अधीन नहीं है ऐसे व्यापार चलाने वाले जो अनैच्छिक ज्ञानतंतुएं हैं, ये दिमाग के अंदर के पीछे के भाग में रहे हुए छोटे दिमाग में इकट्ठा होते हैं। वे तंतु परस्पर में क्रिया कर पेंच (स्क्रू) के आकार वाले स्तरों के रूप में फिट होकर, वहां से पीठ की करोड (मेरु) में घुसते हैं, और ऐसे अनेक तंतुओं के द्वारा पीठ की थराड रज्जु (सुषुम्णा) बनी है। उस रज्जु का थोड़ा भाग छोटे दिमाग में रहकर उसके आगे इतनी सारी शाखाएं फूटती हैं कि, हृदय, फेफड़े और शरीर के तमाम अनैच्छिक भागों में वे फैल जाती हैं। उन सब तंतुओं की संख्या इतनी सारी होती है और उनका आकार इतना सारा सूक्ष्म होता है कि करोड़ो की संख्या से भी कट नहीं सकते। ये अनैच्छिक

तंतु पुनः उन हजारों शाखाओं के रूप में करोड रज्जु की पिछली बाजु से घुसकर पुनः दिमाग तक आ मिलती हैं, और हजारों शाखाओं के रूप में बड़े तथा छोटे दिमाग में समाप्त होता है।

और जो व्यापार हमारी इच्छा के अधीन हैं, वे व्यापार चलाने वाले जो ऐच्छिक तंतु हैं, वे भी शरीर के तमाम भागों में से इकट्ठा होकर अपने-अपने में उलझकर ऐच्छिक गति का मुख्य स्थान बड़ा दिमाग में पेंच (स्क्रू) के आकार वाले स्तरों के रूप में फिट रहते हैं, और वे, दोनों दिमागों के साथ मिली हुई करोड रज्जु (सुषुम्णा) में घुसकर खोये के रूप में उसकी अनेक शाखाएं बन कर, वे शाखाएं शरीर के तमाम ऐच्छिक भागों में फैलती हैं, और उस प्रकार से दिमाग के अनैच्छिक और ऐच्छिक ज्ञानतंतुओं के बीच संबंध है और मन का स्थान जाग्रत अवस्था के समय ऐच्छिक और अनैच्छिक तंतुओं के बीच में होता है।

शरीर के अंदर दो तरह के खून को बंटने के लिए हजारों नलियां (नसें) फैली होती हैं। लाल रंग का खून जिन नलियों (नसों) में से बहता है उन्हें **धमनी** कहते हैं और काला रंग का अशुद्ध खून जिन नलियों (नसों) में से बहता है उन्हें **शिरा** कहते हैं। धमनियों में का प्रवाह फेफड़ें में से और हृदय में से लाल रंग का गाढ़ा खून होता है, उसे लेकर, शरीर के ठेठ आंतिम भाग तक पहुंचता है और शिराओं का प्रवाह शरीर के ठेठ अंतिम भाग में आसमानी रंग का अशुद्ध खून खींच कर उसे फेफड़े में और हृदय में लाता है, जिससे वह शुद्ध बनकर लाल रंग में से बाहर निकलने के बाद अनेक शाखाओं में बंट जाता है और उनकी भी लाखों शाखाएं होकर वे नसें केश (बाल) से भी अतिशय सूक्ष्म होने के कारण निरी आंख से देखी नहीं जा सकतीं। ये केशाकार धमनियां शरीर के अंतिम भाग में समाप्त होती हैं वहीं शिराओं का सूक्ष्म केशाकार प्रवाहों का प्रारंभ होता है और इन सब भागों में से उत्पन्न होने वाला खून पुनः फेफड़ें और हृदय में आ मिलता है तब शुद्ध होकर धमनियों में घूम जाता है।

इस तरह दिमाग के ऐच्छिक (प्रबल) और अनैच्छिक (निर्बल) लाखों ज्ञान तंतुओं का शरीर में रही हुई प्रबल (पोजेटिव) और निर्बल (नेगेटिव) विद्युत् वाली लाखों धमनियों तथा शिराओं के साथ (जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति के शरीर व्यापार के साथ जो संबंध है उसके बारे में पहले (पृष्ठ 218-219) में विस्तार से बताये अनुसार) ऐसे प्रकार का गुप्त अथवा अदृश्य संबंध होना चाहिए, कि जिससे इस स्थूल शरीर में नये परमाणु आ मिलते हैं और पुराने जीर्ण हुए परमाणु बाहर फेंके जाते हैं। इस प्रकार ये हजारों तंतुओं और नाड़ियों के बारे में प्राचीन ग्रंथों में यही देखने में आता है।

प्रश्नोपनिषद् में कहा है कि, शरीर में रहे हुए जीवात्मा का स्थान हृदय में है। उस हृदय संबंधी मुख्य 100 नाड़ियां हैं, उनमें की हर एक नाड़ियों के 100-100

भेद होते हैं। उनमें और हर भेदरूप नाड़ी की 72000 उपशाखाएं हैं, अर्थात् सब मिलाकर कुल 727200000 नाड़ियां हैं। उन सब नाड़ियों में **व्यान** वायु घूमता है (तासुव्यानश्चरति)। व्यानवायु बाहर के प्राण को अंदर खींच लेता है और अंदर के अपान वायु को बाहर फेंकता है और व्यापार रूप से सारे शरीर में रहकर खून वगैरह का संचार करवाता है और स्पर्शेन्द्रिय (अर्थात् बाहर के पदार्थों के अहसासों-आघातों वगैरह) का सहाय भूत है। **क्षुरिकोपनिषद्** में कहा है कि ये सब नाड़ियों में 72000 मुख्य हैं, और उन सबका आधार सुषुम्णा नाड़ी है। **गोरक्षशतक, संगीतरत्नाकर** वगैरह सब ग्रंथों में कहा है कि वे सब नाड़ियां मणिपुर (कमर के) मेरु के अंदर के मनकों में जो सुषुम्णा का मोटा कंद (ग्रंथि) जैसा भाग है, जिसे कि हमने पहले **ब्रह्मग्रंथि** कहा था, उस ब्रह्मग्रंथि में से सुषुम्णा और दूसरी तमाम नाड़ियां ब्रह्मरन्ध्र तक फैल कर सारे शरीर में विस्तार से फैल जाती हैं। उनकी संख्या तो अनंत हैं तो भी उनमें 14 नाड़ियां मुख्य हैं। संगीत रत्नाकर में उन 14 नाड़ियों की व्यवस्था और स्थान के बारे में नीचे अनुसार कहा हैः—

व्यवस्था—मुख्य **सुषुम्णा** और उसके आधार पर दूसरी 13 नाड़ियां रही हुई हैं। इड़ा, पिंगला, कुहू, सरस्वही, गांधारी, हस्तिजिह्वा, वारणा, यशस्विनी, विश्वोदरा, शंखिनी, पूषा, पयस्विनी और अलंबुशा, इन सब नाड़ियों में सुषुम्णा, ईड़ा, पिंगला ही मुख्य हैं और उन तीनों में सुषुम्णा मुख्य और श्रेष्ठ है। क्योंकि वह वैष्णवी और मुक्ति मार्ग में ले जाने वाली है और देह को कंद के (ब्रह्मग्रंथि के) मध्यम भाग में आयी हुई है। उसकी बाईं तरफ इड़ा और दाहिनी तरफ पिंगला है। उन दोनों के अंदर अनुक्रम से चंद्र और सूर्य प्राण विचरते हैं। सुषुम्णा नाड़ी कालगति की हेतु है और काल का शोषण करने वाली है। उसके दोनों ओर सरस्वती और कुहू नाड़ी है। इड़ा के पीछे और अग्रिम भाग में गांधारी और हस्ती जिह्वा नाड़ियां हैं। पिंगला के पीछे और अग्रिम भाग में पूषा और यशस्विनी नाम की नाड़ियां हैं। कुहू और हस्ति जिह्वा के मध्य भाग में विश्वोदरा नाड़ी है। कुहू और यशस्विनी नाड़ी के मध्य में वारणा नाम की नाड़ी है। पूषा तथा सरस्वती के मध्य भाग में पयस्विनी आयी हुई है। गांधारिका और सरस्वती के बीच शंखिनी नाड़ी बसती है।

स्थान—अलंबुशा कंद के मध्य भाग में है, इड़ा और पिंगला अनुक्रम के बायीं और दाहिनी नासिका तक रही हुई हैं। कुहू नाड़ी पिंगला के अग्रभाग तक रही हुई है। सरस्वती ऊँचे क्रम तक है। गांधारी पृष्ठ भाग तक रही हुई है, वह बायीं आंख से लेकर पांव के अंगूठे तक रही हुई है। हस्तिजिह्वा बायें नेत्र से आरंभ करके बायें पांव के अंगूठे तक और वारणा सारे शरीर में व्याप्त है। यशस्विनी दाहिने पांव अंगूठे से लेकर देह में और विश्वोदरा नाड़ी तक सारी देह में व्याप्त होकर रही है। शंखिनी

नाड़ी बायें कान तक आयी है। पूषा नाड़ी दाहिनी आंख से आंतों तक रही हुई है। पयस्विनी दाहिने कान तक विस्तरित है। अलंबुशा नाड़ी गुदा के मूल को अवलंबन करके रही है। इस प्रकार मल के संचय से व्याप्त ऐसी इस देह में से बुद्धिमान विद्वान उपाय से भुक्ति और मुक्ति साधते हैं। उसमें सगुण परमात्मा के ध्यान से भुक्ति होती है और निर्गुण परमात्मा के ध्यान से मुक्ति होती है।

सब नाड़ियों (धमनियां, शिराओं और तंतुओं) का परस्पर संबंध और उससे होने वाला शरीर का पोषण व्यापार—शरीर में से जिन-जिन पदार्थों और शक्तियों का व्यय होता जाता है वे-वे पदार्थ पुनः-पुनः तैयार करके शरीर के पोषणार्थ से उसकी भरती होनी चाहिए। वह भरती करने के लिए होजरी (जठर, पक्वाशय) बड़ा कारखाना है। जिन-जिन तत्त्वों का शरीर में से व्यय होता जाता है उन-उन तत्त्वों की पुनः भरती करने के लिए हम अन्न खाते हैं और पानी पीते हैं, उसे खाने के बाद होजरी के अंदर वह जाता है और फिर नीचे लिखे अनुसार उस पर क्रिया होती है—

प्राणायाम के प्रकरण में पहले कहा था कि इस दुनिया की तमाम शक्तियों में विद्युत और चुंबन ये दो शक्तियां श्रेष्ठ हैं और वे ही इस सारे स्थूल विश्व का कारोबार चलाती हैं। परंतु इनसे भी सूक्ष्मशक्ति इस मनुष्य देह में उसके जैसी रहकर तमाम प्राणियों के शरीर और मानसिक राज्यों का कारोबार चलाती हैं उसे **प्राणशक्ति** (व्हाइटल एनर्जी) कहते हैं और पृथ्वी, जल, वायु, तेज, आकाश इन पांच तत्त्वों को अपने मूलरूप से (तन्मात्राओं के मूलरूप में) होते हैं, तब प्राणतत्त्व के साथ संबंध प्राप्त किये होते हैं। प्राण और तत्त्वों का परस्पर इस तरह निकट का संबंध है और वे दोनों इकट्ठे रहकर शरीर का पोषण व्यापार चलाते हैं। प्रथम तो हर एक प्राणी में प्रारब्धकर्मानुसार जितनी प्राणशक्ति कुदरती तौर पर मिली होती है वह मरण तक शरीर के जीवन व्यापार और अंतःकरण के मानसिक व्यापर की क्रिया चलाते हैं। वही प्राण अपने प्रबल निर्बल ध्रुवों के द्वारा चेतना यंत्रों में रही हुई विद्युत की मारफत शरीर पोषण का कार्य यंत्रवत् किया करती है। इस तरह प्राण का व्यापार चलने से उसके साथ जुड़े हुए तत्त्व भी रूपांतर प्राप्त करते हैं और वे दोनों इकट्ठे रहकर शरीर का पोषण व्यापार नीचे मुताबिक चलाते हैं।

प्रसिद्ध विद्युन्मानस शास्त्री डॉ. डॉडस् कहते हैं कि इस ब्रह्मांड में के तमाम तत्त्व सूक्ष्मरूप से विद्युत में भरपूर रहे हैं। लिंगदेह के अंदर रहे हुए प्राण की सत्ता से इस स्थूल चेतनायंत्र में भी प्रबल विद्युत फेफड़ों के द्वारा बाहर से श्वास लेते समय, विश्व में रही हुई निर्बल विद्युत के शरीर में खींचकर आकर्षित कर लेती है। उसके बाद वहां से वह खून में मिल जाती है और खून में के तंतुओं में दाखिल हो कर दिमाग में जा मिलती है; अतः वहां मन को उपयोगी होने लायक होती है। फिर वह

विद्युत मन की अनैच्छिक शक्ति की तरफ पिछले दिमाग (सेरीबेलम) की मारफत सुषुम्णा में उतर कर उनके द्वारा पक्वाशय में जाकर पाचन क्रिया उत्पन्न करने के लिए उपयोगी हो पड़ती है। फिर वहां वह शरीरस्थ विद्युत में रहे हुए ब्रह्मांड में के तमाम प्रबल तत्त्वों का और खुराक में के उसी तरह के निर्बल तत्त्वों का मिलन होता है। सबल विद्युत निर्बल विद्युत को हमेशा आकर्षित करती है, अतः ऐसे आकर्षण से दोनों तत्त्वों का मिलन होने के बाद उसका रसायन-मिश्रण होकर उसका रूपांतर बन कर 'अन्नरस' नाम का प्रवाही रस तैयार होता है। एक तत्त्व दूसरे तत्त्व में अयोग्य रीति से इकट्ठा न हो सके, और उनकी समता में अव्यवस्था न हो सके, सजातीय तत्त्वों का संग्रह और विजातीय तत्त्वों का त्याग और अन्नरस में के पौष्टिक पदार्थों का आकर्षण करके उन पदार्थों को शिराओं में फेंककर उनका पुनः रूपांतर करके, शुद्ध लाल खून बनाना, ये सब काम शरीर में रही हुई चित्त शक्ति की सत्ता के द्वारा विद्युत अपनी प्रबल और निर्बल शक्ति से इतनी सारी व्यवस्था से केवल यंत्र की तरह कर सकती है कि उसमें कभी भी भूल होती ही नहीं।

ऊपर के अनुसार अन्नरस में से शुद्ध खून तैयार होने के बाद उनमें के उत्तम परमाणुओं को शरीरस्थ विद्युत खींच लेकर अपनी प्रबल निर्बल शक्ति से उन परमाणुओं का रूपांतर करके मांस, शिराएं, स्नायुएं, हड्डियां और प्राणियों के शरीर गठन के आवश्यक सभी पदार्थ तैयार करती है; और उसी शक्ति से शरीर में के पुराने परमाणुओं को बाहर फेंक देती है। यह बात विशेष ध्यान में आ सके उसके लिए एक उदाहरण देकर समझें। हमारी हड्डियां फासफेट ऑफ लाइम अथवा चूने के बने हैं। हमारी हड्डियां वय के अनुसार दिन-प्रतिदिन बढ़ती जाती हैं। यह हम देखते हैं। उस पर से स्पष्ट है कि उनमें उसी तरह के नये परमाणु आकर मिलने ही चाहिए। खुराक पक्वाशय में दाखिल होने के बाद शरीर में की विद्युत कि जिसके अंदर तमाम तत्त्व मिश्र हुए ही हैं, उनमें के चूने के तत्त्व प्रबल शक्तिवाले होने के कारण दिमाग से निकल कर अनैच्छिक ज्ञानतंतुओं की मारफत सुषुम्णा में होकर पक्वाशय में जा पहुंचते हैं। फिर खुराक के अंदर रहे हुए निर्बल शक्तिवाले चूना के तत्त्व खिंचे आते हैं और दूसरे तत्त्व वैसे के वैसे पड़े रहते हैं। कारण कि, यह नियम है कि, प्रबल निर्बल ये दो विजातीय विद्युत परस्पर में आकर्षित होती हैं। दिमाग में रहे हुए चूने के प्रबल तत्त्व होजरी में आने के बाद वहां की खुराक में चूना के जो निर्बल तत्त्व होते हैं, उनको तुरंत आकर्षित कर लेते हैं। इस तरह वे तत्त्व खिंचे आने के बाद उसका (खुराक का) अन्नरस बनता है, उसका भी सोखे जाने से रूपांतर होता जाता है और बाद में सेरम (कांजी जैसा सफेद पदार्थ) बनता है। उस सेरम का फिर लाल खून बनता है। इस तरह खुराक में रहे चूने के तत्त्वों, में से खून का द्रव्य तैयार होता

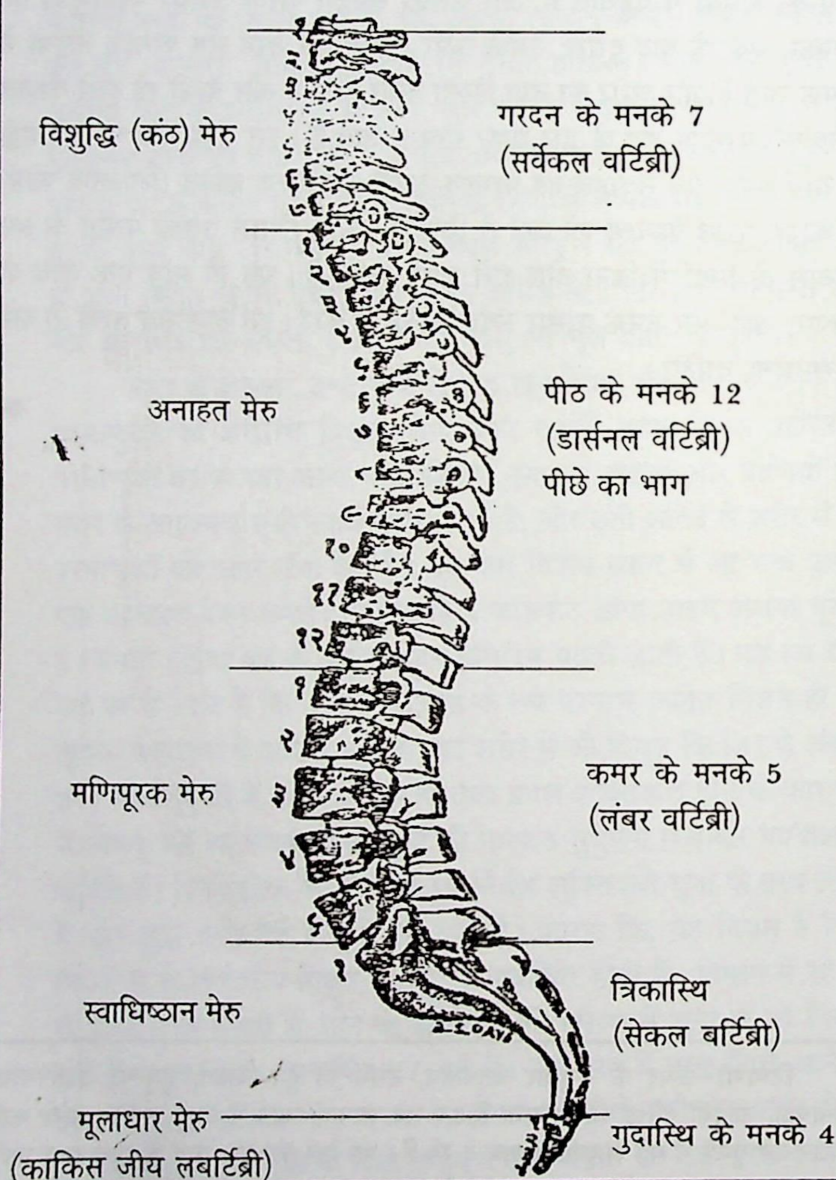
है। वह तैयार होने के बाद विद्युत् में के चूने के तत्त्व खून में के चूने के तत्त्वों को आकर्षित करके उनको यकृत में पहुंचाते हैं। यकृत पित्त तैयार करने वाला यंत्र है, वह अन्न में से इस तरह रूपांतर होकर आये हुए हर एक तरह के तत्त्वों को अलग करके जिस-जिस तत्त्वों की आपूर्ति करता है, विद्युत में के चूने के तत्त्व खून में के उस-उस प्रकार के तत्त्वों को यकृत में खींच लेते हैं और वहाँ से शरीर के हर एक भाग की हड्डियों में पहुंचाते हैं, और उसका रूपांतर करके अस्थिर परमाणुओं को बनाकर, एक के बाद दूसरा, उसके ऊपर तीसरा इस तरह सब परमाणु हड्डियों में चिपक जाते हैं और शरीर का नया हिस्सा तैयार होता है और बाकी रहे दूसरे फाजल (निकम्मे) परमाणु मूत्र के द्वार बाहर निकल जाते हैं। इस तरह नया परमाणु हड्डी के साथ मिल जाने से पहले वह परमाणु अपनी प्रतिसारक शक्ति (रिपल्सीव फोर्स) के कारण पुराने परमाणु को वहां से निकाल देते हैं, जिससे उसको पसीने के रूप में बाल के छिद्रों में बिना बोले चले जाना पड़ता है। यह तो मात्र एक तत्त्व के व्यापार, कार्य और उनके परस्पर संबंध के बारे में कहा। इस तरह सब तत्त्वों के वारे में समझना चाहिए।



टिप्पणी—ऊपर के अनुसार चेतनातंत्र, उसमें रहे हुए दिमाग, सुषुम्णा, ईडापिंगला, चेतनाचक्र, नाड़ियों वगैरह की व्यवस्था हैं इन सब रचनाएं ध्यान में आये इसलिए पहले कही हुई उन-उन पृष्ठों में की आकृतियां अब दे रहे हैं। वह देख कर मूल लेख के साथ-साथ पढ़ने से अब व्यवस्था स्पष्ट तौर पर मालूम पड़ेगी।

यह मेरुदंड गुदा से ठेठ माथे तक ऊपर गया है। वह हड्डियों के लगभग 33 मनकों से एक पर एक लगकर बना है। हर एक मनका पोला होता है और इस तरह सारा मेरुदंड पोला है। उस खाली जगह में खोये जैसा पदार्थ भरा हुआ है उस भाग को सुषुम्णा कहते हैं। वह इस आकृति में दोरी के रूप में हर एक मनके के साथ संबंध वाली बताई है। (देखिए पृष्ठ-313)

मेरुदंड (Spine)



(आकृति-3)

गर्भाशय में गर्भ का आविर्भाव

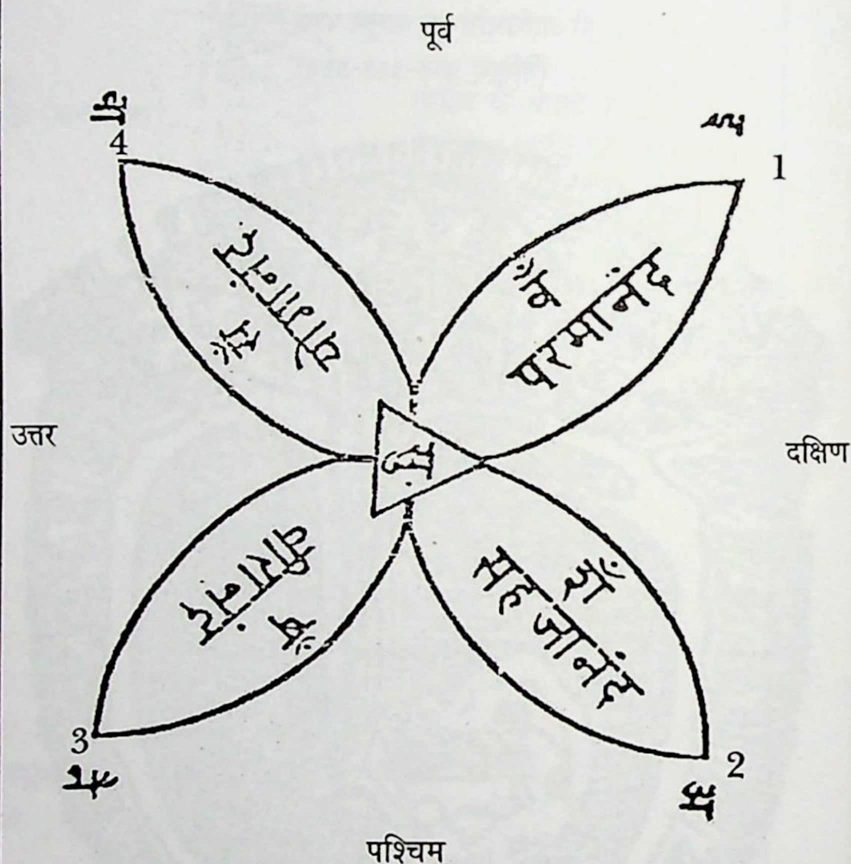
गर्भ में प्रथम मेरुदंड बनता है तथा
नाभि प्रदेश ब्रह्मग्रंथि वगैरह प्रथम
ही आविर्भाव हुए मालूम पड़ते हैं।
(देखिए पृष्ठ-313-314)



(आकृति-4)

मूलाधार पद्म-चक्र

(देखिए पृष्ठ-326)

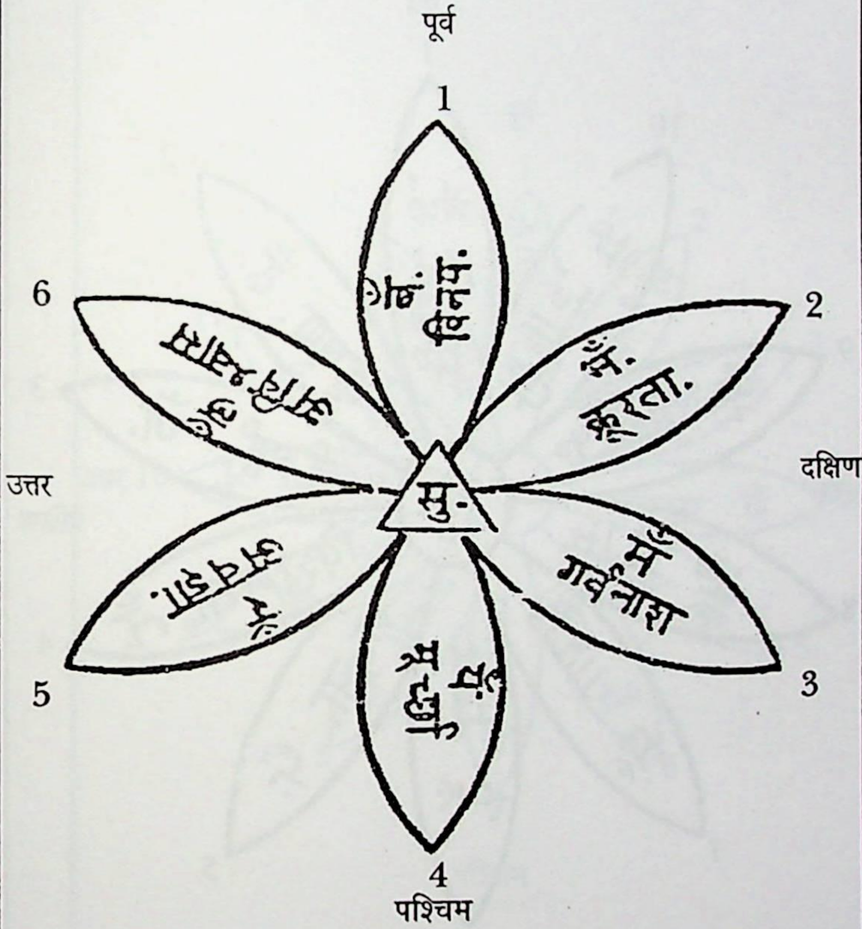


सूचना—यह आकृति पूर्वदिशा की तरफ मुँह करके बैठकर, जमीन पर रखना। अतः पृथ्वी की पूर्व, दक्षिण, पश्चिम और उत्तर दिशा इस आकृति के साथ मिली हुई मालूम होगी। दूसरी आकृतियों के लिए भी यही समझना।

(आकृति-5)

स्वाधिष्ठान पद्म-चक्र

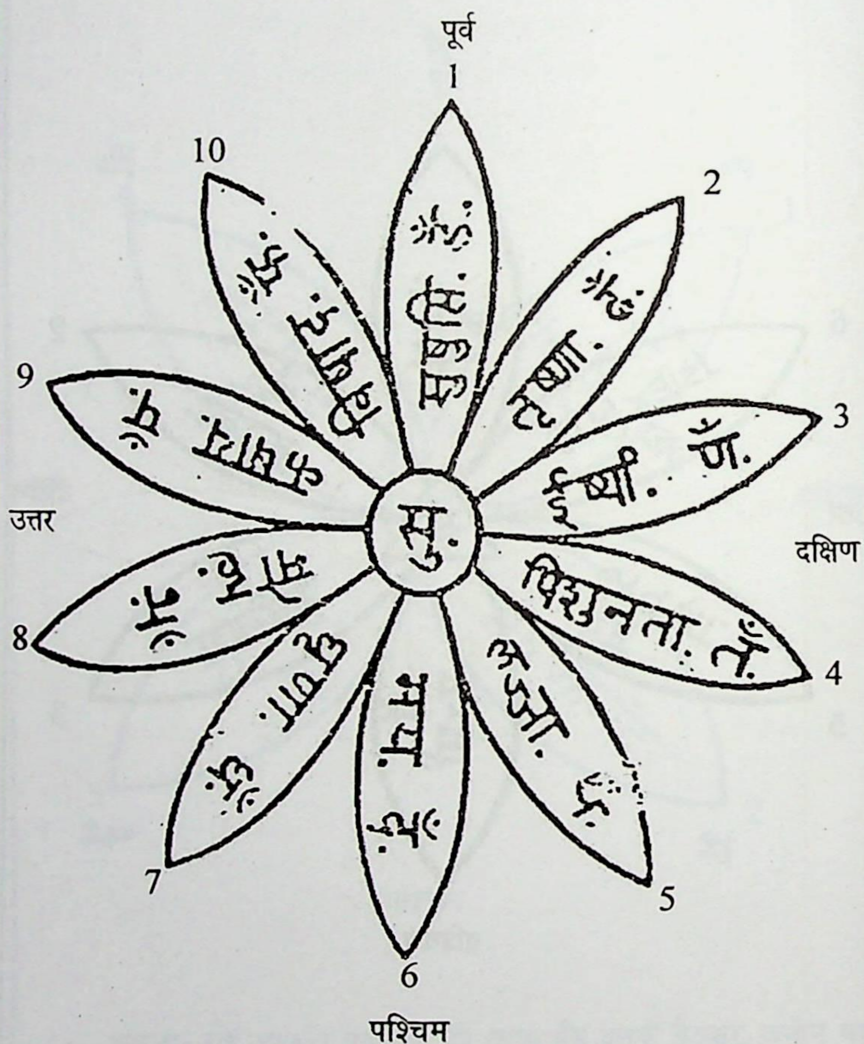
(देखिए पृष्ठ-327)



(आकृति-6)

मणिपूरक पद्म-चक्र

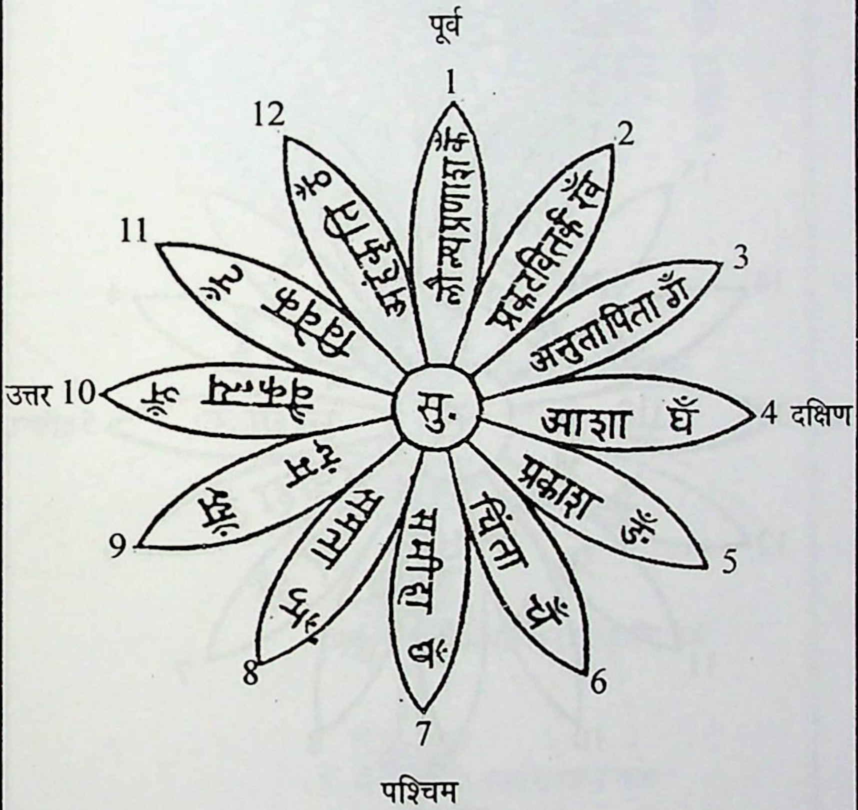
(देखिए पृष्ठ-327)



(आकृति-7)

अनाहत पद्म-चक्र

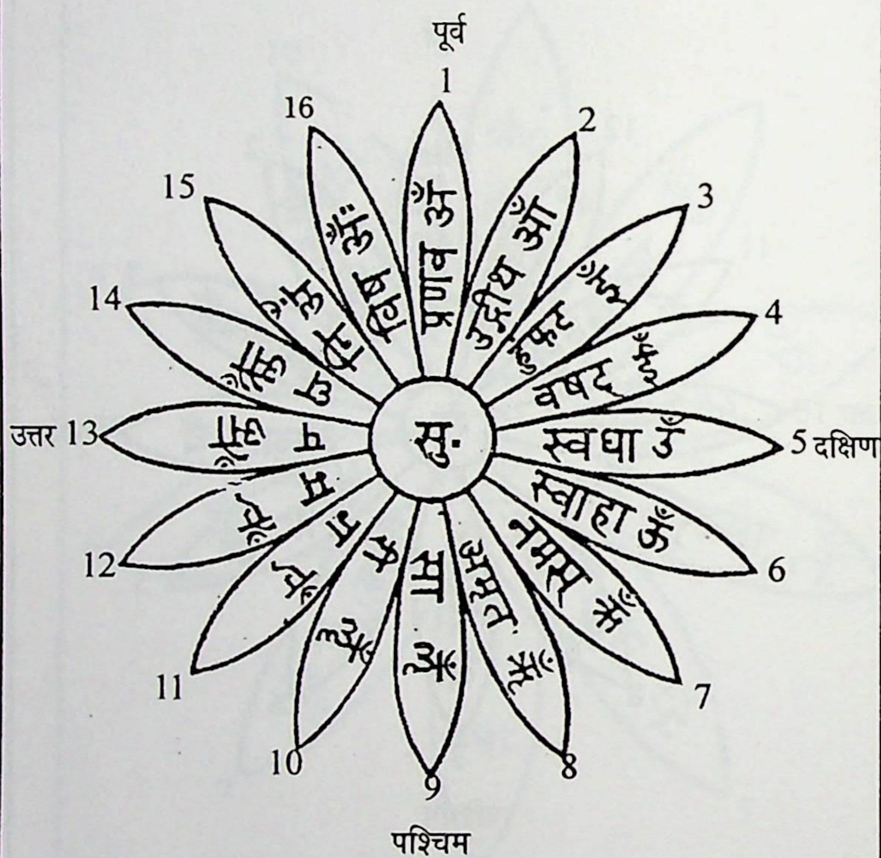
(देखिए पृष्ठ-328)



(आकृति-8)

विशुद्ध पद्म-चक्र

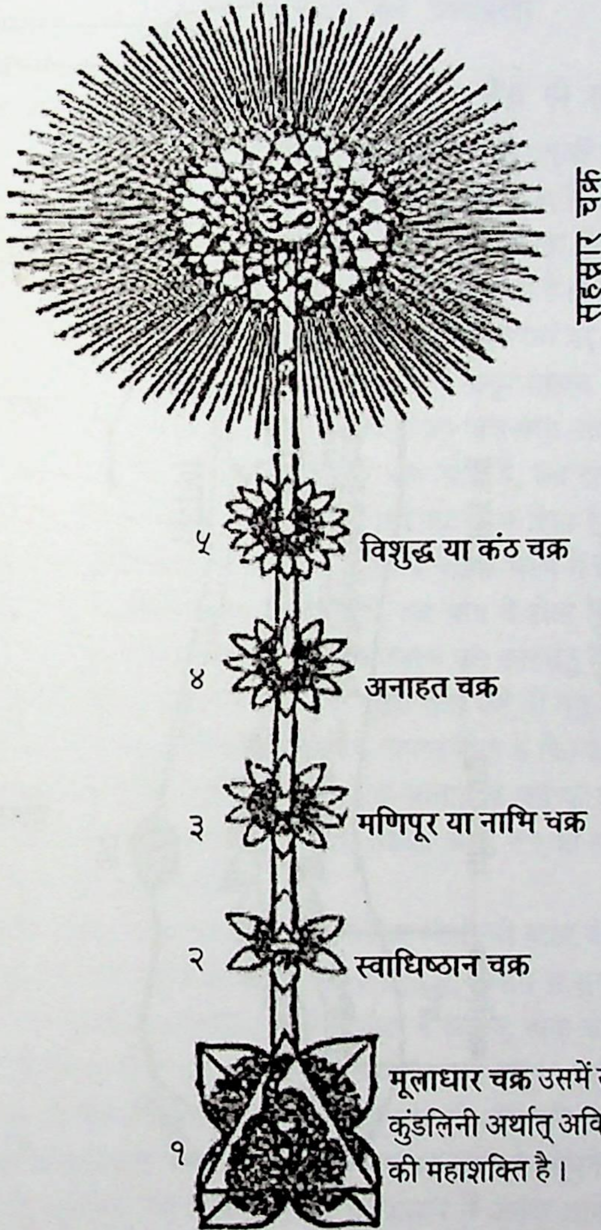
(देखिए पृष्ठ-329)



(आकृति-9)

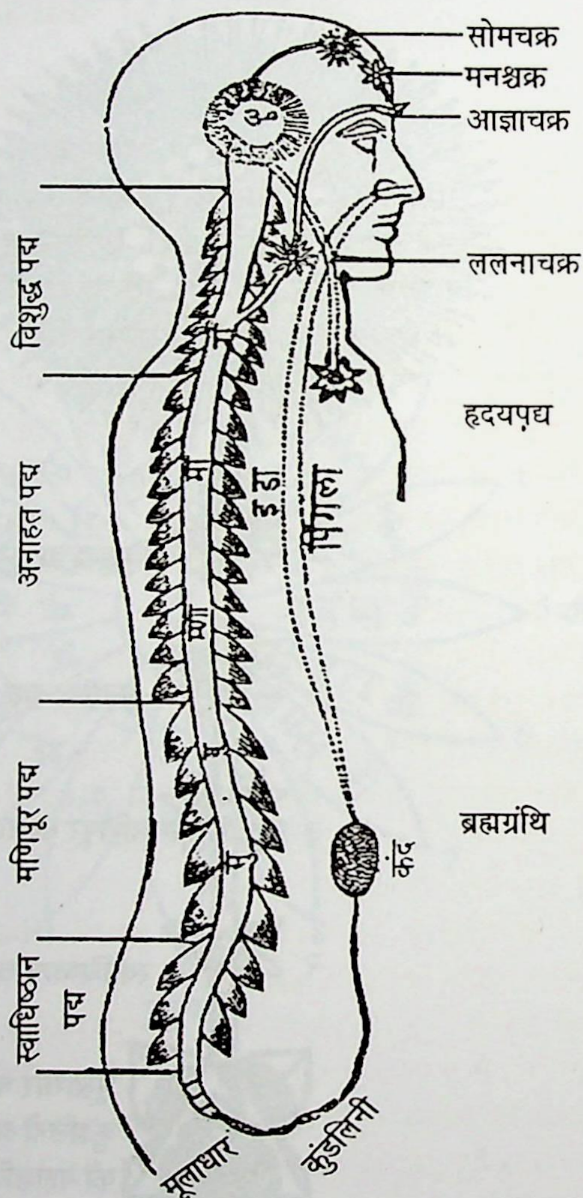
षट्चक्र माला

(देखिए पृष्ठ-331)



(आकृति-10)

(देखिए पृष्ठ-331)



(आकृति-11)

प्रत्यक्ष ज्ञान, संस्कार और स्मरण के बारे में शरीरशास्त्र की व्यवस्था

शब्द, रूप, रस, गंध, स्पर्श का ज्ञान कैसे हो सकता है?

पहले कहा था, कि सारे चेतनातंतु बारीक-बारीक तंतुओं से बने हुए हैं और वे सारे शरीर में फैले हुए हैं। उनमें के कुछ **ज्ञान** और कुछ **क्रिया** का वहन करने वाले हैं। हर एक तंतु सूक्ष्म रूप से जांचने पर एक बारीक कांच की नली जैसा दिखता है, और उसके अंदर **स्वच्छ तेल जैसा पदार्थ** होता है। ज्ञान और क्रिया बह कर जाने का जो मुख्य गुण है, नह यह स्वच्छ तेल जैसे पदार्थ पर आधार रखता है। ऐसे बहुत तंतु मिल कर कुछ समूह बनाते हैं। वे समूह एकाध अपने **चेतनाचक्र** के साथ संबंध रखते हैं। ऐसे बहुत से चेतनाचक्र पास-पास आकर उनकी पंक्ति बनती है। हर एक तंतु के आस-पास एक परत होती है, उस तंतु परत (नर्वशीय) के कारण तंतु का और उस सूक्ष्म स्वच्छ पदार्थ का रक्षण होता है। हर एक तंतु के दो छोर होते हैं, उनमें का एक छोर दिमाग अथवा चेतना स्थान में होता है और दूसरा छोर शरीर के जिस भाग में वह तंतु होता है, उस भाग में होता है। हर कोई पदार्थ हर एक ज्ञानतंतु पर असर करता है, उसके कारण उस ज्ञानतंतु की स्थिति में ऐसा चमत्कारिक परिवर्तन होता है कि (अथवा दूसरी तरह कहें तो तंतु के अंदर जो सूक्ष्म तेल जैसा पदार्थ होता है उसमें ऐसा आघात उत्पन्न होता है कि) वह आघात दिमाग के पोल (ब्रह्मरंध्र) में जा पहुंचता है। फिर उस आघात के बल के अनुसार उस भाग में अमुक रसायन व्यापार चलता है, जिससे उसका असर मन को होता है। यह बात हम घ्राणेन्द्रिय को लेकर जांचें।

सुगंध अथवा दुर्गंध का ज्ञान होने के लिए किसी भी बाहर के पदार्थ की नाक में स्थित तंतु पर असर (आघात) होने की जरूरत है, जिसमें से सुगंध अथवा दुर्गंध आती है, उस पदार्थ के परमाणु हवा में से नाक में आकर, नाक के अंदर के प्रवाही पदार्थ में पिघल न जाय तब तक सुगंध का ज्ञान नहीं होगा। इसीलिए जब नाक के अंदर का आच्छादन सूखा पड़ जाता है तब नाक के अंदर की घ्रार्णेन्द्रिय की कस लेने की शक्ति पूरी तरह अथवा थोड़ी-बहुत कम पड़ जाती है। सूँघने का जो ज्ञानतंतु दिमाग में से आता है वह नाक के अंदर आच्छादन में अनेक शाखाओं के रूप में प्रसारित होता है। सुगंध लेते समय श्वास के साथ उस पदार्थ के परमाणु खिंचे जाकर सुगंध तंतुओं की शाखाओं को असर करता है और उनमें के स्वच्छ पदार्थ पर उसका

असर होता है और आखिर में वह असर दिमाग को पहुँचता है तभी मन को सुगंध का अथवा दुर्गंध का ज्ञान होता है।

यही बात आंख को भी लागू है। कोई मनुष्य जमीन पर का सुंदर दृश्य देखता हो तब उसकी आंख की पुतली में हम देखेंगे तो उसमें खेत, घर, वृक्ष तथा उसके देखने में आने वाले सभी पदार्थों की छवि पड़ी हुई मालूम पड़ेगी। इसका कारण यह कि इन पदार्थों में से प्रकाश की किरणें निकल कर देखने की आंख की पुतली के परदे पर पड़ते हैं और कांच पर फोटोग्राफ पड़ता है। उसी तरह उस परदे पर सब दृश्यों का फोटोग्राफ अथवा चित्र छप जाते हैं। उन सब की छाप आंख में के देखने के तंतु के अंदर जो सूक्ष्म स्वच्छ पदार्थ होता है उसमें से दिमाग पर पड़ती है, तब पदार्थ के दर्शन का ज्ञान मन को होता है। उसी तरह स्पर्श, रस वगैरह प्रत्यक्ष ज्ञान के बारे में समझना।

इस पर से समझ में आएगा कि हमारा ज्ञान एक प्रकार का आघात है। ऐसे-ऐसे रात-दिन जो आघात आते हैं वे निरंतर ज्ञानतंतु दिमाग को अर्पण करते ही रहते हैं।

संस्कार यानी क्या?—ऊपर कहे अनुसार बाह्य पदार्थों के आघात ज्ञानतंतुओं की मारफत जाकर दिमाग में अमुक स्थल पर टकराते हैं और वहां अमुक प्रकार की सूक्ष्म रसायन क्रिया होने से वहां के परमाणु अमुक तरह के आकार वाले होकर रहते हैं, अथवा तो वहां सूक्ष्म गड्ढे पड़ते हैं। सोचो कि, किसी पदार्थ की छली दिमाग में तंतुओं की मारफत छपती है, तो वह छवि यूं मिट नहीं जाती। आंख के परदे पर से वह छवि दिमाग में जाने के बाद, दिमाग के सूक्ष्म द्रव्य पर न मिट सके उस तरह पड़ी रहती है; वह जैसी को तैसी अनेक वर्षों तक पड़ी ही रहती है। दिमाग के पदार्थों के अंदर प्रवेश करके वहां उसकी छाप इतने लंबे समय तक छिपकर पड़ी रहती है, कि हमारे मानने में भी न आये। लेकिन योग्य समय आने पर हमें उस छवि का स्मरण होता है, तब दिमाग में पुनः उसी तरह की योग्य क्रियाएं होकर हमारी आंख के आगे के सब दृश्य मानो पहली बार देखे थे, वैसा ही स्पष्ट मालूम पड़ते हैं। उसी तरह, हर एक इन्द्रिय से प्राप्त होने वाले ज्ञान के आघात, दिमाग के परमाणुओं में उस आघात का जैसा और जितना बल हो उस प्रमाण में कम-अधिक बल से असर (गड्ढे) होता है। उसे ही **संस्कार** (Imperession) कहते हैं। शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध, शीत, उष्ण वगैरह जो ज्ञान के आघात हम लेते हैं सो सब दिमाग के परमाणुओं में टकराने से वह अपने बल के प्रमाण में जो असर होता है, वह सब संस्कार है और ऐसे संस्कार बचपन से आज तक जितने-जितने हमने लिये थे सो सब संस्कार का भंडार (Store-Impresses) दिमाग के अमुक भाग में सुषुम्णा में और इड़ा-पिंगला

की तंतुग्रंथियों के परमाणुओं में (नर्वसेल्स), (Nerve cells) संग्रहित होते हैं।

स्मरण क्रिया (Recollection) कैसे चलती है? पहले जो पदार्थ देखे या अनुभव किये हो वे अनुभव अंतःकरण में पुनः उद्भूत हो उसे स्मृति कहते हैं। ऐसा अनुभव उद्भूत होने के लिए किसी निमित्त कारण से दिमाग के परमाणुओं में एक तरह का व्यापार उत्पन्न होता है। जैसा कि हमने पहले धर्मपुर में दिनमणि नागेश्वर भट्ट को देखा था, उनको अभी देखने की इच्छा अंतःकरण में उत्पन्न हुई है, तो पहले उन गृहस्थ को जब हमने प्रत्यक्ष देखा था, तब उनकी छवि दिमाग के जिन परमाणुओं में छप कर संस्कार पड़े थे, उन परमाणुओं में से अंतःकरण का उस छवि का प्रत्याघात नीचे के अनुसार होगा तब उन गृहस्थ को हम पुनः अनुभव करेंगे। यानी 'स्मरण केवल एक प्रकार से पहले अनुभव किये पदार्थ के आघात से जो संस्कार हुआ हो उसका प्रत्याघात ही है। उसकी क्रिया नीचे मुताबिक चलती है।

किसी भी वस्तु के बारे में विचार चलता है तब दिमाग के तंतुओं वाले अणुओं (सेल्स) में से ले के स्पर्श करने वाले तंतु निकलते हैं। इन तंतुओं के छोर पर बारीक गुच्छे होते हैं। वे गुच्छे, दिमाग के जिन परमाणुओं का स्पर्श करते हैं, और इससे उन अणुओं में रहे संस्कार जाग्रत होने पर क्रिया चलती है और इस तरह किसी भी विषय का स्मरण करने का व्यापार दिमाग में चलता है, तब इस गुच्छे वाले तंतुओं ने जिस अणु में उस विषय का संस्कार किया हो उस अणु का स्पर्श होता है तभी उस विषय का स्मरण होता है, और जब तक ऐसा नहीं होता तब तक वे तंतु दिमाग में आसपास लंबे घूमा करते हैं, ऐसा होता है तब तक दिमाग में विचार नहीं आते हैं और किसी विषय का स्मरण नहीं होता है। लेकिन इस पर से यह नहीं समझना कि पहले अनुभव किये हुए पदार्थ का स्मरण नहीं होता है अतः उस अनुभव के संस्कार धुल जाते होंगे, ऐसा मानना केवल गलत ही है। ये संस्कार तो दृढ़ता से अनंतकाल तक अंतःकरण में पड़े ही रहेंगे। ये संस्कार इस तरह धुल जाय तो मोक्ष दूर नहीं है।

स्मरण शक्ति नाश होने का कारण—यह कारण भी स्पष्ट है। चाहे हुए विषय का संस्कार जिनमें पड़ा हो उन परमाणुओं को, लंबे होकर स्पर्श करने की शक्ति, पहले कहे अनुसार तंतुओं के गुच्छों में नहीं होती है, उसी कारण से किसी चाहे हुए विषय का स्मरण नहीं होता। यदि ये तंतु लंबे होकर संस्कार वाले परमाणुओं के साथ टकरा जाय तभी स्मरण होता है, लेकिन कुछ कारणों से इन तंतुओं की शक्ति क्षीण होने से उनमें स्पर्श करने की शक्ति नहीं रहती है। तंतुओं में ऐसी अशक्ति आने के कारण बहुत हैं। शराब, गांजा, अफीम, तम्बाकू वगैरह मादक पदार्थों के सेवन से तंतुओं में से शक्ति क्षीण होती जाती है। सारे उन्माद करने वाले विषयुक्त पदार्थों से ये तंतु संकुचित हो जाते है, उनमें जड़त्व आते हैं, वे लंबे नहीं हो सकते

और दूसरे यानी संस्कार वाले तंतुओं को स्पर्श नहीं कर सकते। अधिक श्रम करने से भी दिमाग में विष का संचय होता है और परिणामस्वरूप ये तंतु जड़ता प्राप्त करते हैं। बहुत थके हुए मनुष्य के स्मरण रखने के लिए चाही हुई बात का विस्मरण होने का यही कारण है। जो मनुष्य सात्त्विक आहार का सेवन करता है, मिताहारी होता है, शराब, गांजा, तम्बाकू वगैरह जहरीली वस्तुओं का कभी स्पर्श भी नहीं करता है, योग्य व्यायाम, स्वच्छ हवा और स्नान से शरीर में उत्पन्न होने वाले स्थूल विष का सदाचार से सूक्ष्म विष का नाश करता है और इस तरह जिसका खून शुद्ध और निर्विष है उस मनुष्य की ही स्मरणशक्ति अच्छी होती है। थोड़े वर्ष पहले खोजा हुआ फोटोग्राफ नाम का यंत्र जिसने देखा होगा उसके मन में यह बात सहज उतरेगी कि बाहर के पदार्थो का असर दिमाग के परमाणुओं पर किस तरह होता है। संस्कार किस तरह पड़ते हैं और उनमें से स्मृति उत्पन्न होने से उसी प्रकार के ज्ञान की प्रतीति जीवात्मा को किस तरह होती है, ये कैसे बनता होगा। फोटोग्राफ के यंत्र में एक भोंपू होता है, उस भोंपू में हम जो शब्द या गायन बोलते हैं उसके आघात भोंपू के दूसरे छोरे पर टकराते हैं, वे आघात भोंपू के नीचे एक सूक्ष्म पतला कांच का टुकड़ा स्थिति स्थायी होता है, उस पर टकराते हैं। पुनः उस कांच के नीचे नोकदार सूई होती है उसे धक्का लगता है, वह सूई मोम की चूड़ी पर स्क्रू के आकार में घूमती रहती है अतः उस धक्के के प्रमाण में सूई मोम की चूड़ी पर टकराती है उससे वहां गड्ढे पड़ते हैं और इस तरह हम जितना बोलते अथवा गाते हैं उसके आघात अथवा संस्कार मोम की चूड़ियों पर खुद जाते हैं। अब जब वही बोले हुए शब्द हमें सुनने हों तो उस नोकदार सूई के बदले खुद सूई रखकर यंत्र चलाते हैं, अतः सारी चूड़ी पूर्ववत् चलती है और पहले नोकदार सूई से जो गड्ढे पड़े थे उस गड्ढे में यह कुंद सूई गिरती है और गड्ढे के कम-अधिक प्रमाण में ऊँची-नीची होती है। ऐसा होने से उसका जो प्रत्याघात होता है वह कांच पर आता है, कांच पर टकराने के बाद भोंपू की हवा में उस प्रत्याघात का जोर होता है अतः हवा के परमाणु आंदोलन प्राप्त करके पुनः हम जो शब्द बोले हुए हैं, वे सुनाई देते हैं।

ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों के अणु चेतनायंत्र से भिन्न हैं?

ज्ञानेन्द्रियों के अणु परस्पर अलग-अलग और चेतनायंत्र से श्वास अलग तरह के होने चाहिए। यह प्रयोगों पर से मालूम पड़ा है। आंखों की पुतलियां और दिमाग के साथ जोड़ने वाले दर्शनज्ञान तंतु, कान में पड़ने वाली और उनके दिमाग के साथ जुड़ने वाली श्रवण ज्ञान तन्तु, ये कोई ज्ञानेन्द्रियां नहीं हैं, वे तो मात्र ज्ञानेन्द्रियों के अणुओं को अपने विषय यानी रंगरूप, शब्द को जाग्रत अवस्था में ग्रहण करने के हथियार हैं और ज्ञानेन्द्रियों के तंतु स्वयं जिन चेतना चक्रों में से निकलते हैं, उन

चेतना चक्रों में ज्ञानेन्द्रियों के अणु जाग्रत अवस्था के समय निवास करते हैं और एक ज्ञानेन्द्रिय का अणु दूसरी ज्ञानेन्द्रिय का काम नहीं करता। जैसा कि नेत्रेन्द्रिय के अणु मात्र पदार्थ के रंग-रूप का ही काम करेंगे। उनसे कभी भी शब्द सुनने का काम हो नहीं सकेगा। सोचो कि एक मनुष्य जन्म से अंधा है। उसकी पुलती और उसके साथ संबंध रखने वाले तंतु बिलकुल निकम्मा हो गया है, परंतु वह तंतु जिस चेतनाचक्र में से निकलता है उस चेतनाचक्र में रंग-रूप को ग्रहण करने वाली ज्ञानेन्द्रिय फिट है। अब जो मनुष्य जन्म से अंधा हो उसे यदि किताब या दूसरा कोई पदार्थ देखना हो तो उस पदार्थ का और रूप को ग्रहण करने वाली ज्ञानेन्द्रिय के अणु योग्य युक्ति से संबंध कर दिया जाय तो वह मनुष्य पदार्थ का दर्शन कर सकेगा और यह बात हाल की खोजों से सत्य भी है। डॉ. पीटरस्टीन्स नाम के विद्युत् शास्त्री ने अंधे मनुष्य देख सके वैसा यंत्र ढूंढ़ निकाला है। उस विद्वान की खोज से थोड़े समय में लोगों के उपयोग में आये, ऐसा यंत्र बनाया जा सकेगा। अंधे मनुष्य को जो पदार्थ दिखाना हो उस पर विद्युत् के अमुक प्रकार के किरण डाले जाते हैं, अर्थात् उस पदार्थ को विद्युत् से प्रकाशित किया जाता है। फिर उस पदार्थ पर से परावर्तित विद्युत् के किरण एक स्वयं ढूंढ़े हुए यंत्र पर गिराये जाते हैं, उस यंत्र के साथ प्रथम तो उस अंधे मनुष्य के सिर के साथ संबंध किया जाता है, जिससे उस दृश्य पदार्थ को किरण यंत्र द्वारा सीधे उस अंधे मनुष्य के दिमाग में प्रवेश पाते हैं तथा रूप को ग्रहण करने वाली इन्द्रिय का अणु जो चेतना चक्र में फिट है उस भाग में वे किरण पहुंचते हैं, उससे दिमाग में रहे हुए अंतःकरण के साथ चेतन जिसे कि जीवात्मा कहते हैं वह बिना आंखों के भी पदार्थ को देख सकता है। एक वर्तमान पत्र के नेत्र ज्योति वाले रिपोर्टर की आंखों पर पट्टी बांध कर उसी तरह प्रयोग करके उस शोधक ने यकीन करवा दिया था।

इन सब प्रयोगों से सिद्ध होता है कि ज्ञानेन्द्रिय के अणु मात्र दिमाग के अमुक भाग में रहकर, उसके द्वारा अपने स्थूल गोलकों-यंत्रों के द्वारा बाह्य विश्व के पदार्थों की प्रतिमाओं को अथवा असरों को ग्रहण करता है। उसी तरह कर्मेन्द्रियां भी अंतःकरण की इच्छा अथवा उसका जो हुक्म हो उसका अमल स्वयं गति-क्रियातंतु के चेतनाचक्र में रहकर उसके द्वारा स्थूल अवयवों को हिला-चला लेने-देने का काम करती है। निद्रा जागरण के प्रदर्शन (Phenomena of Somnambulism) पर से तथा प्राणविनिमय में विधेय को जब विश्व दृष्टि (Clairvoyance) होती है, उस समय की घटनाओं पर से यह सिद्ध होता है कि उस समय दिमाग तो स्तब्ध होता है और इन्द्रियों के स्थान बदल जाते हैं, आंखें बंद होती हैं फिर भी दूर-देश के पदार्थ देखे जाते हैं। उसी तरह विधेय के कान में बात करने में आये तो उसके सुनने में नहीं आती, लेकिन उसके हाथ की उंगली के अग्रभाग को अपने मुंह के समक्ष लाकर

बात करें, अथवा पेट के समक्ष बात करें तो वह तुरंत सुनता है। इस बारे में मरहूम मि. मणिलाल अपने प्राणविनियम (पृ. 52) में लिखते हैं कि इसमें श्रवणेन्द्रिय का स्थान बदल जाता है इतना ही नहीं, बल्कि चक्षुरिन्द्रिय तो बहुधा चमत्कारिक रीति से स्थान बदले बिना रहती ही नहीं। मेरा विधेय कुछ पढ़ने या देखने दे तो तुरंत कपाल और सिर के बीच में या ठेठ माथा पर के भ्रकुटि पर रखकर पढ़ सकता था। बहुत लोग पांव तले दबाकर पढ़ सकते हैं, कोई पेट पर रखकर पढ़ या देख सकते हैं। इन सब घटनाओं से यह सिद्ध होता है कि कर्मेन्द्रिय और ज्ञानेन्द्रियों के अणु यदि दिमाग के अमुक भाग के ही विभागों में हो तो यूं उनके स्थान बदलने नहीं चाहिए। क्योंकि चाहे वैसी स्थिति में भी जिस-तिस इन्द्रियों के स्थान जहां के तहां ही रहते हैं। लेकिन जब पांव के पास किताब रख कर पढ़ा जा सके, उंगली के अग्र भाग के समक्ष बात कहें सो सुनी जा सके वगैरह पर से उन ज्ञानेन्द्रियों के अणु दिमाग से खास अलग रहकर जाग्रत, स्वप्न, तुर्या वगैरह अवस्थाओं के समय शरीर के अमुक स्थान में रह कर विषयों को ग्रहण करते हैं यह सिद्ध होता हैं। बहुत से अनुभवियों और योगियों के मत के अनुसार स्वप्नावस्था के समय अंतःकरण जो सूक्ष्म भोग भोगता है और जो व्यवहार करता है उस-उस अवस्था के समय सच्चा होता है और उस समय जो सूक्ष्म शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध उन विषयों को ग्रहण करने वाली ज्ञानेन्द्रियों के अणु होते हैं, वे स्थूल आंख, नाक, कान वगैरह तथा उनके ज्ञानतंतु ये सब बंध होने पर भी जो ज्ञान ग्रहण करते हैं सो वही है। इन सब पर से तथा दूसरे बहुत सूक्ष्म प्रमाणों पर से यह सिद्ध होता है कि जाग्रत में, स्वप्न में, निद्रा, संयम और मरण अवस्था के समय अंतःकरण विषयों का ज्ञान जिन-जिन अणुओं की मारफत ग्रहण करता है और जिन अणुओं की मारफत कर्म कर सकता है वे अणु अंतःकरण के साधनरूप होकर दिमाग से बिलकुल भिन्न होते हैं और अलग-अलग अवस्था के समय जिन-जिन अवयवों की मारफत अंतःकरण ज्ञान का ग्रहण करता है और कार्य करने का कर्म करता है वे अवयव मात्र स्थूल अवयव ही हैं।

अंतःकरण के अणु भी चेतनायंत्र से भिन्न हैं

पश्चिम देश के विद्वान अंतःकरण को चेतना यंत्र के विकार रूप में मानते हैं, परंतु मनुष्य देह में जो विश्वास अंतःकरण है, वे इस तरह विकार के रूप में नहीं थे, वे स्वतंत्र द्रव्य रूप में सत्तावान् हैं और इससे अंतःकरण के अणु भी ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों से बिलकुल अलग ही प्रकार के हैं। सो नीचे दिये गये प्रयोगों तथा अनुभव पर से सिद्ध होता है।

यूरोप के मानसशास्त्रवेत्ता अंतःकरण को दिमाग के विकार रूप में मानकर

नीचे मुताबिक सारी व्यवस्था समझाते हैं। विकार रूप में परिवर्तित दिमाग का अंतःकरण रूप व्यापार तीन प्रकार के परिणामरूप बाहर मालूम पड़ता है।– (1) **विचार** (Thought) **रूप में, (2) भावना (Sentiment or Feeling) रूप में और (3) इच्छा (Will)** रूप में। उसमें विचारमय व्यापार अंतःकरण रूप भूमिका में ही होते हैं, भावनामय व्यापार ज्ञानेन्द्रिय तक परिणाम प्राप्त करते हैं और इच्छा साक्षात् कर्मेन्द्रिय के व्यापार तक अपने-अपने कार्यों को प्रकट करते हैं अथवा दूसरे ढंग से उनके शब्दों में कहें तो मनुष्य के शरीर में ज्ञानशक्ति (Cognition), क्रियाशक्ति (Action) और इच्छाशवित्त (Desire) इन तीन तरह की शक्ति के मूल बीजरूप दिमाग और उसके विकाररूप अंतःकरण उसके व्यापार रात-दिन बनते ही रहते हैं। इस अंतःकरण के व्यापारों का ऐसा स्वभाव है कि जिस प्रकार का उसका परिणाम आंतरबाह्यनिमित्त कारण से हो, उसके जैसे ही परिणाम वृत्ति को पुनःपुनः प्रकट करते हैं। अंतःकरण के ऐसे स्वभाव को पुनराचरण का नियम (Law of Persistence) कहते हैं। मनोव्यापार से पड़े संस्कार, समान जातीय परिणामों को पुनः-पुनः प्रकट करके मनुष्य स्वभाव का अभिप्राय बंधवा देते हैं। पुनराचरण का नियम विचार, भावना और इच्छा में भी जुड़ा हुआ है। किसी भी समय एक पदार्थ के स्वरूप के संबंध का विचार प्रवाह; उसकी अनुकूलतता संबंधी भावना का प्रवाह उत्पन्न होता है। अतः भविष्य में उस संबंधी विचार, भावना, इच्छा ये तीन अवश्य उत्पन्न होते हैं। अंतःकरण के इस पुनराचरण के नियम से बुद्धि कोटि में स्मृति की प्रक्रिया, रसकोटि में भाव की प्रक्रिया और इच्छा कोटि में चारित्र्य यानि कि बरताव की प्रक्रिया स्पष्ट होती है।*

एक जर्मन विद्वान ने यह गणना की है कि संस्कार मात्र को धारण रखने वाले दिमाग के परमाणु (सेल्स) की संख्या तीस करोड़ तक है और हर रोज जो जो मानसिक व्यापार होते हैं, उससे, उनमें के पचास लाख के उपरांत परमाणुओं का क्षय होता जाता है, इस गिनती के अनुसार तो दिमाग के सारे परमाणु दो महीने में क्षय होकर केवल नये परमाणुओं का दिमाग बनता है। इसी तरह अनैच्छिक ज्ञान तंतुओं की विद्युत् ज्ञान शक्ति से शरीर में के मांस के परमाणु बाहर फेंके जाते हैं और उसी

---

* यहां बताना चाहिए कि, विचार के विविध रूपों का विवेचन न्यायशास्त्र (Logic) करता है, कि जिसके द्वारा ज्ञान की प्राप्ति या सत्य पदार्थ का परिशोधन होता है। रसशास्त्र (Aesthetics) भावनीय पदार्थ का मन के साथ का अनुकूल संबंध ढूंढ़ निकाल कर प्रतिकूल संबंध का बाधपूर्वक सौंदर्य का भान और रस की निष्पत्ति कराता है। कर्त्ता और क्रिया के साथ का संबंध, अर्थात् कर्तृस्थ इच्छा का स्वरूप कि जिस पर पुरुष की नीति अनीति के संबंध का अभिप्राय बंधा जा सकता है उसका संशोधन करना यह नीतिशास्त्र (Ethics) और धर्मशास्त्र का विषय है।

शक्ति से उसी स्थान नये-नये आ मिले तमाम परमाणुओं का जमा-खर्च (आय-व्यय) हमेशा समान रहता है। इस तरह विचार करने पर डॉ. डाट्स तो कहते हैं कि शरीर में के तमाम परमाणु एक वर्ष में बदल जाते हैं और हड्डियों के तमाम परमाणु 7 वर्ष में बदल जाते हैं। इस पर से भी स्थूल रीति से यह अनुमान हो सकता है कि विचार, भावना और इच्छाओं के कारणरूप जो द्रव्यरूप सूक्ष्मतम परमाणु यदि वे दिमाग के परमाणुओं के विकार रूप ही हों, अथवा उसके किसी भी सूक्ष्मतम विभाग के तौर पर हों, तो भी हममें लगभग 30-30, 40-40 बरस के इतना ही नहीं लेकिन अनंतकाल में भी बचपन के अनुभव स्फुटित हो आते हैं, वे स्फुटित नहीं होने चाहिए, क्योंकि एक परमाणु के जाने के समय उसी जगह पूरने के लिए पूरनेवाला जो नया परमाणु आया था, उसे अपने संस्कार प्रथम बार देकर खुद सुखकर निकल जाय, तो भी इस तरह बहुत बरस होने के बाद नये-नये समय में नये-नये प्राप्त संस्कारों के अभ्यास के कारण पीछे के संस्कार बिलकुल धुल जाने चाहिए।

निद्राजागरण (Somnambulism) अर्थात् निद्रा में होने पर भी उठकर घूमना, काम करना और उसका जागने के बाद जरा भी स्मरण न रहना, उस पर से भी साबित होता है कि अंतःकरण यह मात्र दिमाग के रूप नहीं है, लेकिन बिलकुल स्वतंत्र है। निद्राजागरण की शक्ति लाने के प्रयत्न से नहीं आती, लेकिन अमुक शरीर स्थिति वाले मनुष्यों में वह स्वाभाविक होती है। मनुष्य लेट जाते हैं, सो जाते हैं, और फिर (नींद में) उठकर घूमते-फिरते हैं, उतना ही नहीं लेकिन जाग्रत अवस्था में न कर सके वैसे विकट (कठिन) काम बहुत सूक्ष्म तरीके से कर देते हैं। ग्रंथकारों ने अपने ग्रंथ के अपूर्ण रहे हुए पन्ने के पन्ने ऐसी स्थिति में लिखे हैं। किसी उलझे प्रश्न के खुलासे इस समय में दर्ज कर लिये हैं। सामान्य काम करने वालों ने अनाज पीसने, कूटने या भरने-सीने के काम भी कर लिये हैं और सब फिर सो जा कर अच्छी तरह निद्राधीन हुए हैं। जाग कर अपने ही काम देखने पर सब आश्चर्यचकित रह गये हैं। किसी ने देव की, किसी ने भूत की अपने को सहाय है, ऐसी कल्पनाएं की हैं। हमारे लोगों में अधिकतर स्त्रियों को अच्छे भूत चिपकने की बात कही जाती है, और लोग कहते हैं कि रात में आकर वह भूत अनाज पीस जाते हैं, काम कर जाते हैं इत्यादि;* लेकिन वह स्त्री स्वयं ही यह काम करने वाली होती है। ऐसे मनुष्य निद्रा जागरण की दशा में जो कर्म करते हैं वे अपूर्ण रहते हैं तो पुनः वह स्थिति प्राप्त

* ऐसी स्थिति में घूमते या काम करते हुए मनुष्यों को देखने से तय हुआ है कि, मनुष्य में स्वाभाविक तौर पर प्रत्यग्दृष्टि (Ecstacy) खुल जाने से ही ये सब प्रसंग बन जाते हैं, और उसी पर से प्राणविनियम के कृत्रिम विश्वदृष्टि और प्रत्यग्दृष्टि के प्रयोग की सूचना हुई है। (देखिये प्राणविनिमय) पृ. 82।

होने पर जहां से अपूर्ण हो वहां से शुरू करते हैं, लेकिन साधारण दशा में आने पर इन सबका भान सरीखा भी नहीं रहता। (इससे यह भी सिद्ध होता है कि एक ही समय में दो प्रकार का जीवित (जीवन) एक ही देह से दिखता है।) अतः विचार, भावना और इच्छा यह जिसका गुण है ऐसे अणु यदि दिमाग से भिन्न हों तो जैसे स्वप्न में का भान जाग्रत होता है उसी तरह निद्रा जागरण की तमाम अवस्था काम करने वाला वही दिमाग और उसके ही परमाणु समूह हो तो अवश्य भान रहना चाहिए। इससे सिद्धि होता है कि ज्ञानशक्ति, क्रियाशक्ति और इच्छाशक्ति के मूल कारण रूप अति सूक्ष्म द्रव्य दिमाग से बिलकुल भिन्न होने चाहिए और जिसे अंग्रेजी में **डबल कोन्श्यसनेस, डबल माइन्ड** (Double Consciousness, Double Mind) वगैरह प्रक्रिया कही जाती है वह भी इस बात का समर्थन करती है। इस बारे में सन् 1899 के जुलाई महीने के 'दी न्यूज' नाम के मासिक के अंक में चार्ल्स स्टर्निंग नामके मनुष्य की हकीकत आयी थी। वह मनुष्य 24 वर्ष की उम्र का था और उसका शरीर बहुत तंदुरुस्त था और उसका दिमाग भी अच्छा था। दिनांक 19 नवम्बर के दिन उस मनुष्य की ज्ञानशक्ति एकाएक नष्ट हो गई और एक बालक जैसा बना रहा और उस समय अपने पिता, माता, पत्नी, मित्र वगैरह सबको भूल गया, किसी को भी पहचान नहीं सका। उसको देखने आने वाले बहुत से मित्रों ने उससे बहुत पूछा, लेकिन वह शब्द ज्ञान बिना का हो गया था। अतः कुछ समझ नहीं सका। ऐसा होने पर उसे पुनः एक से शिक्षा देना शुरू किया और अल्प समय में वह बहुत ज्ञान संपादन कर सका तथा 10 वर्ष का बालक जिस चपलता से बातचीत से बातचीत कर सके वैसा समर्थ हुआ। उसका पूर्व का ज्ञान नष्ट हुआ था, जिससे स्त्री-पुरुष भेद, पिता-पुत्र, माता, सूर्य, चन्द्र, तारे वगैरह की समझ पुनः आरंभ से ही देनी पड़ी थी। इससे दूसरा परिणाम यह देखने में आया कि, पहले 'बिल्यर्ड' नाम का खेल, पियानो बजाना वगैरह अच्छा खेल था, बजा नहीं सकता था, परंतु इस समय तो वह उत्तम खेल सकता था और पियानो बजा सकता था और पहले वह दृढ़ आस्तिक था, वह इस विक्रिया होने के बाद नास्तिक हो गया। उसकी पत्नी उसके पास बार-बार जाती थी, यद्यपि पूर्व की पहचान तो वह भूल गया था, फिर भी वह इस समय बार-बार मिलती, जिससे उसे उस स्त्री में पुनः प्रीति हुई। इस तरह उसमें पूर्ण अंश में सयानेपन के चिह्न उसके डॉक्टर की जानकारी में आये, फिर भी उसे पूर्व की स्थिति तो अप्राप्त ही रही। अतः डॉक्टर ने उस पर प्राण विनिमय का प्रयोग आजमाना आरंभ किया। लेकिन उससे चाहा असर नहीं हुआ और उसे पूर्व के परिचित स्थानों पर ले जाया गया, लेकिन उसकी नष्ट स्मृति पुनः जाग्रत नहीं हुई। फिर एक दफा दिनांक 15 फरवरी को शाम को वह एकाएक बोला कि

'आश्चर्य है कि मेरा आधा दिमाग चेतनारहित हो गया है, और उसमें वेदना जैसा होता है।' फिर उसे थोड़ी अधिक सुस्ती लगी अतः उसे सोने दिया गया। रात 11 बजे वह जगा। इस समय उसके पिता उस कमरे में थे। उसने अपने पिता को पहचाना और पूछा कि आप यहां क्या करते हैं? कितने बजे हैं? उसके पिता ने कहा कि 11 बजे हैं, उस पर से उसने कहा कि 'आपकी घड़ी लेट होगी। बारह बजने के बाद तो मैं कमरे में आया हूँ।' इतना कहकर कमरे में देखा तो सारा कमरा बदला हुआ उसके देखने में आया। उस पर से आश्चर्यचकित होकर बोला कि यह मेरा कमरा नहीं है कैसा आश्चर्य कि बारह बजने के बाद एक कमरे में सोया था और ग्यारह बजे दूसरे कमरे में जागा, यह कैसे संभव है? फिर उसके पिता ने पूछा कि आज कौन सी तारीख है? उस पर से उसने संकोच करते हुए बताया, कि '20वीं हुई होगी'। उसके पिता ने दूसरा प्रश्न पूछा कि 'कौन से महीने की?' तब उसने तुरंत कहा कि, 'वह तो नवम्बर की, उसमें क्या शक?' ऐसे ही दूसरे बहुत प्रश्न पूछे उनके उत्तर उसने सही दिये और खुद को जो विक्रिया हुई थी, उसके पहले के समय का सारा वर्णन किया। मानों 19 नवम्बर की रात को वह सोया था और जाग भी उठा है और उसमें एक दिन भी नहीं गया है, इस प्रकार का उसे हो गया था। और बीच में जो 3 महीने बीत गये और थोड़े समय में उसने जो नयी शिक्षा पायी थी सो भान वह भूल गया था। उस दरमियान के तीन महीने के समय में प्राप्त किया हुआ ज्ञान, कौशल वगैरह समय के साथ ही चला गया और सही 19 वीं नवम्बर का स्टर्निंगहो वैसा वह हो रहा।

इस घटना की व्यवस्था शरीरशास्त्रज्ञ इस प्रकार करते हैं। कल्पना कीजिये कि आंख से हमें पुस्तक का ज्ञान हुआ, तो पुस्तक का प्रतिबिम्ब उस इन्द्रिय से टकराता है जिसे उसका आघात ज्ञानतंतु के अग्रिम भाग पर हुआ । अब उस ज्ञानतंतु का आघात वहां से उसके मूल में चला जाता है; जिससे आंख से टकराये हुऐ पदार्थ का ज्ञान होता है। दिमाग की अच्छी स्थिति में इस तरह आया हुआ आघात मात्र ज्ञानतंतु के मूल तक ही आकर नहीं रूकता है लेकिन इस भाग में आ पड़ा आघात रसायन क्रिया उत्पन्न करता है; जिससे पुनः उस जगह से आघात निकलता है वह उस मूल के भाग में से निकलते दूसरे तंतुओं में मिल जाता है और वहां परिणामस्वरूप विक्रिया करता है और उसमें पहले अनुभव किये हुए पदार्थों के संस्कार पड़े रहते हैं और जब-जब ज्ञानतंतु के मूल में से ऊपर के अनुसार जो-जो आघात आये तब-तब उस-उस आघात के क्षोभ से यह पड़े हुए संस्कार जाग्रत होते हैं। अतः पूर्व की स्मृति होती है। इस प्रकार अनुभव और स्मृति की व्यवस्था है। अब स्टर्निंग के संबंध में यह हुआ कि ज्ञानेन्द्रियों के तंतुओं के मूल और उन मूलों के पास से

निकलने वाले दूसरे कुछ तंतु (कि जिसमें उस मूल में से आ पड़े आघात इन तंतुओं में समा जा कर संस्कार रूप में संग्रहित हो रहे थे वे) का जीवन नष्ट हुआ जैसा था। इससे कोई पदार्थ भासमान (Sensation) अर्थात् संवेदना रूप ज्ञान हो, वैसा होता था। लेकिन उस तंतु के मूल और उसके पास के दूसरे कुछ तंतुओं का जीवन नष्टप्राय होने से वहां के संस्कार पुनः उत्पन्न हो सके वैसा नहीं होने से उसकी स्मृति चली गई थी, अतः प्रत्यक्ष स्मरण वगैरह ज्ञान उसे हो नहीं रहा था। लेकिन यह हुआ कि ज्ञानेन्द्रिय का आघात ज्ञानतंतु के मूल तक पहुंचने के बाद वहां नष्ट नहीं हो रहा था, परन्तु उस स्थान से निकलते तंतुओं में से जिन तंतुओं का जीवन नष्टप्राय हुआ था उसे याद करते हुए उसके पास के बाकी रहे सजीवन तंतुओं के द्वारा उस आघात की गति आगे चलती, जिससे इन सजीवन रहे हुए तंतुओं के भाग में नवीन ज्ञान और उसके संस्कार हो सकते थे, लेकिन पूर्व की स्मृति होती नहीं थी। फिर जब तीन महीनों का समय जाने से पूर्व जो भाग (ज्ञानतंतुओं का मूल भाग और उनके पास के कुछ तंतुओं का भाग कि जिनकी शक्ति नष्ट हुई थी वह) किसी कारण से नष्ट हुआ था वह कारण दूर होने के बाद नया जीवन मिलने से उस भाग में पुनः आघात का प्रकट अस्खलित बहने से पूर्व की सब स्मृतियां और ज्ञान उसे प्राप्त हुए। और बीच के तीन महीनों में जो तंतु सजीवन थे और उनमें ज्ञानों के आघातों का जो प्रवाह बहता था सो अब इस समय उसका जीवन नष्टप्राय हो जाने से बंद हो गया।

इस स्टर्निंग की घटना के बाद डॉक्टरों ने विशेष शोध किया तो देखा कि पागल मनुष्यों में ऐसी स्थिति बारंबार होती है, ऐसा मालूम पड़ा है, अतः शास्त्रज्ञों का ऊपर का समाधान योग्य नहीं है। उस पर से जो-जो शंकाएं आ सके उनका खंडन-मंडन करने से ग्रंथ का विस्तार अधिक हो जाय तो भी संक्षेप में कहें तो इस तरह पदार्थ को ज्ञान का आघात अलग-अलग तंतुओं में आकर रूके, यह ठीक नहीं है और एक तंतु में आघात होने पर किसी प्रकार का ज्ञान हुआ तो फिर उसके संस्कार उस तंतु में ही पड़ने चाहिए, लेकिन वह संस्कार वहां पड़े न रहकर दूसरे तंतु में जाकर पड़े रहे वह असंबद्ध है और एक समय जिस तंतु में एक संस्कार पड़ा तो फिर क्रमशः अनेक असंख्य संस्कार उसी तंतुओं में पड़े यह शरीर शास्त्रियों के मत के अनुसार स्वाभाविक है। एक संस्कार के लिए एक तंतु और दूसरे संस्कार के लिए दूसरा तंतु ऐसा कुछ नहीं है। शायद यह हो सकता है कि अनुभव का आघात और वह आघात जिस तंतु में पड़ा रहे वह आघात उन दोनों में भेद माना जा सके; तो भी अनुभव एक स्थान पर हो और स्मरण दूसरे का हो वह मानने में कुछ कारण नहीं और मनुष्य जाति का अनुभव भी उससे विरुद्ध है। कारण कि, अनुभव का ज्ञाता

एक तंतु और स्मरण करने वाला दूसरा तंतु यह असिद्ध है। हमें दोनों के ऐक्य का अबाधित ज्ञान होता है।

अब कल्पना कीजिये कि स्टर्निंग पागल हो गया है और अब से उसे नया ज्ञान दिया जाने लगा तो उस समय वह नये ज्ञान का आघात जो तंतु सजीवन रहे थे उसमें जाकर समाने लगा और नया संस्कार होता गया। लेकिन उतने पर से उसे सजातीय संस्कार कौन सा है, वह यह संस्कार कैसे जान सकता है? और जब जान नहीं सके तब ये नये ज्ञान के ही संस्कार जाग्रत हो और उसके पूर्व पड़े हुए में के दूसरे संस्कार जाग्रत न हों, यह कैसे हो सकता है और जब मनुष्य में स्मृति के संस्कार के आधार रूप तंतुओं तक आघात का वेग पहुंचना बंद हुआ तब उसी नये ढंग से ज्ञान हुआ है और उस समय उन तंतुओं से दूसरे स्थान पर इस नये अनुभव की स्मृति के संस्कार पड़े हैं, यह भी ऊपर के नियम से मानना चाहिए, जिससे उन संस्कारों के आधार रूप एक स्थान नहीं लेकिन असंख्य स्थान उस मत में होंगे और जब असंख्य स्थान होंगे तब बाद में ज्ञान के समय हुआ आघात, अपने सजातीय आघात (कि जिसमें उस तरह के ज्ञान का संस्कार होता है वह) को जाग्रत करे यह निश्चय कराने वाला कोई अमुक साधन नहीं रहता है, जिससे अनेक दोष एक प्रक्रिया पर आ सकते हैं और जिन मनुष्यों में स्टर्निंग जैसी स्थिति बारंबार हुई देखने में आयी है उनके संबंध में तो यह प्रक्रिया बहुत दोषपूर्ण है।

दोहरा दिमाग (Double Mind) के संबंध में आर्यशास्त्र द्वारा खुलासा

ऊपर के सारे विवेचन से यह कह सकते हैं कि **ज्ञानशक्ति, क्रियाशक्ति** और **इच्छाशक्ति** अथवा तो **विचार व्यापार, भावना व्यापार** और **इच्छाव्यापार** के मूल कारण रूप जो अणुओं का समूह होगा वह चेतनातंत्र के परमाणुओं के बिलकुल भिन्न होना चाहिए। उन अणुओं के समूह को ही अंतःकरण कहा जा सकता है। उस अंतःकरण के अणु अपने द्रव रूप में परिणाम प्राप्त करके सारे शरीर की तमाम नाड़ियों (ज्ञानतंतुओं, क्रिया तंतुओं और धमनियों) में व्यापक हुए होने चाहिए। अब इस अंतःकरण का मूल स्वरूप कैसा है उसके बारे में आगे विस्तार से लिखा जाएगा, तो भी ऊपर के अनुसार अंतःकरण के अणु तमाम प्रकार के तंतुओं में व्याप्त होने से जब-जब बाहर से ज्ञान के और अंदर से स्मरण के आघात आये वे इन तंतुओं के द्वारा जाये और आये, अतः अंतःकरण साधारण तथा जब नाड़ियों में प्रवेश कर रहा है। तब उसे जो शब्द हो यह इन नाड़ियों के द्वारा ही हो, यह स्पष्ट है। अतः नाड़ियां उस ज्ञान का साधन हुआ कहा जाएगा। ऐसा होने से ज्ञानतंतु में अथवा तो नाड़ी में क्षोभ या आघात हो यह संभव है, लेकिन इतने से अंतःकरण दूसरी तरह से सिद्ध नहीं होता। इस विचार के अनुसार अलग-अलग अवस्था में प्राप्त किये ज्ञान

के संपूर्ण संस्कार (उस अंतःकरण के विशेष अणुओं में रहते हैं) उन संस्कारों को जाग्रत करने वाले कारण को अभिव्यंजक (ज्ञान करने वाला, प्रकाश करने वाला) कहा जाता है। अनुकूल अभिव्यंजन की प्राप्ति होने से उसे संस्कार जाग्रत (अभिव्यक्त) होते हैं और ज्ञाता-पुरुष को ज्ञान करवा देना (भोग देना) यह उस-उस संस्कार जाग्रत होने का मुख्य फलरूप हेतु है। ऐसा होने के कारण जब-जब स्टर्निंग को पहले के ज्ञान (भोग) की प्राप्ति होने का योग नहीं रहा तब वह भोग जो तंतुओं के द्वारा परिणाम हो, प्राप्त करे उसे तंतुरूप साधन में विच्छेद होने से, उसका क्षोभ किसी दूसरे मार्ग से अंतःकरण में पुनः परिभ्रमण करने लगा, तो भी संबंधित संस्कार की जागृति (अभिव्यक्ति) नहीं होने से उनकी स्मृति नष्ट होने जैसी हो गई और दूसरे विलक्षण प्रकार के भोग संस्कार जाग्रत होने से और दूसरों (कि जिन्हें हमने बाकी रहे सजीवन तंतु कहे हैं ये) के द्वारा भोग होने लगा, अर्थात् वे जाग्रत हुए संस्कार परिणाम प्राप्त करने लगे। पुनः उन भोग संस्कारों की परिणाम प्राप्त करने की योग्यता नहीं रही तब इन तंतुओं रूप द्वार बंद हो गया और पूर्व के संस्कारों की जागृति होती रही, जिससे स्टर्निंग को पूर्व की जिन्दगी का सारा अनुभव और स्मृति तीन महीने बाद स्फूटित हो आये।

इस पर से नीचे लिखे सिद्धांत पर आ सकते हैं—

(1) आयंदा भोगने से प्रारब्ध के मूलरूप संस्कारों के ऊपर ही जीवों का ज्ञान आधार रखता है।

(2) जब चालू जन्म में ही अनुभव किये ज्ञान के संस्कारों की इस प्रकार विस्मृति होना शक्य है, तब पूर्वजन्म के संस्कारों की स्थिति इस जन्म में नहीं उसमें आश्चर्य जैसा नहीं है, क्योंकि इस जन्म में ज्ञान प्राप्ति के साधन होने पर भी वह नष्ट होने से उसकी स्मृति नहीं होती, तो जब जन्मांतर हो तब तो वैसे साधन भी नहीं होते और एक जन्म का भोग और अन्य जन्म के भोग भिन्न-भिन्न प्रकार के होते हैं। अतः एक जन्म के भोग संस्कार उनसे भिन्न जन्म के भोग के साधन रूप न होने से उस जन्म में उसकी स्मृति हो ही नहीं सकती। क्योंकि किसी भी फल होने के लिए उसके हेतु रूप साधन की जरूरत है उस साधन का अभाव है

(3) योगी लोग नाड़ियों के साथ को अंतःकरण के दृढ़ संबंध को तोड़ डालते हैं, तब उनका ज्ञान उससे स्वतंत्र हो रहता है और उससे उनको द्वार की अपेक्षा नहीं रहने के कारण उनके पहले की जाति के स्मरणरूप सिद्धि प्राप्त होती है। पुराणादि में उपास्य मूर्ति के आशीर्वाद से जो पूर्व जाति स्मरण का वर्णन किया है उसमें भी अंतःकरण की नाड़ी से स्वतंत्रता हेतु रूप है, अर्थात् उसके द्वारा ही वह होता है।

(4) किसी मनुष्य को एक विषय गणित, संगीत वगैरह आसानी से आ जाता

है और दूसरे को उसके लिए बड़ा प्रयत्न करना पड़ता है ऐसा हम जानते हैं और उसके लिए साधारणतः यह माना जाता है कि पूर्व जन्म के संस्कार उसमें कारण है अतः जिनको पूर्व के संस्कार प्राप्त हो, उनको आसान होता है, और दूसरों को कठिन लगता है। इस प्रसंग में भी हम यही देखते हैं। बालक को तीन महीनों में जितना ज्ञान दिया जा सके उसकी तुलना में हजारों गुना अधिक ज्ञान स्टर्निंग को उतने समय में हुआ है, उसका कारण मात्र यह है कि, उसे पूर्व के संस्कार थे। अतः द्वारभेद होकर अन्य द्वार से क्षोभ प्राप्त होने लगा तब पूर्ववत् स्मरण तो नहीं हुआ, लेकिन उस-उस विषय के ज्ञान के लिए पटुता प्राप्त रही। उसमें भूमि तो तैयार ही थी अतः सहज अभिव्यंजक से उसे उसकी प्राप्ति हुई। सारांश यह कि दोनों स्थल पर हेतु समान हैं।

इस कला का सारांश

इस प्रकार हम चेतना यंत्र से कर्मेन्द्रियों और ज्ञानेन्द्रियों के अणु भिन्न हैं, और अंतःकरण के अणु भी भिन्न हैं। यह बात शास्त्र के प्रयोगों और अनुभवों पर से जान सके। उस पर से स्पष्ट होता है कि सब अणु परस्पर से भिन्न हैं और उनके कार्य भी भिन्न हैं। उन सब समग्र बल से इस देहतंत्र को व्यापार चलते रहते हैं। अंतःकरण के स्वरूप का पूर्ण विवेचन आगे विस्तार से करना है, अतः यहां चेतनायंत्र से भिन्न है और वह अति सूक्ष्म है इतना ही मात्र दर्शन करवाया है और चेतना यंत्र को व्यापार संबंधी इन तीन सिद्धियों के प्रकरण में विस्तार से विवेचन किया गया है। यह अंतःकरण प्राण, कर्मेन्द्रिय और ज्ञानेन्द्रिय इन सब के अणुओं को ही लिंगदेह अथवा सूक्ष्म देह यह संज्ञा दी जाती है। वह देह ही अनेक स्थूल देहों में गमनागमन करती है। वह देह जब बिखर जाय, नष्ट हो जाय, तब मोक्ष हुआ कहा जाता है। वही मनुष्य जीवन का और सर्वशास्त्रों का सार्थक्य है। अब अंतःकरण का स्वरूप कैसा है, वह कैसे व्यापार करता है, लिंगदेह का गमनागमन किस प्रकार होता है और उस गमनागमन की घटमाला में से किस प्रकार छूटा जा सकता है। उस संबंध में आगामी कलाओं में बताया जाएगा।



दसवीं कला-लिंगदेह और उसका गमनागमन

लिंगदेह का निरूपण

पाश्चात्य शास्त्र (साइन्स) के अनुसार जड़ और चेतन के स्वरूप

स्थूल विश्व के पदार्थों के तीन रूप

स्थूल विश्व के तमाम पदार्थों को देखेंगे तो उनके तीन रूप देखने में आएँगे। जैसे कि पत्थर, ईंट, धातुएं, लकड़ी वगैरह पदार्थ घन या ठोस रूप में मालूम पड़ेंगे, पानी, पारा, धातुओं का रस वगैरह पदार्थ प्रवाही या द्रव रूप में मालूम पड़ेंगे और वातावरण धुआँ वगैरह पदार्थ वायु रूप में मालूम पड़ेंगे। विश्व में का कोई भी पदार्थ इन तीनों में से किसी एक रूप में हो तो उसे दूसरे रूप में लाया जा सकता है। जैसे कि पानी है, उसका जब बर्फ बनायें तब वह घन रूप में होगा, उसे गरम करके पानी करेंगे तब वह द्रव रूप में होगा, और उसे खूब गरम करके जला देंगे तो उसकी भाप बनेगी तब वह वायुरूप अवस्था में आएगा।

घन पदार्थों के रजकणों में परस्पर आकर्षण शक्ति विशेष होती है, अतः उनके रजकण परस्पर इतने चिपके रहते होते हैं कि वे अपने स्थान बाहर की उपाधि के बिना छोड़ नहीं सकते। द्रव पदार्थों के रजकणों में परस्पर आकर्षण शक्ति थोड़ी होती है। अतः उनके रजकण एक दूसरे में अधिक चिपके हुए न होने के कारण आसानी से इधर-उधर खिसक सकते हैं। वायुरूप पदार्थों के रजकणों में स्नेहाकर्षण शक्ति बहुत ही थोड़ी होने के कारण फैल जाने का गुण अतिशय प्रबल होता है, अतः उनके रजकणों की वृत्ति हमेशा यथाशक्य अधिक से अधिक जगह रोकने की तरफ रहती है।

और ऊपर कहे तीन रूप वाले पदार्थों के बारे में इतने गुण खास बहुत सामान्य देखने में आते हैं। जैसा कि, **विस्तार** यानि जगह रोकने (घेरने) का गुण, पदार्थ जगह रोके अतः उसके संबंध में लम्बाई, चौड़ाई और ऊँचाई ये तीन परिणाम होते हैं। **निर्भेद्यता** यानि दो पदार्थ एक ही जगह में और एक की समय में न रह सकने का गुण। **विभाज्यत्व** यानि पदार्थ के सूक्ष्म-सूक्ष्म विभाग हो सकने का जो गुण। **सछिद्रता** यानि द्रव्य के रजकणों के बीच थोड़ा अंतर होने का गुण। **अविनाशित्व**

या **नित्यत्व** यानि किसी पदार्थ का जरा भी नाश न हो सके और नया पदार्थ उत्पन्न न कर सकने का गुण, मात्र उसका रूपांतर किया जा सकेगा। इनके अलावा **स्थिति स्थायित्व, जड़त्व** और **संकोच्यत्व** ये तीन गुण होते हैं, यह सर्व प्रसिद्ध है। मतलब कि किसी भी पदार्थ के लिए ये आठ गुण होते हैं।*

विश्व में की शक्तियां

ऊपर कहे तीन तरह के पदार्थों के रूप में परिवर्तन करने वाले, स्नेहाकर्षण, रसायनाकर्षण, गुरुत्वाकर्षण, उष्णता, प्रकाश, विद्युत् और लोह चुम्बक ये सात शक्तियां मुख्य होती हैं। जिस शक्ति से पदार्थ के रजकण एक दूसरे से चिपके रह सकते हैं, उसे **स्नेहाकर्षण** या **अण्वाकर्षण** शक्ति कहते हैं, दो समान सतह वाले पदार्थ परस्पर को चिपके रहते हैं, उस शक्ति को **संलग्नता शक्ति** कहते हैं, और वह इसी के विभाग में मानी जाती है। जिस शक्ति के द्वारा दो अलग-अलग पदार्थों के रजकण एक-दूसरे में मिश्र होकर उसमें से तीसरी तरह का नया ही गणु धर्म वाला पदार्थ उत्पन्न होता है उसे **रसायनाकर्षण शक्ति** कहते हैं। गुरुत्वाकर्षण के बारे में सर्वप्रसिद्ध है। स्नेहाकर्षण, अण्वाकर्षण और रसायन शक्ति ये तीनों शक्तियां सृष्टि में के हर किसी पदार्थ पर असर करती हैं, परन्तु वह अलग-अलग होती हैं। पदार्थ परस्पर उतने दूर हो या पास हो तो भी उन पर परस्पर गुरुत्वाकर्षण का व्यापार चलता है लेकिन रसायन तथा स्नेहाकर्षण का असर जब पदार्थों का रजकण बिलकुल पास-पास आकर जुड़ गये हो, तभी होते हैं, उनमें रसायनाकर्षण तो मूल तत्त्वों के परमाणुओं को इकट्ठा करके उनमें अणु बनाते हैं, और ऐसे अणुओं को इकट्ठा करके स्नेहाकर्षण शक्ति उनके पिंड बनाते हैं, प्रकाश, **बिजली** और **चुम्बनशक्ति** के बारे में पदार्थ विज्ञान में अधिक विस्तार है और उनका संबंध द्रव्य के रजकणों के साथ होता है, परंतु उनका असर बहुत नहीं होता। मात्र गरमी के पदार्थ के रजकणों का फैलना (प्रसरण), द्रवरूप होना (द्रवीकरण), भापरूप होना (वाष्पी भवन), जलना (ज्वलन) और रसायन क्रिया के साथ संबंध प्राप्त करना, इन पांच प्रकार के असर होते हैं। कड़छी का एक छोर गरम करने से उसका दूसरा छोर भी गरम हो जाता है, उसे उष्णता का वहन कहते हैं। प्रवाही और वायुरूप पदार्थों के रजकणों की हलचल से उष्णता सब तरफ फैलती है, उस क्रिया को प्रापण कहते हैं। किसी

---

* इसके बारे में विस्तार से विवेचन मैंने अपने 'धंधा शिक्षक मासिक पुस्तक' में 'रसायन शास्त्र' में पृ. 8 में दिया है सो देखना।

धातु का गोला लाल गरम करके रहने दें तो उसमें की उष्णता आसपास की हवा में प्रापण क्रिया के द्वारा उड़ जाती है, उसे उष्णता का **किरण विसर्जन** कहते हैं, उष्णता दो रसायन क्रिया अधिक त्वरा से होती है।

अणु और परमाणु

पदार्थों के रजकणों का बारीक से बारीक सूक्ष्म भाग हो जो कि इंद्रियों से जाना जा सके, उसे **अणु** कहते हैं, और अणु का जो अति सूक्ष्म भाग, कि जिसके अस्तित्व के बारे में हमारी पांचों इन्द्रियों से कुछ जाना न जा सके ऐसे परम सूक्ष्म अणु को रयासन शास्त्र में **परमाणु** कहते हैं। रसायनशास्त्रवेत्ताओं ने दुनिया के तमाम तीन रूप वाले पदार्थों का पृथक्करण करके यह ढूंढ़ निकाला है कि अमुक पदार्थ मूलरूप में होते हैं और बाकी के सब पदार्थ उनके संयोग मिश्रण से रयासन शक्ति से बने हुए हैं, ऐसे पदार्थों को संयोगी पदार्थ कहते हैं, पदार्थ आज तक लगभग 80-85 तक मालूम पड़े हैं, हर एक मूल रूप पदार्थों के परमाणु अमुक गुरुत्व वाले होते हैं। उनमें के कुछ उपयोगी पदार्थों के परमाणु गुरुत्व की सूची देते हैं—

	मूल पदार्थ	परमाणु गुरुत्व	मूल पदार्थ	परमाणु गुरुत्व
वायुरूप पदार्थ	हाइड्रोजन	1	मेग्नेशियम	24.3
	ऑक्सीजन	16	जस्ता (जिंक)	65.10
	नाइट्रोजन	14.01	लोहा (आयरन)	55.88
	कार्बन	11.97	कलाई (टिन)	118.8
	गंधक	31.98	तांबा (कॉपर)	67.18
	सिलिकान	28.3	सीसा (लेड)	20.64
	पोटैशियम	39.03	पारा (मर्क्युरि)	199.8
	सोडियम	23	चांदी (सिल्वर)	107.66
	कैल्शियम	39.91	सोना (गोल्ड)	196.7
	एल्युमीनियम	27.04	प्लेटिनम	194.3

मात्र प्रसिद्ध मूलरूप पदार्थों की सूची उनके परमाणु के वजन के साथ दी है। पृथ्वी पर के तमाम पदार्थ मूलरूप पदार्थों के मिश्रण से बने हैं। ऐसे मिश्रण रूप बने पदार्थों को **संयोगी पदार्थ** कहते हैं। जैसे कि पानी, हीरा कसी, मोरथुथा, सिंदूर वगैरह संयोगी पदार्थ है। दो अथवा अधिक मूल पदार्थ मिश्र होते हैं तब वे अपने परमाणु गुरुत्व के प्रभाव में संयोग प्राप्त करते हैं, और उसमें से संयोगी पदार्थ बनते हैं। जैसा कि पानी संयोगी पदार्थ है और वह ऑक्सीजन तथा हाइड्रोजन इन दो मूल पदार्थों के मिश्रण से हुआ है, परंतु इन दोनों का संयोग हमेशा 16+1 इसके अनुसार

होगा, जो हम 20 भाग ऑक्सिजन और 3 भाग हाइड्रोजन मिश्र करेंगे तो उनमें से अनुक्रम से 16+1 इतना भाग मिश्र होकर बाकी का (4+2) भाग बेकार जाएगा। इसी तरह कोई भी मूलरूप पदार्थ संयोग प्राप्त करते हैं तब वे हमेशा अपने गुरुत्व के प्रमाण में ही संयोग प्राप्त करते हैं, यह प्रयोग सिद्ध नियम है।

इस पर से मालूम होगा कि, परमाणु तो केवल मूल पदार्थों के हो सकते हैं। क्योंकि, संयोगी पदार्थों का चाहे उतना बारीक भाग हो तो वह दो अथवा अधिक मूल पदार्थों के परमाणुओं का बना होता है। अतः पानी, अत्तर, और मोरथुथा वगैरह संयोगी पदार्थों के ठेठ सूक्ष्मतम विभाग को 'परमाणु' ऐसी संज्ञा नहीं दी जा सकेगी। उनके सूक्ष्मतम विभाग को तो अणु ही कहा जा सकेगा। अणु मूल पदार्थ के हो सकते हैं, अथवा तो संयोगी पदार्थों के भी हो सकते हैं। एक अणु दो अथवा अधिक परमाणुओं का हो सकता है। मूल पदार्थों का अणु एक ही परमाणु का हो सकता है। अतः सोने का या हाइड्रोजन का एक अणु यानी उस पदार्थ के दो परमाणु ऐसा ही समझना जैसा कि पानी का या कोई भी संयोगी पदार्थों का परमाणु हो ही नहीं सकता। पानी के चाहे उतने सूक्ष्म अणु में भी एक ऑक्सीजन का और दूसरा हाइड्रोजन का इस तरह दो परमाणु होंगे ही। मूल पदार्थ के परमाणु रसायनाकर्षण शक्ति के द्वारा इकट्ठे मिल कर अणु बनते हैं और अणु स्नेहाकर्षण से परस्पर जुड़कर बड़े-बड़े पिंड अगर पदार्थ या द्रव्य बनते हैं ऐसा रसायन शास्त्र का सिद्धान्त है।

अणुओं का सूक्ष्मतापन

हमारे आसपास जो हवा है वह हवा हाइड्रोजन, ऑक्सीजन, नाइट्रोजन वगैरह वायुरूप मूल पदार्थों के स्वाभाविक सम्मेलन से बनी हुई है। हवा अतिशय सूक्ष्म है। उसका मात्र स्पर्श होता है तब मालूम होती है। उसके अणु इतने अधिक सूक्ष्म है कि लगभग 5¼ इंच के व्यास वाले एक कांच की पोली गेंद लें तो उसमें हवा के 1,288,252,350,000,000,000,000,000 अणु होते हैं। अब यदि उस गेंद में से चाहे जैसे यंत्र के द्वारा हवा निकाल दें, तो भी उसमें कम से कम 1288,252, 350,000,000,000 अणु बाकी रहेंगे। अब यदि एक सूई लेकर इस गेंद में बारीक सुराख करें तो बाहर की हवा अंदर दाखिल होगी, यह स्पष्ट है और ऐसा विचार करने पर बाहर की हवा के अणु अंदर हर एक क्षण जाते होंगे, यह भी एक सवाल होता है। यदि कल्पना करें कि उस छिद्र में से हर सेकेंड 10 करोड़ अणु जाते होंगे तो वह संख्या भी बहुत कम है। कारण कि यह अनुमान करें तो वह गेंद पूरा-पूरा भर जाने के लिए 400000000 से भी अधिक वर्ष चाहिये। परंतु उस गेंद के अंदर एक चक्की ऐसी रखी है कि अंदर दाखिल होने वाली हवा प्रथम उस पर टकराती है और उस पर से यह मालूम होता है कि वह गेंद तो मात्र सवा घंटे में ही पूरा भर जाता है। इस तरह

सूक्ष्म प्रयोगों पर से शास्त्रवेत्ताओं ने यह तय किया कि, उस गेंद के अतिसूक्ष्मतम सुराख में से हर सेकेंड लगभग 300,000,000,000,000,000,000 परमाणु जाते होंगे, यह अणु कितने अधिक सूक्ष्म है उसका ख्याल कीजिये!

और अभी-अभी गत 19वीं सदी में जो सूक्ष्म खोजें हुई हैं उन पर से यह मालूम पड़ा है कि, वायुरूप पदार्थों में के अणु उनके आकार के मान के अनुसार परस्पर से बहुत दूर होते हैं, जैसे कि, हाइड्रोजन वायु के अणु का व्यास एक इंच के 16,00,00,000 भाग जितना यानी .00,00,0004 सेंटीमीटर होता है, ऐसा **लॉकमिड्र** नाम के शोधक ने सिद्ध कर बताया है और **मूसोन** और **क्वीन्की** नाम के विद्वानों से यह प्रतीति प्रयोग के द्वारा मिली है कि एक अणु दूसरे अणु पर विशिष्ट गोलाकार स्थिति में जाकर टकराते हैं। उस गोलाकार स्थिति का व्यास औसतन् .0000024 से .0000032 इंच तक (अथवा तो .000006 से .000008 सेमी.) होता है। इस पर से दो अणुओं के बीच का अंतर उनके व्यास के (औसत) 2000 गुना होता है यह सिद्ध किया गया है।

वायुरूप पदार्थों की स्थिति स्थापकता संपूर्णता से होती है। अतः उनके अणु गति या शक्ति का नाश नहीं होने से सतत् उछलते रहते हैं। उनको जिस बर्तन में भरें उस बर्तन की बाजुओं पर उनके आघातों प्रतिघातों की अखंड मार चालू रहती है। अतः उनके अणुओं के संबंध में **प्रसारण** (फैल जाने की) शक्ति अतिशय प्राप्त होती है। वायुरूप पदार्थों के अलग-अलग गुणों का सूक्ष्म अध्ययन करके शास्त्रज्ञों ने यह सिद्ध किया है कि, जब वातावरण की उष्णता रोज के मान के अनुसार साधारण होती है तब, कोई एक वायु रूप पदार्थ एक घन सेंटीमीटर जितने बर्तन में भरें तो उनमें के अणु एक बीस में दश परार्ध होते हैं! .000035 घनफुट बराबर 1 घन सेंटीमीटर होता है। ये अणुएं इतनी जगह में परस्पर पर एक सेकण्ड में 8 अवज जितनी बार टकराते हैं।

तमाम वायुरूप पदार्थ उष्णता से **प्रसारण** प्राप्त करते हैं और शीतता-ठंड से **संकुचित** हो जाते हैं। उस पर से स्पष्ट होता है कि, उष्णता यानी अतिशय सूक्ष्म तरह का कोई एक तत्त्व कि जिसे इथर (Ether) कहते हैं उसके आंदोलन रूप हैं। उन आंदोलनों के द्वारा वायुरूप पदार्थों के अणुओं के संबंध में तीव्रगति प्राप्त होती है। उस उष्णता का अखंड अभाव होता है तब वह गति विराम प्राप्त करती है और सामान्यतः अणुओं के संबंध में जो अण्वाकर्षण शक्ति होती है उनके विकास शुरु होते हैं। अतः वायुरूप पदार्थों के अणु इकट्ठा होकर उनके संबंध में प्रवाहिता या घनत्व प्राप्त होता है। तमाम वायुरूप पदार्थों का अतिशय ठंड लगाने से और अतिशय दवाब देने से वे प्रवाही या घनरूप अवस्था में आ जाते हैं और घन पदार्थों को भी

तीव्र उष्णता लगाने से वे प्रवाही या वायुरूप में आ जाते हैं।

सर्व पदार्थों में वायुरूप पदार्थों का प्रसारण अतिशय होता है और उनका प्रसारणमान भी अत्यंत नियमित होता है। उष्णता मापक यंत्र के हर एक अंश पर वायुरूप पदार्थों का **संकोचन** और **प्रसारण** अमुक संख्या से होता है, यह बात **डोल्टन, गेल्युझचाक, चार्ल्स, म्यागनस** ने स्वतंत्र रूप से ढूंढ़ निकाली है और वे अमुक संख्या .00375 या 1/273 या 11/3000 है। यह अंक सेंटीग्रेड उष्णता मापक यंत्र के द्वारा गिना गया है। यानी कल्पना कीजिये कि कोई एक वायु रूप पदार्थ 0 अंश पर है तो उस पदार्थ को एक-एक अंश की गरमी देते जायं तो 0 अंश पर वह पदार्थ था तब उसका जो घन आकार था वह हर एक शून्य अंश पर ऊपर लिखी संख्या से बढ़ता जाएगा। जैसे कि किसी वायुरूप पदार्थ का घन आकार शून्य अंश पर 273 घनफुट है, ऐसा सोचें। फिर उसे एक अंश उष्णता देंगे तो उस अंश पर वह पदार्थ आएगा तब उसका घनाकार 273+273×1/273=274 घनफुट होगा, दो अंश पर 273÷273×2/273=275 घनफुट होता जाएगा और यदि अन्त में 273 अंश जितनी उष्णता उस पदार्थ को दें तो उसका आकार 273×2=546 घनफुट यानी दोगुना होगा।

उसी तरह यह कल्पना करें कि वायुरूप पदार्थ शून्य अंश पर 273 घनफुट है। फिर उस पदार्थ की उष्णता एक-एक अंश कम करेंगे तो उसका आकुंचन-संकोचन ऊपर की संख्या के मान के अनुसार ही होगा। जैसा–कि 1^0 ऊपर (273-273×1/273)=272 घनफुट। -15^0 पर (273-273×15/273)=258 घनफुट। इस तरह घन आकार होता जाएगा। यानी 0 अंश के नीचे –273 सेंटीग्रेड या 4610 फारेनहाइट तक यदि कोई वायुरूप पदार्थ एक समान तरीके से ठंडा करने जायंगे तो वह पदार्थ घनरूप होगा इतना ही नहीं बल्कि 273 के नीचे उसका संकोचन होना ही अशक्य होगा।

वायुरूप पदार्थों का ऊपर लिखा गुण **लॉर्ड केल्व्ही** ने अलग तरीके से भी सिद्ध कर दिखाया है। तब यह कल्पना करें कि जगत् में से उष्णता बिलकुल नष्ट हो जाय उसका अभाव हो जाय, तो तमाम रसायन व्यापार बंद हो जाएंगे। सारा विश्व केवल पत्थर जैसा घन, जड़ और क्रिया रहित पदार्थों का बनकर रहेगा। मतलब कि, उष्णता तरल पदार्थों में होने वाले स्थित्यंतरों का आद्य उद्‌गम रूप है! तमाम प्राणी वर्ग की उष्णता भी अति आवश्यक ऐसी उपाधि ही है। वह केवल जीवन रूप है यह कहने में बाध नहीं है। उष्णता जैसे इथर के आंदोलन से होती है और उसका बनना आवश्यक है वैसे इथर के दूसरे प्रकाश स्वरूप आंदोलन बनना भी आवश्यक है। मतलब, कि इथर विश्व रचना के प्रवर्तक और अप्रवर्तक रूप से नियोजक है यह

बात तथा इथर नाम के पदार्थ के अस्तित्त्व के बारे में शास्त्रकारों ने स्वीकार किया है, यह बात 19वीं सदी में पाश्चात्य देशों में जो महत्त्व के बुद्धि विजय हुए हैं उनमें की ही एक है, यह स्पष्ट कहना पड़ता है।

इस प्रकार वायुरूप पदार्थों के अणुओं की सूक्ष्मता और उनके प्रसारण और आंकुचन के नियम के बारे में ख्याल आयेगा। इसी विचार के परमाणुओं के बारे में आगे चलाने पर हमारी बुद्धि मूर्छा खा जाती है। अब हम विश्व के नियामक रूप इथर के बारे में विचार करें।

इथर

ऊपर कहा है कि, वायुरूप पदार्थों के दो अणुओं के बीच उनके व्यास के 2000 गुना सूक्ष्म अंतर होता है, उस अंतर में जो सूक्ष्म द्रव्य या पदार्थ होता है उसे इथर कहते हैं। यह पदार्थ परमाणुओं के बीच में जो जगह होती है वहां से वह ठेठ अत्यंत दूर के तारों तक व्याप्त रहा हुआ है। वह अतिशय पतला और अतिशय स्थिति स्थायी है, सूर्य और पृथ्वी के बीच में जो खालीपन है उस सारे में इथर है। आवाज को बहने में जैसे वायु की आवश्यकता है, यानी कोई बोलता है, उसकी और श्रोता के बीच यदि हवा न हो तो, उसके शब्द श्रोता से सुने नहीं जा सकेंगे। वैसे ही इथर भी उष्णता, प्रकाश, विद्युत वगैरह को बहा कर ले जाने वाला एक मध्यस्थ पदार्थ है। आवाज की गति एक सेकेंड में 1100 फुट होती है, उसी तरह प्रकाश की गति एक सेकेंड में इथर में से 1,80,000 मील जितनी होती है। लहरों की गति मध्यस्थ पदार्थ की घटना (रचना) पर आधार रखती है। यदि वह पदार्थ समान घनरूप हो तो उसकी स्थिति-स्थापकता उसमें से पास होने वाली लहरों की गति के वर्ग के प्रमाण में होती है। यदि वायु और इथर यह दो पदार्थ समानरूप से पतले हों तो वायु के 1,000,000,000,000 गुनी इथर की स्थिति स्थापकता होनी चाहिये। और हवा का दबाव किसी भी पदार्थ पर हर चतुर्भुज (स्क्वेअर) इंच पर 15 पौंड पड़ता है। इसके अनुसार देखने पर इथर का दबाव हर स्क्वेअर इंच जगह पर 75 करोड़ टन गिरना चाहिये। लेकिन इथर में से पास होने वाले ग्रहों उपग्रहों पर उसका कुछ भी असर नहीं होता। पृथ्वी पर के पवन प्रति घंटा 100 मील की गति से बहे तो उससे तमाम पेड़ और घर जड़मूल से टूट जायँ। इथर यदि हवा के जैसा मोटा हो तो उसमें से पास होने वाले वायुमय धूमकेतु, कि जिनकी गति प्रति सेकन्ड 250 मील के उपरांत भी होती है, उनका जरा भी असर नहीं होता। अतः वह अतिशय पतला है यह सिद्ध होता है। इस इथर में से गुजरने वाली प्रकाश की लहरों का महत्त्व मापा जा सकता है। एक सेकेंड में प्रकाश की लहरें आंख की पुतली पर 447,000,000,000,000, इतनी बार टकराये तो उससे लाल प्रकाश का ज्ञान होता है और उन्हीं लहरों का

699,000,000,000,000 बार आन्दोलन होने पर जामुनी रंग का ज्ञान होता है। यह सब गणित के द्वारा सिद्ध हो सकता है और उस पर से इथर की स्थिति स्थापकता संबंधी तथा उसके विरलपने का अनुमान हो सकता है। तब ऐसे अति पतले पदार्थ का ज्ञान हमें होता है। यूं कहें तो होना तो नहीं है, और नहीं होता ऐसा कहें तो होता है, यह स्वीकारना पड़ेगा। उसे 'द्रव्य' की संज्ञा दें तो उसमें वजन नहीं है। कोई भी कर्मेन्द्रिय या ज्ञानेन्द्रिय को उसका ज्ञान नहीं होता। यूं कहें कि इथर नाम का कोई पदार्थ ही नहीं है तो प्रकाश, उष्णता, विद्युत के व्यापार उसके बिना चल नहीं सकते। मतलब कि, इथर नाम से कोई पदार्थ है और वह विश्व में सर्वस्थान में व्याप्त है और विश्व में तमाम जितने द्रव्य समाविष्ट हैं उनके अणु और परमाणु इथर रूपी महासागर में तैर रहे हैं।

विश्व की उत्क्रान्ति और अवक्रान्ति

प्रख्यात प्रोफेसर क्रुक्स के प्रयत्न जगत् विख्यात हैं। उस विद्वान के शोध से विश्व के सूक्ष्म मूल तत्त्वों के नये-नये शोध होते जाते हैं। विश्व में के तमाम पदार्थ रसायन शास्त्र में के 80-85 मूल पदार्थों के संयोग से बने हैं ऐसा रसायनशास्त्रवेत्ता कहते हैं और उनके परमाणु जुदा-जुदा और अविकारी होने के कारण अविनाशी हैं ऐसा भी मानते हैं। इस तरह 80 तरह के भिन्न-भिन्न परमाणु मानने के बजाय ये तमाम परमाणु कोई एक ही महान् तत्त्व में से उत्पन्न हुए होंगे ऐसी कल्पना अधिक योग्य है। परंतु वह कल्पना आज तक अर्वाचीन रसायन शास्त्र की पद्धति से किसी ने भी सिद्ध करके नहीं दी थी। वह प्रो. क्रुक्स ने सिद्ध कर दी है। और वायुरूप पदार्थ से भी अति सूक्ष्म इथर की जिस तरह स्थिति है उसी तरह इथर से भी अतिसूक्ष्म तत्त्व ऐसी **प्रोटाइल** नामक बहुत विरल पदार्थ की स्थिति है और उससे भी सूक्ष्म कोई अज्ञात विरल पदार्थ की स्थिति है। इस प्रकार विचार करने पर कोई अज्ञात आदितत्त्व, प्रोटाइल, इथर, वायुरूप अवस्था, द्रव रूप अवस्था और घनरूप अवस्था, इस तरह विश्व के तमाम पदार्थ की छः अवस्थाएं होती हैं। इस छः अवस्थाओं को मिलाकर ब्रह्मांड का जो द्रव्य होता है उसे हम 'प्रकृति द्रव्य' कहते हैं। ये सब द्रव्य तीन स्थिति में होता है। एक तो वह अपने मूलरूप में **शांत और प्रकाश स्थिति** में होता है। दूसरी गति या **क्रिया वाली स्थिति** में होता है और तीसरा घन या ठोस स्थिति में आने के बाद **जड़ स्थिति** में होता है। इन तीनों स्थितियों को हम **सात्त्विकी, राजसी** और **तामसी** ऐसे तीन नाम देते हैं। इस स्थिति में कोई भी परमाणु और समग्र ब्रह्मांड प्राप्त होता है और हमेशा एक स्थिति में से दूसरी स्थिति में जाने का प्रयत्न करता है, यह द्रव्य का स्वाभाविक नियम ही है। उस नियम से ही उत्पत्ति लय हुआ करते हैं और यूरोप खंड में इवोल्यूशन

(Evolution) यानी उत्क्रांति, अथवा विकासवाद संबंध में जो अध्ययन चलता है वह ऊपर के नियम के समान ही है। हरबर्ट स्पेन्सर तो कहते हैं कि "विकास-उत्पत्ति यानी द्रव्य का घनरूप में आना और साहचर्य से गति का प्रसारण होना। वह विकास होते समय परमाणुओं का जो समस्वरूप होता है सो नष्ट होकर विषम स्वरूप (नानात्त्व) प्राप्त होता जाता है और उन अणुओं के अंदर बसने वाली गति को भी उसी नियम से योग्य स्वरूपांतर प्राप्त होता जाता है।" यानी ब्रह्मांड का प्रकृति रूप मूल द्रव्य जो प्रारंभ में समस्वरूप में होता है, उसके "समस्वरूप की अस्थिरता होती है और उसकी सत्त्व, रज, तम ऐसी विकृत अवस्था प्राप्त होने पर परिणाम का नानात्त्व होता जाता है। (Instability of the Homogeneous and Multiplication of Effects).

इन महानियमों के अनुसार स्थूल विश्व का विकास प्रकृति द्रव्य में से होता जाता है। प्रथम तो प्रकृति द्रव्य समान अवस्था में होता है, उसके समस्वरूप में परिवर्तन होकर प्रथम सूक्ष्म परमाणुओं से अणु बनते हैं और उनके संघात (संयोग) से तेजःपुंज ऐसे अग्निमेध (Nebula) या धूमपुंजों की रचना होती है। वह प्रथम करोड़ों वर्ष तक स्थिर और प्रकाश स्वरूप से सत्त्वप्रधान स्थिति में रहते हैं, फिर उनमें गति की क्रिया अतिशय प्रमाण में शुरू होकर सारा द्रव्य मध्य बिन्दु की तरफ आकर्षित होने लगता है और बाहर फेंका जाता है। उसका कारण अणुओं के संबंध में आकर्षक और उत्सारक (Attractive and Repulsive) शक्ति होती है। उससे सारे द्रव्य समूह के संबंध में मध्याकर्षक और मध्योत्सारिणी गति उत्पन्न होती है। उसके बाद उनमें से ताराओं की उत्पत्ति होती है। इस तरह सारा द्रव्य समूह ताराओं की रजोगुण मय स्थिति में करोड़ों वर्ष रहते हैं। फिर उसका भी विशेष घनरूप होता जाता है, वैसे-वैसे अप्रकाशक ऐसे ग्रह बनते हैं और बाद में उनके ऊपर पहाड़, पानी, वनस्पति प्राणी वगैरह की उत्पत्ति होती है। इस तरह तमोगुणमय घन अवस्था बढ़ते जाने पर जब आखिर में उनकी संपूर्णता होती है तब उस द्रव्यमय गोले का जीवन नष्ट प्राय होता है और वह ग्रहरूप गोला अपने मुख्य सूर्य के साथ टकराकर पुनः उसका उसमें लय होता है।

इस तरह विश्व के प्रकृति द्रव्य में से ऊपर के अनुसार विकास होकर आखिर जब घनरूप तमोवस्था प्राप्त होती है तब उसका **विभक्तिकरण** और **समतोलन** (Segregation and Equilibration) होता है। यानी घन बने अणु पुनः पूर्व के क्रम से अलग होकर उन्हें समान स्वरूप प्राप्त होता है और जिस क्रम से विकास हुआ था उससे उलट क्रम से पुनः लय या **अवक्रांति** (Dissolution) होता है। इस तरह उत्क्रमण (विकास, वृद्धि) और अपक्रमण (लय) का चक्र अनंत काल तक चलता रहता

है। हरबर्ट स्पेन्सर अपने **ज्ञेयशास्त्र** (The Knowable) में आखिर में लिखते हैं कि "उत्क्रांति और अवक्रांति ये दो महान् विशाल तालबंध हैं, उसके एक छोर पर सारा विश्व जा पहुंचता है, कि तुरंत लौटकर दूसरे छोर पर जाने का यत्न करता है। यह बात शक्ति के नित्य स्थायित्त्व के नियम पर से सिद्ध होती है और उस पर से अनंतपूर्व काल में विश्व के अनंतबार उत्क्रमण हुए होंगे और अनंत भविष्यकाल में भी अनंतबार उत्क्रमण होंगे, यह मानना ही पड़ता है। तब हाल में जो विश्व दीखता है उसे कोई अमुक आदि या अंत है, यानी वह एक ही मात्र है, उसके पूर्व और भविष्य में कोई न था और नहीं होगा, ऐसी कल्पना ही नहीं की जा सकती। अतः वर्तमान विश्व, और तमाम पूर्वकालीन विश्व और तमाम भविष्य कालीन विश्व, इन दोनों के साथ एक रूप हो जाता है और इस तरह विश्व में दिखने वाली शक्ति भी विश्व में थे, आकाश तथा काल इन दोनों के वर्ग में ही जा मिलती है, यानी कि, आकाश और काल का कोई आदि या अंत होगा, यह माना ही नहीं जा सकता, उसी तरह समग्र वर्तमान विश्व उसके द्रव्य, गति, शक्ति इन तीनों को आदि अंत होंगे इसकी कल्पना ही नहीं की जा सकती। मतलब कि वह भी काल और आकाश की तरह अनाद्यनंत है, इस प्रकार यूरोप के जड़ द्रव्य शास्त्रों के सिद्धांत संक्षेप में हैं। लाप्लास, लोकियर, हंबोल्ट, डार्विन, बॉलेस, टोमसन, हेकेल, हकसले, टिंडॉल, स्पेन्सर, वगैरह महान् समर्थ विद्वानों ने परमाणुओं में से स्थूल विश्व का विकास किस प्रकार होता है उसके बारे में सूक्ष्म शोध, प्रयोग और अनुभव लेकर अच्छे-अच्छे ग्रन्थ लिखे हैं।

चेतनतत्त्व

अब **चेतनतत्त्व** के बारे में पश्चिम के लोग क्या कहते हैं उसके संबंध में संक्षेप में कहता हूँ। दुनिया के पदार्थों के खनिज, उद्भिज यानी वनस्पतिज और प्राणिज ये तीन वर्ग प्रसिद्ध हैं। वनस्पतिवर्ग खनिज पदार्थों को अपनी जड़ों के द्वारा चूसकर, उस पर वृद्धि प्राप्त करते हैं और प्राणी वर्ग वनस्पति खाकर जीता है। वनस्पति जिस-जिस पदार्थ को चूसकर बढ़ती है, वह-वह जड़ पदार्थ वनस्पति के ऊपर एक पर एक सतह जमाकर या बढ़ाकर सजीव (जिन्दा) रहते हैं, ऐसा नहीं समझना है। परंतु जड़ पदार्थों को अपनी जड़ों के द्वारा खींचने के बाद फिर उनको आत्मरूप करके खुद वृद्धि पाते हैं। इस व्यापार के बनते समय जड़द्रव्य जो पूर्व में **निरिंद्रिय** (इनऑर्गेनिक) होते हैं, सो बाद में केवल **सेन्द्रिय** (ऑर्गेनिक) रूप में आ जाते हैं। मतलब कि, जड़ पदार्थ बनते हैं सो द्रव्यों के बारीक-बारीक रजकण के स्तर एक पर एक चिपक कर बढ़ते हैं, और सजीव पदार्थ (वनस्पतिज और प्राणिज) तो जड़ पदार्थों को आत्मारूप करके उन पर बढ़ते हैं।

जड़ पदार्थों को आत्मरूप कर देने की शक्ति तो मात्र सजीव पदार्थ को ही

है। उन सजीव पदार्थों में जो खास जीवशक्ति है उसके कारण ही निरिन्द्रिय द्रव्य **सेन्द्रियरूप** में आ सकता है। अब वह 'जीवशक्ति' क्या वस्तु है इस विषय में कुछ भी मालूम नहीं पड़ा है। वनस्पति या प्राणी पदार्थ का कोई बारीक से बारीक सजीव कण यानी सेल लें तो उसमें जो जीवशक्ति होती है उसे **प्रोटोप्लाज़्म** (Protoplasm) या **बायोप्लाज़्म** कहते हैं। वनस्पति और प्राणी के सजीवत्त्व को साक्षात् को प्राण रूप तथा उनके हर एक सजीव रजकण में देखने में आने वाला मुख्यत्वः वही पदार्थ है। उस प्रोटोप्लाज़्म की रचना विशेष से एक तरफ आद्यवनस्पति यानी **प्रोटोफायटा** (Protophyta) की उत्पत्ति होकर उसकी अनेक जातियां होती हैं और दूसरी तरफ आद्यप्राणि यानी **प्रोटोजोआ** (Protoexoa) की उत्पत्ति होकर उसकी अनेक जातियां होती हैं, ऐसा डार्विन वगैरह शोधकों का कहना है। प्रोटोफायटा वनस्पति विभाग का सूक्ष्म अणु है और प्रोटोजोआ प्राणी विभाग का सूक्ष्म अणु है। ऐसे भी कुछ सूक्ष्म अणु हैं जो कि वनस्पति विभाग के होते हैं या प्राणी विभाग के होते हैं इस बारे में कुछ भी निश्चित तौर पर समझ में नहीं आता है तब ऐसे अणुओं को **प्रोटिस्टा** (Protista) कहते हैं।

वनस्पति तथा प्राणियों के सूक्ष्म अणुओं में जो जीव शक्ति होती है उन अणुओं का रसायन शास्त्रकारों ने पृथक्करण करके देखा तो मालूम पड़ा कि, उनमें ऑक्सीजन, नाइट्रोजन, कार्बन, हाइड्रोजन, फॉस्फोरस और गंधक इतने मूल पदार्थ अमुक प्रमाण में होते हैं। इस तरह प्रोटोप्लाज़्म वाले अणुओं का पृथक्करण करने पर इतने पदार्थ मिल जाते हैं। यह यद्यपि सच है, परंतु वही मूल पदार्थ उसी प्रमाण में मिश्र करके उसमें से जीवतत्त्व-प्रोटोप्लाज़्म कृत्रिम प्रयोगों के द्वारा उत्पन्न नहीं किया जा सकता है, यह एक चमत्कार है। रसायन, सृष्टि, शरीर, इन्द्रिय विज्ञान वगैरह हर एक शास्त्रकार करोड़ों प्रयोग पुनः-पुनः कर करके थक जाते हैं, लेकिन वैसे मिश्रण से किसी तरह स्वतंत्र जीवोत्पत्ति की नहीं जा सकती। तब जड़ मूल पदार्थों में प्रारंभ में 'जीव तत्त्व' किस तरह उत्पन्न हुआ होगा और दूसरे जड़ द्रव्यों को आत्मरूप (अथवा सेन्द्रिय) कर देने की शक्ति सजीव अणुओं में किस तरह उत्पन्न होती है यह बात हाल के जड़वादी शास्त्रकार बिलकुल नहीं जानते। मूल पदार्थों के संयोगों में जीवोत्पत्ति अपने आप किस तरह हुई होगी, उसके उत्तर अनकों ने अनेक तरह से दिये हैं परंतु वे धूल पर मिट्टी पोतने की तरह अयोग्य हैं। हाँ, मात्र प्रोटोप्लाज़्म या जीवतत्त्व वाले किसी सजीव कण यानी सेल (Cell) को यदि एक तरह की विशिष्टि अनुकूल स्थिति में रखें तो उसमें से दूसरा कण तैयार होता है परंतु प्रारंभ में जीवशक्ति कहाँ से आयी, उस प्रश्न का उत्तर सर्वथा अगम्य रहता है।

इस तरह रसायनशास्त्र और जीवनशास्त्र की रीति से विचार करने पर जीवतत्त्व जड़ मूल पदार्थों से बिलकुल स्वतंत्र है, यह सिद्ध होता है और चेतनशास्त्र (Psychology) पर से भी यह ऐसा ही सिद्ध होता है। (1) चेतनायंत्र के सूक्ष्म-सूक्ष्म व्यापारों के अनुषंग से ज्ञान होता है ऐसा देखने में आता है, नाड़ी चक्रों के व्यापार और ज्ञान-विचार-तर्क वगैरह चेतना व्यापारों का उद्भव वह एक-एक के साथ चलता है। और अमुक विचार, ज्ञानादि के साथ अमुक नाड़ी के परिवर्तन विद्यमान होते हैं यह सब भी सच है, परंतु नाड़ी चक्र के व्यापार में से ही **ज्ञान-चेतन**-अस्मि (हूँ) ऐसा प्रत्यय उत्पन्न होता है, ऐसा कभी नहीं कहा जा सकता। **नाड़ी चक्र** और **ज्ञान** उन दोनों के बीच कोई संबंध होना चाहिये। (2) शारीर और चेतनशास्त्र वाले कहते हैं कि यकृत में से जिस तरह उसके परिणाम स्वरूप पित्त निकलता रहता है उसी तरह दिमाग में से उसके विकार रूप से ज्ञान-विचार-चेतना व्यापार वगैरह निकलते रहते हैं यह भी अयोग्य है। कारण पित्त का निकलना तो प्रत्यक्ष है, लेकिन चेतना यंत्र के कौन से तंतुओं और परमाणुओं से विचार किस तरह निकलता है, कौन से परमाणुओं में ज्ञान रमता (खेलता) है, सो मालूम नहीं पड़ता। ज्ञान तो दृष्टा है, विश्व मात्र दृश्य है, और दृश्य तथा दृष्टा का भेद बलात्कार से भी हमें स्वीकारना पड़ता है। उस विरोध, उस भेद की स्पष्टता हो नहीं सकती है। (3) स्मृति-स्मरण के बारे में गत कला में बहुत कहा जा चुका है। अमुक अनुभव होने के बाद जो संस्कार दिमाग के अणुओं में छपकर रहते हैं, उनके जाग्रत होने से स्मरण होता है। ये संस्कार भी ज्ञान ही है। चेतना यंत्र के अणुओं में परिवर्त होने से ज्ञान होता है, ऐसा चेतनशास्त्री मानते हैं। अनेक वर्षों पर अमुक परिवर्त्त दिमाग के परमाणुओं में हुए और संस्कार रूप से छप कर रहे। उसके बाद लाखों, करोड़ों या अगणित ज्ञान उन्हीं परमाणुओं के परिवर्त से हो गया और उनके भी संस्कार रहे। अब अमुक स्मृति के समय अमुक परमाणु ही परिवर्त प्राप्त करने लगे और पहले उस परिवर्त्त से जो ज्ञान हुआ था वह अभी स्मृति रूप से दिखाई दे, यह बनना केवल अशक्य जैसा है। क्योंकि उन्हीं परमाणुओं ने तो अनेक, अनंत परिवर्तन की योजनाएं और उन-उन संस्कार संग्रह कर रखे हैं, तो अमुक ही परमाणु अमुक समय जाग्रत हो उसका कोई कारण मालूम नहीं होता और देशकाल का नियम सोचते हुए इतने सारे परिवर्त्त और इतने सारे संस्कार उसी चेतना यंत्र के परमाणुओं में घुस कर रहे, वह शक्य है। उस पर से भी अनुभव मात्र के संस्कारों का संचय करने वाला मन अथवा आत्मा चेतना यंत्र (जड़ सृष्टि) से पृथक होना चाहिये। (4) मेस्मेरिज्म, रिपरिच्युआलिज्म वगैरह प्रयोगों से तथा विचारवाचन वगैरह घटनाओं से मनुष्य को विश्व दृष्टि होती है और उस शक्ति से हजारों मील की बातें जानी जा सकती हैं। उस समय चेतनायंत्र, नाड़ी

चक्र और दिमाग के परमाणु तो जहां के वहां ही शरीर में व्यवस्थित जड़ जैसे पड़े रहे होते हैं, और ऐसी शक्ति उत्पन्न होने में जो अतिंद्रिय ज्ञान होता है वह ज्ञान कौन से नाड़ी चक्र और परमाणु के द्वारा उत्पन्न हुआ, वह समझ में नहीं आएगा। (5) और निद्रा जागरण, डबल माइंड वगैरह के बारे में पहले कहा ही है। उस स्थिति के समय मनुष्य का ज्ञान द्वितीय होता है। इस ज्ञान का उसे बाद की अवस्था के समय भान ही नहीं रहता। अब साधारण और निद्रा जागरण के असाधारण ऐसे दो ज्ञान एक ही नाड़ी और परमाणुओं के कैसे परिवर्तो से इस तरह परस्पर भिन्न और स्वयं अपने प्रदेश में यथार्थ अनुसंधान वाले रह सकते है? (6) और स्वप्न जैसी साधारण बात को जांचेंगे तो, जो बात बनने के लिए पचास, सौ, हजार वर्ष लगे वैसी बात एक क्षण में स्वप्न में बन जाती है। अब हर एक ज्ञान के लिए अलग-अलग नाड़ी व्यापार और परमाणुओं के परिवर्तन की अपेक्षा चेतनशास्त्री मानते हैं तो 50 या 100 वर्ष की सारी घटना क्षणमात्र में हो उस समय नाड़ी व्यापार और परमाणु की प्रक्रिया का स्वीकार करते हुए उनका परिवर्तो की अनंत श्रेणी और वह भी क्रमशः किस तरह हो सके? (7) और 'होरमेन' नामक बालक के बारे में यह मालूम पड़ा है कि, वह बालक बचपन से ही ऐसा सुंदर तालसुर वाला गायन गाता कि, ऐसा गायन एक अच्छे से अच्छा गायक भी गा न सके और कुछ गांव के स्त्री-पुरुष अमुक स्थिति में आ पड़ने पर स्वयं सुनी न हो वैसी भाषा बोलते हैं। अब इस पर से यह शंका होती है कि, उस बालक की नाड़ी तथा परमाणुओं में कौन से अनुभव के संस्कारों के घुसने से गायन होता था? अनुभव तो उसे है ही नहीं, फिर क्या खुलासा? अनजान भाषा यकायक कहां से आयी? इन सब पर से और मनुष्य को अतिंद्रिय ज्ञान होता है यह बात अब निःसंशय सिद्ध हुई है और उस बात की प्रतीति ब्रांडला जैसे समर्थ नास्तिक को भी हुई है, उस पर से सिद्ध होता है कि, **आत्मतत्त्व** या **जीवतत्त्व** और **बुद्धिसत्त्व** यह चेतनायंत्र (जड़) से भिन्न तथा निरपेक्ष है।

अध्यात्मशास्त्र की दृष्टि (Metaphysical point of view) से विचार करने पर भी चेतनतत्त्व के स्वतंत्र अस्तित्त्व के बारे में स्वीकार किया जा सके, वैसा है। यह कल्पना कीजिये कि पहले कहे हुए अमुक जड़ द्रव्य और उनकी रसायन शक्ति से विश्व में पहले किसी समय चेतन की उत्पत्ति हुई होगी। ऐसी कल्पना करने पर प्रथम द्रव्य और शक्ति का हैयाती (अस्तित्त्व) थी यह स्वीकारना पड़ता है। तब हैयाती या अस्तित्त्व यानी क्या? जब कोई भी वस्तु बुद्धिशक्ति या जिसे चित्तशक्ति कहते हैं उसका प्रत्यक्ष या परोक्ष रीति से विषय हो सके तभी उस वस्तु का अस्तित्व, हैयाती है, ऐसा कहा जा सकेगा। दूसरे शब्दों में बोलें तो प्रमेय प्रमा की अपेक्षा से है अथवा तो अस्तित्त्व यह ज्ञातव्य की अपेक्षा से है। अब जब यह कहा जाता है

कि द्रव्य और शक्ति 'है', तो वह चित्तशक्ति का विषय भी है। लेकिन चित्त शक्ति को जब द्रव्य और शक्ति में से उत्पन्न हुई मानव में आये तो उस पर ऐसी शंका हो कि, चित्तशक्ति कि जिसकी अपेक्षा से अस्तित्त्व है उसके अभाव से द्रव्य और शक्ति का अस्तित्व कैसे माना जा सकेगा? द्रव्य और शक्ति उनकी सत्ता मात्र से ज्ञात है कि चित्तशक्ति में प्रतिबिंबित होने से वह ज्ञात है? यदि वे सत्तामात्र से ज्ञात हैं तो किसे? जब किसी को भी ज्ञात है तो चित्तशक्ति को स्वीकार करना पड़ता है। यदि किसी को नहीं है तो उनका अस्तित्त्व ही नहीं है। चित्तशक्ति में प्रतिबिंबित होने से ज्ञान है तो चित्तशक्ति को स्वीकार करना पड़ता है। इस तरह द्रव्य और शक्ति का अस्तित्त्व सिद्ध करने जाने पर चित्तशक्ति कि, जो द्रव्य और शक्ति का परिणाम मानने में आता है उसे उन दोनों से स्वतंत्र तौर पर स्वीकार किये बिना चलता ही नहीं है।

शायद यह कहा जाय कि, द्रव्य और शक्ति का अस्तित्व चित्तशक्ति की उत्पत्ति के पहले है; यद्यपि उस समय वह किसको ज्ञान नहीं था, लेकिन जब चित्तशक्ति का उद्‌भव हुआ तब ज्ञात हुआ, और इसीलिए वह पहले था यह माना जा सकता है। अब 'पहले था' इसका अर्थ यही कि, वह दिशा-अवकाश (Space) और काल (Time) के अमुक भाग में था। तो अब दिशा और काल दोनों चित्तशक्ति से बाहर है कि चित्तशक्ति में है? यदि चित्तशक्ति के बाहर है तो वह ज्ञात होने से पूर्व अन्य कोई दिक् काल के साथ जुड़े होने चाहिये; उसके सिवाय 'था' यह काल वाचक शब्द नहीं लगाया जा सकता। काल में न हो उसे काल के एक भाग में था यह कहना जरा भी योग्य माना नहीं जा सकता। यदि इस लिए दूसरा दिक्काल लें तो उसके अनुसार आगे चलते हुए अनवस्था हो जाय और उससे दिक्काल से चित्तशक्ति की व्यापकता कम समझी नहीं जा सकती, अतः बलात्कार से भी दिक्काल के साथ चित्तशक्ति को सर्वांश में व्याप्त मानना पड़े। दिक्काल तो अनादि अनंत है। यदि ऐसा न हो तो वे छोटे हो जाएंगे। काल का आरंभ काल के ही एक बिंदु में और अंत भी अपने ही बिन्दु में संभव नहीं है। इसी तरह दिक्-अवकाश के लिए भी कहा जा सकेगा। इस तरह जब दिक्काल अनादि अनंत स्वीकारने पड़ें तो चित्तशक्ति जो दिक्काल के साथ समव्याप्त है वह भी अनादि अनंत मानना पड़े और इसलिए चित्तशक्ति द्रव्य तथा शक्ति इन दोनों के परिणाम रूप हैं। यह असंभावित है और परिणाम होने में कार्य और कारण का क्रम मानना पड़े और वह भी चित्तशक्ति को स्वीकार किये बिना माना नहीं जा सकता। इस सारे विवेचन पर से स्पष्ट समझ में आता है कि दिक्-अवकाश, काल और कार्यकारण भाव संबंध (Causation) ये तीन (कि जिसका स्वीकार जड़ द्रव्य शास्त्रों को किये बिना चलेगा ही नहीं वे सब) चित्तशक्ति में ही होने चाहिये।

द्रव्य, शक्ति और उनके व्यापार ये सब, जब ऊपर के अनुसार दिक्काल, कार्यकारण भाव के संबंध के बिना सत्ता (existence) में ही न आ सके और दिक्काल, कार्यकारण क्रम चित्तशक्ति से बाह्य हो ही नहीं सकते, तब चित्त् शक्ति का उत्पादक के तौर पर उनका (द्रव्य, शक्ति वगैरह का) अस्तित्व कैसे माना जा सकेगा? इसीलिए चित्तशक्ति कि जो चैतन्य-जीवात्मा का विशेष धर्म है वह द्रव्य और शक्ति के कार्यरूप से हो सके यह संभावित नहीं है। इस पर से चेतनतत्त्व कोई स्वतंत्र सत्तावान होने के कारण उसका अनाद्यनतत्त्व और नित्यत्व है यह सिद्ध होता है, और उसका दिक्काल से अनविच्छिन्नत्व भी समझ में आता है।

पश्चिम देश के तत्त्वज्ञान का इतिहास जांचने पर भी सभी तत्त्ववेत्ता चेतन को स्वतंत्र मानने की तरफ सिद्धांत करते हुए मालूम पड़ते हैं। अर्वाचीन यूरोपियन तत्त्वज्ञान का मुख्य गुरु **डेकार्ट** कहा जाता है। उसने प्लेटो के 'स्वयंभूकल्पना' (Innate Ideas) के मत को स्वीकार किया और उसी कल्पना के आधार पर 'मैं सोचता इसीलिए हूँ' (Cogito, ergo, sum) ऐसा सिद्धांत 'स्वयंभूकल्पना' के मत पर से बांधा। उस सिद्धांत पर से विचार करने वाला 'मैं आत्मा' इस तरह आत्मा का अस्तित्व सिद्ध होगा यह यद्यपि सही है, तो भी **जीवात्मा** और उसके कार्यरूप **विचार** ये दोनों एक ही या भिन्न यह सवाल उत्पन्न होगा, तो वह सवाल ही योग्य नहीं है, क्योंकि उसे किसी तरह का दृष्टांत नहीं होने से हेत्वाभास गिना जा सकेगा। डेकार्ट का कहना यह था कि वह अनुमान नहीं है, लेकिन भूमिति (ज्योमेट्री) के प्रत्यक्ष प्रमाण की तरह वह एक स्वयंभू कल्पना है यानी कि, जीवात्मा के द्वारा विचार करना और उसका विद्यमान होना, ये दोनों क्रियाएं एक ही हैं और जब प्रथम की क्रिया रूक जाय तब दूसरी भी रूकनी चाहिये। अतः जितनी विचार क्रियाएं भिन्न उतनी जीवात्माएं भी भिन्न। इस तरह जीवात्माओं का अनेकत्व स्थापित हुआ, परन्तु यह तर्क करने में बड़ी भूल हुई। क्योंकि, डेकार्ट के मत के अनुसार तो नींद में जब तमाम विचार क्रियाएं रूक जाएं तब जीवात्मा भी नष्ट होती है ऐसा मानने का प्रसंग आया। यह बाधा दूर करने के लिए **जीवात्मा** और उसके कार्यरूप **विचार** दोनों भिन्न हैं। यह उनके बाद के तत्त्ववेत्ताओं को कबूल करना पड़ा। इस तरह **बुद्धि** का और **जीवात्मा** का एक बार पृथक्करण होने के बाद उस जीवात्मा का व्यापकत्व या सर्वव्यापी आत्मत्व के अंशत्व के तौर पर स्वीकारने का मार्ग खुल्ला हुआ। इस तरह डेकार्ट के बाद बहुत तत्त्ववेत्ता हो गये, उन सब में केंट ने सप्रमाण यह बता दिया कि, जिस ज्ञान को दृश्य-जड़ में से उत्पन्न हुआ मानते हो उस ज्ञान का प्रथम से अस्तित्व माने बिना दृश्य का व्यवहार ही कैसे सिद्ध होगा? जिस द्रष्टा को माने बिना दृश्य की सिद्धि होना ही अशब्द है उस द्रष्टा को दृश्य में से पैदा करने का

प्रयत्न करना यह अपने ही कंधे पर चढ़ने जैसी बात है। अतः **चेतन** सर्व से स्वतंत्र और अनाद्यनंत है। **केंट** स्वयं प्रेतावाहन को मानता था। केंट के बाद जर्मनी में **फिक्टे, रोलिंग, हार्टमन, हेगेल, शोपहोमर** वगैरह बहुत हो गये, और पश्चिम की सारी दुनिया में प्रेतावाहन के प्रयोग लगभग 100-150 वर्ष से होते आये हैं। **मेस्मर** और **रीखन बेक** को जिस फ्रेंच एकेडेमी ने तुच्छ समझकर ठगी ठहरा दिया था, उसी परिषद् के सभासद और पेरिस के सालपीट्रे अस्पताल के मुख्य डॉ. शार्को ने उसी मेस्मर की कीर्ति छीन लेने के लिए, मेस्मेरिजम को हिप्नोटिजम नाम देकर प्रमाण ग्रंथ प्रकाशित किया है और उसके अनुसार प्रयोग करना प्रारंभ किया है। यदि वे चमत्कार सच्चे हो तो चेतन को स्वतंत्र मानने के लिए कुछ संशय ही नहीं रहता और केन्ट वगैरह पंडितों ने जो निर्णय युक्ति मात्र से किया था उसे इस प्रकार अनुभव का सबूत मिलता है।

आदिकारण

इस तरह ऊपर के अनुसार आकाश, काल, द्रव्य, गति, शक्ति, कारण, कार्य भाव, संबंध के बारे में और आखिर जीवात्मा या सर्वव्यापी विश्वाधारभूत चैतन्य के अस्तित्त्व के बारे में यूरोप के तत्त्ववेत्ताओं के संक्षेप में विचार बनाये। इन सब सिद्धांतों का एकीकरण करते हुए अर्वाचीन तत्त्वज्ञ हर्बट स्पेन्सर बताते हैं कि 'विषयरूप बाह्य जगत् और विषयी रूप आंतर जगत् अथवा भौतिक विश्व और आध्यात्मिक विश्व इन दोनों के बीच परस्पर कार्यकारणसंबंध होने से उनका समीभवन होता है। यह बात जब सिद्ध है तब उसका उपयोग इन दोनों विश्वों में से जिस तरह यह जगत् या वह (आंतर) जगत् लेकर विवेचन करेंगे उसके प्रमाण में इस या उस जगत् का दूसरे जगत् के साथ तादात्म्य संबंध बताकर देने के कार्य में हो सके वैसा है। और उस पर से सूक्ष्म विचार करने पर यह पता लगेगा, कि बाह्यजगत् और आंतरजगत् अथवा एक तरफ द्रव्य, गति, शक्ति और दूसरी तरफ काल, दिक् और जीवात्मा इन दोनों में से किसी भी एक बात को मूल बात के तौर पर माना नहीं जा सकता। क्योंकि विषय और विषयी उस संबंध के द्वारा द्रव्य और आत्मा ऐसी दो परस्पर विरुद्ध कल्पनाएं करने के बारे में यद्यपि हमारा कर्तव्य हो जाता है। तो भी उन दोनों के मूल में जो **अज्ञात सत्** या **सत्त्व** है उसका **द्रव्य** और उसकी **आत्मा** यह हर एक केवल चिन्ह या निशान मात्र है, इसके सिवाय दूसरा कुछ नहीं है।''

इस तरह भौतिक और आध्यात्मिक विश्व के मूल आदिकारण रूप अथवा विषय विषयी के मूल अज्ञात सत्त्वरूप, अथवा द्रव्य और आत्मा के मूल सर्वव्यापक सर्वाधार तत्त्वरूप जो 'कुछ' उसे ही स्पाइनोजा सर्वव्यापक परम अधिष्ठान या द्रव्य

(Universal Substance) कहते हैं। केंट अपरिच्छिन्न (Uncondioned) अथवा भिन्न वस्तुतत्त्व (Things in themselves) कहते हैं, रोलिंग और फिक्टी अविकृत आत्मा या कल्पना (Absolute Being अथवा Idea) कहते हैं, हरबार्ट बुद्धि से पर सद्वस्तुएं (Reals) कहते हैं, **हेगेल** नित्य और शुद्धआत्मा (Universal and Pure Being) कहते हैं, **शोपेनहोमर** व्यापक इच्छा (Universal Will) कहते हैं, **हार्टमन** अव्याकृत (Unconscious) कहते हैं और आखिर **हरबर्ट स्पेन्सर** उस आदितत्त्व को अज्ञात और अज्ञेय (Unknown and Unknowable) ठहराकर निराश होते हैं।

आर्यशास्त्र के अनुसार जड़ (प्रकृति) और चेतन (पुरुष, आत्मा अथवा ब्रह्म) का स्वरूप

अर्वाचीन पाश्चात्य शास्त्र जिस तरह स्थूल पदार्थों का पृथक्करण करके सूक्ष्म पदार्थों को ढूंढ़ते आगे चले जाते हैं, उसी तरह आर्यशास्त्रकार भी स्थूल पदार्थों के स्थूल पिंडों को देखकर उस पर से उत्तरोत्तर सूक्ष्म से सूक्ष्मतर पदार्थों को ढूंढ़ते हुए आगे चले जाते हैं। सांख्य शास्त्र कहता है कि स्थूलात्पञ्चतन्मात्रस्य ॥ बाह्याभ्यन्तराभ्यांतैश्चाहंकारस्य ॥ तेनान्तः करणस्य ॥ ततः प्रकृतेः ॥ संहतपरार्थत्वात् पुरुषस्य ॥ (देखिये सांख्यसूत्र पाद 1. सूत्र 62, 63, 64, 65, 66)। पृथ्वी, पानी, वायु, तेज और आकाश, जो हमारी इन्द्रियों को स्थूलतः समझ में आता है वह **पंचस्थूलभूत** कहा जाता है। वे तो प्रत्यक्ष स्थूल तरह से दीखते हैं। उनकी उत्पत्ति उस-उस तरह से सूक्ष्म द्रव्य रूप कारण में से हुई होगी, यह स्पष्ट है। अतः पांच स्थूल भूतों पर से उनके कारणरूप सूक्ष्म द्रव्यों का अनुमान होता है। उन सूक्ष्म द्रव्यों का नाम **पंचतन्मात्रा** है। बाह्य इन्द्रिय के द्वारा जिसके **विशेष गुण** ग्राह्य हो सकते हैं उसे **स्थूल** कहते हैं। जैसे कि कर्णरूप बाह्य इन्द्रिय के द्वारा शब्द रूप विशेष गुण ग्राह्य हो सकता है, अतः यह गुण जिसका है वह **आकाश** भी स्थूल है। और बाह्य इन्द्रिय से ग्राह्य ऐसे विशेष गुण जिसके-जिसके हैं उस-उस द्रव्य को **भूत** कहते हैं। इस तरह पांच स्थूल भूत और उनके कारणरूप **सूक्ष्म भूत** या (शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध) ये पांच तन्मात्राएं, उन पर से (गत कला में प्रतिपादन किया गया) उसके अनुसार इन्द्रियों के अणु स्वतंत्र श्वास है उनके अनुसार बाह्य और आंतर इन्द्रियों के द्वारा अहंकार का अनुमान होता है। अतः पांच ज्ञानेन्द्रिय और पांच कर्मेन्द्रिय मिलकर 10 इन्द्रियों को बाह्य कहते हैं, और मन अंदर की-आंतर इन्द्रिय है, क्योंकि उससे आंतर के सुखादिक का ज्ञान होता है। ये ग्यारह इन्द्रियां तथा पांच तन्मात्राओं की उत्पत्ति उससे भी किसी अति सूक्ष्मद्रव्य में से होनी चाहिये, यह सिद्ध है। उस पर से ही इन सबके कारणरूप कोई सूक्ष्म द्रव्य होना चाहिये ऐसा अनुमान होता है। उस द्रव्य

को **अहंकार** कहते हैं। अहंकार अभियान वृत्तिवाला एक द्रव्य। उसमें भी कुछ निश्चयवृत्ति वाला भाग है। अतः वह अहंकार, किसी असाधारण निश्चय वृत्ति वाले द्रव्य का कार्य होना चाहिये। उस असाधारण निश्चयवृत्ति वाले द्रव्य को ही अंतःकरण, **बुद्धि**, या **महतत्त्व** कहते हैं। वही **अंतःकरण** वृत्ति भेद से चित्त, बुद्धि, अहंकार, मन इन चार प्रकार के परिणाम को धारण करता है। यह अंतःकरण मध्यम परिणाम है, अतः वह विभु (व्यापक) नहीं हैं। यदि विभु होता तो एक ही काल में पांचों ज्ञानेन्द्रियों से पांच तरह के ज्ञान एक ही समय में हो सकता, अतः वह मध्यम परिणाम है और वह किसी के भी कार्यरूप है यह सिद्ध होता है। तथा उस कार्य की उत्पत्ति जिस कारण में से हो वह व्यापक या विभु होना चाहिये। इस तरह एक, महान, व्यापक या विभुरूप मूल कारण है, उसे ही **प्रकृति** कहते हैं। जो पदार्थ विकार और संयोग वियोग के हेतुरूप हो उसे **संहत** कहते हैं। और वैसा पदार्थ जड़ ही हो सकता है। वह विकार हेतु संयोग प्रधान-प्रकृति में है। अतः जिसमें वह नहीं है ऐसा जड़ से विलक्षण पदार्थ कोई होना चाहिये और उस अनुमान पर से **चेतन, स्वप्रकाश** ऐसे तत्त्व का असंहत रूप से अनुमान होता है। उस तत्त्व को **पुरुषतत्त्व** या **आत्मतत्त्व** कहते हैं और अपने भोग के लिए जो वस्तु हो उसे स्वार्थ कहते हैं और दूसरों के भोग के लिए जो वस्तु हो उसे **परार्थ** कहते हैं। अतः प्रकृति कि जो संहत जड़ वस्तु है, वह **स्वार्थ** (अपने) भोग के लिए नहीं है, लेकिन परार्थ (दूसरों के) भोग के लिए है। अतः जिनके लिए यह प्रकृति है वह असहंत चेतन तत्त्वरूप स्वप्रकाश **पुरुष** है।

इस तरह **प्रकृति** और **पुरुष,** यानी **जड़** तथा **चेतन** के बारे में सिद्धता है। पाश्चात्यशास्त्र की रीति से हम जड़ चेतन के जो स्वरूप जांच गये उसमें मात्र इतना ही सुधार करना आवश्यक है कि इन्द्रियां, अंतःकरण और उनसे भी अति सूक्ष्म ऐसे अणुरूप तत्त्वों का अधिक स्वीकार करना और समग्र मिलकर विश्व के मूलकारण रूप प्रकृति द्रव्य की ज्ञान, गति, क्रिया, शक्ति वगैरह चेतन की सत्ता से आविर्भाव तथा तिरोभाव प्राप्त करके विश्व की उत्पत्ति, स्थिति और लय होता है, अतः वह सारी प्रकृति मात्र चेतनाश्रित ही होने के कारण उस द्रव्य के जितने-जितने परमाणु हैं वे सारे भी चेतनाश्रित होकर उसकी ही सत्ता से **ज्ञान, गति** और **स्थिति** का व्यवहार हो सकता है। इस प्रकार चेतनातत्त्व की स्थिति और उसका प्रकृति का आधार-अधिष्ठान के तौर पर होना यह बात यूरोप के अधिकतर तत्त्ववेत्ताओं को भी मान्य है। अब जड़ और चेतन इन दोनों के संबंध से, जड़ के मूल कारण रूप प्रकृति, उसके आद्य परिणाम रूप कार्य में से महत् (बुद्धि), महत् के परिणाम (विकार) से **अहंकार** और **इन्द्रियां, तन्मात्रा** वगैरह सूक्ष्म स्थूल सृष्टि किस क्रम से होती है उसके बारे में पहले

बहुत बार कहा गया है। उस संबंध में वेदांत शास्त्र की प्रक्रिया कि जो बहुत सुधरी और पूर्ण है उसके बारे में कहते हैं।

चेतन और जड़ का संबंध—व्यापक, अखंड, स्वयंभु, अक्रिय, अचल, निर्गुण, कल्पना से परे, अगम्य जिसका केन्द्र सब जगह माना जा सके वैसा अनंत, एकरस, अनादि, चेतनरूप ऐसा मूलाधार रूप परब्रह्मतत्त्व है। उस आधारभूत तत्त्व के आश्रय से नाना स्वरूप वाली (देश, काल, अनेक शक्तियां, तमाम पदार्थ, शब्द स्पर्श, रूप, रस, गंध, शीतलता, उष्णता, भेद, संबंध, जाति, तम, भाव इथर, प्रोटाइल, तन्मात्रा, त्रिगुण वगैरह) अनेक तत्त्वों के परमाणुओं के समूह वाली **प्रकृति** या **माया** के नाम से वस्तु रही हुई है, वह जड़ तत्त्वरूप प्रकृति अनेक आकार-विकार वाली है और ब्रह्म तथा माया—प्रकृति ये दोनों आश्रय-आश्रयी भाव संबंध से जुड़े हुए हैं। जड़ प्रकृति में गति या परिणाम होने से उसमें से अनेक पदार्थ बनते हैं, और वह चेतन के आधार पर रह स्थित होते हैं और नष्ट होते हैं यानी कि पुनः मायारूप होकर उसमें मिल जाते हैं। जिस तरह स्थूल सूक्ष्म पदार्थों की उत्पत्ति, स्थिति, नाश, रूपांतर, नामरूप से दिखाई देना, व्यवहार योग्य होना, आविर्भाव तिरोभाव होना, वगैरह रचना अनादि से होती आयी है, हुआ करती है, और पूर्ववत् क्रिया (कर्मों) के अनुसार होती रहेगी। किसी काल में प्रकृति नहीं थी, और आयंदा नहीं रहेगी, या उसमें किसी समय गति नहीं थी या आयंदा नहीं रहेगी, यह संभव ही नहीं होता। और चेतन जड़ इन दोनों को परस्पर से भिन्न करके यानी कि किसी भी देशकाल में भिन्न करके कोई बता या सिद्ध कर सकेगा ऐसा होना अशक्य है, जड़ और चेतन या प्रकृति और ब्रह्म ये दोनों नित्यमेव तादात्म्य रूप से रहे हैं। तो भी दोनों स्वरूप से भिन्न-भिन्न हैं। जो प्रकृति-माया है वह ब्रह्म नहीं है और जो ब्रह्म है वह प्रकृति नहीं है, अर्थात् दोनों के स्वरूप तत्त्वतः भिन्न-भिन्न हैं। प्रकृति जड़, अचेतन, परिणामी, सक्रिय, विकारवान तथा अनेक तरह की होने के कारण वह आधेय है, और ब्रह्म तो चेतन, अक्रिय, कूटस्थ, एकरूप तथा स्वयंभु होने से प्रकृति के **अधिष्ठान** (आधार) रूप हैं और दोनों की सत्ता में भी भेद है।

अनेक जड़तत्वों के परमाणु समूह वाली प्रकृति दो तरह की शक्ति और तीन गुण वाली है, **आवरण** और **विक्षेप** ऐसी दो तरह की शक्तियां हैं। आवरण शक्ति से प्रकृति चेतन तत्त्व को आच्छादित कर देती है, और विक्षेप शक्ति से विविधता को प्राप्त करती है। जब तक आवरण शक्ति चेतना तत्त्व के वास्तविक स्वरूप को आवृत्त करके ढक नहीं सके तब तक विक्षेप शक्ति अपने कार्यों को प्रकट नहीं कर सकती। और प्रकृति (माया) नानात्व को प्राप्त कर नहीं सकती और सत्त्व, रज, तम ये तीन गुण हैं, उनमें ज्ञान, सुख, प्रसन्नता, तितिक्षा, लघुता, प्रकाश ये सत्त्व गुण के कार्य हैं; गति, क्रिया, दुःख, शोकादि, चांचल्य ये रजोगुण के कार्य हैं। और स्वरूप,

स्थिति, मोह, भारीपन, मूढ़ता, निद्रादि तमोगुण के कार्य हैं। ये तीन गुण तथा ऊपर कही हुई दोनों शक्तियां, हर एक परमाणु से लेकर समग्र प्रकृति तक सब में रही हुई हैं। जब मूल प्रकृति अपने किसी भी कार्य या परिणाम प्राप्त करने की पूर्व की अवस्था में होती है तब उसमें इन तीन गुणों की परस्पर सत्ता समान प्रमाण में होती है, और ऐसी अवस्था को **साम्यावस्था** या समान अवस्था कहते हैं। साम्यावस्था यानी तीन गुणों का कुल प्रमाण की समानता होना। प्रकृति के कोई भी अणु या परमाणु को लेकर देखेंगे तो किसी में सत्त्व (प्रकाश वगैरह) गुण की अधिकता देखने में आएगी, किसी में रजो (चंचलता, गति वगैरह) गुण की अधिकता देखने में आएगी और किसी में तमो (भारीपन, स्थिरता वगैरह) गुण की अधिकता देखने में आएगी। जिस अणु का अणु समूह में किसी एक गुण की अधिकता होना, यानी दूसरे दो गुण उसमें बिलकुल न हो ऐसा नहीं समझना है, लेकिन जिस गुण का आधिक्य हो उसकी सत्ता, दूसरे दो गुणें की तुलना में अधिक होने से व दो गुण दबे रहते हैं। परंतु उस अणु या अणु समूह के कुल मिला कर तीन गुण प्रमाण में तो सरीखे ही रहेंगे। जब इन तीन गुण में के किसी की भी सत्ता एक दूसरे पर न होकर, तीनों की सत्ता एक दूसरे पर सरीखे प्रमाण में रहे तब उस अवस्था को साम्यावस्था कहते हैं। इस प्रकार इन तीनों में जिस गुण का आधिक्य हो वह गुण प्रधान कहा जाता है। उस दृष्टि से प्रकृति के **सत्त्वप्रधाना, रजःप्रधाना** और **तमःप्रधाना** ऐसे नाम दिये जा सकेंगे। उनमें रज और तम ये दोनों मलीन माने जाते हैं और सत्त्वगुण शुद्ध या स्वच्छ माना जाता है, अतः जिसमें सत्त्व का आधिक्य हो वह शुद्ध या विशुद्ध कहा जाता है। इस तरह देखने पर मात्र सत्त्वगुण की दृष्टि से—अपेक्षा से सारी प्रकृति के नाम रखें तो ऊपर के तीन नामों का शुद्धसत्त्वप्रधाना और अशुद्धसत्त्वप्रधाना (या मलीनसत्त्वा) इन दो में समावेश हो सकता है।

चेतन मात्र की सत्ता से प्रकृति अपनी आवरण शक्ति के कारण ब्रह्म पर आवृत्त होकर, उनमें के तीनों गुणों के समान स्वरूप की कुछ अस्थिरता होने जैसी स्थिति के लायक हुई कि तुरंत ही विक्षेप शक्ति से, प्रकृति के कुछ द्रव्य में शुद्ध सत्त्व गुण की और बाकी के कुछ द्रव्य में अशुद्ध सत्त्व गुण की वृद्धि होने से, उन दोनों अवस्थाओं वाले द्रव्य (अनेक सूक्ष्म स्थूल ब्रह्मांडों तथा अनंत जीवों के शरीर रूप से रचे जाने का, यानी कि) सृष्टि रूप से विविध परिणाम प्राप्त करके नाम रूप से उत्पन्न होने वाले तमाम पदार्थों के कारण रूप (अव्याकृत रूप) बनते हैं। उनमें प्रकृति की जो अवस्था **शुद्धसत्त्वगुण वाली है** उसे **माया** कहते हैं और जो अवस्था **अशुद्धसत्त्वगुण** वाली है उसे **अविद्या** कहते हैं। माया स्थूल सूक्ष्म सृष्टि रूप से विविध परिणाम प्राप्त करने वाले द्रव्य की कारण अवस्था है और अविद्या विविध जाति के देव मनुष्यादि जीवों के स्थूल सूक्ष्म शरीरों को धारण करने वाले कारण शरीर रूप से है।

अव्याकृतमाया में से व्याकृत (नाम रूपात्मक) सृष्टि की उत्पत्ति--सृष्टि की उत्पत्ति के बारे में भिन्न-भिन्न दृष्टि से विचार हो सके वैसा है। तो भी ऊपर के क्रम के अनुसार चेतन की सत्ता मात्र से प्रकृति की विक्षेप शक्ति के कारण, उसमें के सत्त्व गुण की प्रबलता और अप्रबलता से **माया** और **अविद्या** इन दो नाम वाली प्रकृति का आविर्भाव होता है, उसमें मायाद्रव्य शुद्ध सत्त्व प्रधान होने से बहुत स्वच्छ है और वह चेतन के प्रकाश से प्रकाशित होता है। जिससे ऐसे माया द्रव्य विशिष्ट चेतन के बल से स्फुरण होता है। इस स्फुरण के होने से उसमें ढक के रहे हुए रजो तमो गुण में से तमोगुण की सत्ता प्रबल होकर, तमःप्रधान माया द्रव्य अलग पड़ता है और उसमें से सूक्ष्म स्थूल सृष्टि की रचना होती है। किसी भी कार्य के कारण दो होते हैं। एक **उपादान** और दूसरा **निमित्त**। मिट्टी घड़े का उपादान कारण है, और कुम्हार निमित्त कारण है, उसी तरह सृष्टि का उपादान कारण यह तमःप्रधान माया द्रव्य (कि जिसे ईश्वर का शरीर कह सकते हैं) है, और माया विशिष्ट चैतन्य (कि जो ईश्वर कहा जाता है) वह मात्र निमित्त कारण रूप बनकर, माया में स्थित तमःप्रधान द्रव्य में से पंचमहाभूतों वाली और देशकाल वाली सृष्टि की रचना करता है।

अभी थोड़ा अर्वाचीन शास्त्रीय (सायन्टिफिक) शब्दों में बोलें तो प्रकृति की वह दोनों शक्तियां, परब्रह्म की सत्ता से जागृत होने के बाद, प्रकृति के **समस्वरूप की अस्थिरता** (Instability of the Homogeneous) होने के साथ **माया** तथा **अविद्या** ऐसे दो नामों वाली प्रकृतियों का आविर्भाव हुआ। फिर उन दोनों भागों में, प्रकृति के आधार भूत चेतन की सत्ता मात्र से उन दोनों में नानात्व को प्राप्त करने की योग्यता प्राप्त हुई। ऐसी योग्यता के कारण 'अव्याकृत माया' में दब कर रहे हुए तमोगुण प्रधान द्रव्य में से 'व्याकृत सृष्टि' का विकास (इवोल्यूशन) या उत्क्रांति होती है। अर्थात् अव्याकृत माया विशिष्ट चेतना के सामर्थ्य से माया द्रव्य में **परिणाम का नानात्व** (Multiplication of Eff ects) प्राप्त होने पर व्याकृत* (Evolution) वाली **सृष्टि** की रचना होती है। हरबर्ट स्पेन्सर के संक्षिप्त शब्दों में बोलें तो कुल सामान्य (General) में से विशेष (Particular) की अथवा तो शुद्ध (Simple) में से मिश्र (Complex) की उत्पत्ति होती है।

सूक्ष्म सृष्टि की उत्पत्ति

पंच महाभूतों की उत्पत्ति--उत्क्रांति यानी ईथर जैसे सूक्ष्म द्रव्य का उत्तरोत्तर घन रूप में आना और साहचर्य से गति का प्रसारण होना, ऐसा पहले कहा गया है

---

* व्याकृत-व्याकरण और इवोल्यूशन इन दोनों शब्दों का धात्वर्थ समान है और मर्म भी समान ही है। उपादान कारण में बीज रूप से स्थित गुणों का बाहर प्रकट होना उसे 'व्याकरण' (वि+आ+करण) या इवोल्यूशन (e,ex, and Volvo Iroll) कहते हैं।

और उसके अनुसार अव्याकृत माया में चेतन के स्फुरण से, उनमें तमःप्रधान माया द्रव्य (कि जो वर्तमान सृष्टि रचना के पूर्व स्तब्ध था) में **क्षोभ** हुआ। (1) उस क्षोभ से सब जगह सूक्ष्म परमाणु हुए। फिर उन परमाणुओं के संबंध में रही हुई आकर्षक और उत्सारक शक्तियां जागृत हुईं, जिनसे वे परमाणु इकट्ठा होकर उनके अलग-अलग समूह बने। इन समूहों के बनते समय जब एक-एक मध्य बिन्दु की तरफ दूसरे परमाणु आकर्षित होकर आये तब सूक्ष्म आघात से सूक्ष्मतम **शब्द** (ध्वनि) उत्पन्न होगा यह स्पष्ट है। माया के प्रथम विकार रूप इस द्रव्य को **आकाश** कहते हैं, उसका खास गुण **शब्द** है, और उसका स्वरूप **अवकाश** है। यानी यह द्रव्य इतना सारा सूक्ष्म है कि, हर एक दृश्यादृश्य कार्यरूप स्थूल पदार्थ की स्थिति (रहना) उसका प्रसारण (फैलना) वगैरह क्रियाओं के अनुकूल होकर अवकाश (जगह) देता है अतः उसे **आकाश** कहते हैं। (2) इस तरह प्रथम शब्द गुण के साथ आकाश द्रव्य की उत्पत्ति होने के बाद उसमें के कुछ परमाणुओं में विशेष गति उत्पन्न होने के कारण अधिक आघात (स्पर्श) उत्पन्न हुआ, इससे इस अवस्था में आये हुए (आकाश द्रव्य के कार्यरूप कुछ) परमाणुओं का **वायु** ऐसा नाम पड़ा। शोषण करना, स्पर्श (शीतोष्णादि), गति (गमन) वेग ये चारों वायु के धर्म हैं, और वे सब **स्पर्श** गुण वाले हैं। वायु का खास स्वरूप गति है और वायु आकाशतत्त्व का कार्य होने से उसका गुण शब्द भी वायु में उतर आया है। (3) अब वायुतत्त्व के द्रव्य के कुछ परमाणु बहुत गति से परस्पर आघात पाने से उष्णता उत्पन्न होगी यह स्पष्ट है, जिससे इस स्थिति में आये कुछ परमाणुओं का **अग्नि** नाम रखा। अग्नि का खास स्वरूप **दाह** (जलाना) और **प्रकाश** है और प्रकाश से रूप का दर्शन होता है, जिससे अग्नि का खास गुण **रूप** है। यह अग्नि तत्त्व भी वायु का प्रथम कार्य होने से तथा आकाश का दूसरा कार्य होने से उन दोनों कारणों का अनुक्रम से **स्पर्श** और **शब्द** ये दोनों गुण अग्नि में उतर आये हैं, जिससे अग्नि शब्द, स्पर्श और रूप इन तीन गुणों वाला प्रतीत होता है। (4) इस अग्नितत्त्व में प्राप्त कुछ परमाणु, अति उष्णता के कारण द्रवीभूत या रसरूप होने लगे, जिससे उस अवस्था में आये हुए परमाणुओं का **जल** नाम पड़ा। इस जल का खास गुण **रस** है और उसका खास स्वरूप **द्रवता** है। इस तरह अग्नि तत्त्व में से रस द्रवरूप परमाणुओं वाले कार्य रूप जल की उत्पत्ति होती है, अतः जल अग्नि का प्रथम कार्य है, वायु का दूसरा कार्य है और आकाश का तीसरा कार्य होने से, आकाश का गुण **शब्द,** वायु का **स्पर्श,** अग्नि का **रूप** ये तीन जल के अंदर मिले हुए होते हैं। (5) जल तत्त्व में प्राप्त हुए परमाणुओं में से कुछ परमाणुओं का उत्तरोत्तर संकोचन होने से वे कठिन या घनरूप में आने लगते हैं, उस स्थिति में आये परमाणुओं को **पृथ्वी तत्त्व** के परमाणु कहते हैं। पृथ्वी तत्त्व का खास स्वरूप **कठिनता** और मुख्य गुण **गंध** है। इस तरह जल से गंध गुण वाले पृथ्वी तत्त्व की उत्पत्ति होती है, अतः उसके पहले के (आकाश, वायु, अग्नि, जल) चार तत्त्वों के

कार्यरूप होने से उनके (शब्द, स्पर्श, रूप, रस) चार गुण भी पृथ्वी सत्त्व के अंदर मिले हुए होते हैं। इस प्रकार तमःप्रधान अव्याकृत माया में से प्रथम आकाश तत्त्व उत्पन्न हुआ। उनमें से कुछ परमाणुओं में से **वायु** तत्त्व की उत्पत्ति हुई। उस वायु तत्त्व के भी कुछ परमाणुओं में से **अग्नि** तत्त्व की उत्पत्ति हुई, उस अग्नि तत्त्व के भी कुछ परमाणुओं में से रस रूप **जल तत्त्व** की उत्पत्ति हुई और उस जल तत्त्व के कुछ परमाणुओं में से **पृथ्वी तत्त्व** की उत्पत्ति हुई। इस तरह आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी ये पांच तत्त्वों के परमाणु यानी **तन्मात्राएं** प्रथम उत्पन्न हुए। वे सब शुद्ध रूप में होने से उनको **शुद्ध महाभूत या अपंचीकृत सूक्ष्म भूत** भी कहते हैं।

पंच महाभूतों के कार्य—पंच महाभूतों में सत्त्व, रज, तम ये तीन गुण भी कम अधिक प्रमाण से रहे हुए हैं, क्योंकि उन सब के मूल कारण वाली प्रकृति त्रिगुणात्मक है, जिससे पंचमहाभूतों में के अनुगत रहे हुए सत्वांश, रजोंश और तमोंश के प्रधान से अलग-अलग द्रव्य की रचना हो यह स्पष्ट है। प्रथम हम (1) सत्त्वांश को लें तो पांचों भूतों के सब सत्त्वांश की प्रधानता वाले अणुओं से एक स्वच्छ द्रव्य बनता है, उसे **अंतःकरण** कहते हैं, वह अंतःकरण ज्ञानशक्ति की प्रधानता वाला है। अतः अंतःकरण यह ज्ञान के हेतु रूप है, क्योंकि ज्ञान की उत्पत्ति सत्त्वगुण से अंगीकार की गई है। **अंतर** यानी देह के अंदर और करण यानी (ज्ञान का) साधन, अर्थात् देह के अंदर ज्ञान होने के साधनरूप जो द्रव्य है तो **अंतःकरण** कहा जाता है। अतःकरण को कोई सत्त्व भी कहता है। अतःकरण के परिणाम को **वृत्ति** कहते हैं। (इस बारे में आगे विशेष बताया जाएगा) अब एक भूत के सत्त्वांश से पांच ज्ञानेन्द्रियों के अणु बनते हैं। आकाश के सत्त्वगुण वाले अंश से श्रोत्रेन्द्रिय, वायु के सत्त्वगुण वाले अंश से त्वक् इन्द्रिय, तेज के सत्त्वगुण वाले अंश से नेत्रेन्द्रिय, जल के सत्त्वगुण वाले अंश से रसनोन्द्रिय और पृथ्वी के सत्त्वगुण वाले अंश से घ्राणेन्द्रिय के अणुओं की रचना होती है। इस तरह श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, रसना, और घ्राण ये पांच इन्द्रियां अनुक्रम के **शब्द, स्पर्श, रूप, रस** तथा **गंध** को ग्रहण कर सकती हैं। जो इन्द्रिय जिस गुण को ग्रहण करती है, उस इन्द्रिय में वह गुण होता है, यानी कि वह इन्द्रिय उस गुणवाले महाभूत का कार्य करती है यह सिद्ध होता है। जैसा कि श्रोत्रेन्द्रिय के अणु कर्णयंत्र में रह कर, आकाश के गुण शब्द को ग्रहण करता है अतः वह गुण उसमें है और इससे वह इन्द्रिय आकाश का असाधारण कार्य द्रव्य है। उसी तरह त्वक् इन्द्रिय के अणु शरीर यंत्र में (त्वचा में) रह कर वायु के गुण स्पर्श को ग्रहण करता है। अतः वह गुण उसमें है, और इससे त्वक् इन्द्रिय वायु का असाधारण कार्य द्रव्य है। नेत्रेन्द्रिय के अणुओं में त्वक् इन्द्रिय वायु का असाधारण कार्य द्रव्य है। नेत्रेन्द्रिय के अणु नेत्र यंत्र में रह कर, तेज के गुण रूप को ग्रहण करते हैं। अतः वह गुण उसमें है जिसे वह नेत्रेन्द्रिय तेज

(अग्नि) का असाधारण कार्य द्रव्य है। रसनोन्द्रिय के अणु रसनायंत्र (जीभ) में रहकर जल के गुण रस को ग्रहण कर सकते हैं। अतः वह गुण उसमें है, जिससे रसनोन्द्रिय जल का असाधारण कार्य द्रव्य है और घ्राणेन्द्रिय के अणु घ्राणयंत्र (नाक में) रह कर, पृथ्वी के गुण गंध को ग्रहण कर सकते हैं। अतः वह गुण उसमें है। जिससे घ्राणेन्द्रिय पृथ्वी का असाधारण कार्य द्रव्य है। और शब्द, स्पर्श, रूप, रस गंध उन सब गुणों को अंतःकरण ग्रहण कर सकता है। जिससे अंतःकरण सर्वगुणों वाले पांच महाभूतों का सर्व साधारण कार्य है यह सिद्ध होता है।

(2) पांच भूतों में रहे हुए रजोंश की प्रधानता वाले अणुओं से एक द्रव्य बनता है, उसे **प्राण** कहते हैं। वह प्राण स्थूल देह में क्रिया भेद से और स्थान भेद से प्राण अपानादि पांच प्रकार का कहा जाता है इस बारे में पहले बहुत कहा गया है। प्राण विक्षेप रूप है और विक्षेप स्वभाव रजोगुण का है, अतः सब भूतों के सर्वसाधारण रजोंश प्रधान वाले अणुओं से सर्वसाधारण कार्य रूप प्राण की उत्पत्ति होती है और हर एक भूत के रजोंश वाले अणुओं से हर एक असाधारण कार्यरूप **कर्मेन्द्रिय** के अणुओं की उत्पत्ति होती है। कर्मेन्द्रिय यानी क्रिया करने का साधन। क्रिया रजोगुण से होती है, अतःभूतों के रजोगुण वाले अंश से कर्मेन्द्रिय की उत्पत्ति कही जाती है। आकाश के रजोगुण वाले अंश से वाक् इन्द्रिय की उत्पत्ति होती है। इसी तरह वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी के रजोगुणांश से अनुक्रम से **पाणि** (हस्त), **पाद** (पग), **उपस्थ** (स्त्री की योनि और पुरुष के पेडू में विषयानंद के साधन रूप इन्द्रिय) और **गुदा** की उत्पत्ति होती है।

इस तरह **पांच सूक्ष्म महाभूत** (अपंचीकृत भूत या तन्मात्राएं), उनके कार्यरूप **अंतःकरण,** पांच **ज्ञानेन्द्रिय, प्राण** और पांच **कर्मेन्द्रिय** मिल कर सूक्ष्म सृष्टि कही जाती है। उस सृष्टि का ज्ञान स्थूल इन्द्रियों से नहीं हो सकता, वह तो सर्वथा अगोचर है।

स्थूल सृष्टि की उत्पत्ति

सूक्ष्म महाभूतों का संयोगीकरण (पंचीकरण)—ऊपर के अनुसार सूक्ष्मभूतों में से अंतःकरण द्रव्य, ज्ञानेन्द्रिय द्रव्य, प्राण और कर्मेन्द्रिय द्रव्य की उत्पत्ति होने के बाद, सूक्ष्म भूतों में रहे हुए तमोगुण प्रधान वाले अंश, कि आगे जो परिणाम पाने की योग्यता वाले होते हैं उनका परस्पर में संयोगीकरण होने लगता है। एक तत्त्व के परमाणुओं का प्राधान्य होकर बाकी के चार तत्त्व के परमाणु थोड़ी संख्या से मिल जाएं तब जो मिश्रण होता है उसे ही **संयोगीकरण या पंचीकरण** कहते हैं। इस तरह संयोगीकरण होने से हर एक में स्थूलता प्राप्त होती जाती है। उस स्थूलता को प्राप्त महाभूतों के परमाणुओं को ही मूर्त (कठिन या आकृति योग्य) **परमाणु** कहते हैं। इस प्रकार महाभूत पंचीकृतता को पा गये।

महाभूतों के संयोगीकरण में से (उनमें विशेष करके पृथ्वी तत्त्व के पंचीकरण में से) स्थूल ब्रह्मांड की उत्पत्ति हुई। उस ब्रह्माण्ड के अंदर पृ. 284 में बताये अनुसार 14 भुवन रहे हुए हैं। यह भूतों के पंचीकृत प्रकृति द्रव्य में स्थित पृथ्वी पंचीकरण में से सत्त्वगुण के कम ज्यादा अंश को लेकर देव लोक, उनके शरीर, मृत्यु (मनुष्य) लोक, उनके शरीर, नरक लोक, भूत प्रेतादिक शरीर बनते हैं, पहले बनायें **सूक्ष्म इथर** को पंचीकृत भूत में गिना जा सकेगा, और उसकी स्थूलता होने से मूर्त्तावस्था में आये हुए द्रव्य को स्थूल इथर में गिना जा सकेगा। उस इथर के भी हाल के कुछ शोधक अमुक-अमुक वर्ग करते हैं। यह दृश्य विश्व के परमाणु (पहले इनका जिक्र किया गया है) इस इथर के मूर्त अणु हैं। यानी इथर के जितने-जितने धर्म हाल के शास्त्र से प्रतीत हुए हैं, अर्थात् इथर का जो भाग प्रयोग सिद्ध अनुमानों से जाना जा सकता है। उस भाग विशेष करके पृथ्वी तत्त्व का पंचीकृत द्रव्य ही है। उस द्रव्य में से ही **14 स्थूल भुवन** की रचना होती है। इन स्थूल भुवनों में से तो मात्र मृत्यु लोक का अमुक ही भाग दृश्य-गोचर है और बाकी के भुवन तो अदृश्य हैं। पंचीकृत भूत के अधिक सत्त्वांश वाले द्रव्य में से **सत्यलोक** और बाद में सत्त्वांश के कम-कम अंश से अनुक्रम से **तपलोक, जनलोक, महर्लोक** और **महेन्द्रलोक** तथा उस उस लोक में बसने वाले देवों के स्थूल शरीर, और उन लोगों के अनुकूल ऐसे वातारण बनते हैं और पंचीकृत द्रव्य में के तमःप्रधान अणु स्थूल होते जाते हैं। उसमें से रसायन शास्त्र में जिन्हें हाइड्रोजन, ऑक्सीजन वगैरह 80-85 मूल पदार्थ या तत्त्व कहते हैं, उनके परमाणु बनते हैं। उनके दो या उससे अधिक परमाणु स्नेहाकर्षण से इकट्ठा होकर अणु और बहुत से अणुओं से पदार्थ बनते हैं। इस तरह रसायन शास्त्र गें बताये मूल पदार्थ प्रथम वायवातीत अवस्था में, फिर वायुरूप अवस्था में, फिर प्रवाही और आखिर घन या ठोस अवस्था में प्राप्त होकर उनका भी परस्पर में रसायन मिश्रण होकर रसायन संयोगी पदार्थ बनते हैं। उसमें भी अमुक अवस्था वाले निरिन्द्रिय द्रव्य के अंदर जीव तत्त्व (प्रोटोप्लाज्म) की अभिव्यक्ति होने से कार्बन के अनेक संयोगों से सेन्द्रिय द्रव्य बन कर, वनस्पति और प्राणियों के सचेतन सेन्द्रिय शरीर निर्माण होते हैं। मतलब कि, दूसरी तरह कहें तो (पृ. 369-370 में बताये अनुसार) मूल पदार्थों के सूक्ष्म परमाणुओं से अणु बनने के बाद, उनके संघात से प्रथम अग्नि मेघों की रचना होती है। उनमें से फिर तारा लोकों की उत्पत्ति होती है और आखिर उनका द्रव्य विशेष घन होता जाता है तब ग्रहों उपग्रहों की रचना होने पर मनुष्य लोक की, उसके वातावरण की और उसमें बसने वाले मनुष्यों के शरीरों की रचना होती है और उसी क्रम से फिर नरक भूमियां बनती हैं।

इस तरह चौदह लोक मिल कर एक ब्रह्मांड होता है। ऐसे दो ब्रह्मांडों के बीच

प्रकृति द्रव्य सूक्ष्म रूप से विस्तृत रहता है, जिसे घनाकाश कहते हैं। ऐसे घनाकाश के साथ अनेक ब्रह्मांड मिल कर एक सृष्टि कही जाती है। और ऐसी अनेक सृष्टियां एक ही समय में प्रकृति प्रदेश में चेष्टा करती रहती हैं। तथा उनके साथ ही ऐसी अनेक सृष्टियां स्तब्ध होने वाली प्रकृति द्रव्य से लीन हुई होती हैं। जिस क्रम के अनुसार प्रकृति द्रव्य में से व्याकृत सृष्टि का विकास (इवोल्यूशन) होता है उसी क्रम से पुनः उसका **विभक्तिकरण** (Segregation) होकर, उसका द्रव्य का **समतोलन** (Equilibration) होने के कारण आखिर प्रकृति की साम्यावस्था बनी रहती है। इस तरह सृष्टि की उत्पत्ति और लय का चक्र अनादि से चलता है और चलता रहेगा।

इसमें दिक् और काल की स्वतंत्र गणना नहीं की है। क्योंकि वह तो पदार्थों का क्रम संबंध (Relations of Sequence) और साहचर्य संबंध (Relations of Coexistence) पर से उत्पन्न बुद्धि के विकास ही मात्र हैं, जिससे वे स्वतंत्र वस्तुरूप नहीं हैं। क्रम यानी एक के बाद दूसरे का होना, दूसरे के बाद तीसरे का होना वगैरह। अर्थात् कोई भी परिवर्तन एक के बाद दूसरा ऐसे क्रम से ही होगा। साहचर्य यानी एक पदार्थ के बाजू में दूसरा पदार्थ, उसकी बाजुओं में दूसरे पदार्थ, इस तरह पदार्थों का एक समयावच्छेद से होना। अतः पदार्थों का क्रम विषय संबंध वह काल और साहचर्य विषयक संबंध वह **देश** (दिक्, अवकाश) कहा जाता है। क्रम संबंध वह मूल संबंध है और साहचर्य संबंध क्रम संबंध पर से उत्पन्न होता है। ऐसा होने से **काल** और **देश** ये दोनों अव्याकृत माया से स्वतंत्र कोई वस्तु ही नहीं है।

चेतनतत्त्व-ब्रह्म के बारे में

शुद्ध चेतनरूप सर्वाधार ब्रह्म–'ब्रह्म चेतन' यह शब्द और शब्द वाच्य की मान्यता के प्रकार दो हैं। एक तो जिससे परोक्ष (अनुमान) रूप से माना जा सके, और दूसरा प्रकार ऐसा है कि जिससे **अपरोक्ष** (प्रत्यक्ष) रूप से माना या जाना जा सके। ये अनंत तारागण, तथा ब्रह्मांड परिच्छिन्न और गतिमान होने से वे आधार की अपेक्षा रखते हैं। आकर्षण संकोच विकास रूप होने के कारण अमुक आधार की अपेक्षा रखता है। अतः आकर्षण सृष्टि का सर्वाधार रूप नहीं है। शक्ति (पावर, फोर्स) भी अपने शक्तिवान के आधार पर रही हुई है और जिस तरह शक्तिवाला गतिमान और परिच्छिन्न होता है उसी तरह उसकी शक्ति भी गतिमान और परिच्छिन्न होनी चाहिये यह भी स्पष्ट है। उसी तरह गुण, धर्म और सत्ता के लिए समझ लेना और विद्युत, इथर, प्रोटाइल वगैरह के लिए भी जान लेना। मतलब कि, संकोच विकास वाले पदार्थ अगर परिच्छिन्न पदार्थों को आधार की जरूरत रहती है। जैसे कि गति को देश की तथा उसके गतिवान को आधार की अपेक्षा रहती है, वैसे यह गतिवान समग्र ब्रह्मांड

रूपी गोले को देश और आधार की अपेक्षा है। गतिमात्र के कारण आधार मानने की जरूरत न पड़े यह बात सिद्ध नहीं होती, क्योंकि उससे सर्वथा अव्यवस्था रहती है। अब यदि आधार के अभाव से ब्रह्मांड रूपी गोले की एक बाजू पर गति मानें तो भी अव्यवस्था रहेगी और पदार्थ परस्पर के आश्रय से रहते हैं। ऐसा मानें तो अन्योन्याश्रय दोष आता है। इस पर से यह मानना पड़ता है कि दोनों का मूल कुछ तीसरा ही होना चाहिये। इस तरह ब्रह्मांड के पदार्थ परस्पर के आश्रय से नहीं रहते हैं लेकिन उनसे कोई तीसरी वस्तु ऐसी होनी चाहिये कि जिसके आश्रय से वे रह सकते हैं। इस प्रकार अनुमान पर से आधार की परोक्ष रूप से मान्यता होती है। अब इस सिद्धांत के अनुसार जब कोई **मूल आधार** है ऐसा सिद्ध होता है तब वह ऐसा होना चाहिये कि हर एक परमाणु तथा समग्र ब्रह्मांड उसके आधेयरूप रहे। यानी कि, सृष्टि के बाह्यांतर सब जगह धारण करके रखे वैसा कोई **व्यापक आधार** होना चाहिये और यदि वह स्वयं **सांत** हो तो वह मूल आधार के क्षोर पर नहीं हो सकता, लेकिन वह आधेय रूप हो सकता है, अतः वह **अनंत** (अमर्याद, असीम) होना चाहिये और जो आधेय है वह अनादि हो तो वह भी अनादि होना चाहिये क्योंकि आधेय के बाद आधार हो नहीं सकता। यदि आधार को **जन्य** (उत्पन्न, सादि) मानें तो वह व्यापक हो नहीं सकता, अर्थात् वह परिच्छिन्न हो जाय, अतः वह आधार अनादि होना चाहिये और यदि वह आधार सांत (मर्यादा वाला) हो तो परिच्छिन्न हो सकता है, और ऐसा होने से वह आधाररूप से हो नहीं सकता, अतः वह मूल आधार सांत नहीं है। मतलब कि, सादिसांत नहीं, लेकिन देश से अनादि अनंत होना चाहिये। और वह आधार अनादि हो और अनंत न हो ऐसा मानें तो अनादि वस्तु सांत नहीं होती और सादि वस्तु अनंत नहीं होती ऐसा नियम* है। इसीलिए वह काल से भी अनादि अनंत होना चाहिये। इस तरह मूलाधार देश, काल वस्तु इन तीन से परिच्छेद रहित होना चाहिये। और जो जड़ वस्तु हो वह किसी के आधार के तौर पर हो नहीं सकती। क्योंकि जो अपने को और दूसरे को जान न सके, अथवा बिना हिलाये हिले नहीं और जो हिलती हैं तो दूसरे के द्वारा रोके बिना स्थिर न हो सके उसका नाम जड़ कहा जाता है। अब कल्पना कीजिए कि, वह आधार जड़ हो तो परतंत्र होगा। परंतु मूलाधार तो परतंत्र हो नहीं सकता, इसीलिए वह आधार **चेतन** और **स्वतंत्र** होना चाहिए। जड़ दृश्य होता है। उस दृश्य की सिद्धि द्रष्टा के बगैर हो नहीं सकती, अतः वह आधार **द्रष्टारूप** होना चाहिए। यदि उसे दृश्य मानें तो वह आधार के तौर पर नहीं रह सकता। इसीलिए वह प्रकृति मात्र के गुणधर्म स्वभाव का द्रष्टा होना चाहिये, उसे ही **अंतर्यामि** कहते हैं। यदि वह आधार गतिमान अथवा परिणामी हो तो व्यापक नहीं हो सकता,

* देखिये स्वामी आत्मानंद कृत तत्त्व निर्णायक (नियम 55-56)

अर्थात् परिच्छिन्न होना चाहिये। जिससे वह आधाररूप नहीं हो सकेगा, अतः वह **अक्रिय, अपरिणामी** यानि **कूटस्थ** तथा **अचल** होना चाहिये। अपरिणामी होने से वह मूलाधार किसी से उपादान कारणरूप हो नहीं सकेगा। ऊपर लिखे अनुसार गति और गतिमान को देश और आधार की अपेक्षा है, अतः वह द्रव्य और द्रव्य की गति के निमित्तरूप होना चाहिये। परिच्छिन्न वस्तु व्यापक को विषय कर नहीं सकती, इसलिए जीव वगैरह पदार्थों का वह अविषय होने के कारण अलक्ष्य होना चाहिये और यह जड़ ब्रह्मांड कार्यरूप है इसलिए और आधेय रूप है। इसलिए (अर्थात् इन दोनों व्यक्तियों से) वह सर्व प्रपंच के इस आधार को मूलाधार के तौर पर माना जा सकता है, अतः वह **लक्ष्य** है। मतलब कि, ऊपर लिखे अनुसार वह मूलाधार रूप **ब्रह्मचेतन** लक्ष्यालक्ष्य होना चाहिये, यह बात परोक्ष रीति से सिद्ध होती है।

अब उस सर्वाधार रूप चेतन-ब्रह्म को अपरोक्ष रूप से इस प्रकार माना जा सकता हैः जब अभिमानी-**जीव** स्थित होता है तब उसे अपरोक्ष रूप से ब्रह्मचेतन का साक्षात्कार होता है। कारण कि, **जीव** एक काल में दो ज्ञान कर नहीं सकता और स्थूलवृत्ति से सूक्ष्म को विषय कर नहीं सकता। यानी कि, जब अंतःकरण मल, विक्षेप, आवरण इन दोषों से दूर होता है तब वह सूक्ष्म वृत्ति वाला होता है, और चित्त का निरोध परिणाम होता है, तथा उस समय वह जीव ब्रह्म चेतन में स्पष्ट रीति से प्रकाशित होता है और ब्रह्म स्वयं स्वप्रकाश (स्वयं खुद को प्रकाशित करे वैसा) है, इस प्रकार का अकथ रीति से समाधि में उसका साक्षात्कार होता है। यानी कि जीव किसी एक अगम्य विषय के संस्कार लेता है। ये संस्कार सारे ब्रह्मांड के पदार्थों की विलक्षण तरह के होते हैं। ऐसे जिन पदार्थों के विलक्षण संस्कार चित्त पर पड़ते हैं उसका हर एक पदार्थ में अनुभव होता है। इस तरह वह अगम्य पदार्थ या ब्रह्म अपरोक्ष रूप से लक्ष्य है परंतु वह जीव उसके संपूर्ण स्वरूप को विषय कर नहीं सकता इसलिए वह **अलक्ष्य** है। इस प्रकार विवेकी योगी इस लक्ष्यालक्ष्य सिद्धांत को अनुभव करते हैं और उस पर से ब्रह्म के स्वरूप को अनेक संज्ञाएं अथवा विशेषण देते हैं। जैसे कि वह निर्धर्म है। यदि वह धर्मी हो तो व्यापक हो नहीं सकता। परंतु व्यापक में ऐसा हो नहीं सकता। क्योंकि धर्म और धर्मी ये दो पदार्थ स्वरूप से भिन्न होना चाहिये। परंतु व्यापक में ऐसा हो नहीं सकता। क्योंकि धर्म स्वरूप अधिकरण में धर्मी और धर्मी स्वरूप अधिकरण में धर्म हो नहीं सकता, इसलिए उस ब्रह्म को धर्मवान मानें तो वह व्यापक नहीं हो सकता। व्यवहार के लिए यदि धर्मधर्मी की (यदि वह ब्रह्म को धर्मी मान कर उसमें धर्म की) कल्पनाएं की जाय तो कुछ बाध नहीं है। परंतु वस्तुतः (स्वरूप से) धर्मधर्मीपन उसमें है ही नहीं, कारण कि धर्मधर्मी का भेद और उस भेद का भेद मानने से अनवस्था वगैरह दोष प्राप्त होते हैं। और

धर्म के कारण **धर्मी**, या **धर्मी** के कारण **धर्म** है इत्यादि शंकाओं का समाधान हो नहीं सकता। कारण कि एक को धर्म संज्ञा और दूसरे को धर्मी संज्ञा देना मुश्किल होगा और धर्म धर्मी के कौन से अंश में रहता है? धर्मी के ऊपर लिपटा हुआ है या उसके ऊपर अमुक अंश में रहा हुआ है, अथवा तो वह धर्मी के पेट में रहा हुआ है? ऐसी-ऐसी कल्पनाओं के समाधान में वह सांश या मध्यपरिणामी सिद्ध होगा। यदि धर्मधर्मी का तादात्म्य है ऐसा मानें तो वह कल्पना मात्र है, क्योंकि एक का दूसरे के स्वरूप में प्रवेश न होने के कारण दोनों का व्याप्यव्यापकभावसंबंध नहीं हो सकता। इसलिए दोनों का तादात्म्य, कारणकार्य, समवायी वगैरह संबंध बन नहीं सकते और हठ से संबंध मानें तो उस संबंध की भी अनवस्था चलेगी। इन सब कारणों से वह ब्रह्म **निर्धर्म** है और उस संबंध का अनुभव साक्षात्कार के बारे में हो जाता है।

इसी तरह ब्रह्म **निर्गुण** है। उसके स्वरूप से भिन्न ऐसी कोई शक्ति उसमें नहीं है, लेकिन योग्यता है। उस ब्रह्म के लिए कोई भी विशेषण सोचा नहीं जा सकता। और जब ऐसा है तब विशेषण के अभाव में विशेष्यभाव तथा विशेष्य विशेषण भाव संबंध माना ही नहीं जा सकता। यानी कि वह अनिर्वचनीय **एकरस** है। उसके लिए **व्यापक, विभू, अनंत, अचल, परिच्छेदशून्य** वगैरह जो जो विशेषण देते हैं वे तमाम प्रकृति की अपेक्षा से और बुद्धि से कल्पित मात्र है। वस्तुतः वह तो अकथ, अगम्य, लक्ष्यालक्ष्य, अद्भुत, व्यक्ति मात्र स्वरूप है। तो भी शोधक जिज्ञासु को उस पदार्थ का भान नहीं होने से उसकी शांति नहीं होगी। अतः प्रकृति से भिन्न बताने के लिए विवेकी योगियों ने कुछ विशेषणों की कल्पना की है। जैसे कि **सत्**। डोरी में सर्प का जो भान होता है, उसमें वस्तुतः तो डोरी का अस्तित्व होता है। उस अस्तित्व के कारण सर्प की प्रतीति होती है। उसी तरह तमाम ब्रह्मांड में जो सजीव अस्तित्व प्रतीत होता है वह **ब्रह्म** है, इसीलिए ही उसे **सत्स्वरूप** कहते हैं। दूसरी तरह कहें तो 'वह है और है ही' के लिए वह सत् स्वरूप है। उसका कभी अभाव नहीं होता। वह ब्रह्मचित् है। डोरी में जब सर्प की प्रतीति होती है, तब वस्तुतः विचारने पर मात्र डोरी की ही प्रतीति होती है। उसी तरह ब्रह्मांड के पदार्थों की जो प्रतीतियां सजीवन रूप से होती हैं वह प्रतीत स्वरूप के कारण है, अतः भातिस्वरूप कही जाती हैं। और दूसरी तरह बोलें तो तमाम आकार सूर्य के प्रकाश के कारण भासमान होते हैं, लेकिन वह सूर्यादि जड़ प्रकाश है। अब जिस प्रकाश के कारण जड़, प्रकाश और तम तथा दूसरे शब्दादि पदार्थ, उनका परस्पर भेद और संबंध प्रतीत होता है वह **चेतनप्रकाश** है और वह 'वह ही है' अतः वह **चित्** (ज्ञान स्वरूप) कहा जाता है। हर एक विषय प्रिय लगता है, वह

इस लिए कि सर्प सर्पणी को प्रिय है, जड़वादियों को प्रकृति प्रिय लगती है, इस तरह हर एक विषय में प्रियता मालूम पड़ती है, वह भी उसके कारण मालूम पड़ती है। यानी कि वह **प्रियस्वरूप** है, अतः उसे **आनंद** कहते हैं। दूसरी तरह तमाम पदार्थ जड़, परिच्छिन्न, गतिमान हैं और इससे वह विक्षेप रूप हैं। वह यहां तक कि, जीव को जो सुख होता है वह सुख परिणाम का भी अभाव होता है, अतः वह **आनंदरूप** कहलाता है, अतः वह ब्रह्म एक रस और अचल है तथा दुःख से विलक्षण है, अतः उसे आनंद ऐसा नाम दिया जाता है। इस तरह ब्रह्म **सत्‌चित्‌-आनंद स्वरूप** है और इतना खास ध्यान में रखना है कि ये तीन विशेषण प्रकृति अगर मनुष्य बुद्धि की अपेक्षा से है। वस्तुतः तो वह निरपेक्ष है और ये तीनों विशेषण ये तीनों स्वरूपों से हैं ऐसा नहीं है। लेकिन वह चेतन स्वरूप सर्वथा नाशवान नहीं है। अतः उसमें **सत्‌** का आरोप है और अलुप्त प्रकाश है अतः उसमें **चित्‌** को आरोप किया जाता है, दुःख से विलक्षण है अतः उसमें **आनंद** शब्द का आरोप है। सूक्ष्म विचार करें तो वह **चिन्मात्रस्वरूप** है इतना ही डरते-डरते कहा जा सकेगा। वह शेष है। यानी कि जिसको जो कोई 'अमुक ब्रह्म है' ऐसा मानें, जानें, कहें या सोचें वह-वह नहीं है। ऐसे करते हुए वह भी नहीं है, वह भी नहीं है (नेतिनेति) इस तरह जो आखिर में रहे, और नेति का प्रकाश करे वह वही है। अतः उसे **शेष** कहते हैं। वह शेष ही सर्व का आधार और सर्व का प्रकाशक है। वह एक ही है। उसके ही जैसा दूसरा कोई पदार्थ नहीं है। अतः उसे **अद्वितीय** कहते हैं। यानी कि वह एक ही है। जिस वस्तु के भाग विभाग हों, उसके अमुक खंड या विभाग का नाम अवयव है परंतु उसके भाग विभाग हो नहीं सकते अतः उसे **निरवयव** कहते हैं। उसके खंड नहीं होते अतः उसे **अखंड** कहते हैं। उसके अंश सोचे नहीं जा सकते अतः वह **निरंश** कहलाता है। अमुक एक देश काल में एक प्रकार का और दूसरे देशकाल में दूसरे प्रकार का हो सके उसे एकरस नहीं कहा जाएगा। लेकिन वह ब्रह्म **एकरस** है यानी कि वह सर्वथा **चिन्मात्रघनस्वरूप** है, अतः उसे **एकस्वरूप** कहते हैं, वह निरवयव, अखंड, एकरस, निरंश होने के कारण वह ब्रह्म **घन** कहलाता है। उसमें किसी प्रकार का परिणाम या विकार नहीं है तथा वह निर्विकार रूप से स्थित है अतः उसे **कूटस्थ** कहते हैं। जैसे कि एरण पर तमाम धार गढ़े जाते हैं लेकिन वह एरण कम ज्यादा नहीं होती, उसी तरह इस ब्रह्म के आधार से अनेक धार (प्रकृति के परिणाम) गढ़े जाते हैं। लेकिन वह ब्रह्म धाररूप से गढ़ा नहीं जाता, अथवा तो परिणाम को प्राप्त नहीं करता, अतः उसे **कूटस्थ** कहते हैं। हर किसी पदार्थ का प्रकाश उस ब्रह्म के बिना नहीं होता। इसलिए उसे **साक्षीमात्र** अथवा **उपद्रष्टा** कहते हैं।

हर एक विषय का उपयोग अधिष्ठान-ब्रह्म के बिना नहीं होता। जैसे कि स्वप्न सृष्टि में द्रष्टा के बिना एक भी अणु हिल नहीं सकता। अग्नि द्रव्य की सत्ता के बिना जला नहीं सकता। वायु द्रष्टा की सत्ता के बिना एक तृण सरीखे को भी हिला नहीं सकता। मनुष्य व्यक्ति द्रष्टा की सत्ता के बिना कुछ भी नहीं कर सकता। सूर्यचंद्र द्रष्टा की सत्ता के बिना प्रकाशित नहीं होते, इत्यादि इत्यादि। फिर भी द्रष्टा खुद कुछ नहीं करता। इसी तरह अधिष्ठान चेतन की सत्ता के बिना जगत् में कोई भी कार्य नहीं होता। उसकी सत्ता के कारण ही तमाम शक्तियां काम करती हैं। इसीलिए उसे **सर्वशक्तिमान** कहते हैं और जैसे स्वप्न में द्रष्टा के बिना कुछ नहीं होता, फिर भी द्रष्टा स्वयं कुछ करता ही नहीं है। यानी वह **अक्रिय** है। उसी तरह अधिष्ठान ब्रह्म कुछ करता नहीं है, फिर भी उसके बिना कुछ कार्य होता नहीं है, अतः वह **निष्क्रिय** है और पहले बताये अनुसार ब्रह्मसर्वत्र व्यापक है तथा वह एकरस है, अतः उसमें क्रिया या गति का होना असंभव है। गति का अर्थ ही यह है कि, जिस पदार्थ में वह हो उसे स्थानांतर करने का वह हेतु है। अब स्थानांतर तभी हो सकता है कि जब वह पदार्थ एक स्थान में हो और अन्य स्थान में न हो तब। परंतु ब्रह्म सर्व व्यापक होने से उसमें स्थानांतर होने का असंभव होता है, और ऐसा होने से गति का भी असंभव है। अर्थात् क्रिया या गति रहित है जो वस्तु दुनिया में है और वह जैसी तथा जितनी है वह है, तथा वह तैसी व उतनी ही है। उस पर से यह सिद्ध होता है कि ब्रह्म **पूर्ण** है क्योंकि, कोई भी देश ऐसा नहीं है कि वहां ब्रह्म न हो। वैसे कोई भी काल वैसा नहीं है जब ब्रह्म नहीं था और नहीं होगा। तो फिर अनंत शब्द कहां रहा? यानी कि मनुष्य की दृष्टि से असीम कहा जाय। लेकिन वह तो है उतना ही है। अतः वह **पूर्ण** है उतना कहा जा सकेगा और एक दूसरे पदार्थ को एक दूसरे की अपेक्षा होती है। अतः सब पदार्थ अपूर्ण हैं, वैसे ब्रह्म भी हो तो अपूर्ण कहा जाएगा और ऐसा हो तो ऊपर लिखे विशेषण उसे लग नहीं सकते। अतः वह सर्व प्रकार के **निरपेक्ष पूर्ण** है, उतना ही कहना बस होगा।

ईश्वर और जीव—ऊपर के अनुसार सर्व ब्रह्मांड के मूल आधार रूप सर्वव्यापक, एकरस, निरवयव, स्वयंप्रकाशरूप जिस चेतन-ब्रह्म के बारे में कहा गया है, उस चेतन के तत्त्व के आधार पर जड़ प्रकृति रही हुई है। यानी कि सारी प्रकृति और उसके हर एक परमाणु उस चेतन के साथ सब तरफ से अच्छी तरह संबंध प्राप्त होने के कारण, उसके अंदर सर्व स्थान पर चेतन भरा-पूरा—ओत-प्रोत है। अर्थात् जहां-जहां जड़ परमाणु और उनके समूह होते हैं, वहां वहां उनके साथ ऊपर, नीचे, अंदर और सर्वत्र यह यह चेतन होता ही है। अथवा तो तमाम तरह के परमाणु, इथर, प्रोटाइल वगैरह के साथ प्रकृति, इस चेतन रूपी महासागर का आश्रय करके उसमें

रही है। पहले कहा था कि, प्रकृति की साम्यावस्था का भंग होने से प्रथम **माया** और **अविद्या** इन दो नामों वाली अवस्थाओं का आविर्भाव होता है। उनमें माया सृष्टि रूप से परिणाम पाने वाले द्रव्य की कारण-अवस्था है और अविद्या विविध जाति के देव, मनुष्यादि रूप से उत्पन्न होने वाले जीवों के स्थूल सूक्ष्म देहों को धारण करने वाले **कारण-शरीर** रूप से है। अब माया और वह माया जो चेतन के आधार से रही हुई है। उसका और चेतन दोनों का परस्पर बहुत गाढ़ संबंध हो यह स्पष्ट है। अब माया जो शुद्ध सत्त्वगुण वाली है वह **माया विशिष्ट चेतन को ईश्वर या समष्टि अभिमानी** कहती है और अविद्या जो अशुद्ध सत्त्व गुण वाली है वह **अविद्या विशिष्ट चेतन को जीव या व्यष्टि अभिमानी** कहती है। पहले बताया उसके अनुसार माया के सूक्ष्म परिणाम से जब पंचभूत अंतःकरण, ज्ञानेन्द्रिय, कर्मेन्द्रिय और प्राण की उत्पत्ति होती है, तब वे सब माया के सूक्ष्म परिणाम रूप द्रव्य से विशिष्ट चेतन को **हिरण्यगर्भ** कहते हैं और जब उसी माया का स्थूल परिणाम होने से पंचीकृत भूत तथा उनके कार्यरूप चौदह ब्रह्मांड उत्पन्न होते हैं, तब वे सब माया के स्थूल परिणाम रूप द्रव्य से विशिष्ट चेतन को **विराट्** कहते हैं। जिसे हमने साधारणतः **अविद्या विशिष्ट** चेतन या जीव कहा है, उसके साथ जब माया के सूक्ष्म कार्य वाले अंतःकरण के इन्द्रियों के और प्राण के अणु आकर्षित होकर जो एक सूक्ष्म शरीर बनता है उस सूक्ष्म शरीर वाले जीव को अथवा अंतःकरण विशिष्टि चेतन को **तेजस्** कहते हैं। वही लिंगदेह माया के स्थूल कार्य वाले पंचीकृत अणुओं के साथ जुड़कर जब स्थूल शरीर धारण करती है तब उसके साथ जीव को **विश्व** कहते हैं। अर्थात् व्यष्टिसमष्टि भेद से एक ही चेतन प्रकृति या माया की अलग-अलग अवस्थाओं के संबंध में आता है, जिससे उस-उस अवस्था की उपाधि के भेद को लेकर उसे अलग-अलग नाम दिये जाते हैं।

ईश्वर और जीव का स्वरूप—ऊपर कहा है कि माया विशिष्ट चेतन को **ईश्वर** कहते हैं। अब माया शुद्ध सत्त्वगुण वाली होने के कारण उनमें के रजोतमो गुण दबे हुए रहते हैं। सत्त्वगुण से ज्ञान की उत्पत्ति होती है और माया में विक्षेप शक्ति प्रधान होने से, और आवरण शक्ति न्यून अंश में रही हुई होने से विशिष्ट चेतन यानी ईश्वर अनंत ज्ञानवान्, सर्वज्ञ, अंतर्यामी (सब के अंदर रहकर प्रेरणा करने वाला) तथा सदा मुक्त कहलाता है और अविद्या अशुद्ध सत्त्वगुण वाली होने से उसमें का सत्त्वगुण रजोतमो गुण से दबा हुआ रहता है, जिससे उसके अंग में आवरण शक्ति बहुत होती है और इसीलिए अविद्या विशिष्ट चेतन जीव पर आवरण शक्ति का असर प्रबलता से होने से जीव को अपने स्वरूप का यथार्थ भान नहीं होता। जिससे जीव असर्वज्ञ (अल्पज्ञ), बद्ध (बंधा हुआ), कर्म करने में स्वतंत्र, लेकिन

उसका फल भोगने में परतंत्र वगैरह कहा जाता है। मतलब, कि माया में सत्त्वगुण विशेष प्रबल होने से उसमें की आवरण शक्ति का असर ईश्वर को जरा भी नहीं होता, और अविद्या मलीन सत्त्वगुण वाली होने से जीव पर आवरण का असर बहुत होता है, जिससे जीव को वास्तविक स्वरूप का अज्ञान रहता है।

ईश्वर और जीव के स्वरूप की स्पष्टता की प्रक्रिया का प्राचीन शास्त्रकारों में मतभेद है तो भी उन सब में **आभासवाद** बहुत प्रचलित है और उसके अनुसार दोनों का स्वरूप इस तरह घट सकता है। जो पदार्थ बहुत स्वच्छ होते हैं उसमें उसके आसपास रहे हुए तमाम पदार्थों का आकार का प्रकाश वैसा ही पड़ा रहता है। जैसे कि दर्पण में सूर्य का आकार जैसा का तैसा पड़ा रहता है। बाहर के सूर्य में और दर्पण में प्रतिबिंबित सूर्य में जरा भी फर्क नहीं होता। उसी तरह सत्त्वगुण जो स्वयं ही बहुत स्वच्छ है अतः उस गुण के आधिक्य वाले विशुद्धसत्त्व मायाद्रव्य में तथा अशुद्ध सत्त्व अविद्या में, उसके पास रहे हुए अधिष्ठान चेतन का प्रतिबिंब, जैसा का तैसा पड़ता है। अतः मूल अधिष्ठान रूप स्वयं प्रकाश चेतन का आभास, या प्रतिबिंब माया तथा अविद्या में पड़ता है। अतः माया के अधिष्ठान रूप चेतन, और उसका माया में पड़ा प्रतिबिंब रूप आभास, इन दोनों का इकट्ठा नाम ईश्वर कहा जाता है, और माया द्रव्य स्वयं ईश्वर का कारण शरीर है और फिर उसमें स्फुरण होने से उसका परिणाम होकर सूक्ष्म और स्थूल सृष्टि की रचना होती है। उसी तरह अविद्या के अधिष्ठान रूप चेतन और अविद्या में पड़ा हुआ उसका प्रतिबिंब रूप आभास, इन दोनों का इकट्ठा नाम **जीव** या **अभिमानी** कहा जाता है। अतः इन दोनों में जो शुद्ध अधिष्ठान रूप चेतन है, वह तो निर्विकार रूप से केवल आकाश की तरह स्थित है और वास्तविक रीति से तो ईशत्व तथा जीवत्व संज्ञाएं तथा उनके धर्म तो मात्र उस चेतना के आभास को ही प्राप्त होते हैं और बंध, मोक्ष वगैरह भेद कल्पनाएं हैं वे भी आभास संबंधित ही हैं। इन कल्पनाओं का आरोप ईश्वर और जीव के अधिष्ठान रूप शुद्ध चेतन के संबंध में बिलकुल सम्भव तो नहीं है। अतः वह सब कल्पनाएं तो आभास सहित माया और अविद्या में ही की जाती हैं। फिर भी (1) वह आभास, (2) उस आभास के मूल बिंब रूप अधिष्ठान चेतन तथा (3) वह आभास जो माया और अविद्या के स्वच्छ द्रव्य में पड़ता है वह द्रव्य, ये तीनों परस्पर से भिन्न नहीं होते यह स्पष्ट है। इस तरह चेतन और जड़ के ऐसे संबंध से प्रकृति मात्र विविध सामर्थ्य वाली और 'जिन्दा जैसी' प्रतीत होती है, और चेतन तो सदा सर्वदा असंग निर्विकार रूप से स्थित रहता है।

अब अविद्या के सब अणु कुछ समान गुण वाले नहीं होते। उसके अन्दर रहे हुए सत्त्वगुण की कम ज्यादा प्रबलता के अनेक प्रकार के अणुओं में पड़े हुए कूटस्थ

चैतन्य के आभास से वे अणु देव, पशु, पक्षी, कीट वगैरह अनंत प्रकार के जीव होने की योग्यता वाले होते हैं। इस हर एक जीव के कर्म के अनुसार से उसके उच्च-नीच भोग के लिए ईश्वर सृष्टि रचता है। जब जीवों के कर्म भोग देने के लिए (परिणाम प्राप्त करने के लिए) उदासीन बनते हैं तब प्रलय होता है। उस प्रलय में सब पदार्थों के संस्कार माया में रहते हैं, जिससे जीवों के कर्म भी जो बाकी रहे हों वे सूक्ष्मरूप से माया में रहते हैं। जब ये सब कर्म भोगरूप से परिणाम प्राप्त करने के लिए सन्मुख होते हैं तब ईश्वर में ऐसा 'स्फुरण' होता है कि, जीवों के भोग के लिए जगत् उत्पन्न करें। इस तरह इच्छा होने से उसके आश्रय में रही हुई अव्याकृत माया में से नामरूपात्मक व्याकृत सृष्टि की रचना होती है।

लिंगदेह का स्वरूप

पहले कहा है उसके अनुसार अविद्याविशिष्ट चेतन **जीव, अभिमानी, कर्ता, भोक्ता** वगैरह कहा जाता है। यानी कि, अविद्या का अणु और उस अणु के आधारभूत कूटस्थ चेतन (कि जिसे आत्मा, प्रत्यक् निजरूप या जीव साक्षी कहते हैं) उन दोनों के तादात्म्य संबंध (अध्यास) से जो तीसरा स्वरूप होता है उसे जीव कहते हैं। अर्थात् शुद्ध चेतन और अविद्या इन दोनों के तादात्म्य संबंध से जो विलक्षण स्वरूप होता है। उसी को जीव कहते हैं। अतः हम उसे 'जीव का अणु' ऐसी संज्ञा दें इस प्रकार के जीव के अणु ब्रह्मांड में अनंत प्रकार के होते हैं। तो भी उस अणु की ऐसी स्थिति में उसे विज्ञान प्राप्त करने की योग्यता मात्र ही होती है, फिर भी सहयोगी साधनों के अभाव से उसे विषय विज्ञान इस स्थिति में हो नहीं सकता और विषय का विज्ञान होना उसी का नाम **भोग** कहा जाता है। अतः ऐसे जीवों में जो भोग के संस्कार प्राप्त होते हैं उन संस्कारों के प्रमाण में भोगरूपी संपत्ति होने के लिए उस जीव के अणु के साथ सहयोगी साधन के रूप में कुछ अणु आकर्षित होकर चिपके होते हैं। वह इस अनुसार—अविद्या, अंतःकरण, ज्ञानेन्द्रियाँ, कर्मेन्द्रियाँ, प्राण और सूक्ष्मभूत। जिस तरह एक सेनापति के हाथ के नीचे अनेक सिपाहियों का सैन्य होता है, उसी तरह जीवरूप सेनापति के साथ छः प्रकार के अणु जय-विजय का कार्य करने के लिये सहायभूत-सहकारी साधन के तौर पर जुड़े हुए होते हैं। अतः जैसे सिपाही जय प्राप्त करें तो सेनापति ने जय प्राप्त की, ऐसा माना जाता है, वैसे उन सब अणुओं की शुभाशुभ चेष्टाओं का कर्त्तापन और उनके फल-परिणामों का भोक्तापन उस जीव को प्राप्त होता है। उस जीव के जो भोग संस्कार होते हैं उसे अविद्या, अंतःकरणादि अणु वहन कहते हैं। उन सब अणुओं के स्वभावसिद्ध धर्म और व्यवस्था नीचे मुताबिक होती है।

अविद्या—अविद्या के अणु जीव के साथ जुड़े हुए होते हैं। उनमें अविद्यारूप

से तो विश्व में के उस तरह के सब अणु समान होते हैं। तो भी उनके अंदर स्थित अमुक-अमुक प्रकार के संस्कार विशेष के आधार रूप व अणु परस्पर से भिन्न-भिन्न होते हैं। अतः नया सर्ग उत्पन्न होने के समय पूर्व के सर्ग में जो अविद्या का अणु, अमुक जीव के संस्कार को धारण करके संस्कार के साथ ही, पूर्व सर्ग का प्रलय हुआ था तब लय को प्राप्त हुआ था, वही अणु, उन्हीं संस्कारों के साथ उसी जीव को सर्ग के प्रारंभ में प्राप्त होता है और जब जीव एक स्थूल देह को छोड़कर दूसरी देह को ग्रहण करता है तब उसका उसी अविद्या का अणु, संपूर्ण भोग संस्कारों को प्राप्त करके जीव के साथ ही गति-आगति करता रहता है। इस प्रकार इस अविद्या का अणु जीवात्मा के साथ निरंतर चिपककर ही रहा होता है, जीव के जब **अविद्या के भोग संस्कारों** का अंत आता है, तब उनमें के रजोतमो गुण भी निर्बल होकर सत्त्वगुण की प्रबलता होने पर **विद्या के भोग संस्कारों** का उदय होता है और ऐसा होने से इन अविद्या के अणुओं में अपने में जो रजोतमो गुणरूपी अज्ञान संस्कारों को धारण करने की योग्यता होती है वह चली जा कर, केवल शुद्ध सत्त्वगुण की वृद्धि होने से विद्या के भोग संस्कार धारण करने के लिए समर्थ बनता है। इससे **अज्ञान संस्कार** वहां से नष्ट होकर, उसकी जगह विद्या के **ज्ञान संस्कार** दाखिल होकर जीव के साथ जुड़ जाते हैं। ऐसा होता है तब पूर्व जो **अविद्या की वासनाएं** कहलाई जाती थी वह इस समय **विद्या की वासनाएं** ऐसा कहा जाता है। विद्या और अविद्या में महान् भेद है यह कभी नहीं भूलना चाहिये। ऐसा होने से अविद्या के अणु का रूपांतर हो जाता है तब वही विद्या का अणु कहा जाता है और वह जीव के साथ जुड़ा होने के कारण उस प्रकार की शुभ वासनाएं कायम रहती हैं और उसके बाद तो मुख्यतः करके विद्या के ही संस्कारों का उदय होता रहता है।

इस प्रकार अविद्या के अणु का रूपांतर हो जाने से वही अणु विद्या का अणु कहलाता है। महात्माओं और ब्रह्मलोक में रहने वालों को यह अणु प्राप्त होने पर उनकी जाग्रत दशा में उनको विद्यात्मक **माया की प्रतीति** होती है और जब इच्छा हो तब अविद्या की प्रतीति भी उनको हो सकती है, परंतु जिनमें अविद्या के अणु का रूपांतर न होकर उसी रूप में वे अणु प्राप्त होते हैं, उनको जाग्रत दशा में अविद्यात्मक माया के प्रपंच की प्रतीति होती है।

अंतःकरण के अणु–अविद्या तथा उसका ही रूपांतर होकर बनने वाले अणुओं की जो व्यवस्था कही उसी के अनुसार अंतःकरण के अणुओं की भी व्यवस्था समझ ली जाय। माया के परिणाम से जो पंच सूक्ष्म भूत उत्पन्न होते हैं, उन सबके सत्त्वांश वाले अणु एकत्र होने से अंतःकरण के अणु बने हैं। उन अणुओं के सात्त्विक, राजस् और तामस् ऐसे तीन प्रकार होते हैं। क्योंकि समग्र प्रकृति ही जब त्रिगुणात्मक

है, तब उसके कार्य में भी तीन गुण हों उसमें आश्चर्य नहीं है, अतः अंतःकरण में ये तीन गुण होते हैं यह निर्विवाद है, तो भी वे तीन स्वभावों-गुणों की प्रधानता एक में ही हो नहीं सकती। कुछ अणु सत्त्वप्रधान कुछ रजः प्रधान और कुछ तमः प्रधान होते हैं, उसके अनुसार उन्हें सात्त्विक, राजस्, या तामस् अणु ऐसा स्थूल रीति से कहा जाता है। उसमें भी सत्त्वप्रधान अणु बहुत हैं, रजः प्रधान थोड़े हैं और तमः प्रधान अणु बहुत कम हैं। ये सब अणु अंतर में रहकर जीव के भोग साधनरूप (अंतःकरण रूप) होकर रहने वाले होने से उन सब को 'अंतःकरण' ऐसा नाम दिया जाता है।

अंतःकरण विद्युत से भी अति तेजस्वी और अतिशय स्वच्छ पदार्थ हैं। बाह्य पदार्थों का ज्ञान होने के लिए साधन रूप जिस तरह ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय होती हैं और उनको बाह्यकरण (बाह्यसाधन) कहते हैं, उसी तरह स्थूल देह के अंदर रहे पदार्थों का ज्ञान होने के लिए जो आंतरकरण (आंतर साधन) है, उसी को ही अंतःकरण कहते हैं। उसके मुख्यतः दो कार्य हैं, (1) ज्ञानेन्द्रियों की मारफत सूक्ष्म स्थूल सृष्टि के विषयों-पदार्थों को ग्रहण करना और (2) उन इन्द्रियों की मारफत उस-उस विषय को ग्रहण करने के बाद, उसके बारे में उपयोग और उसका ज्ञान कर लेना। उस अंतःकरण के अंदर बल, पराक्रम, आकर्षण, प्रेरणा, भीषण, विवेचन, क्रिया, उत्साह, स्मरण, निश्चय, इच्छा, प्रेम, द्वेष, संयोग, विभाग, संयोजक, विभाजक, श्रवण, स्पर्शन, स्वादग्रहण, गंधग्रहण वगैरह शक्तियां रही हुई हैं। गौरव भय के कारण इन सब में से मात्र दो तरह की शक्तियों के बारे में कहते हैं।

1. अंतःकरण का जिन-जिन पदार्थों के साथ जैसा और जितना संबंध हो उन-उन पदार्थों का वैसा और उतना आकार जब तब वह धारण कर लेता है। कोई काले, पीले या किसी भी रंग वाली लंबी चौड़ी चाहे जैसी मूर्ति के साथ अंतःकरण का संबंध हो तो उस समय कालांतर में भी उस (अंतःकरण) का उस मूर्ति जैसा आबहूब परिणाम हो जाता है। कोई मनुष्य कोई नयी लेकिन कटु दवाई खाता है तो पहले उसी तरह के दूसरे कटु पदार्थों का स्मरण होकर उसकी कटुता का तत्काल और तादृश भान होकर कंपकंपी छूटती है। दूसरा उदाहरण लें, जिस तरह प्रकाश की किरणें जब पदार्थ के साथ संबंध पाती हैं तब उस पदार्थ के जैसा ही रूप धारण करती हैं, जैसे कि किसी का मुख काला और गोल हो तो कांच या पानी में वैसे ही रंग रूप (आकार) वाला प्रतिबिंब देखने में आता है। उसी तरह अंतःकरण अनेक तरह के विषयों का तादृश आकार धारण कर सकता है। अतः इस तरह कि, अपनी ऐसी योग्यता के कारण शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध वगैरह सूक्ष्म रूप (प्रतिबिंबवत्) ले सकता है।

2. अंतःकरण में दूसरी योग्यता यह है कि वह खुद प्रकाशक है, अतः अपने

प्रकाशक परिणाम से ज्ञेय (जानने योग्य) पदार्थ के आवरण को भगा देता है। जैसे सूर्य का प्रकाश अंधेरे को दूर करता है और बाद में सब पदार्थों का भान होता है और योग्य उपयोग होता है, उसी तरह असंबंधी विषयों के साथ संबंध पाने के काल में उस पदार्थ का अज्ञान नष्ट करके ज्ञान होना तथा अपने यथा ज्ञान जन्य संस्कारों के अनुसार स्वयं परिणाम प्राप्त करके उस पदार्थ को उपयोग करने के हेतु रूप हो जाता है। जैसे कोई ग्रंथ पड़ा है और उसमें लिखे अक्षरों के किरण आंखों में जाते हैं, तब प्रथम क्षण में अंतःकरण उन अक्षरों का आकार धारण करता है यानी कि जिस ककहरे के स्वर व्यंजन वाले अक्षरों की पंक्तियां हैं वह असंबंधी विषय है, उनके आवरण का भंग प्रथम क्षण में हो जाता है। फिर दूसरे क्षण में ये आकार ज्ञान प्रकाश में प्रकाशित हो जाते हैं और फिर तीसरे क्षण में उन प्रकाशित हुए संस्कारों को लेकर पदार्थ के ज्ञान का 'मैं ज्ञाता' इस रूप से अभिमानी बनकर अपने यथा संस्कार उन अक्षरों के उपयोग के हेतु रूप बन जाते हैं। इस प्रकार दूसरे बहुत उदाहरण दिये जा सकते हैं। अब इस प्रकार अंतःकरण के दूसरे परिणाम जांचें।

संस्कार—संस्कार यानी क्या? इस बारे में पहले पृष्ठ 347 में अच्छी तरह समझाया गया है, उस प्रकार सोचिये कि, हमने सारी उम्र में कभी घड़ी नहीं देखी और वह किसी ने हमें दिखाई तो प्रथम उसका तादृश आकार आंख की मारफत दर्शन ज्ञानतंतु के द्वारा विभाग में छप जाकर रहेगा। अब उसी आकार का क्षोभ आगे बढ़कर दिमाग के साथ रहे हुए अंतःकरण में जाएगा, जिससे अंतःकरण भी घड़ी के आकार वाला हो जाएगा। यानी कि, पहले नहीं देखी हुई या नहीं सुनी हुई 'घड़ी' नामक पदार्थ के साथ अंतःकरण की वृत्ति का बिलकुल नया आद्य स्पर्श होने से आज तक किसी समय नहीं हुआ था वैसा विलक्षण परिणाम बन जाएगा। अर्थात् घड़ी का गोल आकार था वैसा ही आकार वाला उस वृत्ति का परिणाम हो आया, उसी आद्य अवस्था का नाम **संस्कार** कहा जाता है। उसी तरह अंतःकरण बाह्य विषयों के संबंध में आने से, अथवा बाह्य पदार्थों की सूक्ष्म और स्थूल प्रमाण में, और कम अधिक बल से प्रमाण में अभी का असर अथवा जो अहसास होते हैं। उन्हीं को कम ज्यादा प्रमाण में संस्कार, वासना कर्म वगैरह नाम दिये जाते हैं।

अंतःकरण के प्रवृत्तिरूप और निवृत्ति रूप परिणाम—ऊपर के अनुसार घड़ी का आद्य संस्कार होने के बाद वह अमुक उपयोग की वस्तु है ऐसा सुनने के बाद उसकी प्रवृत्ति या निवृत्ति रूप इच्छा होती है। अतः संस्कार यह प्रवृत्ति या निवृत्ति के कारण रूप हैं। मतलब कि अंतःकरण के परिणाम रूप वृत्ति में ऐसी योग्यता है कि, उसके साथ जिस विषय का संबंध होता है उसके जैसी वह परिणाम पा जाती है। अब यदि किसी समय पहले घड़ी के बारे में पड़े हुए संस्कारों के बल के कारण, किसी भी निमित्त

से, पहले अनुभव की हुई घड़ी जैसा परिणाम-आकार बन जाये, उसका नाम संस्कार जन्य **स्मृति** कहा जाता है और उसका प्रतीति-ज्ञान **स्मृति** ज्ञान कहलाता है।

वासना—एक के एक विषय के साथ अंतःकरण का ऊपर के मुताबिक संबंध होने से और उससे उत्पन्न होने वाले बारंबार के संस्कारों का पुनः-पुनः उपयोग होता जाय तब इसलिए अंतःकरण के अभ्यास से उसकी दृढ़ता हो जाती है, अतः ऐसी अभ्यासजन्य अदृष्ट योग्यता का नाम **वासना** कहा जाता है। मतलब कि, अंतःकरण को प्रथम जिस विषय का संबंध होता है उसी विषय के आकार जैसा अंतःकरण बन जाय तब जो प्राथमिक स्थिति हो वह संस्कार है, अर्थात् वह अंतःकरण का परिणाम विशेष है। वही परिणाम किसी स्वभाव से अथवा किसी कारण के लिए बारंबार हो तो वह दृढ़ता होने से वह **वासना** कहलाती है।

अंतःकरण की स्फुरण, काम की तृष्णा, कर्म वगैरह सूक्ष्म परिणाम—अब वह वासना रूप अभ्यास किसी कारण से स्फुरे अर्थात् वह मूल संस्कार परिणामी ऐसा अंतःकरण, जिसका वासनानुसार परिणाम हो और उस संस्कार का उपयोग होने लगे तब उसे **स्फुरण** कहते हैं। वह स्फुरण बहुत सूक्ष्मदर्शी पुरुष समझ सकते हैं। अब स्फुरण जब विशेष स्पष्ट रूप से हो तब उसे **काम** कहते हैं। मतलब कि, पूर्व के दृढ़ संस्कारों से हुई वासना का किसी समय उद्भव हो तब उसे **स्फुरण** कहते हैं। उस स्फुरण का उपयोग वृत्ति में होने से जो परिणाम हो उसका नाम **कामना** कहा जाता है और उस कामना का स्पष्टरूप होने से अर्थात् मालूम पड़ने से जो परिणाम हो उसे **तृष्णा** कहते हैं।

काम (कामना) या तो सशब्द रूप से हो, या तो अशब्द रूप में हो, तो भी संक्षेप में ऐसे (अंतःकरण) स्पष्ट परिणाम विशेष को इच्छा (काम) कहते हैं। उस काम के कारण अंतःकरण में **गति** अर्थात् **कर्म** होता है और उस गति के कारण वह परिणाम ज्ञानेन्द्रिय अथवा तो कर्मेन्द्रिय के साथ संबंध प्राप्त करता है। यद्यपि गति तो प्रथम संस्कार परिणाम के समय भी होती है, तो भी संस्कार से प्रारंभ करके काम तक उस गति का विशेष उपयोग स्पष्ट रूप से नहीं होता है, अतः उसे कर्म ऐसा नाम दिया नहीं जाता। लेकिन जब उस गति का उपयोग होता है यानी कि, ज्ञानेन्द्रियों के साथ या कर्मेन्द्रियों साथ उसका संबंध जुड़ता है तब उसे **कर्म** कहा जाता है।

अंतःकरण के सशब्द अशब्द परिणाम—अंतःकरण के ऊपर के मुताबिक अनेक परिणाम हुआ करते हैं। वे अस्फुट या स्फुट रूप से होते हैं, अथवा तो अशब्द या सशब्द रूप से होते हैं। जब अंतःकरण का परिणाम अथवा जीव की वृत्ति, कर्मेन्द्रियों के साथ संबंध पाती है, तब उसे **कृत** कहते हैं; पेट, हाथ, पग हिलाना, आंख झपकते समय जो संबंध होता है वह, ये सब कृत के उदाहरण हैं। जब यही वृत्ति ज्ञानेन्द्रियों

के साथ संबंध प्राप्त करे तब उसे **नृत** कहते हैं। जैसे कि शब्द ग्रहण के समय उसकी जो क्रिया बनती है वह नृत का उदाहरण है। जब वही वृत्ति कर्मेन्द्रिय और ज्ञानेन्द्रिय के संबंध के बिना अंदर ही अंदर इधर-उधर भटकती है तब उसे **वृत्त** कहते हैं, जैसे कि नाभि प्रदेश में जाना, वृत्ति का देश देशांतर में गमन करना, विचार में आना, वगैरह जब वही वृत्ति अपनी हयाती रख कर अक्रिय बन कर किसी चाहे जो स्थल में स्थित हो जाय तब उसे **सुर्त** कहते हैं। जैसे कि योगी लोग आंतर में रही हुई ज्योतिष्मति के साथ संबंध रखते हैं, तब उनकी वृत्ति, ज्योतिष्मति के प्रकाश के साथ तादात्म्य प्राप्त करके स्थित हो जाती है, अथवा जहां-जहां-जब-जब गतिमान पदार्थ स्थित होने के बाद उस पदार्थ का भान होता है, वहाँ-वहाँ तब-तब वृत्ति की जो स्थिति होती है। उस अवस्था को **सुर्त** कहते हैं। यह एक अंतःकरण की अस्फुट अवस्था है। इस प्रकार **कृत, नृत, वृत्त और सुर्त** ये चारों सशब्द परिणाम रूप से अथवा तो अशब्द परिणाम रूप होते हैं। यदि वह परिणाम सशब्द हो तो सशब्द की भी चार अवस्थाएं गिननी चाहिये। उन सशब्द अवस्थाओं को ही अनुक्रम से **वैखरी, मध्यमा, पश्यंति** और **परा** कहते हैं। उसमें **परा** और **सुर्त** का संबंध है, **पश्यंति** और **वृत्त** का संबंध है, **मध्यमा** और **नृत्त** का संबंध है और **वैखरी** तथा **कृत** का संबंध है।

मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार–अंतःकरण के अंदर संस्कार पड़ने से उसकी कैसी-कैसी अवस्थाएं होती हैं, इसके बारे में ऊपर कहा ही है। उन सूक्ष्म अवस्थाओं के कारण अंतःकरण के अनेक परिणाम होते हैं। ज्ञात-अज्ञात, स्थूल-सूक्ष्म, दृष्ट-अदृष्ट पदार्थों के संबंध-संस्कार के कारण अंतःकरण में अनेक व्यापार होते हैं। यानी कि जब पूर्व दृष्टश्रुत पदार्थ के आकार को वह अंतःकरण में धारण करे, तब जो परिणाम होता है उसे **स्मृति** कहते हैं; चिंतनात्मक धर्म को प्राप्त हुए अंतःकरण के परमाणुओं को **चित्त** कहते हैं; कारण वह अवस्था होने से, पूर्व में देखी या सुनी हुई वस्तु का अंदर चिंतवन या स्मरण होता है, अतः अंतःकरण के ऐसे चिंतनात्मक धर्म रूप से परिणाम प्राप्त अणुओं को **चित्त** कहते हैं, यह परिणाम भी सशब्द और अशब्द रूप में होता है। जब अंतःकरण संकल्प-विकल्प रूप परिणाम को प्राप्त करता है तब अंतःकरण के संकल्प-विकल्प रूप से **परिणाम** प्राप्त अणुओं को **मन** कहते हैं। उस मन की भी सशब्द तथा अशब्द अवस्थाएं होती हैं, जब 'यह ऐसा ही है, ऐसा नहीं है' ऐसे निश्चयात्मक रूप से अंतःकरण परिणाम प्राप्त करता है तब ऐसे निश्चयात्मक परिणाम को प्राप्त (वृत्ति रूप अंतःकरण के) परमाणुओं को **बुद्धि** कहते हैं। यह लकड़ी है और उसे मैं जानता हूँ।' ऐसी अहंवृत्ति का परिणाम होने से अंतःकरण की जो अहंतारूप-ममतारूप स्थिति होती है, उस स्थिति वाले परमाणुओं को **अहंकार** कहते हैं। बुद्धि और अहंकार भी सशब्द और अशब्द स्थिति में होता है। जब ''यह

पदार्थ पहले देखा था वही है'' ऐसा ज्ञान परिणाम हो आता है तब उसे प्रत्यभिज्ञा कहते हैं। क्योंकि ऐसे परिणाम से 'यह प्रत्यक्ष' और 'पहले देखा था सो' इन दोनों का सूचन होता है।

इन सब में मुख्य बात ध्यान में रखने की है कि वासना, कामना, स्फुरण, इच्छा, कर्म ये सब परिणाम और मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार ये सब परिणाम अथवा उनके उपरांत जो कोई परिणाम कहने में आएंगे उन सब के मूल कारण रूप जो कुछ है तो वह **संस्कार** (भावना) है और वह ज्ञात-अज्ञात, दृष्ट-अदृष्ट, परोक्ष-अपरोक्ष, स्थूल-सूक्ष्म पदार्थों के संबंध के कारण होता है। जो कुछ कल्पनाएं स्वतंत्र रीति से नयी उत्पन्न होती हैं ऐसा हमें लगता है, उनका भी समावेश उसमें हो सकता है ऐसा जानना। राग, द्वेष, इच्छा, प्रयत्न, दुःख, सुख, धर्म, अधर्म, अभिनिवेश, ज्ञान वगैरह तमाम अंतःकरण के परिणाम ही हैं।

इन सब के संबंध में एक दृष्टांत देकर स्पष्ट करें। मानों कि, हमारे समक्ष एक छः महीने का बालक है, उसके समक्ष 'पापा पापा' ऐसे शब्द हम बार-बार बोलें तो स्वाभाविक तौर पर उसके अंतःकरण मे दो परिणाम होते हैं। एक तो उसकी आंखों के द्वारा, हमारे होठ के हल-चल से होने वाली आकृतियों की फोटो उसके अंतःकरण में जाती हैं और उसका अंतःकरण वैसे ही आकार वाला हो जाता है और हमारे होठ में से जो शब्द उत्पन्न होते थे, उनकी ध्वनियां बालक के कानों के द्वारा उसके अंतःकरण में गई और उनके अनुसार वह अंतःकरण वैसे आकार वाला परिणाम प्राप्त हुआ। अब बालक के खून का और उसके शरीर में रही हुई विद्युत, आकर्षणादि शक्तियां वगैरह कारणों से बार-बार अभ्यास होने लगे यह स्पष्ट है और उसके अनुसार उपयोग होने के लिए कुदरत अनुकूल होने लगे, अतः जब वह बालक किसी मनुष्य को देखता है, तब स्वयं होठ हिलाने और वैसे शब्द का उच्चारण व्यापार करने का प्रयत्न उसमें उत्पन्न होता है। इस उदाहरण में आद्य संस्कार अभ्यास रूप से यानी वासना रूप होकर उसका अनुकूल कारण मिलने के कारण **कामरूपता** में आकर इन्द्रियों के साथ संबंध प्राप्त करके उपयोग में आते हैं। बालक के ऐसे अनुकरण व्यापार पर से कुछ यह सोचते हैं कि, यह बालक स्वयं स्वतंत्र नई कृति करता है, परंतु वैसा नहीं है। अलबत उसमें जो 'जीवत्व' मिला रहा है, उससे यह कृति चमत्कार रूप से दीखती है और वह जीव उस कृति का द्रष्टा होने के कारण अनुभव करता है तथा अंतःकरण और जीव इन दोनों का तादात्म्य संबंध होने के कारण मानो ऐसा दीखता है कि, मानो वह सारी कृति बालक का जीवात्मा स्वयं ही करता न हो।

इन्द्रियों के अणु—ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों की उत्पत्ति पंच सूक्ष्म महाभूतों में से होती है, इस बारे में पहले कहा है। उनकी मारफत अंतःकरण बाह्य विषयों

का ज्ञान ग्रहण करता है और लेना, देना, चलना, छोड़ना वगैरह कर्म करते हैं। श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, रसना और घ्राण इन पांच तरह के ज्ञानेन्द्रियों के अणु होते हैं और वे अनुक्रम से शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गंध इन पांच विषयों का विज्ञान करवा देने के साधन रूप से है। सोचो कि, एक मनुष्य के कान में श्रवण ज्ञान तंतु है, लेकिन उस तंतु के अंदर जो 'श्रोत्र' ज्ञान के अणु न हों तो वह ज्ञानतंतु बहरा हो जाता है, जिससे ध्वनि का ज्ञान उस मनुष्य को हो नहीं सकता। इस प्रकार दूसरी इन्द्रियों के लिए समझ लेना।

हाथ, पांव, चमड़ी, वायु, उपस्थ ये पांच प्रकार के कर्मेन्द्रिय के अणु हैं और उन पांचों से पांच क्रियाएं होती हैं, यह स्पष्ट है। जिस तरह किसी मनुष्य के हाथ के तंतुओं में तथा स्नायुओं में हस्तेन्द्रिय के परमाणु न हों तो उसका स्थूल हाथ तंदुरुस्त दिखने पर भी उसके हाथ में होने वाले किसी भी तरह के कर्म नहीं कर सकेगा। इसी तरह दूसरी इन्द्रियों के लिए समझ लेना।

प्राण के अणु—जीव के साथ पहले कहे अनुसार अविद्या, अंतःकरण तथा इन्द्रियों के अणु होते हैं, वैसे प्राण के भी सूक्ष्म अणु होते हैं। उन अणुओं का मुख्य कार्य यह है कि दूसरे सारे अणुओं में गति उत्पन्न करना। उस प्राण के अणु में से दूसरे अणुओं में गति का संक्रमण होता है। अतः एक तरफ अविद्या, अंतःकरण, इन्द्रियां तथा पांच तन्मात्राओं के सूक्ष्म अणुओं को वेग मिले और दूसरी तरफ स्थूल शरीर में रहे हुए सब स्थूल पिंडों, स्नायुओं दिमाग के तंतुओं नाड़ियों वगैरह को भी वेग गति मिलती है, तथा शरीर में रहे वायु की गतिमान होते मालूम होते हैं। यानी कि इन अणुओं से वेग प्राप्त शरीरस्थ वायु भी प्राणरूप से सामान्यतः कहे जाते हैं। इस पर से प्राण के मानसिक (अंतःकरण विषयक) कार्य और शरीर निर्वाहक कार्य ऐसे दो प्रकार के कार्य उसके अणुओं की गति से होते रहते हैं यह स्पष्ट मालूम होता है। यानी कि अंतःकरण स्थूल शरीर के साथ नाड़ियों में व्याप्त रह कर जो ज्ञान, क्रिया, संस्कार वगैरह रूप से परिणाम प्राप्त करके गति-अगति का कार्य कर सकता है, वह इस प्राण के अणुओं की सत्ता से ही कर सकता है, और उसी तरह खाये हुए अन्न का रस करके लहू, वीर्य, ओजस् वगैरह जो होता है तथा जो शारीरिक कार्य विद्युत से भी नहीं होते, वे सब शरीर निर्वाहक कार्य प्राण के अणुओं की सत्ता से हो सकते हैं। इन्हीं कारणों से योगशास्त्र में अंतःकरण का निरोध करने के लिए प्राणायाम की महान् सिफारिश भी है। क्योंकि वैसा हो तो ही चित्त का और शरीर व्यापारों का निरोध होना संभव है। मरण के समय उसी प्राण की अपनी जो कला बाह्य विश्व में सत्ता कर रही थी वह आकर्षित हो जाती है, इससे शरीर के वायु मस्तक को भेद कर आकर्षित होते प्रतीत होते हैं और वह सत्ता

शरीरस्थ प्राण को संपूर्ण अंश में आकर्षित करता है, तब उन प्राणरूप अणुओं पर आरूढ़ होकर जीव अंतःकरणादि अणुओं को साथ ले जाता है और स्थूल देह का त्याग करता है। ऐसा होने से प्राण की जिस सत्ता से शरीरस्थ वायु श्वास-प्रश्वास रूप से जाते-आते देखने में आते थे तथा शरीर के निर्वाहक व्यापार चलाते थे वह सत्ता जीव के साथ चली जाने से, स्थूल शरीर में के सर्वत्र सेन्द्रिय अणुओं में रसायन पृथक्करण त्वरा से चलता है और शरीर सड़ने लगता है, जिससे स्थूल शरीर रूपी यंत्र अव्यवस्थित होकर अंत में अदृश्य होता है।

सूक्ष्मभूत तन्मात्राएं—पांच सूक्ष्म भूतों के अणु भी जीवात्मा के साथ लगे होते हैं, स्थूल देह को टिकाये रखने वाले तथा संस्कारों को धारण करने वाले जो पृथ्वी, पानी, तेज, वगैरह सूक्ष्म पांच भूतों के अणु होते हैं, उनको तन्मात्राएं कहते हैं। वे अपने में के वह संस्कार जब तक विद्यमान होते हैं तब तक कायम रहते हैं और जब वे संस्कार खत्म हो जाते हैं तब उस जीव को अपने कर्म के अनुसार दूसरे जिस तरह के स्थूल शरीर में प्रवेश करना होता है उस तरह के स्थूल शरीर का आरंभ कर सके ऐसे तथा उस स्थूल शरीर को टिकाने के और उसमें भोग देने के संस्कार को धारण करने वाले सूक्ष्म भूतों के दूसरे अणु प्राप्त होते हैं और पूर्व के अणु चले जाते हैं। अतः हर एक जन्म पर इन सूक्ष्म भूतों के अणु बदलते रहते हैं यह स्पष्ट है। कभी बिना जन्म के भी ये सूक्ष्मभूत बदल जाते हैं, जब इस चालू शरीर को टिकाये रखने वाले कर्म संस्कारों की तुलना में दूसरे अति बलवान कर्म संस्कार फल देने को तैयार होते हैं तब उन अति बलवान संस्कारों के द्वारा, इन संस्कारों का जय होने से ये अणु, उन बलवान संस्कारों को धारण करने वाले सूक्ष्म भूतों के दूसरे अणुओं को स्थान देकर खुद उस जीव की अपेक्षा से सूख जाते हैं।

कारणदेह, लिंगदेह और स्थूलदेह

पहले कहा है कि शुद्ध चेतन और अविद्या उन दोनों के तादात्म्य संबंध से जो विलक्षण स्वरूप होता है, उसे **जीव** कहा जाता है। उसमें अविद्या अनंत विचित्रता को धारण करने वाले अतिशय गहन और ऐसा सूक्ष्मतम द्रव्य है कि, वह शुद्ध चेतन के ज्ञान प्रकाश के प्रतिबिंब को धारण करने की योग्यता वाला बनता है। अतः जीवत्व का आरंभ उस अविद्या में रही हुई स्फूर्ति से ही माना जा सकता है। अतः वह अविद्या एक तरह से जीव वर्ग के अभिमानी की मूल उपाधि के तौर पर ही है। यदि अविद्या न हो तो जीव संज्ञा ही नहीं रहती, अतः उसे **कारण शरीर** कहते हैं। यह अविद्या मलीन सत्त्ववाली होने से जीव का सामर्थ्य शून्यवत् कर डालती है और उसमें आवरण शक्ति का साम्राज्य विशेष होने से जीव को अपना वास्तविक स्वरूप अज्ञात होकर रहता है। इस तरह अज्ञान होने से मिथ्या ज्ञान की—अध्यास

की–परंपरा बंधती है। 'मेरा स्वरूप सत्, चित्त, अनंत, आनंद स्वरूप है' यह भान चला जाता है। फिर वह कारण शरीर रूप अविद्या में जो संस्कार संग्रहित होते हैं उन संस्कारों के बल के अनुसार (माया के सूक्ष्म परिणाम से उत्पन्न पांच सूक्ष्म भूतों के कार्यरूप) अंतःकरण के, इन्द्रियों के, प्राण के परमाणुओं को आकर्षित करके, उन सबको ग्रंथि भूत कर रखता है और बाद में पंचतन्मात्रा के अणुओं को आकर्षित व रके, सूक्ष्म चेतनायंत्र या सूक्ष्म पंजर रूप से उनको बनाता है। इस तरह उत्पन्न सूक्ष्म परमाणुओं के संघात को **लिंगदेह** कहते हैं या सूक्ष्म देह कहते हैं। जिस तरह गरम की हुई धातु का रस, भूषा (ढांचे) में उड़ेला हो तो वह भूषा (ढांचे) का आकार धारण करता है, वैसे अविद्या-कारण शरीर में रहा हुआ तादात्म्य अध्यास रूपी रस, लिंगदेह के हर एक अणु में प्रवेश करके जीव को तादात्म्य बनाता है। यानी कि इस तरह कि अविद्या के बल से अपने स्वरूप का जो भान चला गया था, वह भान चले जाने से जड़ अंतःकरण के साथ प्रथम तादात्म्य अध्यास बंधता है। अतः अतःकरण के जितने परिणाम वह मैं ही हूँ, अर्थात इससे बुद्धि और मन के धर्मों का मिथ्या ज्ञान स्फुरित होता है। वह स्फुरण होने से बुद्धि के या मन के जो-जो धर्म उनका अपने में अध्यास होता है। ऐसा होने से मैं सुखी, दुःखी इच्छा वाला, ज्ञान वाला, बिना ज्ञान का वगैरह भान स्फुरित होते हैं। इतने से ही अध्यास रूकता नहीं है, अंतःकरण और आत्मा एक रूप में दीखने से 'मैं कर्त्ता हूँ' वह सर्व क्लेश के कारण रूप मिथ्या भान प्रथम स्फुरित होता है उसका नाम कर्तृत्वाध्यास है। वह अध्यास बंधने से भक्तृत्वाध्यास दृढ़ होता जाता है। क्योंकि कर्त्तापन का अभिमान होने से राग, द्वेष वगैरह उत्पन्न होते हैं और साभिमान प्रवृत्ति होती है। ऐसी प्रवृत्ति से धर्माधर्मरूप फल उत्पन्न होता है और उसमें से सुख और दुःख ये दो भोग उत्पन्न होते हैं। सुख और दुःख ये दोनों अंतःकरण की वृत्ति मात्र हैं, फिर भी अंतःकरण के साथ अध्यास हो गया। उस सुख-दुःख से 'मैं सुखी हूँ, दुःखी हूँ' ऐसे भान स्फुरित होते हैं। वह भान भोक्तृत्वरूप है।

इस तरह कर्तृत्वाध्यास भोक्तृत्वाध्यास को दृढ़ करता है। भोक्तृत्वाध्यास दृढ़ होने से बल प्राप्त होता है और कर्त्तृत्व के अभिमान को मजबूती देता है। इस तरह दोनों अध्यास परस्पर को बल देते हुए चलते हैं और जीव सुख-दुःख भोगने को अनेक योनियों में घूमता है और लिंगदेह माया के स्थूल कार्य वाले पंचीकृत भूतों के अणुओं को अपने में रहे हुए संस्कार के अनुसार आकर्षित करके माता-पिता के द्वारा खाये गये अन्न के द्वारा वीर्य में प्रवेश करके परंपरा से स्थूल देह धारण करता है। वह सबको दृश्य है। इस देह के साथ भी जीव का तादात्म्य अध्यास अहंरूपता को त्याग करके ममत्व 'यह मेरा है।' ऐसे रूप को ग्रहण करने की योग्यता वाला होता है। उसका नाम

ममत्वाध्यास। यह अध्यास सर्व जड़ पदार्थों में न्यूनाधिक अंश में विस्तरित रहता है।

मतलब कि, **अविद्या** में जो अनंत संस्कार संग्रहित होते हैं, उनमें से जो संस्कार परिणाम प्राप्त करने के लिए सन्मुख होते हैं, उन संस्कारों के बल के अनुसार, 'अविद्या' माया के सूक्ष्म परिणामी अणुओं को आकर्षित करके एक नया **सूक्ष्मशरीर** (सूक्ष्म भोगायतन) को जन्म देती है। और वह सूक्ष्म शरीर भी अपने में रहे संस्कारों को फल देने के लिए माता-पिता के वीर्य के द्वारा गर्भ में जाकर, माया के स्थूल परिणामी अणुओं को आकर्षित करके **स्थूल** शरीर (स्थूल भोगायतन) को बनाता है। इसमें कारण देह से स्थूल देह के हर एक परमाणु तक हर एक द्रव्य परस्पर में ओत-प्रोत मिश्र होकर रहते हैं और जीवात्मा भी कारण देह से स्थूल देह की त्वचा की सतह तक व्यापक होकर रहता है, तथा जहां-जहां जीव की व्यापकता होती है वहां-वहां संस्कारी अंतःकरण भी सर्व देह व्यापी रहा होता है और जीव शरीर के व्यापार के द्वार जैसे-जैसे अधिक खुलते जाते हैं, वैसे-वैसे अध्यास का प्रवाह भी अखंड बहता रहता है।

एक तरफ से अविद्या अपने में स्थित संस्कारों के अनुसार नये परमाणुओं को आकर्षित करके लिंगदेह की रचना करती है, यानी कि अपने में स्थित संस्कार, इस प्रकार लिंग शरीर की रचना के बाद स्थापित होते हैं और इसी तरह वह लिंग शरीर भी जब अपने में स्थित संस्कारों के अनुसार स्थूल देह की रचना करता है, तब लिंगदेह के संस्कार स्थूल देह में परिणाम पाते हैं। इस क्रम से उलट प्रकार से देखने पर स्थूल शरीरजन्य सब व्यापार अपने कारणरूप लिंगदेह में अपने-अपने संस्कार स्थापित करते जाते हैं, और स्थूल तथा लिंगदेह के स्वतंत्र व्यापारजन्य संस्कार अविद्या-कारण-शरीर में निरंतर स्थापित होते जाते हैं और इस तरह सूक्ष्म शरीर के विचारजन्य संस्कारों का वेग और स्थूल शरीर के क्रियाजन्य व्यापारों के संस्कारों का वेग, ये दोनों वेग अविद्या में निरुद्ध (पोटेन्शियल या संचित अथवा ग्रंथिभूत) स्थिति में पड़े रहते है।* इस तरह अविद्या में आ पड़े अथवा संचित हुए अनंत वेगों में से कोई वेग परिणाम प्राप्त करने में सन्मुख होता है। उस समय अविद्या सारी परिणाम प्राप्त नहीं करती, लेकिन उसका मात्र अमुक ही अंश कार्योत्पत्ति में रूकता है। अतः सूक्ष्म शरीर के उत्पत्ति काल में भी उसका अमुक अंश अविकृत दशा में रहता है और इन सब में संस्कार और अध्यास ये दोनों मूल कारण रूप होने से उनका संबंध बीजांकुर न्याय की तरह अनादि है।

---

* ये दोनों वेग इस तरह अविद्या में ही मात्र आकर संग्रहित होते हैं उतना ही नहीं लेकिन उनका असर उनके संसर्ग में आने वाले हर एक सजातीय देह धारियों की अविद्या पर भी होता है और इस तरह हर एक मनुष्य की आचार विचार का असर दूसरों पर होने के कारण अपने आचार की जिम्मेदारी के बारे में हर एक व्यक्ति को कितना सारा सोचना है यह इससे स्पष्ट होता है और उसी हेतु से आर्य शास्त्रों में नीति के लिए बहुत कटाक्ष रखा है।

जीव ईश्वर की देह और कोषों की प्रतीति

स्थूल, सूक्ष्म और कारण ये तीन देह हैं, अनुभव में आये ऐसी हैं। उनमें की स्थूल देह तो स्पष्ट ही है उस देह से जो भोग भोगा जाता है वे **स्थूल भोग** हैं, और वे इस स्थूल ब्रह्मांड में से प्राप्त होते हैं। उसी तरह सूक्ष्म देह का अनुभव स्वप्न के समय आता है ही। यानी कि स्वप्न काल में ज्ञान और क्रिया का सारा व्यवहार जिस देह से किया जाता है वही सूक्ष्म देह है। स्वप्न के समय स्थूल देह पड़ा ही रहता है। फिर भी उस समय लेना-देना वगैरह जो व्यवहार जिस शरीर से होता है उसे ही **सूक्ष्म शरीर** कहते हैं। स्वप्न में वही शरीर हाथ से ग्रहण करता है, आंख से देखता है, कान से सुनता है, विचार करता है वगैरह। उस सूक्ष्म देह से स्वप्नावस्था में हर स्वप्न के भोग भोगते हैं। ये भोग सूक्ष्म ब्रह्मांडों में से प्राप्त होते हैं। कुछ लोग यह मानते हैं कि स्वप्न काल में जो सृष्टि दृश्य होती है वह मात्र मन की काल्पनिक होती है, वस्तुतः सूक्ष्म सृष्टि उस समय दीखती ही नहीं है। परंतु वह ठीक नहीं है। कारण कि, जो शरीर हाथ से ग्रहण करता है, आंख से देखता है, वह ग्राह्य और दृश्य वस्तु और चक्षु और हस्त ये उभय परिणाम एक ही काल में संभावित हो नहीं सकता, क्योंकि जिस क्षण में अंतःकरण चक्षु रूप परिणाम प्राप्त करे उसी क्षण वह घटपटादि दृश्य पदार्थों के आकार रूप परिणाम धारण नहीं कर सकेगा। अर्थात् एक काल में एक वस्तु दो परिणाम धारण नहीं कर सकती, ऐसा नियम है। इसलिए जिसका परिणाम चक्षु है उसके ही परिणाम रूप (दृश्य) नहीं है, जिसका परिणाम हस्त है उसका ही परिणाम उसी क्षण घटादि (ग्राह्य) नहीं है। यानी कि, स्वप्न सृष्टि जो स्वप्न काल में दीखती है वह उसका ज्ञान ग्रहण करने वाला अंतःकरण, ये दोनों भिन्न-भिन्न होने चाहिये। जिससे सूक्ष्म सृष्टि का उपादान भी अंतःकरण से भिन्न होना चाहिये और वह उपादान माया का सूक्ष्म परिणामी द्रव्य है। हमें जो स्वप्न आता है वह अधिकतर जाग्रत दशा में जो पदार्थ हम देखते हैं उन्हीं का आता है। उसी तरह अनंत जन्मों की जागृतावस्था में अनंत पदार्थ अनुभव किये होते हैं, और उनकी सूक्ष्म वासनाएं अंतःकरण में रही होती हैं। वह उद्भव प्राप्त करके उसके अनुसार सूक्ष्म सृष्टि में से पदार्थ रचे जाते हैं। कभी-कभी किसी भी जन्म में न अनुभव किये विषयों का जो स्वप्न आता है उसमें निद्रादि दोष के कारण द्रष्टा को दूसरे देखे हुए दृश्यों का अपने में भान होता है। इन सब पर से स्पष्ट होगा कि स्वप्न में सूक्ष्म देह, उस देह के सूक्ष्म सृष्टि में से मिलने वाले सूक्ष्म भोग, और उन दोनों की द्रष्टा ये तीनों परस्पर भिन्न होते हैं और इस तरह सूक्ष्म देह और वह देह जो सृष्टि में विहार करता है वह सूक्ष्म दृष्टि, इन दोनों का अनुभव होता है। पहले समाधि कला **(पृष्ठ 221)** में बताया गया है कि, जब शरीर की ऐच्छिक शक्तियां थक जाती हैं तब वे

विश्रांति लेती हैं, उसी का नाम **निद्रा** कहा जाता है। यही बात थोड़ी सूक्ष्म रूप से कहें तो लिंगदेह में रहे अंतःकरण, इन्द्रिय वगैरह को थाक लगता है जिससे वह साधारणतः स्थित होते हैं उस अवस्था को **सुषुप्ति** कहते हैं। इस समय स्थूल और लिंगदेह की ऐच्छिक शक्तियां जिसमें लीन होकर विश्रांति प्राप्त करती हैं वैसा कोई द्रव्य होना चाहिये यह स्पष्ट है, उस द्रव्य को ही **अविद्या या अज्ञान** कहते हैं, और वह इस तरह कारण शरीर रूप है, यह स्पष्ट ही है। सुषुप्ति के समय **अज्ञान** और निद्रारूप विश्रांति का सुख अथवा **आनंद** इन दोनों का अनुभव होता है फिर उस अनुभव की जागने के बाद स्मृति होकर उसका भान पुरुष को होता है, जिससे जागने के बाद पुरुष कहते हैं कि मैं आज सुख से सोया था, मुझे निद्रा अच्छी आई और मुझे उतने समय में कुछ खबर नहीं थी यानी कि अज्ञान था, अनुभव के बिना स्मृति होती ही नहीं है, ऐसा नियम है। उस पर से मालूम पड़ता है कि उस समय अंतःकरण अविद्या में लीन होने से तथा निद्रारूप विश्रांति से आनंद-सुख के जो संस्कार पड़ते हैं, उसका असर बहुत सूक्ष्म प्रमाण में अंतःकरण ऊपर होता है। जिससे जागने के बाद उसका स्मृति रूप परिमाण होने से सुषुप्ति में अनुभव किये अज्ञान और सुख का अनुभव होता है। सुषुप्ति काल में अंतःकरण यद्यपि अविद्या में लीन हुआ होता है ऐसा स्थूल तरह से कहा जाता है, लेकिन वह इस तरह होता है कि, जिस तरह भूमि में बीज बोते हैं (कि जिसके अंदर भविष्य में उत्पन्न होने वाले समग्र वृक्ष समाया हुआ है) उसमें उसे भूमि के अंदर से मिलने वाले पोषक पदार्थों से उस बीज में अत्यंत सूक्ष्म प्रमाण से गति होती रहती है। फिर भी स्थूलतः यह कहा जाता है कि, बीज स्थिर है। उसी तरह अविद्यारूपी भूमि में रहा हुआ अंतःकरण रूपी बीज यद्यपि सुषुप्ति काल में स्थित होता है, तो भी उस काल में अज्ञान के संस्कार से सूक्ष्म प्रकार से अंतःकरण पोषण कर रहा होने से, अविद्या का कार्य जो अज्ञान और सुषुप्ति काल की विश्रांति-स्थिरता का सुख इन दोनों के संस्कारों का उसमें असर होने से 'मैं नहीं जानता' ऐसे अज्ञान के संस्कार और, मुझे सुख से निद्रा आयी, ऐसी स्थिरता के संस्कार ये दोनों संस्कार की जागने के बाद स्मृति होती है। अर्थात् सुषुप्ति के पहले का काल और बाद का काल इन दोनों के देखते हुए 'बीच के काल में अज्ञान था' ऐसा कहा जाता है। उसी अज्ञान का ज्ञान अंतःकरण की गति को दिखा देता है और अंतःकरण इथर से भी बहुत सूक्ष्म है। कोई भी क्षण ऐसी नहीं है कि इथर में गति न होती हो और इथर के आंदोलनों से भी अंतःकरण में भी उसकी गति होनी चाहिये। यह बाह्य कारणों पर से भी स्पष्ट समझा जाता है, तब इस पर से सुषुप्ति के समय जो अज्ञान का अविद्या का भान होता है वही अविद्या कारण शरीर कहलाती है, और उससे आनंद अर्थात् विश्रांति रूप सुख का भोग प्राप्त होता है।

अब जो जीव है वह जब कारण शरीर का अभिमानी हो तब उसे आनंद का **भोक्ता या प्राज्ञ** कहते हैं। वही जीव जब सूक्ष्म शरीर का अभिमानी हो, तब उसे सूक्ष्म विषयों का **भोक्ता** (प्रविविक्त भुक्) या **तैजस्** कहते हैं और वही जीव जब स्थूल शरीर का अभिमानी हो, तब उसे स्थूल विषयों का **भोक्ता** या विराट् कहते हैं।

कारण और लिंग इन दोनों शरीरों का स्थूलदेहरूपी चेतनायंत्र के साथ संबंध और जीवात्मा का स्थान

इस तरह ऊपर के अनुसार जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति इन तीन दशा में तीन देहों और स्थूल सूक्ष्म सृष्टि का अनुभव होता है। माता के गर्भ में तो कारण देह के साथ लिंगदेह पिंडीकृत होकर रहता होता है, फिर जन्म होने के बाद जैसे-जैसे स्थूल शरीर के अवयव खिलते जाते हैं। वैसे-वैसे लिंगदेह के तत्त्वों का उस-उस द्वार से आविर्भाव होता रहता है। उनकी सामान्य कला सारे स्थूलशरीर में द्रव्य (एक तैजस् तरल द्रव्य) रूप से रहने के उपरांत विशेष कलाएं स्थान-स्थान पर प्रतीत होती रहती हैं। फिर भी अंतःकरण के साथ जीवात्मा की स्थिति अर्थात् उसका केन्द्र स्थान तो हृदय देश में ही होता है। जाग्रत दशा में लिंगदेह की सामान्य कला विशेष रूप से दिमाग में प्रस्फुटित होती है। उससे जाग्रतदशा का सर्व व्यवहार मुख्यतः करके दिमाग और नेत्रादि गोलकों के द्वारा होता रहता है। उसमें भी एक इन्द्रिय तथा गोलक निर्बल या नष्ट होता है तब दूसरी किसी इन्द्रिय का गोलक बलवान होने से उसके द्वारा जीवात्मा का ज्ञान व्यवहार होता है। स्वप्नदशा में उसी लिंगदेह की सामान्य कला विशेष रूप होकर कंठदेश में प्रस्फुटित होती है, जिससे स्वप्न दशा में का जीवात्मा का ज्ञान और क्रियाओं के सर्वव्यवहार कंठदेश के द्वारा होता रहता है। सुषुप्ति दशा में उसी लिंगदेह की अथवा जीवात्मा की विशेष कला उसके मुख्य केन्द्र स्थान में यानी हृदयदेश में प्रस्फुटित होती है, इससे अज्ञान और सुख के अनुभव का ज्ञान व्यवहार सुप्त बीज के अनुसार हृदयदेश में ही होता रहता है। मरण समय पर भी जीवात्मा के दोनों देहों के तत्त्वों की सर्व सामान्य और विशेष कलाएं हृदय में इकट्ठा होकर एक बिन्दु में आकर मिलती हैं। संयम काल में अथवा तो तूर्यावस्था या समाधिदशा के समय तो समस्त विशेष कलाएं एकत्र होकर मूर्धा यानी ब्रह्मरन्ध्र में इकट्ठी होती हैं, जिससे समाधि के साक्षात्कार का सब ज्ञानव्यवहार मूधदिश के द्वारा होता रहता है।

इस सारी व्यवस्था में इतना नहीं भूलना चाहिये कि ज्ञानोत्पत्ति अंतःकरण के अस्तित्व के कारण ही होती है और वह हृदय देश में आत्मा के साथ संलग्न होकर रहा हुआ होता है। यह अंतःकरण अपने द्रव अथवा कला रूप से सारे स्थूल शरीर

में सामान्यतः व्याप्त होता है और इन्द्रियों के अणु भी अंतःकरण के साथ सब तरफ से संबद्ध होते हैं, और उनकी क्रियाएं, हर एक ज्ञान तंतु जो अपने-अपने चेतना चक्र में जा मिलते हैं, उन चक्रों के द्वारा परिवर्तन होते हैं, अथवा तो बाह्य विषयों की प्रतिमाओं का क्षोभ ले सकती हैं। अब इस सारी व्यवस्था के अनुसार हमें पदार्थ का ज्ञान किस तरह हो सकता है, इस बारे में विचार करें। मानो कि हमारे समक्ष एक स्फटिक मणि पड़ा है। तो प्रथम प्रकाश के किरण जो पहले से ही उस मणि पर पड़े हुए थे, उन किरणों की आकृति देश के साथ आंख के गोले (नेत्रगोलक) पर पड़ती है, इससे उसका आघात नेत्र ज्ञान तंतु की मारफत, वह तंतु जो चेतना चक्र में जा मिला होगा उस चेतनाचक्र (नर्वसेन्टर) में पहुँचने से उसका क्षोभ नेत्रेन्द्रिय के अणुओं पर होता है। ऐसा क्षोभ होने से अंतःकरण वहां मानो हाजिर हो ऐसा मालूम होता है। किरण हर एक विषय-पदार्थ की ऐसी आबेहुब प्रतिमा (रूप) धारण करती है कि मानो देश-अंतराय के साथ स्फटिक मणि स्वयं ही अंदर आया न हो! इस तरह स्फटिक मणि की प्रतिमा का नेत्रेन्द्रिय के अणुओं के द्वारा अंतःकरण के साथ प्रथम क्षण में संबंध होता है। वह संबंध उसी क्षण साथ-साथ चेतन जो आत्मा या जो स्वयं प्रकाश है, उसके प्रकाश* से प्रकाशित होता जाता है। फिर दूसरे क्षण में अंतःकरण उस स्फटिक मणि (पदार्थ) का रूप धारण करता है, और उसी क्षण साथ-साथ बना हुआ अंतःकरण का स्फटिक मण्याकार परिणाम आत्मा के द्वारा प्रकाशित होता है। इतना होने के बाद तीसरे क्षण में अंतःकरण का 'यह है' (यह स्फटिक मणि है) ऐसा निश्चयात्मक (ज्ञेयाकार) परिणाम होकर उसी क्षण में वह परिणाम के साथ-साथ आत्मा के द्वारा प्रकाशित होता जाता है, फिर अंतःकरण में 'मैं जानता हूँ' ऐसा ज्ञानाकार परिणाम होता है। अब प्रथम क्षण में हुआ था सो ज्ञान दूसरे क्षण में रहे तब वह अनुव्यवसायी कहलाता है। यानी कि दूसरे क्षण में 'यह है' ऐसा जो ज्ञान हुआ सो तीसरे क्षण में भी कायम रहा, जिससे 'मैं जानता हूँ' ऐसा अनुव्यवसाय रूप परिणाम होता है, और वह परिणाम भी साथ-साथ आत्मा के द्वारा प्रकाशित होता जाता है। इतना होने के बाद वह स्फटिक (विषय) के ग्रहण या त्याग के बारे में यानी 'विषय में प्रवृत्ति निवृत्ति' रूप परिणाम होता है। अब यहाँ समझना है कि 'यह है' ऐसा परिणाम में पूर्व संस्कार हेतुरूप है और 'मैं जानता हूँ' ऐसे

---

* प्रकाश दो तरह का होता है। जड़ प्रकाश और चेतन प्रकाश। उनमें अग्नि, विद्युत्, दीप, सूर्यादि प्रकाश जड़ प्रकाश हैं और जिस प्रकाश से अज्ञान रूपी तिमिर का नाश होकर ज्ञान हो सकता है वह चेतन-चित् प्रकाश है। चित् ज्ञानप्रकाश रूप है। अर्थात् दूसरे की अपेक्षा के बिना सबको प्रकाशित करता है और दूसरे की अपेक्षा के बिना स्वयं प्रतीत रूप बनता होने से चित् प्रकाश स्वयं प्रकाश है। चित् प्रकाश जड़ प्रकाश का प्रकाशक है, परंतु जड़ प्रकाश चित् प्रकाश का प्रकाशक नहीं है इतना लक्ष में रखना चाहिये।

परिणाम का कारण भी वही पूर्व संस्कार है और अंतःकरण की अद्भुत योग्यता भी हेतुरूप है। आत्मा के द्वारा प्रकाशित होना उसका अर्थ यह है कि, तमाम व्यवहार सजीव-जिन्दा, जैसा प्रतीत होना। इसमें अंतःकरण और आत्मा ये दोनों मिलकर ही ज्ञान व्यवहार होता है। यद्यपि इन दो में से एक भी न हो तो ज्ञान व्यवहार होगा ही नहीं। 'यह है' और 'मैं जानता हूँ' इन दोनों का ग्रहण कैसे होता है, उसके बारे में ग्रंथों में है, तो भी वह वार्त्ता यथार्थ रीति से लिख सकना बहुत मुश्किल है, विद्या और योगानुभव हो तब उस संबंध का पूर्ण स्पष्टीकरण हो सके वैसा है। बाकी लिखा जा सके वैसा नहीं है।

ऊपर के अनुसार जब स्फटिकादि बाह्य पदार्थों का ज्ञान होता है तब उसका संस्कार अंतःकरण ऊपर होने से वासना, कामना, तृष्णा वगैरह अनुक्रम से उद्भव होती है, और उसके कारण उस विषय में प्रवृत्ति निवृत्ति रूप परिणाम होता है। उसका क्रम इस प्रकार होगा। मानो कि, उस स्फटिक मणि को ग्रहण करने की तरफ अंतःकरण की प्रवृत्ति हुई है तो उससे अंतःकरण में उसका प्रत्याघात होकर गति उत्पन्न होगी, और फिर वह गति कर्मेन्द्रियों के साथ संबंध पाकर कर्मेन्द्रियों को हिलायेगी और उन कर्मेन्द्रियों के द्वारा उस पदार्थ के साथ अंतःकरण साक्षात् संबंध करके उठा लेगा। अब यदि वह पदार्थ को त्याग करने रूप निवृत्ति रूप परिणाम हो तो अंतःकरण का उस पदार्थ के साथ कर्मेन्द्रिय के द्वारा संबंध जुड़ता नहीं है, जिससे पीछे हटने रूप परिणाम होता है। और इन सब कर्म के परिणाम उस-उस क्षण साथ-साथ आत्मा के द्वारा प्रकाशित होते जाते हैं। जिससे उसका व्यवहार भी 'जिन्दा जैसा' प्रतीत होता है। इस प्रसंग में भी जो विवेकी पुरुष इच्छा और आत्मा का स्वरूप अच्छी तरह जान सकते हैं, वे इस विषय को अंतःकरण के व्यापारों को देखते हुए सत्त्व विवेक से समझ सकते हैं। बाकी वैसे अनुभव के सिवाय स्पष्ट रूप से समझ सकना मुश्किल है।*

वर्तमान यूरोपियन शरीरशास्त्रवाले, ज्ञान और क्रिया का व्यवहार कैसे होता है? उस संबंध के खुलासे में जो प्रक्रिया समझाते हैं, उसमें और उस आर्य प्रक्रिया में महान् अंतर है। शरीरशास्त्र कहता है कि पदार्थ की प्रतिमाएं नेत्र पर छपने के बाद उसके आघात दिमाग में ही मात्र पहुँचते हैं, परन्तु आर्यशास्त्र कहता है कि, वे प्रतिमाएं वहां से भी आगे बढ़ कर इन्द्रियों के अणुओं में आ पड़ने के बाद अंतःकरण वहां हाजिर होता ही है, वह ग्रहण करता है और आत्मा को मानने न मानने रूप जो महान् अंतर है, वह तो स्पष्ट है ही। सूक्ष्म रीति से सोचने पर अंतःकरण

---

* उत्क्रामन्तं स्थितं वापि भुञ्जानं का गुणान्वितं।
विमूढानानु पश्यन्ति पश्यन्ति ज्ञान चक्षुषाः ॥ गीता अध्याय 15॥

सर्वशरीरव्यापी (मध्यम परिणाम) होने से शरीर में जिन-जिन स्थानों में आघातों का आरंभ होता है वही उसका इन्द्रियों के द्वारा परिणाम होता है। समुद्र में जिस तरह तरंगे उठती हैं तब उनमें जिन-जिन दिशाओं में और स्थल में वायु के आघात होते हैं उस-उस तरफ उसकी लहरों के रूप में पानी झुकता है और दूसरा यह है कि अंतःकरण का एक समय एक ही परिणाम होता है, दो या उससे विशेष परिणाम होते नहीं हैं और कोई भी परिणाम आत्मा के प्रकाश में प्रकाशित न हो ऐसा होता ही नहीं है क्योंकि, आत्मा और अंतःकरण दोनों का तादात्म्य होता है। अंतःकरण व्याप्त है, और आत्मा एक रस व्याप्त है, जिससे अंतःकरण का परिणाम होने पर वह परिणाम आत्मा से प्रकाशित होने पर भी आत्मा का परिणाम नहीं होकर वह निरंतर निर्विकार-कूटस्थ रूप से रहता है।

इस तरह जीवात्मा रात-दिन जाग्रत स्वप्न दशाओं में जो-जो ज्ञान प्राप्त करती है उन सब के संस्कार अंतःकरण यद्यपि संग्रह करके रखे ऐसी शक्ति रखता है, तो भी उसका कुछ मर्यादा है। वहां सामान्यतः ऐसा नियम मालूम होता है कि चालू जन्म के प्रारब्ध और क्रियमाण संस्कार अंतःकरण में होते हैं और पिछले अनेक जन्मों संस्कारों का आशय अविद्या में होता है और जीवत्व के हेतुरूप मुख्य अविद्या होने से उसमें संग्रहित हो यह योग्य ही है। अविद्या के ऊपर या अंतःकरण के ऊपर किसी भी तरह का संस्कार आकर पड़ने के बाद प्रत्याघात रूप से वह किसी भी तरह की क्रिया अथवा कर्म को उत्पन्न कर सकती है। यह स्वभाव सिद्ध नियम ही है। इसलिए कोई भी देहधारी हर एक क्षण जो कर्म करता है वह पहले के किसी भी संस्कार का परिणाम ही है, अथवा तो कोई नया कर्म हो तो उससे नया संस्कार पड़ता है। विश्व में सर्वत्र ऐसा नियम ही है कि कोई भी कारण अमुक कार्य को उत्पन्न करेगा ही। और कोई भी कार्य उसके कारण में से उत्पन्न हुआ होगा ही। उसके अनुसार हर एक क्षण जीव जो-जो कार्य करते हैं, जो-जो ज्ञान प्राप्त करते हैं और जो-जो प्रवृत्तियों में प्रवृत्त होते हैं, उनके-उनके आघात-संस्कार अंतःकरण पर होंगे ही। जैसे कि किसी मनुष्य ने कोई नया पदार्थ अनुभव किया और उससे उसका जो संस्कार हुआ, वह संस्कार प्रत्याघात रूप से परिणाम प्राप्त करने के बाद उसके संबंध की उसको स्मृति होगी ही, और आखिर उसकी प्राप्ति के लिए प्रयत्न होगा ही। परंतु इस प्रकार किसी क्रिया से संस्कार हुआ तो उसका परिणाम (प्रतिक्रिया, फल) तुरंत प्रकट होना चाहिये, ऐसा नियम नहीं है। जैसे कि जमीन में बीज बोयें तो उसके परिणाम से प्रत्यक्ष-दृष्ट पेड़ तुरंत उत्पन्न नहीं होता। कारण हम जानते हैं कि बीज बोने के बाद उस पर अनेक उपाय करके उसे बढ़ने देने के लिए जो अनुकूलताएं

हों, सो सब प्राप्त होने के बाद, फिर समय आने पर जब बीज का विपाक होगा तभी उसमें से प्रत्यक्ष-दृष्ट वृक्ष रूप फल उत्पन्न होगा। परंतु बीज के जो-जो अनुकूलताएं होनी चाहिये, वह जब तक न आ मिले तब तक भविष्य में उत्पन्न होने वाले उसके फलरूप वृक्ष रूप कार्य तो अप्रत्यक्ष-अदृष्ट ही रहेगा, तब उस पर से यह समझना कि, अमुक संस्कार और उसका प्रत्यक्ष (दृष्ट) कर्मरूप फल उन दोनों के बीच सहायक कारणों की उत्तेजकता न हो तो दोनों का साक्षात् संबंध न होने से उस मूल अमुक संस्कार के प्रत्यक्ष परिणाम-कर्म के लिए विलंब लगता है। उस विलंब के समय में भविष्य में जो कर्म रूप वृक्ष उत्पन्न होने वाला हो वह मालूम नहीं पड़ता, अतः यह नहीं कह सकते कि वह नष्ट हुआ होगा। क्योंकि, किसी वस्तु का केवल नाश तो है ही नहीं, यह पीछे परिणामवाद में सिद्ध तरीके से देख आये हैं। लेकिन यहां तो कर्मरूप वृक्ष उत्पन्न होते समय के पहले संस्कार रूपी बीज पर अनेक संस्कार होकर जो जो कार्य अदृष्टपन (अप्रत्यक्षपन) से होंगे ''वे सब भविष्य में प्रत्यक्ष दृष्ट फलरूप से ज्ञात होने वाले कर्म रूपी वृक्ष के पूर्वक होने से'' उनको अदृष्ट (अप्रत्यक्ष) कह सकते हैं। इन सब पर से यह सिद्ध होता है कि कोई भी बीजरूप कर्म अपना विपाक होने तक अदृष्ट अवस्था में रहता है और उसका विपाक होने के बाद अपने दृष्टफल यानी प्रत्यक्ष परिणाम अर्थात् क्रिया को प्रकट करता है, तब अदृष्ट अवस्था में या दशा में रहे हुए कर्म को ही संस्कार कहते हैं और उस संस्कार के फलरूप परिणाम प्रकट होने में जो-जो अनुकूलताएं हों सो सब प्राप्त होने को **विपाक** कहते हैं। इस पर से संस्कारों के तीन वर्ग किये जाते हैं। कोई भी क्रिया हुई कि उसका त्वरित लोप होता है, इससे किसी एक क्षण की जाने वाली क्रिया हुई या नाश हुई दिखती है। किसी मनुष्य को अमुक क्षण पर देखेंगे तो वह उस क्षण के पहले कुछ क्रियाएं कर रहा होता है और उसी क्षण बहुत करके वह दूसरी कुछ क्रिया करता हो ऐसा मालूम पड़ता है। उसमें जो क्रियाएं वह कर रहा हो वह अदृष्ट अवस्था में रहती हैं। अर्थात् वह संस्कार डालती हैं। ये संस्कार इस तरह करना या डालना होने से **क्रियमाण** कहलाते हैं और उस क्षण के पूर्व जो-जो संस्कार डल गये हैं वे सब संग्रहित हो जाने से **संचित** कहलाते हैं। उनमें भी यह सूक्ष्म भेद है कि जो संस्कार पूर्व डले हैं परंतु वे वर्तमान क्षण में फल देने के लिए उन्मुख (तैयार) नहीं होते वे सब तो खास संचित ही कहे जाते हैं, परंतु जो संस्कार पूर्व डले गये होने के कारण वर्तमान क्षण में फल देने को उन्मुख होते रहते हैं वे वर्तमान क्षण के **प्रारब्ध संस्कार** कहे जाते हैं। यानी कि पूर्व के संग्रहित संस्कारों के फलोन्मुखत्व (फल देने के लिए तैयार) और फलानुन्मुखत्त्व (फल देने के लिए तैयार नहीं) इन दो भेदों को लेकर

अनुक्रम से **प्रारब्ध** और **संचित** ऐसे नाम दिये जाते हैं। अर्थात् कोई एक क्षण लिया तो उस क्षण के क्रियमाण और प्रारब्ध बाद करने पर जो कर्म अथवा संस्कार बाकी रहने वाले हैं वे सब संचित होंगे और इसलिए वे फल देने के अनुन्मुख रहेंगे। प्रारब्ध संस्कारों अथवा कर्मों के तीन प्रकार हैं। (1) **इच्छा,** (2) **अनिच्छा** और (3) **परेच्छा**।

1. उसमें जिस प्रारब्ध से अमुक तरह की इच्छा उत्पन्न होती है, अर्थात् जो प्रारब्ध इच्छा का जनक होने से वह अमुक कर्म में इच्छापूर्वक प्रवृत्ति करवाता है उसे इच्छाप्रारब्ध कहते हैं। जैसे कि, चोर मन में यह तो जानता ही है कि, चोरी करना गलत है, परिणाम से नुकसान कारक है, तो भी वह उसमें इच्छापूर्वक प्रवृत्त होता है। वह इच्छा प्रारब्ध के कारण है।

2. जिसमें मनुष्य की इच्छा न हो फिर भी जो अवश्य भुगतना पड़ता है। वह **अनिच्छा प्रारब्ध** कहा जाता है। जैसे कि रोगादि से पीड़ित होने की किसी की इच्छा नहीं होती फिर भी जिसे रोग को अधीन होना पड़ता है और कामक्रोधादि से नहीं फिर भी मजबूरन प्रवृत्ति करनी पड़ती है वह **अनिच्छा प्रारब्ध** के उदाहरण हैं।

3. जिसमें इच्छा या अनिच्छा से कुछ भोगने का नहीं होता लेकिन दूसरों की इच्छा को लेकर सुख-दुःख भोगने पड़ते हैं उसे **परेच्छा प्रारब्ध** कहा जाता है। जैसा कि हमारी इच्छा न हो तो भी किसी समय कुटुंब के या किसी दुनियादारी के व्यवहार को लेकर हमें बहुत सुख-दुःख में प्रवृत्ति करनी पड़ती है। वह परेच्छा प्रारब्ध के कारण होता है।

संचित, प्रारब्ध और क्रियमाण उनका परस्पर भेद समझाना कठिन है तो भी उतना ही तत्त्व विवेक के लिए उपयोगी है जो संस्कार अथवा कर्म फल देने के लिए तैयार हो ऐसे, और फल देने को तैयार न हो ऐसे भेदों को लेकर अनुक्रम से प्रारब्ध और संचित का भेद पीछे बताया है, परंतु प्रारब्ध और क्रियमाण का निरंतर मिश्रण हुआ करते हैं और उसका भेद नहीं समझाने से उलझन में पड़ जाते हैं। एक तरफ से यह समझा जाता है कि प्रारब्ध कर्मों के अनुसार क्रिया होती है तब दूसरी तरफ से यह कहा जाता है कि क्रियानुसार ये क्रियमाण संस्कार संग्रहित होते हैं। इसमें ऊपर-ऊपर से परस्पर विरोध जैसा लगता है, परंतु वस्तुतः विरोध नहीं है। कर्म में प्रवृत्त करने वाला प्रारब्ध है यह बात सही है, तो भी उस प्रारब्धानुसार क्रिया करते हुए उस क्रियानुसार पुनः नये संस्कार पुनः डलते ही रहते हैं और वैसा होना पहले प्रतिपादन किये हुए सृष्टि नियमानुसार स्वाभाविक है। ऐसा होने से जो यह नये संस्कार होते हैं, उनके कर्म से हुए अथवा क्रियमाण संस्कार कहा जाता है और दूसरी तरह से कहें तो किसी भी कर्म के मुख्य दो फल होते हैं—एक सुख-दुःख और दूसरा संस्कार। इनमें सुख-दुःख यह प्रारब्ध का फल है और संस्कार वह क्रियमाण कहा

जाता है। यह क्रियमाण संस्कार बाद में संचित के साथ मिल जाते हैं। तब संचित रूप से माने जाते हैं। इस तरह कर्म की मालिका चलती रहती है।

कुल मिलाकर कर्म से तीन प्रकार के फल प्राप्त होते हैं। (1) **जन्म,** (2) **आयुष्य,** और (3) **भोग** यानी कुछ कर्म जन्मरूप विपाक (फल) को देते हैं, कुछ सुख दुःख साक्षात्कार रूप फल को और कुछ वह साक्षात्कार होने के लिए योग्यता रूप **भोग** को देते हैं तथा कुछ जिस शरीर से वे भोग भोगने होते हैं उस शरीर की स्थिति के कालरूप **आयुष्य** को देते हैं। पहले प्रारब्ध और संचित कर्मों अथवा संस्कारों के बारे में भेद बताया है, उसमें हर एक क्षण का प्रारब्ध कहा है, परंतु वह बहुत करके सारे जन्म का ही मानने में आता है, यानी अविद्या रूप कर्माशय में जो अनंत संस्कार संचित रूप से संग्रहित होते हैं, उनमें से जो **संस्कारसमूह** फल देने अथवा परिणाम प्राप्त करने तैयार होने की योग्यता वाले होते हैं वे बलवान होते हैं, और बाकी के उस बलवान संस्कारों से प्रतिबद्ध होकर निर्बल होकर पड़े रहते हैं। यह बलवान संस्कार अंतःकरण में स्थापित हुए हैं। और वे नये जन्म के प्रारब्ध रूप होते हैं। उन प्रारब्ध संस्कारों में **प्रधान** और **गौण** भेद भी बहुत रहते हैं, उनमें जो प्रधान संस्कार भोगायतन (शरीर) की प्राप्ति में हेतुभूत होते हैं वे जन्मरूप फल को देते हैं, और कुछ संस्कार उस भोगायतन में जीवात्मा को सुख-दुःख के संवेदन कराने वाले होते हैं। (अथवा तदनुरूप स्थिति को प्राप्त कराने वाले हैं) वे सब भोग रूप फल को देते हैं और उन सब संस्कारों के फल जब तक भोगे जाएं तब तक शरीर जिन्दा ही रहने वाला होता है। उतने कालरूप आयुष्य मर्यादा भी उस प्रारब्ध से हो मिलती है। इस तरह कोई एक लिंगदेह धारी जीवात्मा के प्रारब्ध कर्म बलवान बनें तो प्रथम उन सब संस्कारों से जो संस्कार शरीरारंभक हैं, वे स्थूल शरीर के मूल उपादान कारणभूत सूक्ष्म भूतों के अणुओं को आकर्षित करते हैं। उन सूक्ष्म भूतों के अणु प्राप्त होते हैं कि तुरंत ही पहले के उस तरह के अणु छूट जाते हैं। फिर इन नये अणुओं के साथ लिंगदेह विशिष्ट जीवात्मा सूर्यचन्द्र की किरणों के द्वारा अन्न में प्रवेश करती है, और उस अन्न पुरुष की खुराक में आता है अतः वह जीव क्रमशः रस, खून, धातु वगैरह में प्रवेश करते हुए शुक्र में आता है और वहां से स्त्रीयोनि को प्राप्त होकर गर्भाशय में दाखिल होता है। वहां उसके अंगभूत रहे हुए सूक्ष्मभूतों के अणु अपनी सत्ता के द्वारा अर्थात् अपने में रहे हुए संस्कारों के वेग के द्वारा, अपने भोग से मिल सके वैसे संस्कार जिन-जिन भोग्य पदार्थों में रहे हों वैसे सजातीय अणुओं को आकर्षित करते हैं और उससे गर्भ वृद्धि पाता है। इस तरह स्थूल शरीररूपी यंत्र (भोगायतन) क्रमशः बंधता (गठन होता) रहता है, जिससे अपने प्राप्त कर्म के सिद्ध नियमानुसार वह स्थूल शरीर के साथ जीवात्मा गर्भ से बाहर आता है।

इस सारे विवेचन पर से अब कारण और लिंगदेह का संबंध स्थूल देह के साथ किस तरह है वह मालूम पड़ेगा। इन सब में सब संस्कारों के खजाना रूप मुख्य अविद्या ही है, उससे सामान्यतः वे सर्व भोग. संस्कारों की स्थिति उसमें ही होती है। इन संस्कारों में से जो जाग्रत दशा में भोग दे सके वैसे होते हैं। वे जाग्रतदशा में प्रबल होने से अंतःकरण की सामान्य कला विशेष रूप होकर दिमाग में प्रस्फुटित होने लगती है, जिससे जाग्रतदशा दिमाग के द्वारा सारा ज्ञान व्यवहार होता रहता है। जो संस्कार स्वप्नदशा में भोग दे सके वैसे, होते हैं। वे स्वप्नदशा के समय प्रबल होने से अंतःकरण की सामान्य कला विशेष रूप होकर कंठ स्थान में प्रस्फुटित होने लगती हैं और जो संस्कार सुषुप्ति दशा में फल दे सके वैसे होते हैं, वे संस्कार उस दशा के समय प्रबल होने से अंतःकरण की विशेष कला हृदय देश में ही सूक्ष्मरीति से प्रस्फूटित होती है। इन सब में जीवात्मा की मुख्य स्थिति की हृदय देश में ही होती है और दिमाग, कंठ, हृदय ये तीन तो जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति ये तीन दशाओं का ज्ञान और क्रिया का व्यवहार करवाने के अनुक्रम से अंतःकरण के साथ जुड़ी हुई इन्द्रियों के यंत्र, गोलक या साधन ही मात्र हैं। दूसरा कुछ नहीं। जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति इन तीन दशाओं में जो कर्म किये जाते हैं, उनके संस्कार पुनः अविद्या में स्थापित होते जाते हैं। उस अविद्या का मुख्य स्थान गुदा के पास के मूलाधार चक्र में होता है, वह सर्व संचित संस्कारों को लेकर उस स्थान में विशेष कला रूप से सुप्तवत् पड़ी रही है। उनमें के जो संस्कार शरीर निर्वाहक होते हैं उनका प्रत्याघात सुषुम्णा की मारफत ऊपर चढ़ कर दिमाग की नीचे के सुषुम्णा कंद (मेडयुला ऑब्लोगेटा) में दाखिल होकर, शरीर के जिस-तिस अवयवों को पोषते हैं, और जो संस्कार ज्ञान निर्वाहक होते हैं उन संस्कारों का संक्रमण अंतःकरण में होता है और बाद में उसकी विशेष कला जाग्रत दशा में दिमाग में स्फुरित होने से उन संस्कारों का प्रत्याघात दिमाग में टकराता है, जिससे अभिमानी उसके द्वारा उस-उस प्रकार के ज्ञान और क्रियाएं स्थूल देह से चला सकता है। इस प्रकार तमाम संस्कारों के भंडाररूप मूल अविद्या को योगियों ने **कुंडलिनी** नाम से शक्ति रूप से बयान की है और हठयोगादि साधनों से उस कुंडलिनी को जाग्रत करके, उसमें के अशेष संस्कारों का साक्षात्कार योगी कैसे करते हैं और इस जन्म के तथा पूर्व जन्म के संस्कारों का नाश किस तरह करते हैं उसके बारे में इसके बाद की **षड्चक्रभेदन** नाम की कला में विस्तार से कहा जाएगा। वह अविद्या कर्माशय रूप होने से वही सर्व क्लेशों की उत्पत्ति करवा कर जीव को जन्ममरण के चक्र में कैसे डालती है इस बारे में पहले पृष्ठ 61 में कहा गया है। अब कोई एक संस्कार फल देने को तैयार होता है तब उसके परिणाम से अंदर से बाहर उलट प्रत्याघात किस तरह होता है उसके बारे में संक्षेप में विचार करना इष्ट है।

अविद्या में रहे अनंत संचित संस्कारों में से, अथवा अंतःकरण में के अनेक प्रारब्ध संस्कारों में से कोई एक संस्कार फलोन्मुखता को प्राप्त करता है, ऐसी कल्पना करें। यदि वह संस्कार अविद्या में का होगा तो उससे सूक्ष्म प्राण की सत्ता सर्व स्थान पर व्याप्त होने से उस सत्ता के कारण अंतःकरण* में सूक्ष्म क्षोभ उत्पन्न होकर सूक्ष्म **वासना** उत्पन्न होगी। अर्थात् उस संस्कार का संक्रमण अंतःकरण में होगा, परंतु यदि वह संस्कार अंतःकरण में का होगा तो प्रथम अंतःकरण वासना रूप से परिणाम प्राप्त करेगा, फिर उस वासना से **स्फुरण** उत्पन्न होगी। यह प्राथमिक स्फुरण अतिशय सूक्ष्म और अस्फुट होता है। फिर वह स्फुरण **संकल्प विकल्प** रूप से परिणाम प्राप्त करेगी। यह परिणाम को धारण करने वाले अंतःकरण को इस समय **मन** ऐसा नाम दिया जाएगा। इस प्रकार के संकल्प-विकल्प रूप मंथन के अंत में सत्यता, लाभ, या कर्त्तव्यता मालूम पड़ने पर बाद में **कामना** उत्पन्न होगी। प्रथम वह कामना भी सूक्ष्म रूप में होती है लेकिन उसकी भी एक प्रकार की परंपरा लगी रहती है और वह बलवान होकर **तृष्णा** रूप से परिणाम प्राप्त करती है। इस समय की अंतःकरण की स्थिति को बुद्धि ऐसा नाम दिया जाता है। क्योंकि बुद्धिव्यापार निश्चित स्वरूप से ही होता है। इस प्रकार बुद्धि व्यापार की भी परंपरा चलने पर बुद्धि वृत्ति जो ज्ञानमात्र को विषय करने वाली होती है, तो जो एक अथवा अनेक ज्ञानेन्द्रियों की उसके लिए जरूरत हो उसमें क्षोभ होता है। और उस-उस ज्ञेय पदार्थ का ज्ञान होता है और यदि वह वृत्ति कुछ कर्म करने के लिए प्रवृत्त होने वाली होती है तो उसके लिए अमुक ज्ञानेन्द्रिय में तथा बाद में उसको अनुसरण करती कर्मेन्द्रिय में इस तरह दोनों स्थान पर क्षोभ होता है, वह क्षोभ होने से उसके साथ संबंध प्राप्त ज्ञानतंतुओं में और क्रियातंतुओं में प्रत्याघात होकर वह क्रिया व्यवहार स्थूल शरीर के उस-उस अवयव के द्वारा हुआ करता है।

इस प्रकार कारणदेह, लिंगदेह और स्थूलदेह का परस्पर संबंध किस तरह है उसके बारे में विस्तार से कहा गया है उसके सिवाय चौथा एक **महाकारण** देह है। वह देह तुर्यावस्था में अनुभव किया जाता है। उस दशा में अंतःकरण का लय परिणाम होता है। यानी शुद्ध प्रकृति और चेतन मिलकर यह शरीर कहलाता है और वह **तुर्यावस्था** के समय अंतःकरण चेतन में लय प्राप्त करता है अर्थात् प्रकृति रूप से (अपने उपादान रूप से) होकर चेतन में तिरोभाव प्राप्त करता है। उससे भी पर **तुर्यातीत** ऐसी स्थिति है, उसमें तो मात्र अंतःकरण या अविद्या उन दोनों की दृष्टि के बिना केवल शुद्ध चेतनरूप स्थिति होती है।

* यहां अंतःकरण शब्द योग भी परिभाषा में जिसे 'चित्त' कहा जाता है उसी के ही अर्थ में उपयोग में है। वेदान्त की परिभाषा में 'चित्त' शब्द अंतःकरण के चिंतनात्मक परिणाम रूप से इस्तेमाल होता है।

जीव के पांच कोष–जीव के जो तीन शरीर हैं, उसमें पांच कोष हैं। जिस तरह तलवार म्यान में होती है, अतः म्यान तलवार के ऊपर का एक तरह का कोष (पट) है उसी तरह जीवन पर पांच कोष या पट हैं, म्यान जिस तरह तलवार को ढक देती है वैसे पांचों कोष आत्मा के स्वरूप को ढक देते हैं, अतः उन पांचों पटों को कोष कहते हैं। उनमें के कारण शरीर को **आनंदमय कोष** कहते हैं। सूक्ष्म शरीर में तीन कोषों का समावेश होता है। पांच ज्ञानेन्द्रिय और अंतःकरण का बुद्धिरूप अंश मिलकर **विज्ञानमय कोष** कहा जाता है। यह कोष आंतरबाह्य पदार्थों को ज्ञान प्रकाश देकर जीव को ज्ञानमय अवस्था का अनुभव कराता है। पांच ज्ञानेन्द्रिय और अंतःकरण का मनरूप अंश मिलकर **मनोमय कोष** होता है, उस कोष की सहायता से जीव शरीर तथा मानसिक क्रियाएं कर सकता है। प्राणतत्त्व और उसके साथ जुड़ी हुई कर्मेन्द्रियां ये दोनों मिलकर **प्राणमय कोष** कहलाता है। यह कोष विज्ञानमय तथा मनोमय इन दोनों कोषों का उपकारक है, यानी कि ज्ञान प्रकट होने में ज्ञानेन्द्रियों को और बुद्धि को जितना वेग चाहिये उतना वेग इस प्राणमय कोष की तरफ से पर्याप्त मिलता है और उसके साथ प्राणतत्त्व पांचों भूतों के मिश्र रजोंश का कार्य होने से वह कर्मेन्द्रियों और मन के वेग को अंकुश में रखता है। यह स्थूल शरीर **अन्नमय कोष** कहलाता है।

ईश्वर के तीन देह और पंच कोष–शुद्ध सत्त्वगुण वाली माया ईश्वर का **कारण शरीर** है। वह माया के कार्य से उत्पन्न पंच सूक्ष्म भूतों अंतःकरण, ज्ञानेन्द्रिय, प्राण, कर्मेन्द्रिय इन सब को अथवा तो तमाम जीवों के सूक्ष्म शरीर मिल कर जो समष्टि सूक्ष्म शरीर बने वही ईश्वर का सूक्ष्म शरीर है और समग्र ब्रह्मांड, कि जिसके अंदर दृश्य अदृश्य चौदह भुवन रहे हुए हैं सो सब मिलकर ईश्वर का स्थूलशरीर कहलाता है। जीव के पंचकोषों की व्यवस्था को भी यहां जान लेना चाहिये। जीव के पंचकोष जीव के साक्षीरूप शुद्ध चेतन को जिस तरह ढक देकर मोह उत्पन्न करते हैं, उसी तरह ईश्वर के समष्टि पंचकोष ईश्वर के यथार्थ स्वरूप को ढक देकर मोह-अज्ञान में डाल दे नहीं सकते, क्योंकि ईश्वर की उपाधि सत्त्वप्रधान होने से उसे ईश्वर आधीन रखता है, वगैरह पीछे बताया ही है।

लिंगदेह के अस्तित्व के बारे में प्रतीतियां

इस तरह नौवीं और दसवीं कला के अब तक के विवेचन ऊपर से लिंगदेह के अस्तित्व और जीवतत्त्व की सत्ता के बारे में अब किसी को शंका नहीं रहेगी और इसके तत्त्वों को निरूपण करने के लिए यूरोपियन साईन्सों (शास्त्रों) और आर्यदर्शनों का स्थूल स्थूल सार देकर उन दोनों की समानताओं और भिन्नताओं के बारे में भी विचार किया। उस पर से मालूम पड़ा कि, यूरोपियन साईन्स द्रव्य और शक्ति इन दोनों के संयोग से

विश्व की रचना का खुलासा करता है और चेतन यानी आत्मा के अनाघनंतता के अस्तित्व संबंधी विचार थोड़ी शिथिलता से स्वीकार करता है। तो भी ऐसे स्वीकार के बावजूद और जड़ द्रव्य का अंतिम स्वरूप कारण द्रव्य कि जिसे इथर* कहते हैं, इस तक जड़ द्रव्य की मर्यादा मानने पर भी सूक्ष्म सृष्टि-आध्यात्मिक सृष्टि की यथार्थ समाधानकारी प्रक्रिया निकाली जा नहीं सकती, यह हमने देखा। इस मर्यादा को आगे बढ़ाकर इथर से भी सूक्ष्मतम ऐसे इन्द्रिय, अंतःकरण, प्राण, पंचमहाभूत वगैरह अणुओं की हयाती है और सर्वचित् शक्ति के आधीन रह कर बरताव करते हैं और उसमें से कीटकादि से देवपर्यंत के जीव, उनके शरीर और बसने योग्य भुवनों की रचना किस तरह होता है और उन अनन्त कार्यों में कार्य कारण की परंपरा बिना अपवाद के स्वभाव सिद्ध रीति से किस तरह बन सकती है, उसके बारे में अर्थशास्त्रकार जो व्यवस्थित खुलासा करते हैं, उस बारे में विचार किया।

इतने विवेचन पर से लिंगदेह के अस्तित्व के बारे में और उसके पुनर्जन्मादि के बारे में शंका करने जैसा रहता नहीं है तो भी स्थूलशरीर से सूक्ष्म ऐसा दूसरा उसे चलाने वाला लिंगदेह है उस बारे में, मृत्यु के बाद की स्थिति और भूतप्रेतादि के चमत्कारों की घटनाओं पर से विशेष सबूत मिलता है। जब मनुष्य मरने को होता है तब उसने स्थूल देह से जो-जो अच्छे बुरे कृत्य सारी जिन्दगी में किए हों, स्थूल देह के साथ में रह कर जो-जो विचार किये हों, जो-जो अनुभव लिये हों, जितना ज्ञान प्राप्त किया हो, उन सबके संस्कार उसमें बल के अनुसार प्रस्फुटित हो आते हैं। स्थूल शरीर को जीव जिस क्षण में छोड़ता है, उसके पहले क्षण में जो संस्कार अतिशय बलवान होते हैं, उनके आधीन वह हो जाता है। और बाद में वे सब संस्कार अर्थात् पूर्वदृष्ट श्रुत विषय स्वप्न सृष्टि की तरह उसके समक्ष आकर खड़े रहते हैं। किये हुए कार्यों की वासनाएं एक नाटक के रूप में बिजली की चमक की तरह मरने वाले के ज्ञानचक्षु के समक्ष तैरने लगती हैं। ऐसे समय जीव बहुत उलझन में पड़ता है। इन सब बातों की सत्यता और इस स्वप्नमय नाट्य स्थिति का सबूत जो पानी में डूब जाकर, बेहोश होकर मरणासन्न ऐसे मनुष्यों को बचा कर बाहर लाने के बाद जब वे होश में आते हैं। वे अनुभव पर से बहुत अच्छी तरह दे सकते हैं। अवसान काल के समय जो संस्कार या वासनाएं बहुत प्रबल होती हैं उसके अनुसार करके लिंगदेह खिंचा जाता है। जैसे कि हम किसी चीज के बारे में प्रबल इच्छा करते हैं तो उस समय सब काम छोड़ कर, उन कामों को भविष्य में करने के लिए मुलतवी रख कर यह प्रबल इच्छा वाला कार्य प्रथम कर लेने के साधनों के प्रयत्न में पड़ जाते हैं, उसी

---

* इथर शब्द प्राणायाम प्रकरण में आकाशतत्त्व के तौर पर इस्तेमाल किया है। लेकिन वह स्थूल अर्थ में इस्तेमाल किया है, वहां इस प्रक्रिया के अनुसार योजना कर ली जाय।

तरह मृत्यु के समय जो संस्कार-वासनाएं बलवान हों उन संस्कारों के अधीन लिंगदेह होने से उसका अनुसरण करके प्रवृत्ति धारण करता है, और जिस वासना पर चित्त चिपका हो उसके अनुसार देह गिरने से तुरंत लिंगदेह भी उसके मुताबिक गति होती है। उस समय उसे मार्गदर्शक पदार्थ तैजस् नाम से होता है। देह में बाहर निकलते समय यदि उसमें देह पर वासना हो, अथवा तो घर के अंदर के कोई अपने अमुक विषय में वासना प्रबलता से रह गई हो, अथवा तो कोई मित्र को मिलने के लिए वासना प्रबल हुई हो तो थोड़ा समय वहीं भटकता है। यानी वह वासना स्थूल देह के संबंध की हो तो वह शरीर जला देने तक ही आसपास भटकता है और यदि वह वासना अमुक विषय में रह गई हो तो वह पूरी करने के लिए यत्न करता है और यदि वह वासना किसी इष्ट मनुष्य को मिलने संबंधी हो तो उसे दर्शन देकर वह सूक्ष्म देह आगे चला जाता है। जैसे कि कोई विधायक अपने विधेय पर अपने ऑरा (तेज) का विनिमय करके अपनी इच्छानुकूल विधेय को चलाता है उसी तरह (स्थूल शरीर में से अलग हुआ सूक्ष्म शरीर या) प्रेत अपनी ऑरा के द्वारा घरवालों पर जाग्रत या स्वप्न में विनिमय करके अपनी वासना पार पाड़ने का यत्न करता है। अब यदि सामने वाला मनुष्य उसकी ऑरा में आकर या दब सके वैसा न हो तो, सामने वाले मनुष्य के मन में किसी न किसी प्रकार से अमुक संकेत प्रकट हो आते हैं। यद्यपि वह संकेत उस प्रेत ने अपने संकल्प बल से स्फुरित करवाया होगा, ऐसा सोचा नहीं जाता और शायद कल्पना करें तो भी वहम के तौर पर माना जाता है। ऐसा होने के बाद अथवा उसकी धारणा ऊपर के मुताबिक पार पड़ न सके, ऐसी हो तो कुदरत के नियम के अनुसार आगे चलना पड़ता है। इस संबंध में मरहूम मि. मणिलाल नथुभाई अपने प्राणविनिमय में पृ. 96 में लिखते हैं कि 'यह चाहे सो हो, लेकिन प्रत्यक्ष अनुभव इस बात को सच साबित करे ऐसे दो तरह के उदाहरण आज तक मालूम पड़े हैं। **निद्राजागरण** (सोम्राम्युलिज्म) सूक्ष्म देह का ही चमत्कार है अर्थात् उससे सूक्ष्मदेह की सत्ता तो सिद्ध होती है, लेकिन वह जुदा हो और गति करे, ये बात मरण समय के कुछ अनुभव भरोसादार (विश्वासी) शोधकों ने दर्ज किये हैं, उन पर से सिद्ध होता है जो बात स्वाभाविक है, वह कृत्रिम साधनों से बना कर यथारुचि इस्तेमाल किया जा सके यह मानना तो सहज है। मृत्यु के बिछौने पर पड़ा मनुष्य किसी को मिलने के लिए बैचेन रहता है,वह आज मरे, कल मरे, करते हुए उस दृढ़ इच्छा के बल से पड़े रहते हैं तथा अमुक आया यूँ कहते 'होश' करके प्राण छोड़ देते हैं, यह तो सब अवलोकन करने वालों ने देखा होगा ही। लेकिन यह प्रबल वासना जब पूर्ण नहीं होती और मरण के लिए चलने वाले शरीर में का विरोध सहन नहीं किया जा सकता, तब मनुष्य प्राण तो छोड़ देता है लेकिन उसकी सूक्ष्म देह अपने इष्ट मनुष्य को दर्शन

देकर चली जाती है। बहुत से अवलोकन करने वालों के ग्रंथों से मालूम पड़ता है कि ऐसे-ऐसे अपने संबंधी के दर्शन होने के बाद उनके मरने की खबर आयी। मेरे अपने अनुभव की भी बात जोड़ूं तो अधिक निश्चय लगेगा। किसी मनुष्य का मुझ पर बहुत प्रेम था और मेरा उस पर उतना ही नहीं था, इससे उसकी तरफ से ऐसा मेरा प्रेम प्राप्त करने के लिए निरंतर प्रार्थना हुआ करती थी। आखिर उसने मुझे लिखा कि, मैं अब मरूँगा। फिर कार्य के अंतराय के कारण मैंने उसे कुछ लिखा नहीं था, उसी तरह उसने मुझे कुछ लिखा नहीं था। इस तरह तीन चार महीने बीत गये। एक दिन प्रातःकाल होने आया था और मैं अर्ध जाग्रत अवस्था में बिस्तर पर पड़ा था, उतने में वही मनुष्य मेरे पास आ खड़ा हुआ और कहने लगा कि मैं मर कर आया हूँ इत्यादि। मैंने तुरंत जाग्रत होकर देखा तो कुछ नहीं था, इस घटना को स्वप्न सोचकर मैं अपने काम में लग गया और फिर तीन दिन के बाद जो डाक आयी उसमें उसके मरण के समाचार थे, और उसके मरण के स्थान से लिखा पत्र मुझे तीसरे दिन पहुँचे वैसी अवस्था थी, अर्थात् मर कर तुरंत ही उसने मुझसे मिल कर रास्ता लिया था। यह घटना 1886 के आरंभ में हुई थी।

लिंगदेह की सत्ता, तथा उसके स्थूल के बाद भी अवशेष रहने संबंधी दूसरी भी कुछ ऐसी ही बातें हैं। यूरोप में मुर्दे संबंधी जांच करने वाले प्रामाणिक शोधकों के लेखों पर से मालूम पड़ता है कि ऊपर से स्पष्ट रीति से मर चुके है ऐसा तय करके डॉक्टरों ने गाड़ने की इजाजत दिये हुए शरीर दो चार महीने बाद, प्रसंगवश, खोद निकालने पर कब्र में पुनर्जीवन प्राप्त किया होगा या श्वास रुँधने से मर गये होंगे, ऐसा सोचने के कारण मिले हैं और उसी देश के जिन्दा डायन संबंधी के लेखों पर से मालूम पड़ा है कि डायन के मरने के बाद यदि वह भूत बनी है ऐसा वर्ष या छः महीने में मालूम पड़े, तो गांव के लोग उसकी कब्र खोद कर उसके मुर्दे को बाहर निकाल कर जला डालते। इस तरह निकाले शरीर जिन्दा हालत में हों वैसे के वैसे ताजे तथा बहुत दफा मुँह में खून के कुल्ले के साथ मालूम पड़ते थे!! यह भी लिंगदेह की ही घटना है। मरने वाला भूत होकर दूसरों का खून चूस-चूसकर (कब्र में) घुसे रहते हैं ऐसा शोधक कहते हैं। (मुर्दों को जलाने का जहां रिवाज है वहां देहरूपी अधिष्ठान नष्ट होने से तथा श्राद्धदानादि से मरने वाले की वासना तोड़ डालने से, प्रेत जल्दी से पितृभाव को प्राप्त करते हैं। यह भी उस रिवाज में समाया हुआ गांभीर्य है।)

"लिंगदेह शरीर का विभाग है, तथा वह मरण के बाद भी रहता है यह दो बातें ऊपर के अनुसार सिद्ध होती हैं। उस पर से परकाया प्रवेश, भूत और पुनर्जन्म भी सच हो यह स्पष्ट है।"

प्रेतदशा—आर्यशास्त्र के कर्म के सिद्धांत के अनुसार यह व्यवस्था है कि, जब

स्थूल शरीर में जीवात्मा की स्थिति होती है तब उस स्थूल शरीर का निर्वाह करने वाला प्रारब्ध संस्कार अति बलवान होते हैं। इनसे दूसरे संचित संस्कार निर्बल होकर प्रतिबंध प्राप्त किये होते हैं। लेकिन जब भोग और आयुष्य वगैरह से प्रारब्ध संस्कारों का अंत होता है तब मरण क्षण पर संचित कर्मों को प्रतिबंध करने वाले कोई दूसरे प्रारब्ध संस्कार नहीं रहने से वे फल देने के लिए अर्थात् परिणाम प्राप्त करने के लिए तैयार होते हैं। जिससे जीव जब स्थूल शरीर छोड़ता है तब उस क्षण के पहले किये हुए तमाम कार्य एक लोलोलीभाव को प्राप्त करते हैं और उसमें से जो कार्य अति बलवान होते हैं उनके वश होकर मनुष्य अपनी स्थूल देह छोड़ता है। उसे छोड़ने के बाद जीव की लिंगदेह की जो प्राथमिक अवस्था को प्रेत कहते हैं, उसी प्रेत की जब संचित कर्म के बल के अनुसार अच्छी या बुरी गति होती है, तब उसे **भूत, पितृ** या देव ऐसे नाम अधिकार के प्रति दिये जाते हैं और उसमें सत्त्वांश उत्तरोत्तर अधिक रहता है।

68. जिन प्रेतों (लिंगदेह) की नीच वासना होती है, उनकी खराब गति होने से उनको **भूत** कहा जाता है। जो लिंगदेह या प्रेत उनसे उत्तम वासना वाले हों, यानी कि जिनमें उच्चभाव अधिक हो और नीच-भाव कम हो वह अच्छी गति पाने से उनको **पितृ** कहा जाता है और जिसके नीच-भाव सर्वथा तिरोधान प्राप्त किये हों और उच्चभाव ही प्रादुर्भाव विशेष पाये हों वे परमोत्तम गति को प्राप्त करने वाले होने से उनको **देव** कहते हैं। ये तीन प्रकार के प्रेम अनुक्रम से तमोगुणी, रजोगुणी और सत्त्वगुणी होते हैं और उनकी परस्पर जातियों में भी हम मनुष्यों की तरह परस्पर भेद होते हैं। एक स्थूल शरीर में से बाहर निकलने के बाद दूसरा शरीर धारण करे उसके दरम्यान उनके कर्म, वासना, सत्त्व, रज, तम इन सबके प्रमाण में स्थिति रहती है। जो प्रेत भूत वर्ग की गति को प्राप्त करते हैं उनकी लिंगदेहों को बहुत काल तक भटकना पड़ता है।

स्थूलदेह के तत्त्व अलग हो जाते हैं। लेकिन सूक्ष्म के पुनः विभाजन होते हैं। प्राण, मन, बुद्धि ये लिंगदेह के अंगभूत होते हैं उनमें से प्राण और मन के अणु के दो-दो विभाग होते हैं। प्राण के और मन के अणुओं में से जिन अणुओं में तमोगुण अधिक होता है, वैसे प्राण के अणुओं को सूक्ष्मप्राण नाम दें, और मन के वैसे अणुओं को काम (वासना) नाम दें। इस प्राण और मनस् के तामस् भाग, मरने के बाद रजसत्त्वगुण प्रधान वाले मन बुद्धि के अणु उनसे अलग होने का यत्न करते हैं। सत्त्वप्रधान मन बुद्धि कुछ आगे-उच्चगति से जाने का प्रयत्न करती है, परंतु तम प्रधान काम और प्राण कुछ अपनी मूल वासना के स्थान की तरफ घसीटते हैं। जो अकाल मृत्यु के भोग हो पड़े है, जो वासना के साथ मरे हैं, उन सब में काम बहुत प्रबल होता है, अतः वे प्रेतदशा, भूत, जिन्न, चूड़ेल, डायन वगैरह दशा में रहते हैं। वे बहुत समय तक मरण के स्थान के पास चक्कर लगाते

हैं। ऐसे प्रेत जब अपने से अधिक नीच भाव को प्राप्त मनुष्यों को देखते हैं तब उनमें दाखिल होकर चाहे जैसे खेल खेलते हैं। उसके उपरांत प्रेत आकर स्वयं अदृश्य रह कर पांच पच्चीस कागज की कोरी कापी में अदृश्य दवात कलम से हजारों बातें लिख डालते हैं। चाहे हुए चित्र, तस्वीर वगैरह भी अदृश्य साधनों से बना देते हैं, जड़ पदार्थो को उठाकर जड़ दीवार में से बाहर पास कर देते हैं, ऊँचे हवा में बाजे बजाते हैं, कुर्सी, टेबल सबको हवा में नचाते हैं। आखिर देखने वाले के साथ भूत भविष्य की बातें भी करते हैं, हाथ से हाथ मिलाते हैं या अपनी रचना के वस्त्रादिक स्मारक चिह्न रूप से दे जाते हैं! किसी के माँ-बाप या भाई-बहन भी आकर उसके बारे में यकीन करवा जाते हैं कि वह वही है। क्वचित् उनको आने का मन हो लेकिन अनुकूलता न हो तो चाहे जैसे तूफान करके अपनी हाजिरी जाहिर करके आखिर आविर्भाव पाते हैं। कभी ऐसे प्रेत किसी मनुष्य में आविर्भाव प्राप्त करके अमुक वासना पूर्ण कीजिये तो मैं उद्धार पाऊँगा, ऐसा कहते हैं और ऐसा होने पर फिर दिखाई नहीं देते। प्रेतों की इस अपूर्व लीला के बारे में अच्छे-अच्छे विद्वानों ने यकीन किया है। अमेरिका में एडी नामक स्थान में उसी नाम के परिवार में दो भाई थे। उनके अंग प्रेत आविर्भाव पा सके ऐसे स्वाभाविक थे। उनके घर में दरवाजे, अलमारी, टेबल वगैरह में आवाज होती सुनाई देती और उनसे पूछें तो वह डंके के हिसाब से जवाब भी दे। ऐसे कहते हुए प्रेतों के दर्शनादि भी हुए। उस स्थान पर बहुत-बहुत विद्वानों ने शोध करके उन घटनाओं की सत्यता संबंधी सबूत दिये हैं। जिनके शरीर में प्रेत आ सकते हैं, उनको भुवा या पोठीआ (मीडियम) कहते है। ऐसे हजारों पोठीआ भी आजमाये गये हैं और कुछ तो खेल करने के लिए भी बाहर घूमते हैं और क्वचित् देखने वाले को ठगते भी हैं। यह सारा यूरोप जैसे खंड में गत 50-60 वर्षों में बन आया है। बड़े-बड़े विद्वान तथा शोधक फ्रुक्स, वालेस, झोलनार, ओक्सन इस प्रेतविद्या* के भक्त हैं और हयात हैं उतना ही नहीं जड़वादियों के पदार्थ विज्ञान शास्त्र के अग्रणी माने जाते

---

* **प्रेतावाहन** : उसे ही स्पिरिच्युआलिज्म कहते हैं। ऊपर के मुताबिक मरने वाला प्रेत होता है और उसके साथ संबंध किया जा सकता है उस तरह की विद्या को प्रेतावाहन या प्रेत विद्या कहते हैं। यूरोप तथा अमेरिका में यह बात अब बहुत प्रचलित हुई है। उस संबंधी प्रयोगों की पद्धति इस प्रकार है। "सात, आठ या दस लोग घेरा करके एक चित्त होकर एक दूसरे का हाथ पकड़ कर बैठते हैं, धूप, गायनादि उत्तेजक सामग्री भी उस समय रखी जाती है। ये सब लोग एक प्रेत के आविर्भाव के लिए दृढ़ता से चाहते हैं। इतने में एकाध मनुष्य लुढ़क जाता है और वह आने वाले प्रेत का भूवा या पोठीआ होता है। ऊपर कहे सब चमत्कार बनते जाते हैं लेकिन पोठीआ जाग्रत नहीं होता और प्रयोग पूरा होने के बाद ही वह उठता है। फिर जब-जब प्रयोग करते हैं तब-तब उसके द्वारा ही हो सकते हैं।" इस प्रकार प्रेतावाहन की सामान्य पद्धति है।

हैं। ग्रंथ भी बहुत लिखे गये हैं जिसमें साधारण पाठक को थीओसोफीकल सोसाइटी के स्थापक कर्नल ऑलकॉट का इस विषय पर का ग्रंथ बहुत उपयोगी हो वैसा है और दो-चार पत्र भी इस विषय के प्रकाशित होते हैं।

प्रेत के शरीर में के काम और प्राण ये दो तमोगुण वाले मलीन तत्त्व पूर्णरीति से परिणाम प्राप्त करने के बाद उनकी प्रवृत्ति समय जाने पर क्षीण होने से रुक जाय, और जब मन बुद्धि यह दो उत्तम सत्त्व प्रधान तत्त्व, मलीन तत्त्वों से केवल अलग पड़ जाय, तब प्रेत प्रेतदशा में से अलग हो सकता है। जब यह प्रवृत्ति क्षीण होती है तब, जो मन बुद्धि अलग हो गये हैं उनकी उच्च दशा में वृद्धि होने पर प्रेत प्रेतदशा में से मुक्त होते हैं अन्यथा नहीं। प्रेतावाहन में काम प्राणमय जो अनेक भूत हैं वे आकर्षित होते हैं। उनको तो अपनी वासनाएं पूर्ण करने की अनुकूलता ही चाहिये, सो मिलती रहती है। लेकिन ऐसा होने से उनके उत्तम तत्त्व मन बुद्धि के विकास के लिए विलंब होता है और वह मन बुद्धि (इस संसार में प्राप्त किये हुए अनुभव मात्र को सूक्ष्म स्वप्नवत् भोग रही) पुनः जो नये अनुभव के लिए अवतरित होने वाले हैं उस कार्य में विक्षेप होता है इसीलिए ही आर्यशास्त्र में प्रेतविद्या का निषेध किया है।

भूत, पितृ और देव

भूतवर्ग के शरीर मनुष्य देह के साथ स्पर्श संबंध में बहुत कम आते हैं और पितृ वर्ग के शरीर मनुष्य के साथ में आने के लिए अरुचि दिखाते हैं। क्योंकि मनुष्य का शरीर मलीन रजकणों से भरापूरा होने के कारण उसकी उनको दुर्गंध आती है। इसलिए उसे स्पर्श नहीं करते। प्रसंग पर उत्तम सत्त्वगुण वाले किसी मनुष्य को दूर

हमारे देश में निम्न वर्ण के लोग (कोली, वाघरी वगैरह) अपनी एकाध 'माता' के समक्ष रात को इकट्ठा होते हैं। शराब पीते हैं, बकरे काटते हैं और फूल, धूप इकट्ठा करके वाजिंत्र बजाते हैं, और आखिर ऐसा करते-करते एक आदमी को उस माता का पोठीआ या भुवा स्थापित करते हैं। यह सब प्रसिद्ध ही है। पोठीआ को खुद का तथा स्वतः प्रेत को भी प्रेतावाहन सर्वथा हानिकर ही है। उसे बुलाने से प्रेत दुःखी होता है और ऐसा करते हुए कोई भूतादि प्रेत आ पड़े तो पोठीआ दुःखी होता है। इसीलिए आर्य शास्त्रों में इस विषय में हाथ डालने की स्पष्ट मना की है, ऐसा देखने में आता है। प्रेत श्राद्ध करने से प्रेत की वासना किसी बात में है या नहीं सो जाना जा सकता है। दसवां बारहवां के समय जो सपिंडी (पिंडदान) की जाती है उस समय वह पिंड कौओं को डाला जाता है तब बहुत बार कौए उस पिंड को नहीं खाते। कौए पिंड के पास जाते हैं और खाने के लिए पास जाते समय उसे कोई मारने आ रहा हो वैसे दूर भाग जाते हैं, पुनः आते हैं। यह चेष्टाएं मैंने भी देखी हैं। कहा जाता है कि प्रेत वासना युक्त होने से मरण स्थान से हट नहीं सका है और भूतरूप से अपने बदले रखे पिंड को चिपका है, जिससे दिव्यचक्षु कौआ उस पिंड को छूता नहीं है। इसीलिए प्रेम को त्वरा से पितृलोक में प्रबल इच्छा से पहुंचाने के लिए सपिंडीकरण श्राद्ध करने का मुख्य हेतु होता है।

से अपनी आकृति बना सके। वह आकृति अपने तैजस् पदार्थ से धारण करता है, क्योंकि उसके शरीर में ऊपर लिखे अनुसार ऐसी शक्ति होती है। इस स्थान पर यह शंका होगी कि, वह पितृ मनुष्य देह के साथ जी रहा था, तब अपने सूक्ष्म शरीर से अपनी तैजस् आकृति स्वतंत्र तौर पर क्यों बना नहीं सकता था, तो उसके जवाब में उतना ही कहना बस होगा कि उस समय उसमें ऐसी शक्यता तो रही होती है, परन्तु उसका आविर्भाव प्राप्त करने जितनी सामग्री उसे प्राप्त नहीं होती, अतः वह बता नहीं सकता था। यद्यपि, योगी तथा विधायक उस शक्ति का उपयोग मनुष्य देह में होते हुए भी कर सकते हैं।

देव वर्ग के शरीर मनुष्यों के साथ संबंध नहीं रखते और पितृ भूतवर्ग के समूह में नहीं जाते। शायद दूर से उनके देखने में आये। देवता पितृयों के समूह के साथ अधिक संबंध नहीं रखते, लेकिन पितृ देव वर्ग के साथ संबंध रखते हैं।

इन तीन वर्ग के सूक्ष्म शरीर हमारी स्थूल देहों की तरह कुछ खाते हों वैसा नहीं है। परंतु जिस तरह स्वप्नावस्था में लिंगदेह सूक्ष्म इथर अथवा प्रकृति जन्य सूक्ष्म विषयों का भोग करती है उसी तरह उनके भोग होते हैं। उनका स्पष्टीकरण मनुष्य कर सकने को समर्थ नहीं है। जैसे कि, हमारे मकान में एक खूंटी (कील) पर वस्तु टंगी हो तो उसे वहां से उठा कर दूसरी खूंटी पर रख सकती है, अथवा पदार्थ दूसरी जगह से ला सकती है। यहां यह नहीं समझना कि हर एक पदार्थ ला सकती है। परंतु जिस तरह मनुष्य मंडल में हर एक मनुष्य में अमुक अधिकार होते हैं, उसी तरह उनमें भी अधिकारी सत्ता की सीमा होती है। यानी कि दूसरे की सत्ता के नीचे का पदार्थ नहीं ला सकती। जिस तरह मनुष्यों में बलाबल का विचार होता है उस तरह उनमें भी होता है। उनके समूह अमुक ही स्थानों में बसते हैं ऐसा कहा जा सकता हैं, कुछ पृथ्वी के वातावरण की मर्यादा में होते हैं, तो कुछ दूसरे ग्रहों में जा बसते हैं।

कोई मनुष्य भव्य तेज (ऑरा) वाला हो, अथवा तो कोई योगी हो तो अमुक भूत को बुलाता है, अथवा तो आधीन में रख सकता है। यानी कि इस तरह कि वह भूतों को बुलाने वाला या साध्य करने वाला मनुष्य यदि सत्त्वगुणी हो तथा उसका तेज ऐसा हो कि वह उस भूत के तेज के साथ अनुकूल आता हो तो पितृ अगर भूत उसके संबंध में आ सकता है, यदि उससे विरुद्ध ऑरा परस्पर की हो तो नहीं आ सकता। भूत तो ऐसे साधक के सन्मुख आ नहीं सकता, परंतु दूर-दूर रह कर काम करता है। भूत मंडल की भाषा एक ही प्रकार की नहीं होती है, लेकिन अनेक प्रकार की होती है, यानी बहुत करके पहले मनुष्य शरीर में जो भाषा जानता हो उस तरह की भाषा उसकी होती है। परंतु उस भाषा के उपयोग के साधन उसके पास न हो तो उसका उपयोग उससे नहीं हो सकता। फिर भी जिस तरह स्वप्न सृष्टि में सूक्ष्म शरीर बोलते हैं, उस तरह वे बोल सकते हैं। जो उन भूतों की भाषा जानते हैं और जिनके शरीर का तेज

उन भूतों के साथ अनुकूल होता है वे उनके जल्दी आधीन हो सकते हैं। फिर भी देव वर्ग के शरीर किसी के आधीन नहीं आ सकते, क्योंकि उनकी शक्ति मनुष्य की तुलना में अतिशय हो जाती है। भूत भी मनुष्यों को किसी प्रसंग पर काबू में कर सकते हैं। मनुष्य भूतों को और भूत मनुष्यों को आधीन करे वैसे सच्चे उदाहरण शायद ही देखने में आते हैं, बाकी तो आज कल की दुनिया में जो देखने में आता है, उसमें तो बहुत अंश में ढोंग ही होता है। इन सब की सत्य परीक्षा इस जमाने में हो सकती है, और हुई भी है। परंतु किसी मनुष्य शरीर में देवता, देव, पीर, पैगंबर, पितृ, भूत आ सकते हैं, यह मान्यता, मगर ऐसी कृति यथार्थ नहीं है। शायद कोई प्रेत आ सकता है। इसके बारे में ऊपर कहा ही है।

सूक्ष्म शरीर की कोई अमुक लंबी चौड़ी आकृति होती है ऐसा यद्यपि नहीं होता, तो भी पानी, अग्नि, वगैरह पदार्थ जिस तरह चाहे उस बर्तन या पदार्थ का आकार धारण करते हैं और किरणें पदार्थ की सतह पर फैल कर उसका आकार धारण करती हैं, जिससे वह पदार्थ अमुक रूप में होता है। ऐसा कहा नहीं जा सकता, उसी तरह सूक्ष्म शरीर के बारे में समझना। और कोई मनुष्य मरने के बाद भूत हुआ हो तो उसका सूक्ष्म शरीर मनुष्याकृति में आबेहुब वैसा ही रहता है। सोचो कि कोई महा सर्प मर करके भूत हुआ है तो वह सर्प रूप आकृति में ही रहता है यानी कि जिस तरह यह स्थूल जाग्रत दृश्य विश्व में अनेक पशु, पक्षी, प्राणी, वगैरह हैं उसी तरह वह भूतों की सृष्टि में भी जान लेना। अर्थात् पशु-पक्षी वगैरह प्राणी भी अपनी वासना के अनुसार मरण के बाद उस-उस आकार वाले लिंगदेह रूप से (भूत रूप से) उस सृष्टि में होते हैं।

मनुष्य देह त्याग करने के बाद सब को मात्र भूतयोनि में आना नहीं पड़ता, परंतु वे दूसरी योनि में भी प्रवेश करते हैं। कोई थोड़ा समय भूत योनि धारण करके दूसरी योनि धारण करता है। कोई भोगायतन के तौर पर जिंदगी गुजारता है और कोई तो वहां अपनी उन्नति या अवनति प्राप्त करता है। इस विषय के सबूत के संबंध में प्रेतावाहन के संबंध में फोटोग्राफी की मदद से जो खोजें हुई हैं वही पर्याप्त हैं। प्रेक्षक वर्ग को अदृश्य ऐसे प्रेत आकार प्रत्यक्ष क्रियाएं कर बताते हैं। यह जो बहुत समय से कहता आया था उस बारे में वर्तमान समय में अमेरिका वगैरह देशों में अच्छे सबूत मिल रहे हैं। प्रेतों के ऐसे दृश्य कोई युक्ति करके फोटो ग्राफ से लिये जा सके हैं। और उस पर से इस स्थूल से सूक्ष्म ऐसी सृष्टि और उसमें घूमने वाले सूक्ष्म शरीर होते हैं ऐसी जो प्राचीन आर्यों की खोज है उसे अच्छी साक्षी मिलती है।

❁❁❁

[illegible] और खेचरी, भूचरी, [illegible] मुद्राओं से [illegible]

मुद्रायोग ही संगठित किया वह., [illegible]

हंसयोग जैसे सहज श्वास-प्रश्वास विष[illegible]

साधकों का वर्चस्व हुआ। सामान्यतः संयोग अथवा जुड़ाव के रूप में जिस योग को स्वीकारा गया, वह साधकों की अनुभूतियों और उपलब्धियों की बुनियाद पर विशद स्वरूप प्राप्त करता चला गया और सिद्धि के सेतु के रूप में योग का आशय लिया जाने लगा। इसी से जहाँ परकाया प्रवेश जैसी मान्यता की फलश्रुति देखी गई, वहीं अष्टसिद्धि और नवनिधि की प्राप्ति होना भी स्वीकारा गया और इन सांसारिक उपलब्धियों से दूर, स्वर्ग और मोक्ष की लब्धि को भी योग से जोड़कर देखा जाने लगा।

दैहिक और दैविक के साथ-साथ आध्यात्मिक सिद्धि के प्रमुख उपाय के रूप में योग को चिंतामणिवत् माना गया और बाद में जब तांत्रिक प्रभाव आया तो उसकी क्रियाएँ भी योग के रूप में ही स्वीकार ली गईं। बौद्ध ग्रन्थ साधनमाला और मंजूश्रीमूलकल्प के विवरणों में ऐसे विकल्पों को पाया जा सकता है। तंत्र और अन्य संहितात्मक ग्रन्थों में योग के संबंध में अनेक प्रसंग संवादादि रूप में प्राप्य हैं— भले ही रसायनादि संयोगों के प्रतिपादक किमियागिरी वाले ग्रन्थ हों या आयुर्वेदिक वाङ्मय। योगानुसार फल प्राप्ति ने ही योग को बहु-अर्थी सिद्ध किया है।

योग और उसकी साधनात्मक अवधारणा का हमारे दार्शनिक और पौराणिक वांगमय में वर्णन मिलता है—किन्तु उसकी समस्त सिद्धि साधक के विचारात्मक और साधनात्मक पक्षों पर ही अवलंबित होती है। योग के ऐसे ही विविध पहलुओं पर प्रकाश डालने वाली कृति है योगदिवाकर। बर्वेजी ने गुजराती में इस कृति को लिखा था। इसके लिए उन्होंने तत्कालीन कई योग गुरुओं का सान्निध्य प्राप्त किया था और प्राप्त अनुभवों, संस्मरणों के आधार पर अपनी कृति को साकार किया। वर्षों से यह ग्रन्थ अनुपलब्ध था। यह कृति उन्नीसवीं सदी तक योग के संबंध में विद्यमान रही अवधारणाओं को पुष्ट करती है ही, प्राचीन मतों पर भी प्रकाश डालती है। इसमें कई योग साधनाओं से सिद्धियों को प्राप्त करने का भी विवरण है। योग गंभीरतम विषय है, वर्तमान में विश्व समुदाय इसकी ओर आशाओं की दृष्टि से तक रहा है। करोड़ों लोगों ने योग से अपने स्वास्थ्य की सिद्धि की है, हजारों ने आध्यात्मिक भावभूमि में स्वयं को धन्य किया है।

डॉ. श्रीकृष्ण 'जुगनू'

योग आज किसी परिचय का मोहताज नहीं। गुफाओं और मठ-मन्दिरों से लेकर आम आदमी के घर तक स्वास्थ्य की निरापद की साधना के रूप में योग की दस्तक हो चुकी है। अब योग केवल महात्माओं का विषय नहीं बल्कि जनसामान्य का पक्ष भी हो चुका है। भारत के इस महत्त्वपूर्ण योगदान का विश्वमानस ने लोहा माना है और प्रतिवर्ष 21 जून को योगदिवस मनाया जाना तय किया है... योग केवल आसन या प्राणायाम ही नहीं है बल्कि कई साधनाओं का समूह भी है। योग आत्मसाधना का भी एक सशक्त पक्ष है। भारतीय ऋषि समुदाय ने इसे जिस रूप में स्वीकारा वह आत्मकल्याण का एक उज्ज्वल पक्ष भी है।

इस कृति में ऐसे ही अनेक पक्षों पर विद्वतजन सम्मत विवेचन हुआ है। इसमें अष्टांग योग, षट्चक्र व लिंगदेह निरूपण आदि मुख्य हैं। निश्चय ही यह योग जैसे विषय पर गंभीरता से अध्ययन, अनुशीलन कर्ताओं के लिए उपयोगी है...





आर्यावर्त्त संस्कृति संस्थान

दिल्ली-110094 मो. : 09868584456